Jīvarāja Jaina Granthamālā, No. 10
GENERAL EDITORS:
Dr. A. N. UPADHYE & Dr. H. L. JAIN

PADMANANDI'S

PAÑCAVIMŚATI

(A COLLECTION OF 26 PRAKARAṆAS DEALING WITH RELIGIO-DIDACTIC THEMES)

Critically Edited with an Anonymous Sanskrit Commentary

BY

Dr. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
Professor, Rajaram College,
Kolhapur.

Dr. H. L. Jain, M. A., LL. B., D. Litt.
Professor, Jabalpur University,
Jabalpur.

With the Hindī Anuvāda of

Pt. BALACHANDRA, Siddhāntaśāstrī.

PUBLISHED BY
GULABCHAND HIRACHAND DOSHI
Jaina Saṁskṛti Saṁrakshaka Sangha, Sholapur.

1 9 6 2

Price Rupees Ten only.

First Edition: 1000 Copies

Copies of this book can be had direct from Jaina Samskriti
Samrakshaka Sangha, Santosha Bhavana,
Phaltan Galli, Sholapur, (India)

Price Rs. Ten per copy, exclusive of postage

जीवराज जैन ग्रंथमालाका परिचय

सोलापुर निवासी ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचंदजी दोशी कई वर्षोंसे संसारसे उदासीन होकर धर्मकार्यमें अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन १९४० में उनकी यह प्रबल इच्छा हो उठी कि अपनी न्यायोपार्जित संपत्तिका उपयोग विशेष रूपसे धर्म और समाजकी उन्नतिके कार्यमें करें। तदनुसार उन्होंने समस्त देशका परिभ्रमण कर जैन विद्वानोंसे साक्षात् और लिखित सम्मतियां इस बातकी संग्रह कीं कि कौनसे कार्यमें संपत्तिका उपयोग किया जाय। स्फुट मतसंचय कर लेनेके पश्चात् सन १९४१ के ग्रीष्म कालमें ब्रह्मचारीजीने तीर्थक्षेत्र गजपंथा (नासिक) के शीतल वातावरणमें विद्वानोंकी समाज एकत्र की और ऊहापोहपूर्वक निर्णयके लिए उक्त विषय प्रस्तुत किया। विद्वत्सम्मेलनके फलस्वरूप ब्रह्मचारीजीने जैन संस्कृति तथा साहित्यके समस्त अंगोंके संरक्षण, उद्धार और प्रचारके हेतुसे 'जैन संस्कृति संरक्षक संघ' की स्थापना की और उसके लिए ३००००) तीस हजारके दानकी घोषणा कर दी। उनकी परिग्रहनिवृत्ति बढ़ती गई, और सन १९४४ में उन्होंने लगभग २,००,०००) दो लाखकी अपनी संपूर्ण संपत्ति संघको ट्रस्ट रूपसे अर्पण कर दी। इस तरह आपने अपने सर्वस्वका त्याग कर दि. १६-१-५७ को अत्यन्त सावधानी और समाधानसे समाधिमरणकी आराधना की। इसी संघके अंतर्गत 'जीवराज जैन ग्रंथमाला' का संचालन हो रहा है। प्रस्तुत ग्रंथ इसी ग्रंथमालाका दशम पुष्प है।

प्रकाशक
गुलाबचंद हिराचंद दोशी,
जैन संस्कृति संरक्षक संघ,
सोलापुर.

मुद्रक
लक्ष्मीबाई नारायण चौधरी,
निर्णयसागर प्रेस,
२६-२८ कोलभाट स्ट्रीट, बम्बई २

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिः

स्व. ब्र. जीवराज गौतमचंद दोशी

संस्थापक, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर.

जीवराज जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थ १०

ग्रन्थमाला - संपादक

प्रो० आ. ने. उपाध्ये व प्रो० हीरालाल जैन

पद्मनन्दि - विरचित

प ञ्च विं श ति

(धार्मिक और नैतिक २६ प्रकरणोंका संग्रह)

अंग्रेजी और हिन्दी प्रस्तावना, अज्ञातकर्तृक संस्कृत टीका सहित

आलोचनात्मक रीतिसे संपादित

संपादक

प्रो. आ. ने. उपाध्ये,
एम्. ए., डी. लिट्.,
राजाराम कॉलेज, कोल्हापुर

प्रो. हीरालाल जैन,
एम्. ए., एल्एल्. बी., डी. लिट्.,
जबलपुर विश्वविद्यालय,
जबलपुर.

हिन्दी अनुवादक
पं. बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रकाशक

श्री. गुलाबचन्द हिराचन्द दोशी
जैन संस्कृति संरक्षक संघ
सोलापुर

वी. नि. संवत् २४८८ सन १९६२ विक्रम संवत् २०१८

मूल्य रु. १० मात्र

विषयानुक्रमणिका

EDITORIAL

The work now presented here, critically edited, accurately translated into Hindī and thoroughly studied, has enjoyed continuous celebrity for nearly one thousand years. A portion of it was commented upon in Kannaḍa for the benefit of a local ruler in Karnāṭaka about 1136 A. D. A Sanskrit commentary, included in this edition, was written on it at some unknown time; and a commentary in Hindī was written about a hundred years back in Rājasthān. Various Sanskrit and Prākrit writers and commentators are found to have referred to it and quoted from it more or less continuously from the 12th century onwards.

This popularity of the work from north to south is due to its subject-matter and style. In its present form the work consists of twenty-six small tracts, quite independent of each other, on subjects which are of vital interest the Jaina religious point of view. The style is simple, often lucid and ve. The language is Sanskrit, except for the two tracts, Nos. 13 and 14, e hymns composed in Prākrit.

the point of view of its compilation, the work has passed through ages. At first the author composed a number of independent small orks which must have become popular according to their own individual nerits. One of these, namely *Ekatva-saptati* (No. 4), is found to have attracted e special attention of subsequent writers. At the second stage, some compiltor collected twenty-five of these small compositions and named it *Padmanandi-pañcaviṁśati* after the author and the number of the works collected. At the third stage, yet another tract, probably the last in the present collection, was added to it without changing the name of the work. It is difficult to say whether this additional work was by the same author or of some one else. A few verses seem to have been added to or interpolated in the works so that such names as Saptati, Pañcāśat and Aṣṭaka are found to have become untrue to the number of verses now included under them. In its present form the total number of verses in the work is 939, arranged under 26 titles. The longest of them (No. 4) contains 198 and the shortest (Nos. 17 etc.) nly 8 verses.

There is no direct evidence available concerning the date of the author or the region of his activities. But the Kannaḍa commentary on one of the tracts (*Ekatvasaptati*) together with other fragments of information obtainable, enables us to determine with reasonable certainty that the work was produced in the Karnāṭaka region, probably at Kolhapur or its vicinity, between 1016 and 1136 A. D. If the conjecture that the author and the Kannaḍa commentator are identical proves true, the composition could be assigned to the latter date with the margin of a few years this way or that.

This work had been published at least twice before with a Marāṭhī Translation etc. in 1898 and with a Hindī translation in 1914. These editions were based upon single Mss., without any critical apparatus or information about the author, and they have long become unavailable. For the present edition, the previous two printed editions as well as all the available Mss. of the work have been utilised; and the editors and translator have done their utmost to make the work as much useful and interesting to the scholar and devout reader as possible. The introductions in English and Hindī, though based upon the same material, have been written mostly independently; and they are for a scholar supplementary to each other particularly in the matter of references.

The editors are very thankful to the owners of the Mss. used by them, as well as to the Authorities of the Jīvarāja Jaina Granthamālā for their continuous zeal and cooperation in the publication of such works.

Kolhapur — A. N. Upadhye
Jabalpur — H. L. Jain

सम्पादकीय

यह जो ग्रंथ यहां समीक्षात्मक रीतिसे सम्पादित, पूर्णतः अनुवादित तथा सर्वाङ्ग दृष्टिसे समालोचित होकर प्रस्तुत किया जा रहा है, वह लगभग एक सहस्र वर्षोंसे लगातार सुप्रसिद्ध रहा पाया जाता है। इसके एक प्रकरण (एकत्वसप्तति) पर कर्नाटक प्रदेशके एक नरेशके सम्बोधनार्थ लगभग वि. सं. ११९२ में कन्नड भाषामें टीका लिखी गई थी। तत्पश्चात् किसी समय वह संस्कृत टीका रची गई जो इस ग्रंथके साथ प्रकाशित है, तथा आजसे कोई एकशती पूर्व राजस्थानमें हिन्दी वचनिका लिखी गई। अनेक ग्रंथकर्ताओं व टीकाकारोंने १२वीं शतीसे लगाकर उसका उल्लेख किया है व उसके अवतरण दिये हैं।

देशके उत्तरसे दक्षिण तक इस ग्रंथकी उक्त प्रकार प्रसिद्धि व लोक-प्रियताका कारण उसका विषय व प्रतिपादन शैली है। ग्रंथ अपने वर्तमान रूपमें २६ स्वतंत्र प्रकारणोंका संग्रह है जिनका विषय जैन धार्मिक दृष्टिसे मार्मिक और रुचिकर है। विषयकी व्याख्यानशैली सरल और विशद है। केवल दो स्तुतियां (१३-१४ वें) प्राकृत भाषामें रची गई हैं; शेष समस्त २४ प्रकरण संस्कृत पद्यात्मक हैं। रचनाकी दृष्टिसे ग्रंथ तीन स्थितियोंमेंसे निकला है। आदितः ग्रंथकारने अनेक छोटे छोटे स्वतंत्र प्रकरण लिखे जो अपने अपने गुणोंके अनुसार लोक प्रचलित हुए होंगे। इनमेंसे एक प्रकरण अर्थात् एकत्व-सप्ततिने आगामी ग्रंथकारोंका ध्यान विशेषरूपसे आकर्षित किया। तत्पश्चात् कभी किसी संग्रहकारने उक्त प्रकरणोंसे २५ को एकत्र कर ग्रंथकारके नाम व अधिकारोंकी संख्यानुसार उसका नाम पद्मनन्दि-पञ्चविंशति रखा। ग्रंथकी तीसरी स्थिति तब उत्पन्न हुई जब किसी अन्य सग्राहकने उनमें एक और प्रकरण जोड़कर उनकी संख्या २६ कर दी, तथापि नाम पञ्चविंशति अपरिवर्तित रखा। यह जोड़ा हुआ प्रकरण संभवतः अन्तिम और उन्हीं पद्मनन्दिकृत है, यद्यपि यह बात सर्वथा निश्चित रूपसे नहीं कही जा सकती। कुछ प्रकरणोंके अन्त या मध्यमें भी कभी कुछ पद्य समाविष्ट किये गये प्रतीत होते हैं और इसी कारण प्रकरणोंके सप्तति, पञ्चाशत् व अष्टक नाम उनमें उपलभ्य पद्योंकी संख्याके अनुरूप नहीं पाये जाते। वर्तमान में ग्रंथके २६ प्रकारणोंमें पद्योंकी संख्या ९३९ है। इनमें सबसे बड़ा प्रकरण १९८ पद्योंका व छोटेसे छोटे चार प्रकरण ८-८ पद्योंके हैं।

इस ग्रंथके कर्ताके प्रदेश व कालके सम्बन्धकी कोई सूचना ग्रंथमें नहीं पाई जाती। किन्तु उसके एक प्रकरण आर्थात् एकत्व-सप्ततिपर जो कन्नड टीका पाई जाती है, तथा जो कुछ अन्य स्फुट प्रमाण अन्यत्र उपलब्ध होते हैं उनसे प्रायः सिद्ध होता है कि इस ग्रंथकी रचना कर्नाटक प्रदेशमें संभवतः कोल्हापुर या उसके समीप सं. १०७३ और ११९३ के बीच हुई थी। यदि यह अनुमान ठीक हो कि मूल ग्रन्थ और कन्नड टीकाके कर्ता एक ही हैं, तो ग्रंथका रचनाकाल उक्त अन्तिम सीमाके लगभग माना जा सकता है।

यह ग्रंथ इससे पूर्व कमसे कम दो बार प्रकाशित हो चुका है—एक बार मराठी अनुवाद सहित वि. सं. १९५५ में और दूसरी बार हिन्दी अनुवाद सहित वि. सं. १९७१ में। ये संस्करण प्रायः किसी एक ही प्राचीन प्रति परसे तैयार किये गये थे, उनके साथ कोई समीक्षात्मक विवेचन व ग्रंथकारका परिचय नहीं दिया गया था। तथा वे संस्करण दीर्घकालसे अनुपलभ्य हैं। प्रस्तुत संस्करणके लिये इन दोनों मुद्रित प्रतियोंके अतिरिक्त समस्त उपलभ्य प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंका उपयोग किया गया है। तथा सम्पादकों और अनुवादकने ग्रंथको विद्वानों और श्रद्धालु पाठकोंके लिये यथाशक्य अधिकसे अधिक उपयोगी बनानेका प्रयत्न किया है। ग्रंथकी अंग्रेजी और हिन्दी प्रस्तावनाएँ यद्यपि समान सामग्रीपर आधारित हैं, तथापि वे बहुत कुछ स्वतंत्रतासे लिखी गई हैं और वे विद्वानोंके लिये विशेषतः आधारभूत प्रमाणोंके उल्लेखोंके सम्बन्धमें, परस्पर परिपूरक हैं।

जिन हस्तलिखित प्रतियोंका इस ग्रंथके सम्पादनमें उपयोग किया है उनके मालिकोंके तथा जीवराज ग्रंथमालाके अधिकारी वर्गके, उनके इस ग्रंथमालामें ऐसे ग्रंथोंके प्रकाशनमें उत्साह और सहयोग के हेतु, सम्पादक हृदयसे कृतज्ञ हैं।

कोल्हापुर }
जबलपुर }

आ. ने. उपाध्ये
हीरालाल जैन

INTRODUCTION

1. Padmanandi-pañcaviṁśati : Title & Text

The present edition of the *Padmanandi-pañcaviṁśatiḥ* (*Pp*), 'A Collection of Twenty-five Texts', is a decided improvement on its earlier editions, because some independent Mss. have been collated (see the Hindī Introduction for their detailed description), the available Sanskrit commentary is added along with the text, and a carefully prepared Hindī *anuvāda*, along with *bhāvārtha*, is also given.

The *Pp* is a suitable title given to a collection of texts which comprises some twentyfive small and big works of the *prakaraṇa* type, each of which deals with some religious or didactic topic, not necessarily connected with the preceding or the following *prakaraṇa*. Each *prakaraṇa* has a title of its own which at times indicates the contents (as in I, II, VI, VII, VIII, IX, X, XII, XIII, XIV, XV, XVI, XVIII and XXI) and at times contents as well as the number of verses in it (as in III, IV, V, XI, XVII, XIX, XX, XXII, XXIII, XXIV, XXV and XXVI). Usually each one has a *maṅgala* and is duly rounded at the close. Most of them are religio-didactic discourses, but a few of them are hymnal or nearly hymnal (VIII, IX, XIII-XVIII, XX and XXI) and ritualistic (XIX) in character and coming in a group as it were. Excepting two *prakaraṇas* (XIII & XIV), which are hymns or prayers in Prākrit *gāthās*, addressed to Ṛṣabha and Jinavara, all others are in Sanskrit in long and short metres (see the table at the end).

This collective title, *Pp*, is found in many Mss., both in the north and south.[1] It is obvious that one more *prakaraṇa*, perhaps the last one, has been added later with the result that in this collection there are twenty-six texts, though it is called *pañcaviṁśatiḥ* in the colophon of the Sanskrit Commentary. There are reasons to believe that all these *prakaraṇas* were, to begin with, independent texts, before they were put together under a common title. First, there are available separate Mss. of most of these individual works,[2] in some cases accompanied by Kannaḍa commentary as well. Secondly, each text is quite an independent unit, having hardly any connection with the earlier or the following section. Thirdly, the same topic is found discussed in more than one *prakaraṇa*. Ordinarily, this is not likely, if the author

1) H. D. Velankar: *Jina-ratnakośa* (Poona 1944) p. 233; K. B. Shastri *Kannaḍa-prāntīya tāḍapatrīya Grantha-sūcī* (Banaras 1948), pp. 52, 209.

2) H. D. Velankar: Ibid. pp. 197, 172, 7, 61, 317, 56, 180, 438, 34, 412, 215, 286, 59, 136, 398 458, 445, 381, 135, 68, 96, 61, 238, 378, 456, and 286; also K. B. Shastri: Ibidem p. 319.

intended all these texts to go together as one unit. Lastly, some verse or topic is repeated in different *prakaraṇas*. The author is a meditative poet, and naturally he expresses himself alike, if not identical, in various contexts.

The method of exposition in most of the *prakaraṇas* is of the nature of didactic anthology with the result that a verse here or there can be subsequently added. In some cases, the author himself has specified the number of verses in a *prakaraṇa*; and if this is violated by the present text, it means that some verses are added later on. Some *prakaraṇas* are called *aṣṭakas* : some of them, as the designation requires, have actually eight verses (XVII, XX, XXIV and XXV), while others have nine (V and XXVI) or ten (XIX) verses. The rounding of an *aṣṭaka* with a concluding verse seems to have become conventional; and the presence of the 10th verse in XIX *JP* is necessitated by the ritualistic details that the offering of eight *dravyas* is followed by *arghya* or *puṣpāñjali*, and rounded by the author's reference to himself and to the fruit of the *pūjā* or worship. There is a clear discrepancy, excepting in two cases, between the author's specification of the number of verses and the one found in the present text as noted below:

Prakaraṇa	Specified No.	Actual No.
II *DU*	52	54[1]
III *AP*	50	55
IV *ES*	70	80
XI *NP*	50	62
XII *BR*	22	22
XXII *EB*	10	11
XXIII *PV*	20	20

In some cases, the context itself may indicate that a verse is added later on, for instance, verse No. 11, in XXII *EB*. It is necessary that Mss. unaccompanied by the Sanskrit commentary and preferably from the south will have to be scrutinised for ascertaining the verses which are added later on despite author's specification of the number of verses. A careful study of three palm-leaf Mss. (in Kannaḍa characters) of the *Ekatva-saptati*[2] shows that it has only 74 verses according to them; that verses Nos. 9, 53, 55, 74, 78 and 80 are not found in them; and that 79 is the last but one and 77 the concluding verse. It has to be admitted that even the Kannaḍa Mss. have four verses more than the number specified by the author. It has to be seen whether some of them were *uktaṁ ca* to begin with, but got mixed up later in the text. The attempt of the Sanskrit commentary to call it *Ekatvāśītiḥ*, against verse

1) Verses 7 and 42 are almost identical.

2) These Mss. were studied by Dr. A. N. UPADHYE as early as 1930. One belongs to the Lakṣmīsena Maṭha, Kolhapur; the second, to the Jaina Siddhānta Bhavana, Arrah; and the third, to the personal collection of the late lamented Pt. APPASHASTRI, Udagaon (Dist. Kolhapur).

No. 77, is irrelevant. If some Mss. from Moodbidri are collated, these verses can be easily marked out. Likewise, a palm-leaf Ms. (in Kannaḍa characters)[1] of XIV *JS* omits gāthā No. 11 of the printed text and has only 33 verses in all.

2. Analysis of the Contents

The contents of the various *prakaraṇas* may be surveyed in short to get a broad idea of the topics covered by them.

I. The *Dharmopadeśāmṛtam* (*DA*, verses 198) 'The Nectar of Religious Instruction': This is a lengthy disquisition on *dharma*, partly systematic and partly anthological in its make-up, and written in a fluent style and high didactic tone. It opens with *maṅgala* glorifying Ṛṣabha, Jina in meditation, Śāntinātha etc., who are the promulgators of Dharma. Dharma has varying connotation in different contexts. It means compassion to living beings; it is twofold, for laymen and for monks; it consists of Right faith, Right knowledge and Right conduct; it is tenfold *uttamakṣamā* etc.; and ultimately, it is the spiritual manifestation, pure and blissful, and divested of the deluding distractions of mind, speech and body (7).

Compassion or kindness to life is most important, the veritable basis of all religious life, which, for a layman, is covered by 11 Pratimās (14) for the practice of which must be relinquished the 7 Vyasanas, *dyūta* etc., which are obviously foul, anti-social and full of sin. The Yati-dharma, the religious duty of a monk, consists of fivefold *ācāra*, tenfold *dharma*, *saṁyama* or self-restraint, *mūla* and *uttara-guṇas* etc. culminating into *samādhi-maraṇa:* this enables one to reach Final Bliss (38).

Attachment for everything, including the body, has to be given up: negligence, passions and possessions are all harmful for spiritual progress. An omniscient Teacher is not accessible now; but his words are available in the scriptures which must be followed. Great monks who practise equanimity, forbearance etc. and meditation deserve respect and glorification. Human birth is difficult to be obtained; if it is there, the best advantage of it has to be taken for the practice of penance and consequent termination of Saṁsāra which is full of temptations. The words of Jina are a guide to all, and enable one to experience the eternal sentient effulgence. The unique nature of the sentient Real has to be realized: it is separate from and above everything else which is all worthless. One should seek shelter of those who have realized this. This exposition is concluded with eloquent glorification of Dharma.

1) This belongs to the Jaina Siddhānta Bhavana, Arrah, and was made available to Shri A. N. Upadhye in 1930 by Pt. K. B. Shastri.

II. The *Dānopadeśanam* (*DU*, verses 54) 'Instruction on Charity': King Śreyān is the ideal example of a donor who gave gift of food to the first Tīrthakara with a religious object. A layman incurs a good bit of sin in his domestic and vocational routine: pious giving of gifts is a balancing and redeeming feature for him. So, he should give food etc. to a worthy recipient. The houses and house-holders who have no contacts with monks are not in any way commendable. The merit acquired by *dāna* is highly fruitful, and hence wealth must be expended in that direction without waiting for this or that, which is all uncertain. The riches spent on temples, worship, entertaining monks and sustaining the learned and on redressing the poverty of the miserable: that alone belongs to oneself and the rest goes to others. A man's life without charity is not worth living: the fourfold gifts given properly yield great benefit here and elsewhere.

III. The *Anitya-pañcāśat* (*AP*, verses 55) 'Fifty Stanzas on Transitoriness': It is expounded here with suitable illustrations and similes that the body, relatives, pleasures etc. are all transitory: the end certainly comes according to one's Karmas, so one should not lament over one's lot. Meeting in this life is like that of birds for a night on the tree. Meeting and separation have to be faced with detachment, without any joy or sorrow. One should ever be devoted to Dharma.

IV. The *Ekatva-saptatiḥ* (*ES*, verses 80) 'Seventy Stanzas on oneness or Separateness (of Ātman)': The eternal Parmātman characterised by sentiency, bliss and existence is glorified; and the sentient effulgence is hailed with reverence. The sentient Real, the Ātman, is, like fire in wood, in every one of us; but, being under long-standing delusion, one does not realize this. If a beneficial Teacher explains it, a few respect it, but most behave like the blind feeling the elephant. The Vītarāga shows the correct path; and a *bhavya*, by virtue of his *labdhis*, is on the path of Liberation consisting of three jewels. The sentient Real alone is worth realizing by experience. Attachment and aversion (*rāga* and *dveṣa*) have to be avoided, and the sentient Real is above dualities and too great to be described in words. It is realized in the Great Meditation which is variously named and described.

V. The *Yatibhāvanāṣṭakam* (*YB*, verses 9) 'Eight stanzas of Reflections on Munis': The author glorifies the Yatis, Munis or monks by specifying their outstanding qualities. They have accepted renunciation, and are free from attachment even for the body. They control their senses and concentrate their mind on the Ātman. They practise penances and are plunged in meditation even under unfavourable climate and adverse conditions.

VI. The *Upāsaka-saṁskāraḥ* (*US*, verses 62) 'Moulding of a layman'. This is almost a manual on House-holder's Dharma. Ṛṣabha preached the

Dharma and king Śreyāns was the first to practise it. Mokṣa is reached through Dharma constituted of Right faith, Right knowledge and Right conduct, and practised in two ways, one by a Nirgrantha, a monk, and the other by a Gṛhin, Śrāvaka, householder or layman. The Śrāvaka or layman is the support of the temple[1], monk, piety and charity: these constitute the religious routine to-day. He has to observe Six Duties, *devapūjā* etc. (7f.); has to be a religiously balanced and integrated personality; and must cultivate *sāmāyika* (8) which is possible only by giving up the *vyasanas* (10). He should also practise 8 *mūlaguṇas* and 12 vows etc., and live in such a place and practise such a profession as will not come in the way of his religious life. He should practise Ahiṁsā, be philanthropic and sociable, reflect on 12 Anuprekṣās and be intent on tenfold Dharma. He should meditate inwardly on his pure Ātman and practise outwardly kindness to all beings. Lastly, his mind should ever be fixed on the realization of sentient effulgence which is separate from everything else.

VII. The *Deśavratoddyotanam* (*DV*, verses 27) 'Light on the *deśa-* or *aṇu-vratas*': It is an exposition on the career of a Śrāvaka. By penances and and through meditation all the Karmas must be consumed and Liberation attained: that is the highest object for the human being. If that is found beyond the reach of any individual, he should lead the life of a sincere Śrāvaka or layman by practising the prescribed code of behaviour (5-6). Giving gifts to the worthy is a great balancing virtue for him. Śrāvakas are a great support of the community life, both social and religious (20). With devotion, it is they who build temples, consecrate images of Jina and celebrate religious festivities: and thus, through *dharma*, they are on the path of *mokṣa*.

VIII. The *Siddha-stutiḥ* (*SS*, verses 29) 'Prayer to Siddha': In a dignified style, the author offers salutations or prayers to Siddha soliciting shelter from him and incidentally presenting a fine discourse on Siddha, his status, his achievments, his great qualities (especially *ananta-darśana*, *-jñāna*, *-vīrya* and *-sukha*) his being the Eternal Sentient Effulgence etc. All the excellences of Siddha cannot be comprehended, much less can they be described; and so even to remember his name with '*bhakti*' or devotion is beneficial.

IX. The *Ālocanā* (*Al*, verses 33) 'Recounting, Reporting or Confessing one's acts': Glorifying the great qualities of Jina, the author offers a sort of prayer, recounting, repeating or confessing his shortcomings and defaults in thoughts, words and acts, direct as well as indirect; and seeks shelter of the Jina with a view that they might be *mithyā*, null and void in effect. It is a self-analysis and self-introspection in the presence of Jina who knows everything; and the purpose is to divest oneself of similar faults further and attain internal purification. The mind is often perplexed and deluded, and endless

1) Here the reading *jinageho* is adopted.

defaults are there in life; and it is well-nigh impossible to expiate them. It is not possible, at present, to experience self-realization. Saṁsāra is *dvaita* and Mokṣa is *advaita*: one has to reach from one to the other. The rigorous path of conduct preached by Jina is difficult in these days, so devotion or *bhakti* towards Jina alone is one's rescue or shelter (30). Recitation of this *ālocanā* leads one to the abode of Bliss.

X. The *Sadbodha-candrodayaḥ* (*SC*, verses 50) 'Moonrise of Real knowledge': This is an elegant exposition on the sentient Real *cit-tattva* = *ātma-tattva*, also called *haṁsa* [(*a*)*haṁ sa*]. Though this Real is known to some, it is difficult to be described: very few experience it and attain liberation. Even men of learning get deluded in comprehending it: it is a fact of experience where in other faculties do not function. It is in oneself, but the deluded ones wander for it outside. It is something unique, though in the midest of all that is commonplace. Karman is different and Ātman is different: this is the pure meditation whereby one gets emancipation. The deluded soul has wandered long in sleep in the *saṁsāra*, and now it needs to be woke up by the moonrise of Real knowledge: the great *yogin* is exerting himself to achieve this.

XI. The *Niścaya-pañcāśat* (*NP*, verses 62) 'Fifty stanzas on the Real': This is a discourse on the experience of self-realization from the Real (*niścaya*) point of view. The body is ephemeral, and its contact with Ātman temporary. The Ātman, however, is real and eternal; its experience, its realization as unique, sentient effulgence is beyond thoughts and words. When the mind is detracted from physical and other distractions and plunged in the ocean of joy, this sentient effulgence dawns in one's experience. It is rare and unique, and can be comprehended only from the Niścaya point of view wherein the three Jewels (*ratna-traya*) are realized as Ātman itself. Body is different, Karman is different from Ātman: this experience of isolation or separateness is important. When all the distractions are eschewed, intelligence suddenly flashes into that sentient effulgence of self-realization like moon-light on the ocean when the moon rises. When the distinction of *sva* and *para* is grasped, the Ātman is realized. Even the ideas of 'bound' and 'liberated' presume duality, so one has to rise above them to attain self-realization.

XII. The *Brahmacarya-rakṣāvartiḥ* (*BR*, verses 22) 'A Medicinal Wick preserving celebacy': A woman's body is full of blemishes, its allurements are deceptive, and any attachment for it is a fall for a monk who is aspiring after self-realization. One should be engrossed in one's Ātman relinquishing all attachment, conquering senses and treating all women as mothers and sisters. Self-restraint is possible through suitable diet etc.,[1] and

1) Something like this verse No. 4, the *Prabandhacintāmaṇi* (Bombay 1933, p. 82) puts the following verse in the mouth of Hemacandra: सिंहो बली द्विरदशूकरमांसभोजी संवत्सरेण रतमेति किलैकवेलम्। पारापतः खरशिलाकणभोजनोऽपि कामी भवत्यनुदिनं वद कोऽत्र हेतुः ॥.

all incentive to sex-passion has to be abandoned: then and thus alone human life is made fruitful by practising severe penances which, in due course, lead one to the bliss of self-realization. The concluding verse explains how this *prakaraṇa* is a veritable medicinal wick.

XIII. The *Ṛṣabha-stotram* (*RS*, Prākrit verses 60) 'Prayer to Ṛṣabha': This is a prayer offered to Ṛṣabha, the first Tīrthakara. Incidentally it covers his biographical details in their mythological setting, almost from conception to his attainment of omniscience. Then are described his supernatural glories in the Samavasaraṇa, especially the eight *prātihāryas*. The *anekānta* preached by him enlightens the right path which rescues one from the misery of *saṁsāra*. His greatness is unparellelled, his knowledge is all comprehensive, and his great qualities are beyond a poet's comprehension.

XIV. The *Darśana-stutih* (*DS*, Prākrit verses 34) 'A prayer (offered) at the sight of (the image of) Jina (in the temple)': Here the various direct as well as indirect effects, results or fruits of seeing Jina are described very often with striking similes.

XV. The *Śrutadevatā-stutiḥ* (*SD*, verses 31) 'Praise of Śrutadevatā': When the Tīrthakara attains Kevalajñāna, his divine deep voice (*divya-dhvani*) flows out transforming itself into the various languages of the hearers; and it is this *vāṇī* that is the basis of the conception of Śruta-devatā, Śaradā etc. who is given an embodied form, called also Sarasvatī, Ambā, all-white etc. Praise is offered to her who is an eternal effulgence, who bestows wisdom and poetic faculty, who shows a clear path, without whose aid life loses its purpose, who is devoted to by Gaṇadharas (that explain the *divya-dhvani*), who is manifest in Aṅga texts and who opens the outlet to the highest knowledge etc. By reciting this hymn, one crosses the ocean of poetry and that of Saṁsāra.

XVI. The *Svayambhū-stutiḥ* (*SV*, verses 24) 'Prayer to (twenty four Tīrthakaras beginning with Svayambhū, Ādijina or Ṛṣabha)': Each stanza is a prayer offered to one Tīrthakara in a poetic style, sometime referring to his spiritual or religious benevolence, sometime giving an etymology or explanation of his name and sometime mentioning some significant trait or event in his spiritual career.

XVII. The *Suprabhātāṣṭakam* (*SA*, verses 8) 'Eight stanzas on the Blessed morning': The blessed morning has a symbolic meaning here. When the night and the consequent sleep of the Ghātiyā Karmas have reached their termination, the two eyes of omniscience *jñāna* and *darśana*, open for the Jina: his omnipresent knowledge enlightens the whole universe, all perverted views are dispelled and the right path is shown to all for their spiritual benefit. It is this *suprabhāta*, the dawning of omniscient blessedness, that is glorified here in a florid style.

XVIII. The *Śāntinātha-stotram* (*SN*, verses 9) 'Praise addressed to Śāntinātha': The last *pāda* of each verse soliciting protection or shelter is identical in all the stanzas. The sixteenth Tīrthakara, Śāntinātha or the Lord of Peace, whose very name itself is alluring, is praised here with reference to Eight *prātihāryas*, more or less divine glories attending on him in his Samavasaraṇa (i. e., the supernatural theatre for preaching), namely, 1) *chatra-traya*, three umbrellas (one above the other); 2) *dundubhi*, the drum; 3) *simhāsana*, the lion-seat; 4) *puṣpavṛṣṭi*, shower of flowers; 5) *bhāmaṇḍala*, halo of lustre; 6) *aśoka*, Aśoka tree; 7) *divya-dhvani*, celestial voice; and 8) *cāmara*, chowry. It is the devotion or *bhakti* that tempts one to praise the greatness of Śāntinātha which is incomprehensible.

XIX. The *Śrī-jinapūjāṣṭakam* (*JP*, verses 10) 'Eight stanzas for offering worship to Jina': The first eight verses refer to the offering of i) *jala*, water; ii) *candana*, sandal paste; iii) *akṣata*, a cluster of rice-particles; iv) *puṣpa*, flowers; v) *naivedya*, foodstuff; vi) *dīpa*, waving of lighted lamp; vii) *dhūpa*, incense; viii) *phala*, fruits; and lastly *puṣpāñjali*, a handful of flowers. Some of the ideas are expressed with a poetic flourish and eliminating apparent contradiction in offering these items to Jineśvara who is free from *kṣudhā* etc. The Arhat or Jina is *kṛta-kṛtya* and hence the *pūjā* serves no purpose of his: an agriculturist cultivates the land not so much for the benefit of the king as for his own. One who offers *pūjā* has his heart and mind purified.

XX. The *Śrī-karuṇāṣṭakam* (*KA*, verses 8) 'Eight Stanzas soliciting Divine Mercy': The suffering soul (styled here *kiṁkara*, *dīna*, *patita* etc.), plunged in the misery of rebirth, piteously appeals to Jineśvara for rescue from Saṁsāra and solicits his mercy. A village headman gives shelter to any one in difficulty, what wonder then that the Lord of Worlds (called here *tribhuvana-guruḥ*, *jagatāṁ prabhuḥ*, *kāruṇikaḥ* etc.) shows kindness to the soul oppressed by Karmas! The suffering soul can be happy so long as the lotus-feet of Jina are treasured in one's heart.

XXI. The *Kriyā-kāṇḍa-cūlikā* (*KC*, verses 18) 'A *cūlikā*, crest, appendix or concluding recitation at the close of the routine of duties': The first nine verses constitute a devotional prayer offered to Jinendra by the author in the first person. The Jinendra is a mine of virtues and free from all the blemishes: howsoever great a poet might be, it is not possible for him to encompass the entire height of his virtues; still the prayer is just an attempt to express the inner devotion. Devotional thoughts and prayers directed towards Jinendra achieve all the objects (*nikhilārtha-siddhi*). Devotion to the feet of Jina is the highest solicitation and the greatest benefit. Study of all scriptures and practice of all conduct are not possible to-day; and hence, at present, devotion (*bhakti*) to Jina is the highest panacea, a gradual step to Mokṣa. The feet of Jinendra are the highest shelter wherethrough one might get the three-fold

jewel and be free from all evils. Whatever blemishes have occurred through *pramāda* (carelessness, negligence, lack of vigilence etc.) in the practice of religious virtues and whatever sin has accrued thereby, the aspirant appeals to Jina, should become null and void,[1] by his remembering the feet of the latter. The Jinavāṇī characterised by the glow of Syādvāda and shedding light on the entire range of reality, is the supreme authority and valid means of knowledge (*pramāṇa*): she is like a mother who should overlook the aspirant's short-comings in the prayers offered. This Cūlikā,[2] if recited thrice daily, eliminates all the blemishes in the daily routine arising out of physical, verbal and mental limitations of an individual.

XXII. The *Ekatvabhāvanā-daśakam* (*EB*, verses 11) 'Ten Stanzas of Reflection on Oneness or Separateness': One who realizes oneself, one's own Ātman, the great effulgent and sentient principle, is a great Yogin who is not afraid of Karmas and who crosses this Saṁsāra. Thus one attains the highest Bliss of Liberation which is immune from attachment and aversion (*rāga* and *dveṣa*).

XXIII. The *Paramārtha-viṁśatiḥ* (*PV*, verses 20) 'Twenty stanzas dealing with the Highest Object': In this Saṁsāra, that the Ātman is unique and separate from Karman (*advaita*) and also the seed of the tree of Liberation is not realized. This self-realization is characterised by infinite-quaternity (*ananta-catuṣṭaya*) and is above all worldly botherations. This state of isolation is an abode of infinite knowledge; therein one's perfect independence (*ekākitā*) is realized; and therein the self is realized (*so'ham*), eschewing passions and possessions. The body may be weak, the times may be bad—still nothing should come in the way of concentrating one's mind on that pure sentient spirit, leaving aside foreign adjuncts and outward attachments. If the Teacher's words burn bright, giving joy, in one's heart, all other considerations are subservient. When the Karmas are realized to be separate from Ātman, even the ideas of happiness and misery disappear. When the mind is firm, all other distractions lose their effect; the pure sentient Ātman is realized; there is no room for any attachment or desire; and it is a state which words cannot adequately describe.

XXIV. The *Śarīrāṣṭakam* (*SA*, verses 8) 'Eight stanzas on body': The human body is a hut, full of dirt and perishable by nature: a sensible person should never be over attached to it and try to make it pure by water and sandal paste. It is not fit for enjoyment; but it should be yoked to the practice of penances and used as a boat to cross this worldly current. It should treasure the correct instructions of the Teacher. Contact with this

1) These verses are of the pattern of *micchāmi dukkaḍaṁ*; and then follows a prayer to Jina-vāṇī.

2) This *prakaraṇa* looks like a combination of two *aṣṭakas*; and the last two verses come like an appendage perhaps added by the author himself.

body is the veritable worldly life; so one should not go on nourishing it and be attached to it.

XXV. The *Snānāṣṭakam* (*Sn*, verses 8) 'Eight stanzas on bathing': The Ātman is so pure by nature that no bathing is needed for it; while the body is so impure that bathing can never purify it. Real bathing consists in that sense of discrimination (*viveka*) which alone wards off the dirt of sin. The real *tīrtha* is the *ratnatraya* (Right Faith, Right Knowledge and Right Conduct) in which the wise should dip themselves rather than in the stream of Ganges which cannot bestow internal purity and remove the sin. This body is so impure that no amount of *tīrtha-snāna* and camphor-paste can purify it; and one day it is sure to decay. So the wise should concentrate themselves on the cultivation of Samyag-darśana etc.

XXVI. The *Brahmacaryāṣṭakam* (*BA*, verses 9). Sex-passion is an animal instinct; so the wise people try to avoid it even in the case of their wives, then what to say with regard to other women! Sex-enjoyment is a trifle of satisfaction, and therefore, it cannot be called happiness. A self-controlled monk has to avoid it fully, because it is harmful to him here and elsewhere: it is a poison which allures fickle minds. This is addressed to those who are aspiring after liberation; so those who are plunged in sex-pleasures should receive it with toleration.

3. PADMANANDI : HIS AUTHORSHIP

Among the twenty-six *prakaraṇas* put together under the common title, *Pp*, four (XXII, XXIII, XXIV and XXVI) do not mention the name of the author; and the remaining twenty-two specify him as Padmanandi (in Prākrit Poma- or Pomma-ṇaṁdi 741, 774), sometimes, for metrical necessity, giving, at times by śleṣa, the synonyms Abja- (883), Ambhoja- (514), Ambhoruha- (838, 847) and Paṅkaja-nandi (396, 485, 930); he is qualified by terms like *bhavya*, *muni*, *yatīndra* and *sūri* which show that he was a pious and outstanding monk; and more than once the name of his *guru* is mentioned as Vīranandi (198, indirectly 252 and 546). This is all that we know about Padmanandi from this *Pp*.

Though the four *prakaraṇas*, noted above, do not mention the author's name, they have much in common with others: cf. XXII. *EB* with IV. *ES*, XXII. 6 and X.*SC*, 49; cf. XXIII. *PV*, 9, 10 and 16 with III. *AP*, 17, XXIII. 18 with I. *DA*, 55, XXIII. 19 & 20 with I. 54 & XI. *NP*, 10; cf. XXIV. *SA*, 1 with III.3, XXIV.5 with III.17 etc.; and cf. XXVI. *BA*, with XII. *BR*, especially 665 and 939. Further, in XXVI *BA*, the author

mentions himself as *muni* which often goes with Padmanandi in this work. So even the anonymous sections have a stamp of similar contents, and are probably composed by the same author, Padmanandi.

There have been many authors and saints bearing the name Padmanandi at different times and places. It is easier to raise a question whether all these *prakaraṇas* are written by one and the same Padmanandi than to answer it, because there is no sufficient evidence, either internal or external, to tackle this problem satisfactorily. It looks highly probable, though one should not be too sure, that the hand of one and the same author is apparent in all these *prakaraṇas*. First, the name Padmanandi is mentioned at the close of most of them; and as noted above, even the anonymous ones have something strikingly common with others. Secondly, there are some verses repeated or nearly repeated in different *prakaraṇas* : for instance I. 16 & VI. 10; I. 149 & IX. 24; I. 154 & XXIII. 19 (the third line is differently worded) ; I. 158 & IX. 5 (some two lines alike); I. 159 & IX. 19; II. 7 & II. 42 (this is common in the same *prakaraṇa*, thus increasing the specified number); III. 3 & XXIV. 1; XI. 10 & XXIII. 20 (partly); etc. Thirdly, very similar topics, with quite parallel settings, are expounded in different *prakaraṇas*: see, for instance, I. 125 & XIII. 34; II. 1f. & VI. 1f.; IV. *ES* & XXII. *EB*; XII. 6 & XXVI. 9; etc. Fourthly, the author's devotion to his *guru* and his words of instruction is repeatedly mentioned in various *prakaraṇas*, see, for instance : I. 197, II. 54, IX. 32, X. 26, 49, XI. 4, 59, XXII. 6, XXIII. 16, etc. Fifthly, the Prākrit *prakaraṇas* have also some ideas common between themselves and with others : for instance, XIII. 23f. and XVIII. 1f.; XIII. 59 & XV. 31; XIII. 3 & XIV. 16. Lastly, there are contexts in which similes and expressions are alike; for instance, IV. 61 and VII. 29. So, as long as there is no positive evidence to the contrary, one may work with the hypothesis that all the *prakaraṇas* are composed by one and the same Padmanandi.

4. VARIOUS PADMANANDIS

There have been many saints bearing the name Padmanandi, and some of them have Prākrit and Sanskrit works to their credit. i) Kundakunda of venerable antiquity had a name Padmanandi, and his various Prākrit works are well-known.[1] ii) The *Jambūdīvapaṇṇatti*,[2] a Prākrit text on Jaina cosmo-

1) A. N. UPADHYE : *Pravacanasāra*, Intro. pp. 2f, Bombay 1935.

2) Ed. by H. L. JAIN and A. N. UPADHYE, Sholapur 1958, see Intro. pp. 13f. For other discussion see also the *Indian H. Quarterly* XIV, pp. 188 ff., Calcutta 1938; J. MUKTHAR : *Purātana Jaina Vākyasūcī*, Intro. pp. 64 ff., Sarasawa 1950; N. PREMI : *Jaina Sāhitya aura Itihāsa*, 2nd ed., pp. 256 ff., Bombay 1956.

graphy, is composed by Padmanandi who gives good many details about himself. He was a pupil of Balanandi and a grand pupil of Vīranandi. Tentatively he is assigned to the close of the 10th or to the beginning of the 11th century A. D. iii) The author of the Prākrit Vṛtti on the *Pañcasaṁgraha*, lately published by the Bhāratīya Jñānapīṭha (Banaras 1960), is Paümaṇaṁdi who calls himself a *muni* and who is later than Akalaṅka. iv) The *Dhammarasāyaṇaṁ*,[1] in 193 Prākrit gāthās, is a disquisition on Dharma; and we only know that the name of the author is Padmanandi. There is no evidence to fix his age. v) Padmanandi,[2] who, according to the Paṭṭāvali, succeeded Prabhācandra on the pontifical seat at Delhi (Ajmer?) is assigned to c. A. D. 1328-1393. He came from a Brahmin family, and is the author of the *Bhāvanāpaddhati*, a hymn of 34 verses in fluent Sanskrit, and the *Jīrāpalli-Pārśvanātha-stotra*. He consecrated an image of Ādinātha in the year A. D. 1393.[3] It is his pupils that occupied further three seats of Bhaṭṭārakas at Delhi-Jaipur, at Īḍara and at Surat.

Then turning to epigraphic records, it is possible—though there are difficulties here and there—to list and distinguish a number of Padmanandis (who are introduced with some details) from the date specified and from their teachers and colleagues mentioned.

i) Padmanandi Siddhānti-deva or -cakravarti of the Kundakundānvaya, Mūlasaṁgha, Krānūrgaṇa and Tintriṇīka-gaccha was present in A. D. 1075 at the time of a religious donation.[4] ii) Kaumāradeva-vrati, who was a grand-pupil of Gollācārya and a pupil of Traikālya-yogi, had also the well-known appellation Aviddhakarṇa-Padmanandi-saiddhāntika. He belonged to the Deśī-gaṇa, a sub-division of the Nandi-gaṇa in the Mūlasaṁgha, and is referred to in an inscription of A. D. 1163. He had a colleague in Prabhācandra. His disciple was Kulabhūṣaṇa who had a pupil in Māghanandi associated with Kollāpura.[5] Possibly it is this Padmanandi that is referred to as *mantravādi* in an inscription of A. D. 1176.[6] iii) Padmanandi, a disciple of Nayakīrti and a colleague of Prabhācandra, is mentioned in some records dated A. D. 1181, 1195 and 1206.[7] iv) Padmanandi, a pupil of Rāv (m) anandi and a grand-pupil of Vīranandi, is mentioned in an inscription of the middle of the 12th

1) Māṇikacanda D. Jaina Granthamālā, No. 21, *Siddhāntasārādisaṁgrahaḥ*, pp. 192 ff., Bombay 1922.

2) A. N. UPADHYE : *Kārttikeyānuprekṣā*, Intro. p. 79, Agas 1960, in which some earlier sources are duly noted.

3) So this Padmanandi could not be the author of the *Ekatvasaptati* as it was once presumed.

4) *Epigraphia Carnatica* (*EC*), VIII, Sorab No. 262.

5) *EC*, II, ŚB, No. 64 (40).

6) Ibidem No. 66 (42).

7) Ibidem Nos. 327 (124), 333 (128) and 335 (130); he too is styled *mantra-vādīśvara*, Ibidem 66 (42). Thus the personalities of Padmanandi in ii and iii seem to merge into one.

century A. D.[1] v) Padmanandi-paṇḍita was one of the two eminent pupils of Adhyātmi Śubhacandra-deva who died in A. D. 1313 and whose epitaph they caused to be made as an act of reverence.[2] vi) Padmanandi-Bhaṭṭāraka-deva, a pupil of Bāhubali Maladhārideva, is mentioned in a record of A. D. 1303 when he got a temple constructed.[3] vii) Padmanandi-deva, disciple of Traividya-deva of the Koṇḍakundānvaya of the Pustaka-gaccha of the Desi-gaṇa of the Mūla-saṁgha, passed away in A. D. 1316 (? 1376).[4] viii) Padmanandi, pupil of Prabhācandra, is highly praised in the Deogarh inscription of A. D. 1414.[5]

From the meagre information that we have gleaned about our Padmanandi, it is not possible to identify him with any one of the Padmanandis, listed above, whose personalities are sufficiently distinct.

5. PADMANANDI: HIS AGE

It is to be seen what limits can be put to the age of Padmanandi, the author of *Pp*. No internal evidence is found in these *prakaraṇas*.

A] Whatever external evidence is available may be noted here chronologically, as far as possible.

i) A MS. of the Hindi Vacanikā[6] is dated *saṁvat* 1915, i. e., A. D. 1858. Then there is a MS. of *Pp*, dated *saṁvat* 1625, i. e., 1567 A. D.[7]

ii) Śrutasāgara (c. 15th century A. D.)[8] quotes in his Sanskrit commentary[9] a) on *Daṁsaṇa-pāhuḍa* 9 and *Mokkha-pāhuḍa* 12 the IV. *ES* 61, in the former case, with the introductory phrase: *uktaṁ ca Vīranandi-śiṣyeṇa Padmanandinā;* b) on *D-pāhuḍa* 30, the I. *DA*, 75 with the same introductory phrase; c) on *Cāritta-p*. 21, a verse found at I. *DA*, 16 & VI. *US*, 10; d) on *Bodha-p*. 10, 23 & 50 (also on *Mokkha-p*. 9), the VII. *DV*, 22, X. *SC*, 31 & IV. *ES*. 79, in the first two instances with the above introductory phrase; e) on *Mokkha-p*. 55, the IV *ES*, 53[10] with a remark *tathā coktam Ekatva-saptatyām*. So Śrutasāgara knows very well some *prakaraṇas* from *Pp*.

1) P. B. DESAI: *Jainism in South India* (Sholapur 1957) pp. 280 f.; see also *EC*, VIII, Sorab Nos. 140, 233; Ibid. VII, Shikarpur No. 197.
2) *EC*, ŚB No. 65 (41) and Intro. p. 86.
3) *EC*, IV, Hunsur No. 14.
4) *EC*, ŚB, No. 269 (114).
5) R. MITRA: JASB, LII, pp. 67-80.
6) For details about it, see the Hindi Introduction.
7) K. KASALIWAL: *Rājasthāna ke Jaina Śāstra Bhaṇḍārõ kī Grantha-sūcī*, II, p. 395, Jaipur 1954.
8) A. N. UPADHYE: *Kārttikeyānuprekṣā* (Agas 1960), Intro. p. 85.
9) Māṇikacandra D. J. Granthamālā, No. 17, Bombay 1920.
10) This verse is absent in the Kannada Mss.

and attributes them (I, IV, VI, VII & X) to Padmanandi, the pupil of Vīranandi.

iii) Āśādhara, a voluminous author, whose known dates are A. D. 1228-1243, quotes in his *svopajña* commentary on the (*Anagāra*) *Dharmāmṛta*[1] a) VIII, 21, 23 and 64, the X. *SC*, 1, 18-16-44 and VI. *US*, 61 ; b) IX, 80-1, 93 and 97, the I. *DA*, 41, 43 & 42, once attributing the quotation to Śrī-Padmanandipāda. Thus Āśādhara is acquainted with Padmanandi and some of his *prakaraṇas*.

iv) Prabhācandra, in his Sanskrit commentary on the *Ratnakaraṇḍaka-śrāvakācāra* IV, 18, quotes two verses, Nos. 43-44, from VI. *US*, of Padmanandi; and he flourished earlier than (Āśādhara).[2]

v) Padmaprabha Maladhārideva has written a Sanskrit commentary on the *Niyamasāra* (ed. Bombay 1916) of Kundakunda in which he quotes IV. *ES*, 14, 20, 39-40-41 and 79 while explaining the gāthās Nos. 55, 96, 100 and 46 (of the *Niyama.*) respectively, usually mentioning the *ES*. It is known now that he died on February 24, 1185 A. D.[3] So Padmanandi, the author of *ES*, flourished earlier than Padmaprabha whose literary activities might be, broadly speaking, assigned to the middle of the 12th century A. D.

vi) Jayasena, in his Sanskrit commentary on the *Pañcāstikāya* (ed. Bombay 1915), gāthā No. 162, quotes the verse No. 14 of IV. *ES* without specifying the source. Jayasena's commentary is later than the *Ācārasāra* of Vīranandi (who completed the *svopajña* Kannaḍa commentary on it in 1153 A. D.) but earlier than the Sanskrit commentary on the *Niyamasāra* by Padmaprabha (died in 1185 A. D.) who appears to have followed Jayasena's commentary on the *Pravacanasāra* II. 46. in his commentary on the *Niyamasāra* 32.[4]

Padmanandi is a well-read author, and naturally some of his verses remind us of the thoughts and expressions from earlier works of Kundakunda, Pūjyapāda and others. If the subject matter is of a dogmatical nature, this inheritance of ideas has not much chronological value; but if, otherwise, the ideas and expressions have a striking similarity, some influence or inheritance can be presumed.

---

1) PREMI : *Jaina Sāhitya aura Itihāsa* (Bombay 1956) pp. 342 f.

2) Māṇikacandra D. J. Granthamālā, 24, Bombay 1925; its Intro. also pp. 53 f. See also the *Ātmānuśāsana*, Intro., Sholapur 1961.

3) A. N. UPADHYE : Padmaprabha and his commentary on the *Niyamasāra* in the *J. of the University of Bombay*, XI, ii, 1942, P. B. DESAI : *Jainism in South India and some Jaina Epigraphs* (Sholapur 1957), pp. 159-60.

4) A. N. UPADHYE : *Pravacanasāra* (Bombay 1935), Intro. p. 104; K. SHASTRI : *Jaina Sandeśa*, Śodhāṅka 5, p. 181, Mathura 1959. It is found in a new edition of the *Niyamasāra* (Songad 1951) that the portion resembling Jayasena's commentary is omitted.

B] Whatever parallel thoughts and expressions are detected in the works of earlier authors are noted below chronologically, as far as possible.

i) Pūjyapāda's Sanskrit *Bhaktis* are well-known; and Padmanandi's V. *YB*, 6 reminds one of the *Yogi-bhakti* 3, ff., also *kṣepaka* No. 2.[1]

ii) The *Bhaktāmara-stotra* (BS) of Mānatuṅga[2] is a fine piece of poetry, besedes being a devotional hymn, and is often recited by Jaina monks and laymen. Some of the verses of Padmanandi remind one of the BS: cf. XXI. *KC*, 1 & BS, 27; XIII. *RS*, 23-34, XVIII. *SN*, 1-8 (the description of the eight *prātihāryas*) & BS. 28-35; compare also XIII. *RS*, 8, 28 & 51 with BS. 22, 32 and 24-5.

iii) Some verses of Padmanandi recall to one's mind similar contexts from the *Kalyāṇamandira-stotra* (KS)[3] of Kumudacandra : cf. XIII. *RS*, 24 with KS. 19; also XV. *ŚD*, 31 and XVIII. *SN*.1-2 with KS. 2, 25-6.

iv) The *Ātmānuśāsana*(Ā) of Guṇabhadra[4] is a didactic anthology with fine specimens of religious and ascetic poetry in the pattern of Jaina ideology, and with it some of the *prakaraṇas* of Padmanandi have common topics. Now and then Padmanandi's verses resemble those of Ā: compare, for instance, I. *DA*, 76 and Ā. 15; I. *DA* (also III. *AP*, 34) and Ā. 130; III. *AP*, 44 and Ā. 34; XII. *BR*, 21 and Ā. 111. Guṇabhadra is assigned to the middle of the 9th century A. D.[5]

v) Somadeva was an outstanding saint and poet of his age, and his *Yaśastilaka*(Y)[6] has influenced many subsequent Sanskrit authors. Padmanandi shows close acquaintance with this religious romance and seems to be indebted to it here and there: compare, for instance, XV. *ŚD*, 15 and Y. Uttara., p. 401 (the verse *ekaṁ padaṁ* etc.). Padmanandi's exposition of *dāna* (VII. *DV*, 11-12), his arguments to prove the next world (I. *DA*, 27), his enumeration of the six duties of laymen (VI, *US*, 7), his reference to the *śāka-piṇḍa* (II. *DU*, 7) given to a monk, and his mention of eight *mūla-guṇas* remind us of similar contexts in Y. Uttara. pp. 403-4, p. 257 (the verse *tadarhajas* etc.), p. 414, p. 408, p. 327; etc. We may compare also VI. *US*, 26 with the verse *sarva eva hi* etc. in Y. Uttara. p. 373. Somadeva completed his Y. in Śaka 881, i. e., 959 A. D.

1) J. PARSHWANATH, Sholapur 1921, pp. 192 f., 198.

2) Kāvyamālā, VII, 4th ed., Bombay 1926; H. JACOBI, *Ind. Studien*, XIV, p. 359 ff; M. WINTERNITZ : *A History of Indian Lit.*, II, p. 549.

3) Kāvyamālā VII, 4th ed., Bombay 1926; H. JACOBI, *Ind. Studien* XIV, p. 376 ff., M. WINTERNITZ : *A History of Ind. Lit.*, II., p. 551.

4) N. S. Press, Bombay 1905, in the Sanātana-Jaina-Granthamālā I.

5) PREMI : *Jaina Sāhitya aura Itihāsa*, 2nd ed. (Bombay 1956), pp. 138 ff.; also Intro. to the *Ātmānuśāsana*, Sholapur 1961.

6) Kāvyamāla, 70, Pūrva- and Uttara-Khaṇḍa, Bombay 1903; also K. K. HANDIQUI : *Yaśastilaka and Indian Culture*, Sholapur 1949.

vi) The *Jñānārṇava*(Jñ) of Śubhacandra contains a good deal of religious poetry especially in the exposition of *anuprekṣā* and *dhyāna*. The III. *AP* has some similes common with *anitya-a.*, and some verses of Padmanandi remind one of Jñ : compare, for instance, III. *AP*, 16, 28, 50 with Jñ., *anitya-a.* 30-31 (this is an old simile found also in the *Bhagavatī Ārādhanā*, gāthā No. 1720, of Śivārya), *aśaraṇa-a.* 8

vii) The high ecstatic and spiritual flourishes seen here and there in the poetry of Padmanandi often remind one of the style of Amṛtacandra. The verse No. 8 ff. of XI. *NP* can be compared with the *Puruṣārthasiddhyupāya* (PS)[1] 4-6. Amṛtacandra flourished earlier than A. D. 998, that being the date of the composition of the *Dharmaratnākara* of Jayasena who has drawn on the PS of Amṛtacandra.[2]

viii) In a few contexts, the ideas and expressions of Padmanandi have close resemblance with those in some of the works of Amitagati (II): compare, for instance, I. *DA*, 134 ff. and *Śrāvakācāra*[3] IV, 46; VI. *US*, 29-30 and *Śrā.* XIII, 44-48; see also XXI. *KC*, 11 and *Dvātrimśikā*[4] 5-7 : in both the places there is an appeal to Sarasvatī for forgiveness. Amitagati flourished in the last quarter of the 10th and 1st quarter of the 11th century A. D.[5]

ix) Padmanandi has repeatedly appealed for the construction of temples and statues of Jina ; and one of his verses, VII. *DV*, 22, very much resembles Vasunandi's *Śrāvakācāra*,[6] 481-82, with which he appears to share some contexts as well. Vasunandi flourished earlier than Āśādhara.[7]

Padmanandi does not mention any of these authors or their works by name from which some influence on him is detected on account of similar thoughts or expressions. So the chronological limits based on these similarities are only a matter of probability.

From the above discussion all that can be said is that it is highly probable that Padmanandi is later than Amitagati (last quarter of the 10th and the first quarter of the 11th century A. D.) and definitely earlier than Padmaprabha (who died in 1185 A. D.).

1) N. S. Press, Bombay 1905, in the Sanatana-Jaina-Granthamālā I.

2) A. N. UPADHYE : *Pravacanasāra*, Intro. pp. 100-101; also PARAMANAND : *Anekanta*, VIII, pp. 173-75.

3) Muni Śrī-Anantakīrti D. J. Granthamālā, 2, Bombay Saṁvat 1979.

4) Māṇikacandra D. J. Granthamālā, 13, Bambay 1928.

5) A. N. UPADHYE : *Paramātma-prakāśa* (Bombay 1937), Intro., p. 73, footnote 3; for more details about Amitagati, see N. PREMI : *Jaina Sāhitya aura Itihāsa* (2nd ed.), pp. 275 ff. Bombay 1956.

6) Bhāratīya Jñānapīṭha, Banaras 1952.

7) A. N. UPADHYE : 'On the Date of Vasunandi's com. on Mūlācāra' in *Woolner commemoration* Volume, (Lahore 1940) pp. 257-60 : J. MUKTHAR : *Puratana Jaina Vākyasūcī* (Sarsawa 1950) Intro. pp. 99-101.

C] There is a Kannaḍa commentary available on the *Ekatvasaptati*.[1] It exhibits a good philosophical style, rendered a bit heavy with Sanskrit compounds and long expressions. It contains a number of quotations in Prākrit and Sanskrit, drawn from the works of Kundakunda and Amṛtacandra. It is written in the third-person style. As mentioned in it, the name of the commentator is (Śrī) Padmanandi-vrati, and the name of the author is Padmanandi-muni; they were contemporaries, no doubt; and one feels like starting with the presumption (a presumption, because the *Pp.* does not mention Śubhacandra and Kanakanandi and *ES* and its commentary make no reference to Vīranandi, among his Gurus) that they are identical. That is, the author himself has written the Kannaḍa commentary,[2] and this seems to have been hinted by the phrase *labdhātma-vṛtti*. About Padmanandi-muni, it is said in the commentary that he was the chief disciple (*agra-śiṣya*) of Śubhacandra Rāddhāntadeva, that he had received instructions from Kanakanandi Paṇḍita, that he got spiritual enlightenment through the moonlight (of the words) of Amṛtacandra, and that he composed this *Ekatvasaptati* for the instruction of Nimbarāja. Both Padmanandi and Nimbarāja are glorified in the concluding verses.

These details, as they are contemporary, have a great value for fixing the date of the author of *ES*, in particular, and of our author in general.

1) Some 50 verses of this, along with a Sanskrit com., were published in the *Kavyāmbudhi*, ed. by PADMARAJ PANDIT as early as 1893. Besides this Dr. UPADHYE has scrutinised three Mss. for this Kannaḍa commentary: i) It is a palm-leaf Ms. from the Lakṣmisena Maṭha, Kolhapur. It contains four works, *Iṣṭopadeśa*, *Samādhiśataka*, *Svarūpasambodhana* and *Ekatvasaptati*, all accompanied by Kannaḍa commentaries of different authors. ii) There is a Ms. at Arrah; and Pt. K. BHUJABALI sent to Dr. UPADHYE some notes from it. iii) Another palm-leaf Ms. was lent to Dr. UPADHYE by the late lamented Pt. APPASHASTRI of Udagaon (Dist. Kolhapur). The following observations are based on these sources.

2) This commentary deserves to be well-edited and brought to light. Selecting suitable readings and making minor corrections; though some difficulties of interpretation remain I am presenting some relevant extracts from it on which these observations are based. The opening portion runs thus : आनन्दानन्द चैतन्यसहजात्मानमक्षयम् । नत्वाऽभाष्या वक्ष्ये टीकामेकत्वसप्ततेः ॥ श्रीमत्पद्मनंदि पंडितदेवरल्यासन्नाशेषभव्यजनंगळ्गे बहिस्तत्त्वशुद्धात्मतत्त्वगळं गौणवृत्तियिं शुद्धात्मतत्त्वपरमतत्त्वमं मुख्यवृत्तियिं प्रतिपादिसिदुदु कारणमागि एकत्वसप्ततियेंब ग्रंथदमोदलोळ् इष्टदेवतानमस्कारमं मंगळार्थमागि माडिदपर् । अदावुदेंदोडे—चिदानंदैकसद्भावं etc. Then the concluding portion runs thus :

श्रीपद्मनन्दिव्रतिनिर्मितेयम्, एकत्वसप्तत्यखिलार्थपूर्तिः ।
वृत्तिश्चिरं निम्बनृपप्रबोधलब्धात्मवृत्तिर्जयतां जगत्याम् ॥

स्वस्ति श्रीशुभचन्द्रराद्धान्तदेवाग्रशिष्येण कनकनन्दिपण्डितवाग्रश्मिविकसितहृत्कुमुदानन्द श्रीमदमृतचन्द्रचन्द्रिकोन्मीलितनेत्रोत्पलावलोकिताशेषाध्यात्मतत्त्ववेदिना पद्मनन्दिमुनिना श्रीमज्जैनसुधाब्धिवर्धनकरापूर्णेन्दुरारातिवीरश्रीपतिनिम्बराजावबोधनाय कृतैकत्वसप्ततेर्वृत्तिरियम् तज्ज्ञाः संप्रवदन्ति संततमिह श्रीपद्मनन्दिव्रती, कामध्वंसक इत्यलं तदनृतं तेषां वचस्सर्वथा । गाण्या सार्धमहर्निशं रणति संप्रीत्या तपःकामिणीम्, आलिङ्ग्यामलकीर्तिवारवनितां वाञ्छन् यदा तिष्ठति ॥ श्रीमन्निम्बनृसिंहवृंहितभवत्संग्रामभीमारवोदीर्णोदीर्णभयात् परब्रह्मकरः स्वाग्रदिग्दन्तिनः । शेषा दन्तिन एव भीतमतयो ज्ञाता यदि स्थीयते, किं वीरारिनृपैः पुनस्तव रणे सामन्तचूडामणिः (?) ॥ निम्बस्तम्बेरमस्तद्व्वदरिनृपस्तम्भवीरावमर्दी, सद्वंशोऽनूनदानाङ्कितभुवनतलश्यामभावैकरम्यः । भद्रो मदप्रतीकः प्रबलसरकराधातभीताखिलाशापालः प्रत्यर्थिसेवामथनपृथुयशोव्याप्तदिक्चक्रवालः ॥. This last verse is not found in the Arrah Ms.

Padmanandi might be having more than one *guru*, so it can be accepted that both Vīranandi and Śubhacandra were the *gurus* of Padmanandi. R. NARASIMHACHAR[1] perhaps did not distinguish between the text and the commentary of *ES*; that is why he observed that Nimba was praised as the crest-jewel of *sāmantas* in the *ES*. His second observation is that Padmanandi was a disciple of Śubhacandra who died in 1123 A. D. This is not unlikely, but there is no positive proof that this very Śubhacandra was the *guru* of Padmanandi. The inscription[2] describing the glorious personality and recording the death of Śubhacandra has no referenec at all, as far as seen, to Padmanandi. The commentary calls Śubhacandra by the designation *rāddhānta-deva* and the inscription also describes him *Jaina-mārga-rāddhānta-payodhi* in addition to *siddhānta-vārinidhi*: but that is a slender common point. More definite proof is needed, because, according to the inscriptions, some other contemporary teachers of the name Śubhacandra[3] were there.

Padmanandi was a contemporary of Nimbadeva.[4] Nimbadeva was a *mahāsāmanta*, a great feudatory, of the Śilāhāra king Gaṇḍarāditya; he was a devout lay disciple of Māghanandi (styled as *Kollāpura tīrthakṛt*); he got constructed the Rūpanārāyaṇabasadi (*rūpa-nārāyaṇa* being the title of his master Gaṇḍarāditya) in Kolhapur; and he made a grant on Kartika va. 5, Śaka 1058 (A. D. 1136) of some income (levied from merchants etc. from places round about Kolhapur and Miraj which seem to have been under him) to another temple (built by himself) dedicated to Pārśvanātha in the market site of Kavaḍegoḷḷa. This may be the same as the present-day Mānastambha Basadi near the Śukravāra gate. Nimbadeva was a devout Jaina. Inscriptions speak of him as the reservoir of many good qualities and a *kalpa-vṛkṣa* to the learned *yatis*. This means that our Padmanandi being a contemporary of Nimbadeva flourished near about A. D. 1136, i. e., in the second quarter of the 12th century A. D.[5]

To conclude, Padmanandi is possibly later than Amitagati, definitely earlier than Padmaprabha (who died in 1185 A. D.) and a contemporary of Nimbadeva (known date 1136 A. D.). So we can assign Padmanandi to the 2nd quarter of the 12th century A. D.

---

1) *EC.* II, ŚB, Intro. p. 68.

2) Ibidem No. 117 (43), Intro. p. 82.

3) Ibidem No. 380; also A. N. UPADHYE: Śubhacandra and his Prakrit Grammar, ***Annals of the B. O. R. I.***, XIII. i, pp. 37 ff.

4) Major GRAHAM: *Report* on the Principality of Kolhapur, pp. 357, 465, 466 etc.; *EC.* II, ŚB, Nos. 64 (40); Intro. pp. 61, 74 & 85; P. B. DESAI: *Jainism in South India* etc. (Sholapur 1957), p. 120.

5) This is a partial fulfilment of the promise of a paper on Nimbadeva made by Dr. UPADHYE years back: ***Annals*** of the *B. O. R. I.*, XIII. i, p. 40. Nimba Samanta was such an outstanding figure of his age that subsequent generations invested his personality almost with a legendary

6. PADMANANDI : HIS PERSONALITY

After presenting the above study, it is possible now to get a broad outline of the personality of Padmanandi. Padmanandi lived in the then Kannaḍa speaking area and flourished during the middle of the 12th century A. D. He claimed among his *gurus*, Vīranandi[1] and Śubhacandra; he received

halo. There is available in Kannaḍa a work *Nimba-sāvanta-carite*. In 1931 Prof. UPADHYE came across a Ms. of it in the possession of the late lamented Pt. APPASHASTRI UDAGAONKAR who kindly loaned it to him for some time; and Prof. K. G. KUNDANGAR prepared a neat transcript of it which is still with him. Prof. KUNDANGAR wrote also a note on this work in the (Kannada) *Jinavijaya*, August 1931. Pt. APPASHASTRI's Ms. is written in A. D. 1736, at Ashta (Dist. Sangli), following a Ms. there in the temple of Ajitanātha. This Ms. was got prepared by the nun (*kanti*) Śāntimati, the disciple of Guṇabhadra who seems to have been initiated in the order (?) by Śrī-Jinasena-Bhaṭṭāraka of Kolhapur. The name of the author of this *Nimba-sāvanta-carite* is Pariśva (= Pārśva) who calls himself a *satkavi* and *bhṛtya* (a follower) of Jinasena of the Senagana (i. e., the Bhattāraka at Kolhapur). The author does not mention when he lived. He is earlier than 1736 A. D., that being the date of the Ms.; and Prof. KUNDANGAR surmises from the language and style that the author flourished in the 17th century. His work might have been based on some earlier *prabandhas* or persistent traditions. The work has five Saṁdhis and there are 506 verses in *satpadi* metre. In this work, Nimbadeva is sketched as highly pious and religious, a devout Jaina, a patron of Jaina monks and Ācāryas, and very much loved and liked by the common people. Bijjaṇa of Kalyāṇa (who followed Jainism) once heard about the great fame of Gaṇḍarādityadeva and marched against him with his army. Nimbadeva, on behalf of his master Gaṇḍarāditya, faced him on the battle field, fought bravely and routed the army, but at last was crushed by the elephant of Bijjaṇa. Bijjaṇa was overpowered by the fear that how many more such brave generals might be there under Gaṇḍarāditya and returned to Kalyāṇa with his army next day, without further continuing the battle. This is the substance of the biography. Prof. KUNDANGAR has already pointed some historical discrepancy in the above details. The Silāhāra Gaṇḍarāditya was a contemporary of Chālukya Vikramāditya Tribhuvanamalladeva (1076-1126) and his sister Candrikādevi was married to the latter. He ruled from 1110 to 1136. Bijjaḷa's attack against the Chālukyas is to be assigned to 1157; so the march was against the Śilāhāra king Bhoja, and not against Gaṇḍarāditya. Nimba built at least two temples of Jina in Kolhapur; he was a devout disciple of Maghanandi, an outstanding teacher of his times: a spiritualistic text like the *Ekatvasaptati* was explained to him in Kannada; he made arrangements for pious donations; and the concluding verses of the comm. of the *ES* depict him as a great hero. All these must have lingered in public memory in the area round about Kolhapur and Miraj for a long time with the result that a poet like Pārśva was tempted to write a *prabandha* on Nimbadeva. Dr. UPADHYE is very thankful to his friend Prof. K. G. KUNDANGAR who spared his transcript, which, at his request, he had prepared some thirty years back. There was an idea of publishing it, but the text in this only available Ms. is full of mistakes. When some more Mss. are discovered, it would be possible to present a readable text. The original Ms. is now in the Gurukula Library, Bahubali (Dt. Kolhapur); and Prof. KUNDANGAR has presented his transcript to the Karnatak University Library, Dharwar.

1) Vīranandi, the author of *Ācārasāra*, wrote a Kannaḍa vṛtti on it in 1153 A. D. See the Intro. to the *Pravacanasāra*, p. 104.

instructions from Kanakanandi-paṇḍita;[1] and he had studied well the *ādhyātmika* works of Amṛtacandra. He shows extensive learning, and is thoroughly grounded in the works of Kundakunda, Pūjyapāda, Guṇabhadra, Somadeva and others. He has equal mastery on Sanskrit, Prākrit[2] and Kannaḍa. Among his *prakaraṇas*, the *Ekatva-saptati* reached great eminence (and was quoted by a younger contemporary like Padmaprabha) not only by its lofty tone of spiritual contents but also by its being composed and commented upon for the instruction of Nimba Sāmanta, the great faudatory of Śilāhāras. He calls himself a *vratin, sūri, muni* and *yatīndra* indicating that he was an outstanding monk. He holds the instructions of his *guru* in high esteem (see I. 197, II. 54, IX, 32, X. 26, 49, 4, 59, XXII. 6, XXIII. 16). He stands for rigorous practice of the basic ascetic virtues (I. 40); and as a Digambara he laid great stress on self-restraint (*saṁyama*) and celibacy. The Vyavahāra point of view is for the less intelligent; and he has insisted on the *niścaya* point of view. He preferred loneliness and shows unlimited zeal for the experience and realization of the Paramātman, the eternal sentient effulgence and bliss. More than once he has hinted that times are bad (VI. 6, VII. 27 etc.) for high religious ideals and that there is slackness. He repeatedly preaches that the institutions of temple, worship, consecration of images and sustenance of monks are a social obligation

1) It is not very clear whether this instruction was oral or through books. Without going into the details about various Kanakanandis, it may be just noted here that Padmanandi had a contemporary Kanakanandi-paṇḍita-deva (mentioned in the Terdal inscription of 1123 A. D. see *I. A.*, XIV, pp. 14-26) who was an *agra-śiṣya* of Maghanandi who had his royal disciple in Nimbadeva (*EC*, II, ŚB. No. 64 (40), also Intro. p. 85) for whom the *ES* and its Kannada commentary were composed.

2) Some casual observations may be added here on the Prākrit dialect used by Padmanandi in his two *prakaraṇas*, namely, XIII. *ES* and XIV *JS*. As a rule, intervocalic *k, g, c, j, t* and *d* are dropped leaving behind a vowel, which, if it is *a* or *ā* is substituted by *ya* or *yā* (*śruti*) irrespective of the preceding vowel. In words like *go-caraṇa, kaṁṭha-gaya jīviyassa* (XIV. 18, 31) the consonants *g, c* and *j* are not necessarily intervocalic. Then intervocalic *kh, gh, th, dh, ph* and *bh* are changed to *h*. Only *ṇ* is used, initially, medially, and in a conjunct group. There are no instances here of intervocalic *t* changing to *d* or of *d* retained. The 3rd p. sing. terminations of the present and imperative are respectively *-i* and *-u* (and nowhere *-di* and *du*.). Gerund is seen with *-ūṇa*. Sometimes the Ātmanepada of the Sanskrit is inherited and strong Sanskrit influence is seen in forms and compound expressions. For *-a* nouns Abl. terminations are *-hi* in sing. and *-hiṁto* in pl.; Loc. terminations are *-e* and *-mmi* in sing. Some Deśī words and roots like *thaga, gesara* and *joḍa* (XIII. 50, 60 and 51) are used. On the whole, the dialect should be called Māhārāṣṭrī with *ya-śruti*, common to Jaina Mss. By way of contrast, it may also be noted that in the dialect of the *Jambūdīva-paṇṇatti-saṁgaho* (Sholapur 1958) of Paümaṇaṁdi there is a greater tendency towards softening of *t* to *d* and of retaining *d*; and this affects the declensional and verbal forms in various ways. Then the dialect of the *Dhammarasāyaṇaṁ* (Bombay 1922) of Paümaṇaṁdi comes nearer that of the two *prakaraṇas*; but it shows forms like *dhammādo* (13), *khādaṁti* (34) *sigadāe* (43), *jādo* (104), *dhuda-kammā* (189) etc. which would be foreign in style in the hymns of Padmanandi. Some of these texts are not critically edited, so no conclusion can be reached at present.

for the layman (VII. 21). The contemporary environments not being quite favourable for *jñāna* and *cāritra*, he prefers to lay more stress on *bhakti*, (IX. 30, XXI. 6, etc.), almost of the theistic pattern (XX). He is well-read in Jaina dogmatics, and in that frame-work, he has even harnessed the Vedāntic terminology and Bhakti cult (VIII, IX, XX, XXI and XXIII etc.). He is a poet of no mean order; and some of the spiritual contexts are expressed by him with remarkable ease, facility and dignity (XXIII). He is a saint of meditative mood, more inward than outward in his religious approach. There are certain cantexts in these *prakaraṇas* which rank him with Bhartṛhari, Guṇabhadra, Śubhacandra, Amṛtacandra and other religio-didactic poets of the middle ages.

7. *Pp*—THE SANSKRIT COMMENTARY

The anonymous Sanskrit commentary, printed along with the text in the present edition, is more a prosaic performance, perhaps of a novice (having Hindī as his mother tongue) who has put down his jottings in his attempt to understand the text of *Pp*, than a studied exposition explaining the text in a thorough manner. It is seen that minor details are explained with synonyms and real difficulties are passed over silently; and in some places even the explanations are far from satisfactory.

The Sanskrit expression of the commentary is loose about gender and agreement and mixed with Hindī sentences and words in some places (IV. 12 etc.). We come across many forms, obviously wrong but often reflecting the pattern of the New Indo-Aryan : for instance, *aṣṭāviṁśatayaḥ* for *aṣṭāviṁśatiḥ*, *sarvaṁ dharmaṁ* for *sarve dharmaḥ* (I. 38); *rana-tiṣṭhamena* (I. 67); *durjayaḥ durjitaḥ* (I. 99); *stūyamāneṣu stutyamāneṣu* (I. 106); *kaṭhinena prāpyate* (I. 166) *ka āścaryaḥ* for *kiṁ āścaryam* (III. 2); *pramuktvā* for *pramucya* (XIII. 39); etc. His Sanskrit renderings of Prākrit words are often incorrect : for illustration, *aṁhārisāṇa mama sadṛśānāṁ*, *hiyaicchiyā hṛdayasthitā* (XIII. 5), *jiyāṇa yāvatāṁ* (Ibid. 21), *ceiya arcya pūjya* (Ibid. 19, 33); etc. This being the only available commentary, it was thought advisable to put it in print along with the text.

प्रस्तावना

१ पद्मनन्दि-पञ्चविंशति की प्रतियोंका परिचय

हस्तलिखित प्रतियाँ—प्रस्तुत संस्करण निम्न हस्तलिखित प्रतियोंके आधारसे तैयार किया गया है।

१. **'क'** प्रति—यह संस्कृत टीकासे युक्त प्रति स्थानीय श्राविकाश्रमकी संचालिका श्री ब्र. सुमतीबाई शहाके संग्रह की है जो सम्भवतः भट्टारक श्री लक्ष्मीसेनजी कोल्हापुरकी हस्तलिखित प्रतिपरसे तैयार की गई थी। प्रस्तुत संस्करणके लिये प्रथम कापी इसी परसे तैयार की गई थी।

२. **'श'** प्रति—यह प्रति स्थानीय विद्वान् श्री पं. जिनदासजी शास्त्रीकी है। इसकी लंबाई १३ इंच और चौडाई ५½ इंच है। पत्रसंख्या १–१७८ है। इसके प्रत्येक पत्रमें एक ओर लगभग १०-११ पंक्तियां और प्रति पंक्तिमें लगभग ४४-४५ अक्षर हैं। इसमें मूल श्लोक लाल स्याहीसे तथा संस्कृत टीका काली स्याहीसे लिखी गई है। इस प्रतिमें कहीं कहीं पीछेसे किसीके द्वारा संशोधन किया गया है। इससे उसका मूल पाठ इतना भ्रष्ट हो गया है कि वह अपने यथार्थ स्वरूपमें पढ़ा भी नहीं जाता है। इसमें ग्रन्थका प्रारम्भ ॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः॥ इस मंगलवाक्यसे किया गया है। अन्तमें सामाप्तिसूचक निम्न वाक्य है—

॥ इति ब्रह्मचर्याष्टकं ॥ इति श्रीमत्पद्मनंद्याचार्यविरचिता पद्मनंदिपंचविंशतिः ॥ श्रीवीतरागार्पणमस्तु ॥ श्रीजिनाय नमः ॥

प्रतिके प्रारम्भमें उसके दानका उल्लेख निम्न प्रकारसे किया गया है—आ पद्मनंदिपंचविंशति सटीक दोशी रतनबाई कोम नेमचंद न्याहालचंद ए श्रावक पासू गोपाल फडकुलेन दान कर्यूं छे संवत् १९५१ फागण वद्य ११ गुरुवार।

३. **'अ'** प्रति—यह प्रति सम्भवतः स्व. श्री पं. नाथूरामजी प्रेमी बम्बईकी रही है। इसकी लंबाई ११½ और चौडाई ५½ इंच है। पत्रसंख्या १-१७५ है। इसके प्रत्येक पत्रमें एक ओर १२ पंक्तियां और प्रतिपंक्तिमें ३५-३८ अक्षर हैं। ग्रन्थका प्रारम्भ ॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः॥ इस वाक्यसे किया गया है। अन्तिम समाप्तिसूचक वाक्य है—

ब्रह्मचर्याष्टकं समाप्तं इति पद्मनंदिकुंदकुंदाचार्यविरचित्तं संपूर्ण ॥

इसमें 'युवतिसंगविवर्जनमष्टकं' आदि इस अन्तिम श्लोक और उसकी टीकाको किसी दूसरे लेखकके द्वारा छोटे अक्षरोंमें १७५वें पत्रके नीचे लिखा गया है। इससे पूर्वके श्लोकका 'भुक्तवतः कुशलं न अस्ति' इतना टीकांश भी यहांपर लिखा गया है। उपर्युक्त समाप्तिसूचक वाक्य भी यहींपर लिखा उपलब्ध होता है। इससे यह अनुमान होता है कि सम्भवतः उसका अन्तिम पत्र नष्ट हो गया था और इसीलिये उपर्युक्त अन्तिम अंशको किसीने दूसरी प्रतिके आधारसे १७५वें पत्रके नीचे लिख दिया है। आश्चर्य नहीं जो उस अन्तिम पत्रपर लेखकके नाम, स्थान और लेखनकालका भी निर्देश रहा हो। इस प्रतिका कागज इतना जीर्ण शीर्ण हो गया है कि उसके पत्रको उठाना और रखना भी कठिन हो गया है। वैसे तो इसके प्रायः सब ही पत्र कुछ न कुछ खंडित हैं, फिर भी ९० से १२६ पत्र तो बहुत त्रुटित हुए हैं। इसीलिये पाठभेद देनेमें उसका बहुत कम उपयोग हो सका है।

४. 'ब' प्रति– इस प्रतिमें ग्रन्थका मूल भाग मात्र है, संस्कृत टीका नहीं है। यह ऐ. पन्नालाल सरस्वती भवन बम्बईसे प्राप्त हुई थी जो यहां बहुत थोड़े समय रह सकी है। उसका उपयोग पाठभेदोंमें क्वचित् ही किया जा सका है।

५. 'च' प्रति– यह प्रति संघके ही पुस्तकालयकी है। इसमें मूल श्लोकोंके साथ हिन्दी (ढूंढारी) वचनिका है। संस्कृत टीका इसमें नहीं है। इसकी लंबाई–चौडाई १३×७" है। पत्र संख्या १–२७९ है। इसके प्रत्येक पत्रमें एक ओर १२ पंक्तियां और प्रतिपंक्तिमें ४०–४४ अक्षर हैं। लिपि सुन्दर व सुवाच्य है। इसका प्रारम्भ इस प्रकार है– ॥६०॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥ अथ पद्मनंदिपंचविंशतिका ग्रन्थकी मूल श्लोकनिका अर्थसहित वचनिका लिखिये है ॥ अन्तमें– ॥ इति श्री पद्मनंदिमुनिराजविरचितपद्मनंदि-पंचविंशतिका वचनिका समाप्तः ॥ इस वाक्यको लिखकर प्रतिके लेखनकालका उल्लेख इस प्रकार किया गया है– मिति भादौ वदि ॥ ३ ॥ बुधवासरे ॥ संवत् ॥ १९ ॥ २९ ॥ मुकाम चंद्रापुरीमध्ये ॥ सुभं भवतु मंगलं ददातु ॥ श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥

वचनिकाके अन्तमें २५ चौपाई छन्दोंमें उसके लिखने आदिका परिचय इस प्रकार कराया गया है– ढूंढाहर देशमें जयपुर नगर है। उसमें रामसिंह राजा प्रजाका पालन करता था। वहां सांगानेर बजारमें खिन्दूकाका मन्दिर है। वहां साधर्मी जन आकर धर्मचरचा किया करते थे। पद्मनन्दिपञ्चविंशतिके अर्थको सुनकर उनके मनमें सर्वसाधारणके हितकी दृष्टिसे वचनिकाका भाव उदित हुआ। इसके लिये उन सबने ज्ञानचन्दके पुत्र जौंहरीलालसे कहा। तदनुसार उन्होंने उसे मूल वाक्योंको सुधार कर लिखा और वचनिका लिखना प्रारम्भ कर दी। किन्तु 'सिद्धस्तुति' तक वचनिका लिखनेके पश्चात् उनका देहावसान हो गया। तब पंचोंके आग्रहसे उसे हरिचन्दके पुत्र मन्नालालने पूरा किया। इस प्रकार वचनिका लिखनेका निमित्त बतलाकर आगे उसके पच्चीस अधिकारोंका चौपाई छन्दोंमें ही निर्देश किया गया है। यह देश वचनिका १९१५वें सालमें मृगशिर कृष्णा ५ गुरुवारको पूर्ण हुई।

इसमें प्रथमतः मूल श्लोकको लिखकर उसका शब्दार्थ लिखा गया है, और तत्पश्चात् भावार्थ लिखा गया है। भावार्थमें कई स्थानोंपर ग्रन्थान्तरोंके श्लोक व गाथाओं आदिको भी उद्धृत किया गया है।

मुद्रित प्रतियां–१. प्रस्तुत ग्रन्थका एक संस्करण श्री. गांधी महालचन्द कस्तूरचन्दजी धाराशिवके द्वारा शक सं. १८२० में प्रकाशित किया गया था। इसमें मूल श्लोकके बाद उसका मराठी पद्यानुवाद, फिर संक्षिप्त मराठी अर्थ और तत्पश्चात् संक्षिप्त हिन्दी (हिन्दुस्थानी) अर्थ भी दिया गया है। हिन्दी अर्थ प्रायः मराठी अर्थका शब्दशः अनुवाद प्रतीत होता है। अर्थमें मात्र भावपर ही दृष्टि रखी गई है।

२. दूसरा संस्करण श्री. पं. गजाधरलालजी न्यायशास्त्रीकी हिन्दी टीकाके साथ 'भारती भवन' बनारससे सन् १९१४ में प्रकाशित हुआ है। यह हिन्दी टीका प्रायः पूर्वोक्त (५ 'च' प्रति) हिन्दी वचनिकाका अनुकरण करती है।

इन दो संस्करणोंके अतिरिक्त अन्य भी संस्करण प्रकाशित हुए हैं या नहीं, यह हमें ज्ञात नहीं है।

२. ग्रन्थका स्वरूप व ग्रन्थकार

ग्रन्थका नाम–प्रस्तुत ग्रन्थ अपने वर्तमानरूपमें २६ स्वतंत्र प्रकरणोंका संग्रह है। इसका नाम 'पद्मनन्दि-पञ्चविंशति' कैसे और कब प्रसिद्ध हुआ, इसका निर्णय करना कठिन है। यह नाम स्वयं ग्रन्थकारके द्वारा निश्चित किया गया प्रतीत नहीं होता, क्योंकि, वे जब प्रायः सभी (२२, २३ और २४ को छोड़कर) प्रकरणोंके अन्तमें येन केन प्रकारेण अपने नामनिर्देशके साथ उस उस प्रकरणका भी नामोल्लेख करते हैं तब ग्रन्थके सामान्य नामका उल्लेख न करनेका कोई कारण शेष नहीं दिखता। इससे तो यही प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारने उक्त प्रकरणोंको स्वतन्त्रतासे पृथक् पृथक् ही रचा है, न कि उन्हें एक ग्रन्थके भीतर समाविष्ट करके। दूसरे, जब ग्रन्थके भीतर २६ विषय वर्णित हैं तब 'पञ्चविंशति' की सार्थकता भी नहीं रहती है। उसकी जो प्रतियां हमें प्राप्त हुई हैं उनमें प्रकरणोंके अन्तमें जिस प्रकार प्रकरणका नामोल्लेख पाया जाता है उस प्रकार उसकी संख्याका निर्देश प्रायः न तो शब्दोंमें पाया जाता है और न अंकोंमें। हां, उसकी जो मूल श्लोकोंके साथ ढूंढारी भाषामय वचनिका पायी जाती है उसमें अधिकारोंका नाम और संख्या अवश्य पायी जाती है। किन्तु वहां भी 'पञ्चविंशति'की संगति नहीं बैठायी जा सकी। वहां यथाक्रमसे २४ अधिकारोंका उल्लेख करके आगे 'स्नानाष्टक'के अन्तमें ॥ इति श्री स्नानाष्टकनामा पचीसमा अधिकार समाप्त भया ॥ २५ ॥ यह वाक्य लिखा है, तथा अन्तिम 'ब्रह्मचर्याष्टक'के अन्तमें ॥ इति ब्रह्मचर्याष्टक समाप्तः ॥ २५ ॥ ऐसा निर्देश है। इस प्रकार अन्तके दोनों अधिकारोंको २५वां सूचित किया गया है।

वचनिकाकारने ग्रन्थके अन्तमें इस वचनिकाके लिखनेके हेतु आदिका निर्देश करते हुए जो प्रशस्ति लिखी है उसमें भी अन्तिम २ प्रकरणोंकी क्रमसंख्याकी संगति नहीं बैठ सकी है। यथा --

चौवीशम अधिकार जो कह्यो श्नानत्यागअष्टक सरदह्यो।
अंतिम ब्रह्मचर्य अधिकार आठ काव्यमें परम उदार॥

यहां क्रमप्राप्त 'शरीराष्टक' को २४वां अधिकार न बतला कर उसके आगेके 'स्नानाष्टक' को २४वां अधिकार निर्दिष्ट किया गया है। दूसरे, इस वचनिकाके प्रारम्भमें जो पीठिकास्वरूपसे ग्रन्थके अन्तर्गत अधिकारोंका परिचय कराया गया है वहां 'परमार्थविंशति' पर्यन्त यथाक्रमसे २३ अधिकारोंका उल्लेख करके तत्पश्चात् 'शरीराष्टक' को ही २४वां अधिकार निर्दिष्ट किया गया है। जैसे—"……ता पीछै आठ काव्यनिविषैं चौवीशमा शरीराष्टक अधिकार वर्णन किया है। ता पीछैं नव काव्यनिविषैं ब्रह्मचर्याष्टक अधिकार वर्णन करकैं ग्रन्थ समाप्त किया"। उक्त दोनों वाक्योंके बीचमें सम्भवतः प्रतिलेखकके प्रमादसे "ता पीछैं आठ काव्यनिविषैं पचीसमा स्नानाष्टक अधिकार वर्णन किया है" यह वाक्य लिखनेसे रह गया प्रतीत होता है। इस प्रकार २४वें अधिकारके नामोल्लेखमें पूर्व पीठिका और अन्तिम प्रशस्तिमें परस्पर विरोध पाया जाता है।

यदि ग्रन्थकारको स्वयं इस ग्रन्थका नाम 'पञ्चविंशति' अभीष्ट होता तो फिर अधिकारोंकी यह संख्याविषयक असंगति दृष्टिगोचर नहीं होती। इनमेंसे कुछ कृतियां (जैसे– एकत्वसप्तति आदि) स्वतन्त्ररूपसे भी प्राप्त होती हैं व प्रकाशित हो चुकी हैं। उनमें परस्पर पुनरुक्ति भी बहुत है। अत एव जान पड़ता है कि ग्रंथकारने अनेक स्वतंत्र रचनाएँ की थीं जिनमेंसे किसीने पच्चीसको एकत्र कर उस संग्रहका नाम 'पद्मनन्दि-पंचविंशति' रख दिया। तत्पश्चात् किसी अन्यने उनकी एक और रचनाको उसी संग्रहमें जोड़ दिया किन्तु नामका परिवर्तन नहीं किया। आश्चर्य नहीं जो किसी अन्य ग्रन्थकारकी भी एक रचना इसमें आ जुड़ी हो।

सब प्रकरणोंकी एककर्तृकता– यहां यह एक प्रश्न उपस्थित होता है कि वे सब प्रकरण किसी एक ही पद्मनन्दीके द्वारा रचे गये हैं, या पद्मनन्दी नामके किन्हीं विभिन्न आचार्योंके द्वारा रचे गये हैं, अथवा अन्य भी किसी आचार्यके द्वारा कोई प्रकरण रचा गया है? इस प्रश्नपर हमारी दृष्टि ग्रंथके उन प्रकरणोंपर जाती है जहां ग्रन्थकारने किसी न किसी रूपमें अपने नामकी सूचना की है। ऐसे प्रकरण बाईस (१-२१ व २५) हैं। इन प्रकरणोंमें ग्रन्थकर्ताने पद्मनन्दी, पङ्कजनन्दी, अम्भोजनन्दी, अम्भोरुहनन्दी, पद्म और अब्जनन्दी; इन पदोंके द्वारा अपने नामकी व कहीं कहीं अपने गुरु वीरनन्दीकी भी सूचना की है[1]। इसके साथ साथ उन प्रकरणोंकी भाषा, रचनाशैली और नाम व्यक्त करनेकी पद्धतिको देखते हुए उन सबके एक ही कर्ताके द्वारा रचे जानेमें कोई सन्देह नहीं रहता। इनको छोड़कर एकत्वभावनादशक (२२), परमार्थविंशति (२३), शरीराष्टक (२४) और ब्रह्मचर्याष्टक (२६) ये चार प्रकरण शेष रहते हैं, जिनमें ग्रन्थकर्ताका नाम निर्दिष्ट नहीं है। श्री मुनि पद्मनन्दी अपने गुरुके अतिशय भक्त थे। उन्होंने गुरुको परमेश्वर तुल्य (१०-४९) निर्दिष्ट करते हुए इस गुरुभक्तिको अनेक स्थलोंपर प्रगट किया है[2]। वह गुरुभक्ति एकत्वभावनादशक प्रकरणके छठे श्लोकमें भी देखी जाती है[3]। इससे यह प्रकरण उन्हींके द्वारा रचा गया प्रतीत होता है।

वह गुरुभक्ति एकत्वभावनादशकके समान परमार्थविंशतिमें भी दृष्टि गोचर होती है[4]। दूसरे, इस प्रकरणमें जो १०वां श्लोक आया है वह कुछ थोड़े-से परिवर्तित स्वरूपमें इसके पूर्व अनित्यपञ्चाशत (३–१७) में भी आ चुका है। तीसरे, इस प्रकरणमें अवस्थित १८वें श्लोक (जायेतोद्धतमोहतो- ऽभिलषिता मोक्षेऽपि सा सिद्धिहृत्– इत्यादि) की समानता कितने ही पिछले श्लोकोंके साथ पायी जाती है[5]। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत प्रकरणके अन्तर्गत १९वां श्लोक तो प्रायः (तृतीय चरणको छोड़कर) उसी

---

१. पद्मनन्दी १-१९८, २-५४, ३-५५, ४-७७, ६-६२, १०-४७, ११-६१, १२-२२, १३-६०, १५-३०, १६-२४; पङ्कजनन्दी ५-९, ७-२७, ९-३३, २५-८; अम्भोजनन्दी ८-२९; अम्भोरुहनन्दी १७-८, १८-९; पद्म १४-३३, १९-१०, २०-८; अब्जनन्दी २१-१८.

२. देखिये श्लोक १-१९७, २-५४, ९-३२, १०-४९, ११-४ और ११-५९.

३. गुरूपदेशतोऽस्माकं निःश्रेयसपदं प्रियम् ॥ २२-६.

४. देखिये श्लोक ९ (नित्यानन्दपदप्रदं गुरुवचो जागर्ति चेच्चेतसि) और १६ (गुर्वङ्घ्रिद्वयदत्तमुक्तिपदवीप्राप्त्यर्थ-निर्ग्रन्थताजातानन्दवशात्)। ५. देखिये श्लोक १-५५ और ४-५३.

रूपमें पीछे (१-१५४) आ चुका है। ये सब ऐसे हेतु हैं कि जिनसे पिछले प्रकरणोंके साथ इस प्रकरणकी समानकर्तृकताका अनुमान होता है।

शरीराष्टकका प्रथम श्लोक (दुर्गन्धाशुचि आदि) पीछे अनित्यपञ्चाशत् (३-३) में आ चुका है। इसके अतिरिक्त गुरुभक्तिको प्रदर्शित करनेवाला वाक्य (मे हृदि गुरुवचनं चेदस्ति तत्तत्त्वदर्शि-५) यहां भी उपलब्ध होता है। इससे यह प्रकरण भी उक्त मुनि पद्मनन्दीके द्वारा ही रचा गया प्रतीत होता है।

अब ब्रह्मचर्याष्टक नामका अन्तिम प्रकरण ही शेष रहता है। सो यहां यद्यपि ग्रन्थकारने अपने नामका निर्देश तो नहीं किया है, फिर भी इस प्रकरणकी रचनाशैली पूर्व प्रकरणोंके ही समान है। इस प्रकरणका अन्तिम श्लोक यह है—

युवतिसंगविवर्जनमष्टकं प्रति मुमुक्षुजनं भणितं मया।
सुरतरागसमुद्रगता जनाः कुरुत मा क्रुधमत्र मुनौ मयि॥

यहां पूर्व पद्धतिके समान ग्रन्थकारने 'युवतिसंगविवर्जन अष्टक (ब्रह्मचर्याष्टक)' के रचे जानेका उल्लेख किया है। साथमें उन्होंने अपने मुनिपदका निर्देश करके अपने ऊपर क्रोध न करनेके लिये विषयानुरागी जनोंसे प्रेरणा भी की है। यहां यह स्मरण रखनेकी बात है कि श्री पद्मनन्दीने कितने ही स्थलोंमें अपने नामके साथ 'मुनि' पदका प्रयोग किया है। इससे इस प्रकरणके भी उनके द्वारा रचे जानेमें कोई बाधा नहीं दिखती।

ग्रन्थके अन्तर्गत ऋषभस्तोत्र (१३) और जिनदर्शनस्तवन (१४) ये दो प्रकरण ऐसे हैं जो प्राकृतमें रचे गये हैं। इससे किसीको यह शंका हो सकती है कि शायद ये दोनों प्रकरण किसी अन्य पद्मनन्दीके द्वारा रचे गये होंगे। परन्तु उनकी रचनापद्धति और भावभंगीको देखते हुए इस सन्देहके लिये कोई स्थान नहीं दिखता। उदाहरणके लिये इस स्तोत्रमें यह गाथा आयी है—

विप्पडिवज्जइ जो तुह गिराए मइ-सुइबलेण केवलिणो।
वरदिट्ठिदिट्ठणहजंतपक्खिगणणे वि सो अंधो॥ ३४॥

इसकी तुलना निम्न श्लोकसे कीजिये—

यः कल्पयेत् किमपि सर्वविदोऽपि वाचि संदिह्य तत्त्वमसमञ्जसमात्मबुद्ध्या।
खे पत्रिणां विचरतां सुदृशेक्षितानां संख्यां प्रति प्रविदधाति स वादमन्धः॥ १-१२५॥

इन दोनों पद्योंका अभिप्राय समान है, उसमें कुछ भी भेद नहीं है। इसीलिये भाषाभेदके होनेपर भी इसे उन्हीं पद्मनन्दीके द्वारा रचा गया समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त इस स्तोत्र (२३-३४) में आठ प्रातिहार्योंके आश्रयसे जैसे भगवान् आदिनाथकी स्तुति की गई है वैसे ही शान्तिनाथ स्तोत्रमें उनके आश्रयसे शान्तिनाथ जिनेन्द्रकी भी स्तुति की गई है। ऋषभजिनस्तोत्रके 'जत्थ जिण ते वि जाया सुरगुरुपमुहा कई कुंठा (३६)' इस वाक्यकी समानता भी सरस्वतीस्तोत्रके निम्न वाक्यके साथ दर्शनीय है— कुण्ठास्तेऽपि बृहस्पतिप्रभृतयो यस्मिन् भवन्ति ध्रुवम् (१५-३१)। इसी प्रकार ऋषभस्तोत्रकी तीसरी गाथा और जिनदर्शनस्तवनकी सोलहवीं गाथाके 'चम्मच्छिणा वि दिट्ठे' और 'चम्ममएणच्छिणा वि दिट्ठे'

आदि पदोंकी समानताको देखते हुए यही प्रतीत होता है कि वह जिनदर्शनस्तवन भी प्रकृत पद्मनन्दी मुनिके द्वारा ही रचा गया है। इससे तो यही विदित होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थकारका जैसे संस्कृतभाषापर अबाधित अधिकार था वैसे ही उनका प्राकृत भाषाके ऊपर भी पूरा अधिकार था।

मुनि पद्मनन्दी और उनका व्यक्तित्व– पूर्व विवेचनसे यह सिद्ध हो चुका है कि प्रस्तुत ग्रन्थके अन्तर्गत सब ही प्रकरणोंके रचयिता एक ही मुनि पद्मनन्दी है। उन्होंने प्रायः सभी प्रकरणोंमें केवल अपने नाम मात्रका ही निर्देश किया है, इसके अतिरिक्त उन्होंने अपना कोई विशेष परिचय नहीं दिया। इतना अवश्य है कि उन्होंने दो श्लोकोंपर (१–१९७, २–५४) 'वीरनन्दी' इस नामोल्लेखके साथ अपने गुरुके प्रति कृतज्ञताका भाव दिखलाते हुए अतिशय भक्ति प्रदर्शित की है। इसके अतिरिक्त नामनिर्देशके विना तो उन्होंने अनेक स्थानोंमें गुरुस्वरूपसे उनका स्मरण करते हुए उनके प्रति अतिशय श्रद्धाका भाव व्यक्त किया है[1]। जैसा कि उन्होंने परमार्थविंशतिमें व्यक्त किया है,[2] श्रीवीरनन्दी उनके दीक्षागुरु प्रतीत होते हैं। सम्भव है ये ही उनके विद्यागुरु भी रहे हों। यह सम्भावना उनके निम्न उल्लेखके आधारसे की जा रही है—

रत्नत्रयाभरणवीरमुनीन्द्रपाद-पद्मद्वयस्मरणसंजनितप्रभावः।
श्रीपद्मनन्दिमुनिराश्रितयुग्मदानपञ्चाशतं ललितवर्णचयं चकार ॥ २–५४ ॥

यहां दानपञ्चाशत् प्रकरणको समाप्त करते हुए मुनि पद्मनन्दीने यह भाव व्यक्त किया है कि मैंने जो यह बावन श्लोकमय सुन्दर प्रकरण रचा है वह रत्नत्रयसे विभूषित श्रीवीरनन्दी आचार्यके चरण-कमलोंके स्मरणजनित प्रभावसे ही रचा है— अन्यथा मुझमें ऐसा सामर्थ्य नहीं था। इस उल्लेखमें जो उन्होंने 'स्मरण' पदका प्रयोग किया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकरणकी रचनाके समय आचार्य वीरनन्दी उनके समीप नहीं थे– उस समय उनका स्वर्गवास हो चुका था।

मुनि पद्मनन्दीके द्वारा विरचित इन कृतियोंके पढ़नेसे ज्ञात होता है कि वे मुनिधर्मका दृढ़तासे पालन करते थे। वे मूलगुणोंके परिपालनमें थोड़ी-सी भी शिथिलताको नहीं सह सकते थे (१–४०)। उनके लिये दिगम्बरत्वमें विशेष अनुराग ही नहीं था, बल्कि वे उसे संयमका एक आवश्यक अंग मानते थे (१–४१)। प्रमादके परिहारार्थ उन्हें एकान्तवास अधिक प्रिय था (१–४६)। वे अध्यात्मके विशेष प्रेमी थे– आत्मज्ञानके विना उन्हें कोरा कायक्लेश पसन्द नहीं था (१–६७) उनकी अधिकांश कृतियां– जैसे एकत्वसप्तति, आलोचना, सद्बोधचन्द्रोदय, निश्चयपञ्चाशत् और परमार्थविंशति– अध्यात्मसे ही सम्बन्ध रखनेवाली हैं। वे व्यवहार नयको केवल मन्दबुद्धि जनोंके लिये अर्थावबोधका ही साधन मानते थे, उनकी दृष्टिमें मुक्तिमार्गका साधनभूत तो एक शुद्धनय (निश्चयनय) ही था (११,८-१२)।

३. ग्रंथकारकी खोज

प्रस्तुत ग्रंथके कर्ताका नाम पद्मनन्दी है। जैन साहित्यमें इस नामके अनेक ग्रंथकार हुए हैं। मूलसंघके आदि आचार्य कुन्दकुन्दका एक नाम पद्मनन्दी भी था। जंबूदीव-पण्णत्तिके कर्ता पद्मनन्दीने अपनेको वीरनन्दीका प्रशिष्य तथा बलनन्दीका शिष्य कहा है तथा अपने विद्यागुरुका नाम श्रीविजय

१. देखिये पीछे पृ. २५ का टिप्पण नं. २. २. गुर्वङ्घ्रिद्वयदत्तमुक्तिपदवीप्राप्त्यर्थनिर्ग्रन्थताजातानन्दवशात् ··· ॥२३–१६॥

प्रकट किया है। उपलब्ध प्रमाणोंपरसे इनका रचनाकाल विक्रमकी ११वीं शती सिद्ध होता है। इन्होंने अपना नाम 'वरपउमणंदि' प्रकट किया है। प्राकृत पद्यात्मक 'धम्मरसायण' के कर्ताने भी अपना नाम 'वरपउमणंदिमुणि' प्रकट किया है। इसके अतिरिक्त उक्त दोनों रचनाओंमें कुछ सादृश्य भी है (ध. र. ११८-१२० और जं. प. १३, ८४-८७; ध. र. १२२-२७ व १३४-१३६ और जं. प. १३, ९०-९२)। अत एव आश्चर्य नहीं जो जं. दी. प. और ध. र. के कर्ता एक ही हों। एक वे भी पद्मनन्दी हैं जिनकी पंचसंग्रहवृत्ति हालमें ही भारतीय ज्ञानपीठ, काशीसे प्रकाशित हुई है। भावना-पद्धति नामक ३४ पद्योंकी एक स्तुति तथा जीरापल्ली पार्श्वनाथस्तोत्रके कर्ता पद्मनन्दी पट्टावली-के अनुसार दिल्ली (अजमेर) की भट्टारक गद्दीपर प्रभाचन्द्रके पश्चात् आरूढ हुए और वि. सं. १३८५ से १४५० तक रहे। वे जन्मसे ब्राह्मण वंश के थे। उनके शिष्य दिल्ली-जयपुर, ईडर और सूरतकी भट्टारक गद्दियोंपर आरूढ हुए। इन ग्रंथकारोंके अतिरिक्त कुछ पद्मनन्दी नामधारी आचार्योंके उल्लेख प्राचीन शिलालेखों व ताम्रपटों आदिमें प्राप्त हुए हैं जो निम्न प्रकार हैं–

१. वि. सं. ११६२ में एक पद्मनन्दि सिद्धान्तदेव व सिद्धान्त-चक्रवर्ती मूलसंघ, कुन्दकुन्दान्वय, क्राणूर गण व तिंत्रिणीक गच्छमें हुए। (एपी. कर्ना. ७, सोरब नं. २६२)

२. गोल्लाचार्यके प्रशिष्य व त्रैकाल्ययोगीके शिष्य कौमारदेव व्रतीका दूसरा नाम आविद्धकर्ण पद्मनन्दि सैद्धान्तिक था। वे मूलसंघ, देशीगणके आचार्य थे जिनका उल्लेख वि. सं. १२२० के एक लेखमें पाया जाता है, उनके एक सहधर्मी प्रभाचन्द्र थे तथा उनके शिष्य कुलभूषणके शिष्य माघनन्दी-का संबंध कोल्हापुरसे था। (एपी. कर्ना. २, नं. ६४ (४०). संभवतः ये वे ही हैं जिन्हें एक मान्य लेखमें मन्त्रवादी कहा गया है (एपी. कर्ना २, नं. ६६ (४२).

३. एक पद्मनन्दी वे हैं जो नयकीर्तिके शिष्य व प्रभाचन्द्रके सहधर्मी थे और जिनका उल्लेख वि. सं. १२३८, १२४२, और १२६३ के लेखोंमें मिलता है। इनकी भी उपाधि 'मंत्रवादिवर' पाई जाती है। संभवतः ये उपर्युक्त नं. २ के पद्मनन्दीसे अभिन्न हैं। (एपी. कर्ना. ३२७ (१२४); ३३३ (१२८) और ३३५ (१३०).

४. एक पद्मनन्दी वीरनन्दीके प्रशिष्य तथा रामनन्दीके शिष्य थे जिनका उल्लेख १२वीं शतीके एक लेखमें मिलता है। (एपी. कर्ना. ८, सोराव नं. १४०, २३३ व शिकारपुर १९७; देसाई, जैनिजिम इन साउथ इंडिया, पृ. २८० आदि)

५. अध्यात्मी शुभचन्द्रदेवका स्वर्गवास वि. सं. १३७० में हुआ था और उनके जिन दो शिष्योंने उनकी स्मृतिमें लेख लिखवाया था उनमें एक पद्मनन्दी पंडित थे। (एपी. कर्ना. ६५ (४१) व भूमिका पृ. ८६).

६. बाहुबली मलधारिदेवके शिष्य पद्मनन्दि भट्टारकदेवका उल्लेख वि. सं. १३६० के एक लेखमें आया है। उन्होंने उस वर्षमें एक जैन मन्दिरका निर्माण करवाया था। (एपी. कर्ना. हुन्सुर १४).

७. मूलसंघ, कोण्डकुन्दान्वय, देशीगण, पुस्तक गच्छवर्ती त्रैविद्यदेवके शिष्य पद्मनन्दिदेवका स्वर्गवास वि. सं. १३७३ (? १४३३) हुआ था। (एपी. कर्ना. श्र. बे. २६९ (११४).

८. प्रभाचन्द्रके शिष्य पद्मनन्दीकी बड़ी प्रशंसा देवगढके वि. सं. १४७१ के शिलालेखमें पाई जाती है। (रा. मित्र. ज. ए. सो. बं. ५२ पृ. ६७–८०).

स्पष्ट है कि उपर्युक्त पद्मनन्दी नामधारी आचार्योंमें से कोई भी ऐसा नही है जो प्रस्तुत ग्रंथके कर्ता वीरनन्दीके शिष्य पद्मनन्दी मुनिसे अभिन्न स्वीकार किया जा सके। अत एव प्रस्तुत ग्रंथकर्ताके कालादिका निर्णय हमें उनकी रचनाके आधारपर ही बाह्य व आभ्यन्तर प्रमाणोंपरसे करना है।

४. ग्रन्थकारका काल-निर्णय

प्रस्तुत ग्रन्थके रचयिता श्री मुनि पद्मनन्दी कब हुए, इसका ठीक ठीक निश्चय करना कठिन है। तथापि उनकी इन कृतियोंका उनसे पूर्व और पश्चात्कालीन ग्रन्थकारोंकी कृतियोंके साथ मिलान करनेसे उनके समयकी सीमाओंका कुछ निर्धारण किया जाता है–

पद्मनन्दी और गुणभद्र– जब हम तुलनात्मक दृष्टिसे विचार करते हैं तब हमें उनकी इन कृतियोंपर आचार्य गुणभद्रकी रचनाका प्रभाव दिखाई देता है। उदाहरणार्थ गुणभद्र स्वामीने अपने आत्मानुशासनमें मनुष्य पर्यायका स्वरूप दिखलाते हुए उसे ही तपका साधन निर्दिष्ट किया है–

दुर्लभमशुद्धमपसुखमविदितमृतिसमयमल्पपरमायुः।
मानुष्यमिहैव तपो मुक्तिस्तपसैव तत्तपः कार्यम् ॥ १११ ॥

इसका प्रस्तुत ग्रन्थके अन्तर्गत (१२-२१) निम्न पद्यसे मिलान कीजिये–

दुष्प्रापं बहुदुःखराशिरशुचि स्तोकायुरल्पज्ञताज्ञातप्रान्तदिनं जराहतमतिः प्रायो नरत्वं भवे।
अस्मिन्नेव तपस्ततः शिवपदं तत्रैव साक्षात्सुखं सौख्यार्थीति विचिन्त्य चेतसि तपः कुर्यान्नरो निर्मलम् ॥

आत्मानुशासनके उपर्युक्त श्लोकमें मनुष्य पर्यायके लिये ये पांच विशेषण दिये गये हैं– दुर्लभ, अशुद्ध, अपसुख, अविदितमृतिसमय और अल्पपरमायु। ठीक उसी अभिप्रायको सूचित करनेवाले वैसे ही पांच विशेषण पञ्चविंशतिके इस श्लोकमें भी दिये गये हैं– दुष्प्राप, अशुचि, बहुदुःखराशि, अल्पज्ञताज्ञात-प्रान्तदिन और स्तोकायु। वहां गुणभद्र स्वामीने यह कहा है कि मुक्तिकी प्राप्ति तपसे होती है और वह तप इस मनुष्य पर्यायमें ही होता है, अतः उस मनुष्य पर्यायको पाकर तप करना चाहिये। यही यहां पद्मनन्दीने भी कहा है कि साक्षात् सुख मुक्तिमें है, उस मुक्तिकी प्राप्ति तपसे होती है, और वह तप इस मनुष्य पर्यायमें ही सम्भव है; यह सोचकर सुखार्थी मनुष्यको निर्मल तप करना चाहिये। इस प्रकार दोनों श्लोकोंमें कुछ शब्दभेदके होनेपर भी अर्थमें कुछ भी भेद नहीं है[1]।

उन गुणभद्रका समय प्रायः शक सं. की ८वीं सदीका उत्तरार्ध (वि. सं. ९वीं सदीका अन्त और १०वींका पूर्वार्ध) है। अत एव उनकी कृतिका उपयोग करनेवाले श्रीमुनि पद्मनन्दी वि. की १०वीं सदीके पूर्व नहीं हो सकते हैं।

---

१. इसके अतिरिक्त प.प.वि.के १-१८, १-४९, १-७६, १-११८ (३-२४ भी), ३-४४ और ३-५१ इन श्लोकोंका क्रमसे आत्मानुशासनके इन श्लोकोंसे मिलान कीजिये––२३९-४०, १२५, १५, १३०, ३४, ७९.

पद्मनन्दी और सोमदेवसूरि— प्रस्तुत ग्रंथकी रचनामें सोमदेवकृत यशस्तिलकका भी प्रभाव देखनेमें आता है। उदाहरणके लिये यहांका यह श्लोक देखिये—

त्वयि प्रभूतानि पदानि देहिनां पदं तदेकं तदपि प्रयच्छति।
समस्तशुक्लापि सुवर्णविग्रहा त्वमत्र मातः कृतचित्रचेष्टिता ॥ १५–१३ ॥

अब ठीक इससे मिलता-जुलता यह यशस्तिलकका भी श्लोक देखिये—

एकं पदं बहुपदापि ददासि तुष्टा वर्णात्मिकापि च करोषि न वर्णभाजम्।
सेवे तथापि भवतीमथवा जनोऽर्थी दोषं न पश्यति तदस्तु तवैष दीपः॥ यश. (उ.) पृ. ४०१.

इन दोनों ही श्लोकोंमें विरोधाभासके आश्रयसे सरस्वतीकी स्तुति करते हुए यह कहा गया है कि हे सरस्वति! तुम अनेक पदोंसे संयुक्त होकर भी एक ही पद (मोक्ष) को देती हो, तथा उत्तम अकारादि वर्णमय शरीरको धारण करती हुई उत्कृष्ट हो। अन्य इन श्लोकोंको भी देखिये—

सर्वेषामभयं प्रवृद्धकरुणैर्यद्दीयते प्राणिनां दानं स्यादभयादि तेन रहितं दानत्रयं निष्फलम्।
आहारौषध-शास्त्रदानविधिभिः क्षुद्रोग-जाड्याद् भयं यत्तत्पात्रजने विनश्यति ततो दानं तदेकं परम्॥
आहारात् सुखितौषधादतितरं नीरोगता जायते शास्त्रात् पात्रनिवेदितात् परभवे पाण्डित्यमत्यद्भुतम्।
एतत्सर्वगुणप्रभापरिकरः पुंसोऽभयाद् दानतः पर्यन्ते पुनरुन्नतोन्नतपदप्राप्तिर्विमुक्तिस्ततः॥

प. प. विं. ७, ११-१२.

सौरूप्यमभयादाहुराहाराद् भोगवान् भवेत्। आरोग्यमौषधाज्ज्ञेयं श्रुतात् स्यात् श्रुतकेवली॥
अभयं सर्वसत्त्वानामादौ दद्यात् सुधीः सदा। तद्धीने हि वृथा सर्वः परलोकोचितो विधिः॥
दानमन्यद् भवेन्मा वा नरश्चेदभयप्रदः। सर्वेषामेव दानानां यतस्तद्दानमुत्तमम्॥

यश. (उ.) पृ. ४०३-४०४

दोनों ही ग्रन्थोंके इन श्लोकोंमें समानरूपसे चतुर्विध दानके फलका निर्देश करके सब दोनोंमें अभयदानको प्रमुखता दी गई है।

प. प. विं. में गृहस्थके छह आवश्यकोंका निर्देशक जो 'देवपूजा गुरूपास्तिः (६–७)' आदि श्लोक आया है वह ज्योंका त्यों (मात्र 'पूजा'के स्थानमें 'सेवा' है) यशस्तिलक (उ. पृ. ४१४) में प्राप्त होता है। प. प. विं. (२–१०) में मुनिके लिये शाकपिण्ड मात्रके दाताको अनन्त पुण्यभाक् बतलाया है। यही भाव यश. (उ. पृ. ४०८) में इन शब्दोंमें प्रगट किया गया है—

मुनिभ्यः शाकपिण्डोऽपि भक्त्या काले प्रकल्पितः। भवेदगण्यपुण्यार्थं भक्तिश्चिन्तामणिर्यतः॥

यशस्तिलक (उ. पृ. २५७) में परलोकके साधनार्थ निम्न श्लोकका उपयोग किया गया है—

तदर्हज-स्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः। भूतानन्वयनाज्जीवः प्रकृतिज्ञः सनातनः॥

इसके अन्तर्गत हेतुओंमेंसे 'भूतानन्वयनात्' हेतुका उपयोग प. विं. (१–१३७) में प्रायः उसी रूपमें ही किया गया है।

सोमदेव सूरिने देशयतियों (श्रावकों) के व्रतको मूलगुण (यश. उ. पृ. ३२७) और उत्तरगुण (यश. उ. पृ. ३३३) के भेदसे दो प्रकारका बतलाकर उनमें मूलगुण और उत्तरगुणोंका निर्देश इस प्रकारसे किया है–

मद्य-मांस-मधुत्यागाः सहोदुम्बरपञ्चकाः[कैः] । अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुतेः ॥
अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतानि चत्वारि गुणाः स्युर्द्वादशोत्तरे ॥

उनका अनुसरण करते हुए यहां मुनि पद्मनन्दीने भी इन मूलगुणों और उत्तरगुणोंका इसी प्रकारसे पृथक् पृथक् निर्देश अपने उपासकसंस्कार (६, २३-२४) में किया है । इतना ही नहीं, बल्कि उत्तरगुणोंकि निर्देशक उस श्लोकको तो प्रायः (चतुर्थ चरणको छोड़कर) उन्होंने जैसाका तैसा यहां ले लिया है ।

इस प्रकारसे यह निश्चित है कि मुनि पद्मनन्दीने अपनी इन कृतियोंमें यशस्तिलकके उपासकाध्ययनका पर्याप्त उपयोग किया है । यशस्तिलककी प्रशस्तिके अनुसार उसकी समाप्तिका काल श. सं. ८८१ (+१३५=१०१६ वि. सं.) है । अत एव मुनि पद्मनन्दीका रचनाकाल इसके पश्चात् ही समझना चाहिये, इसके पूर्वमें वह सम्भव नहीं है ।

पद्मनन्दी और अमृतचन्द्रसूरि– पद्मनन्दीने प्रस्तुत ग्रन्थके अन्तर्गत निश्चयपञ्चाशत्प्रकरणमें व्यवहार और शुद्ध नयोंकी उपयोगिताको दिखलाते हुए शुद्ध नयके आश्रयसे आत्मतत्त्वके विषयमें कुछ कहनेकी इच्छा इस प्रकार प्रकट की है–

व्यवहृतिरबोधजनबोधनाय कर्मक्षयाय शुद्धनयः । स्वार्थं मुमुक्षुरहमिति वक्ष्ये तदाश्रितं किंचित् ॥ ८ ॥

यहां पद्मनन्दीने व्यवहारनयको अबोध (अज्ञानी) जनोंको प्रतिबोधित करनेका साधन मात्र बतलाया है । इसका आधार अमृतचन्द्र सूरिविरचित पुरुषार्थसिद्ध्युपायका निम्न श्लोक रहा है–

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम् । व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥ ६ ॥

इस श्लोकके पूर्वार्धमें प्रयुक्त शब्द और अर्थ दोनोंको ही उपर्युक्त श्लोकमें ग्रहण किया गया है । छन्द (आर्या) भी उक्त दोनों श्लोकोंका एक ही है । इससे आगेके ९–११ श्लोकोंपर भी पुरुषार्थसिद्ध्युपायके श्लोक ४ और ५ का प्रभाव स्पष्ट दिखता है[1] ।

उक्त अमृतचन्द्रसूरिका समय प्रायः वि. सं. की ११वीं सदीका पूर्वार्ध है[2] । अत एव मुनि पद्मनन्दी इनके पश्चात् ही होना चाहिये ।

पद्मनन्दी और अमितगति– आचार्य अमितगतिका श्रावकाचार प्रसिद्ध व विस्तृत है । उन्होंने अपने सुभाषितरत्नसंदोहके अन्तिम (३१) प्रकरणमें भी संक्षेपसे उस श्रावकाचारका निरूपण किया है ।

---

१ निश्चयपञ्चाशत्के ९वें श्लोकका पूर्वार्ध भाग समयप्राभृतकी निम्न गाथाका प्रायः छायानुवाद है— ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ । भूयत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥ ११ ॥

२ श्री. पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने जैनसन्देशके शोधांक ५ (पृ. १७७–८०) में अमृतचन्द्र सूरिका यही समय निर्दिष्ट किया है ।

तुलनात्मक दृष्टिसे विचार करनेपर उसका प्रभाव पद्मनन्दीकी इन कृतियोंमें कुछके ऊपर दिखता है। उदाहरणके रूपमें यहां (६, २९-३०) विनयकी आवश्यकताको बतलाते हुए उसके स्वरूप और फलका निर्देश इस प्रकार किया है—

विनयश्च यथायोग्यं कर्तव्यः परमेष्ठिषु । दृष्टि-बोध-चरित्रेषु तद्वत्सु समयाश्रितैः ॥
दर्शन-ज्ञान-चरित्र-तपःप्रभृति सिद्ध्यति । विनयेनेति तं तेन मोक्षद्वारं प्रचक्षते ॥

यह भाव अमितगति-श्रावकार (१३) में इस प्रकारसे व्यक्त किया गया है—

संघे चतुर्विधे भक्त्या रत्नत्रयराजिते । विधातव्यो यथायोग्यं विनयो नयकोविदैः ॥ ४४ ॥
सम्यग्दर्शन-चारित्र-तपोज्ञानानि देहिना । अवाप्यन्ते विनीतेन यशांसीव विपश्चिता ॥ ४८ ॥

अमितगति-श्रावकाचारके इन श्लोकोंका उपर्युक्त दोनों श्लोकोंमें न केवल भाव ही लिया गया है, बल्कि कुछ शब्द भी ले लिये गये हैं[1]।

अमितगति-श्रावकाचारके चतुर्थ परिच्छेदमें कुछ थोड़े-से विस्तारके साथ चार्वाक, विज्ञानाद्वैतवादी, ब्रह्माद्वैतवादी, सांख्य, नैयायिक, असर्वज्ञतावादी मीमांसक एवं बौद्ध आदिके अभिप्रायको दिखलाकर उसका निराकरण किया गया है। इसका विचार अति संक्षेपमें मुनि पद्मनन्दीने भी प्रस्तुत ग्रन्थ (१,१३४–३९) में किया है। यद्यपि इन मत-मतान्तरोंका विचार अष्टसहस्री, श्लोकवार्तिक, प्रमेय-कमलमार्तण्ड एवं न्यायकुमुदचन्द्र आदि तर्कप्रधान ग्रन्थोंमें बहुत विस्तारके साथ किया गया है, फिर भी मुनि पद्मनन्दीने उक्त विषयपर अमितगतिकृत श्रावकाचारका ही विशेषरूपसे अनुसरण किया है। यथा—

आत्मा कायमितश्चिदेकनिलयः कर्ता च भोक्ता स्वयं
संयुक्तः स्थिरता-विनाश-जननैः प्रत्येकमेकक्षणे ॥ प. १–१३४ ॥

कुर्यात् कर्म शुभाशुभं स्वयमसौ भुङ्क्ते स्वयं तत्फलं सातासातगतानुभूतिकलनादात्मा न चान्यादृशः ।
चिद्रूपः स्थिति-जन्म-भङ्गकलितः कर्मावृतः संसृतौ मुक्तौ ज्ञान-दृगेकमूर्तिरमलस्त्रैलोक्यचूडामणिः ॥ प. १–१३८॥

इसकी तुलना अ. श्रा. के निम्न श्लोकसे कीजिये—

निर्बाधोऽस्ति ततो जीवः स्थित्युत्पत्ति-व्ययात्मकः ।
कर्ता भोक्ता गुणी सूक्ष्मो ज्ञाता द्रष्टा तनुप्रमा ॥ ४–४६ ॥

इसके अन्तर्गत प्रायः सभी विशेषण उपर्युक्त प. पं. विं. के श्लोकोंमें उपस्थित हैं।

आचार्य अमितगतिने इस श्रावकाचारकी प्रशस्तिमें अपनी गुरुपरम्पराका तो उल्लेख किया है, पर ग्रन्थरचनाकालका निर्देश नहीं किया। फिर भी उन्होंने सुभाषितरत्नसंदोह, धर्मपरीक्षा और पञ्चसंग्रहकी समाप्तिका काल क्रमसे वि. सं. १०५०, १०७० और १०७३ निर्दिष्ट किया है। इससे उनका समय निश्चित है। अत एव उनके श्रावकाचारका उपयोग करनेवाले मुनि पद्मनन्दी वि. सं. की ११ वीं सदीके उत्तरार्धमें या उनके पश्चात् ही होना चाहिये, इसके पूर्व होनेकी सम्भावना नहीं है।

---

[1] जैसे—'विनयश्च यथायोग्यं कर्तव्यः' और 'विधातव्यो यथायोग्यं आदि।

पद्मनन्दी, जयसेन और पद्मप्रभ मलधारी देव— अब हम यह देखनेका प्रयत्न करेंगे कि वे ११वीं सदीके कितने पश्चात् हो सकते हैं। इसके लिये यह देखना होगा कि उनकी इन कृतियोंका उपयोग किसने और कहांपर किया है। प्रस्तुत पञ्चविंशतिके अन्तर्गत एकत्वसप्ततिके 'दर्शनं निश्चयः पुंसि' आदि श्लोक (१४) को पञ्चास्तिकायकी १६२वीं गाथाकी टीकामें जयसेनाचार्यने 'तथा चोक्तमात्माश्रितनिश्चयरत्नत्रयलक्षणम्' लिखकर उद्धृत किया है। इसी श्लोकको पद्मप्रभ मलधारी देवने भी नियमसार (गा. ५१-५५) की टीकामें 'तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ' लिखकर उसके नामोल्लेखके साथ ही उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त पद्मप्रभ मलधारी देवने उक्त नामोल्लेखके साथ इसी नियमसारकी ४५-४६ गाथाओंकी टीकामें उस एकत्वसप्ततिके ७९वें श्लोकको, तथा १००वीं गाथाकी टीकामें ३९-४१ श्लोकोंको भी उद्धृत किया है। पद्मप्रभक स्वर्गवास वि. सं. १२४२ में हुआ था, तथा जयसेनका रचनाकाल उससे पूर्व किन्तु आचारसारके कर्ता वीरनन्दी (वि. सं. १२१०) से पश्चात् सिद्ध होता है। अत एव पद्मनन्दीका समय इसके आगे नहीं जा सकता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि वे वि. सं. १०७५ के पश्चात् और १२४० के पूर्व किसी समयमें हुए हैं।

पद्मनन्दी और वसुनन्दी—मुनि पद्मनन्दीने देशव्रतोद्द्योतन प्रकरण (७–२२) में कुंदुरुके पत्रके बराबर और जौके बराबर जिनगृह और जिनप्रतिमाके निर्माणका फल अनिर्वचनीय बतलाया है। यह वर्णन वसुनन्दि-श्रावकाचारकी निम्न गाथाओंसे प्रभावित दिखता है—

कुत्थुंभरिदलमेत्ते जिणभवणे जो ठवेइ जिणपडिमं।
सरिसवमेत्तं पि लहेइ सो णरो तित्थयरपुण्णं॥ ४८१॥
जो पुण जिणिंदभवणं समुण्णयं परिहि-तोरणसमग्गं।
णिम्मावइ तस्स फलं को सक्कइ वण्णिउं सयलं॥ ४८२॥

इसी प्रकार उन्होंने 'दानोपदेशन' प्रकरण (४८-४९) में जो पात्रके भेद और उनके लिये दिये जानेवाले दानके फलका विवेचन किया है उसका आधार उक्त श्रावकाचारकी २२१-२३ व २४५-४८ गाथायें, तथा धर्मोपदेशामृतके ३१वें श्लोकमें एक एक व्यसनका सेवन करनेवाले युधिष्ठिर आदिके जो उदाहरण दिये गये हैं उनका आधार १२५-३२ गाथायें रहीं प्रतीत होती हैं। आचार्य वसुनन्दी अमितगतिके उत्तरवर्ती और पं. आशाधरके पूर्ववर्ती प्रायः वि. सं. की १२वीं सदीके ग्रन्थकार हैं।

पद्मनन्दी और प्रभाचन्द्र—आचार्य प्रभाचन्द्रने रत्नकरण्डश्रावकाचारके 'धर्मामृतं सतृष्णः' आदि श्लोक (४-१८) की टीकामें प्रस्तुत ग्रन्थके अन्तर्गत उपासकसंस्कार प्रकरणके 'अध्रुवाशरणे चैव' आदि दो श्लोकों (४३-४४) को उद्धृत किया है। आचार्य प्रभाचन्द्र विक्रमकी १३वीं सदीमें पं. आशाधरजीके पूर्वमें हुए हैं।

पद्मनन्दी और पं. आशाधर—श्री पण्डितप्रवर आशाधरजीने अपने अनगारधर्मामृतकी सोपज्ञ टीकामें मुनि पद्मनन्दीके कितने ही श्लोकोंको उद्धृत किया है। उदाहरणार्थ उन्होंने ९वें अध्यायके ८० और ८१ श्लोकोंकी टीकामें 'अत एव श्रीपद्मनन्दिपादैरपि सचेलतादूषणं दिङ्मात्रमिदमभिजगे' इस आदरसूचक वाक्यके साथ धर्मोपदेशामृतके 'म्लाने क्षालनतः' आदि श्लोक (४१) को उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त इसी अध्यायके ९३वें श्लोककी टीकामें उक्त प्रकरणके ४३वें, तथा ९७वें श्लोककी टीकामें ४२वें श्लोकको भी

उद्धृत किया है। इसी प्रकार अनगारधर्मामृतके ही आठवें अध्यायके २१वें श्लोककी टीकामें सद्बोधचन्द्रोदयके प्रथम श्लोकको, २३वें श्लोककी टीकामें इसी प्रकरणके १८,१६ और ४४ इन तीन श्लोकोंको, तथा ६४वें श्लोककी टीकामें उपासकसंस्कारके ६१वें श्लोकको उद्धृत किया है। इस टीकाको पं. आशाधरजीने वि. सं. १३०० में समाप्त किया है। अत एव मुनि पद्मनन्दीका इसके पूर्वमें रहना निश्चित है।

पद्मनन्दी और मानतुङ्ग— आचार्य मानतुङ्गविरचित भक्तामर स्तोत्रमें एक श्लोक इस प्रकार है—

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषैस्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश।
दोषैरुपात्तविबुधाश्रयजातगर्वैः स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥ २७ ॥

इसकी तुलना पद्मनन्दीके निम्न श्लोकसे कीजिये—

सम्यग्दर्शनबोधवृत्तसमताशीलक्षमाद्यैर्घनैः
संकेताश्रयवज्जिनेश्वर भवान् सर्वैर्गुणैराश्रितः।
मन्ये त्वय्यवकाशलब्धिरहितैः सर्वत्र लोके वयं
संप्राप्ता इति गर्वितैः परिहृतो दोषैरशेषैरपि ॥ २१-१ ॥

इन दोनों श्लोकोंका एक ही अभिप्राय है[1]।

इसके अतिरिक्त जिस प्रकार भक्तामर स्तोत्र (२८-३५) में आठ प्रातिहार्योंके आश्रयसे भगवान् आदिनाथकी स्तुति की गई है उसी प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थके अन्तर्गत ऋषभस्तोत्र (२३-३४) में भगवान् आदिनाथकी तथा शान्तिनाथस्तोत्र (१-८) में शान्तिनाथ तीर्थंकरकी भी स्तुति की गई है[2]।

पद्मनन्दी और कुमुदचन्द्र— भक्तामरके समान कल्याणमन्दिर स्तोत्र (१९-२६) में आचार्य कुमुदचन्द्रके द्वारा भी आठ प्रतिहार्योंके आश्रयसे भगवान् पार्श्वजिनेन्द्रकी स्तुतिकी गई है। वे वहां अशोकवृक्षका उल्लेख करते हुए कहते हैं—

धर्मोपदेशसमये सविधानुभावादास्तां जनो भवति ते तरुरप्यशोकः।
अभ्युद्गते दिनपतौ समहीरुहोऽपि किं वा विबोधमुपयाति न जीवलोकः ॥ १९ ॥

इसकी तुलना ऋषभस्तोत्रकी निम्न गाथासे कीजिये—

अच्छंतु ताव इयरा फुरियविवेया णमंतसिरसिहरा।
होइ असोओ रुक्खो वि णाह तुह संणिहाणत्थो ॥ २४ ॥

---

१. यद्यपि मानतुङ्गाचार्यका काल निश्चित नहीं है, फिर भी दोनों श्लोकोंके भावको देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि मुनि पद्मनन्दीने भक्तामरके उक्त श्लोकका अपने श्लोकमें विशदीकरण किया है। जैसे— भक्तामरस्तोत्रमें 'गुणैः' इस सामान्य पदका प्रयोग कर किसी विशेष गुणका उल्लेख नहीं किया। उसे मुनि पद्मनन्दीने 'सम्यग्दर्शन…घनैः' इस पदके द्वारा स्पष्ट कर दिया है। भक्तामरमें जिस 'अशेष' शब्दका प्रयोग गुणके साथ [गुणैरशेषैः] किया गया है उस 'अशेष' शब्दका प्रयोग यहां दोषके साथ [दोषैरशेषैः] किया गया है, और गुणोंकी अशेषता दिखलानेके लिये 'सर्वैः' पदको अधिक ग्रहण किया गया है।

२. शांतिनाथस्तोत्रके प्रथम और द्वितीय श्लोकोंकी भक्तामरके ३१ और ३२वें श्लोकोंके साथ भावकी भी बहुत कुछ समानता है। भक्तामरके २२ और ३२ वें श्लोकसे ऋषभस्तोत्रकी गाथा ८ और २८ भी कुछ समानता रखती है। इसके अतिरिक्त भक्तामरस्तोत्र (२४-२५) में ब्रह्मा, ईश्वर, अनङ्गकेतु, बुद्ध, शंकर और पुरुषोत्तम आदि नामोंके द्वारा जिनेन्द्रकी स्तुति की गई है। तदनुसार ऋषभस्तोत्र (५१) में भी ये सब नाम जिनेन्द्रके ही निर्दिष्ट किये गये हैं।

इसका और उक्त श्लोकके पूर्वार्धका न केवल भाव ही समान है, बल्कि शब्द भी समान हैं[१]।

पद्मनन्दी और शुभचन्द्र– शुभचन्द्रकृत ज्ञानार्णवमें जैन धर्म और सिद्धान्त संबंधी प्रायः सभी विषयोंका विशद प्ररूपण पाया जाता है। इसकी अनित्यभावनाका वर्णन प्रस्तुत ग्रंथके अनित्यपञ्चाशत्से तुलनीय है। विशेषतः ज्ञाना० अनित्यभा. के पद्य ३०-३१ का प्रस्तुत अनित्यपञ्चाशतके पद्य १६ से साम्य ध्यान देने योग्य है। ज्ञानार्णवके उक्त दोनों पद्य आचार्य पूज्यपाद विरचित इष्टोपदेशके ९वें पद्यके आधारसे रचे गये प्रतीत होते हैं। ज्ञानार्णवका रचनाकाल लगभग १२वीं शती पाया जाता है।

पद्मनन्दी और श्रुतसागर सूरि–श्रुतसागर सूरिने दर्शनप्राभृत गा. ९ और मोक्षप्राभृत गा. १२ की टीकामें एकत्वसप्ततिके 'साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च' आदि श्लोक (६४) को उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने द. प्रा. गा. ३० की टीकामें धर्मोपदेशामृतके 'वनशिखिनि' आदि ७५वें श्लोकको[२] तथा बोधप्राभृत गा. ५० की टीकामें एकत्वसप्ततिके ७९वें श्लोकको भी उद्धृत किया है।

उन्होंने एक श्लोक (मद्यमांससुरावेश्या--आदि) चारित्रप्राभृतकी २१वीं गाथाकी टीकामें उद्धृत किया है। वह श्लोक प्रस्तुत ग्रन्थके दो प्रकरणों (१–१६ व ६–१०) में पाया जाता है। भेद केवल इतना है यहां 'मद्य' शब्दके स्थानमें 'द्यूत' पद है। इसके अतिरिक्त और कुछ भी भेद नहीं है। श्रुतसागर सूरि वि. सं. १६वीं सदीमें हुए हैं।

उक्त समस्त तुलनात्मक विवेचनका मथितार्थ यह है कि पद्मविंशतिके ग्रंथकारने संभवतः कुन्दकुन्द, उमास्वाति, पूज्यपाद, अकलंक, गुणभद्र, मानतुंग, कुमुदचन्द्र, सोमदेवसूरि, अमृतचन्द्रसूरि और अमितगतिकी रचनाओंका उपयोग किया है। इनमें समयकी दृष्टिसे सबसे पीछेके आचार्य अमितगति हैं, जिनके ग्रंथोंमें सबसे पिछला कालनिर्देश वि. सं. १०७३ का पाया जाता है। अत एव पं. विं. का रचनाकाल इससे पश्चात् होना चाहिये। तथा जिन ग्रंथोंमें इस रचनाके किसी प्रकरणका स्पष्ट उल्लेख व अवतरण पाया जाता है उनमें सबसे प्रथम पद्मप्रभ मलधारी देव कृत नियमसारकी टीका है। इन मलधारी देवके स्वर्गवासका काल वि. सं. १२४२ पाया जाता है। अत एव सिद्ध होता है कि पंचविंशतिकार पद्मनन्दी वि. सं. १०७३ और १२४२ के बीचमें कभी हुए हैं। इस सीमाको और भी संकुचित करनेमें सहायक एकत्वसप्ततिकी कन्नड टीका है जिसका परिचय अन्यत्र दिया जा रहा है और जो वि. सं ११९३ के आसपास लिखी गई थी। अत एव पंचविंशतिकार पद्मनन्दीका काल वि. सं. १०७३ और ११९३ के बीच सिद्ध होता है। यह भी असंभव नहीं कि मूलग्रंथ और एकत्वसप्ततिकी कन्नड टीकाके रचयिता पद्मनन्दी एक ही हों। किन्तु इसका पूर्णतः निर्णय कुछ और स्पष्ट प्रमाणोंकी अपेक्षा रखता है।

---

१. इसी प्रकार शांतिनाथस्तोत्रके प्रथम और द्वितीय तथा सरस्वतीस्तोत्रके ३१वें श्लोककी भी कल्याणमंदिरके २६, २५ और दूसरे श्लोकसे कुछ समानता दिखती है।

२. तत्त्वार्थवार्तिक (१,१,४९) और यशस्तिलक (उ. पृ. २७१) में यह एक श्लोक उद्धृत किया गया है—

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया। धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पङ्गुलः॥

धर्मोपदेशामृतके उस श्लोक ('वनशिखिनि मृतोऽन्धः' आदि) में भी यही भाव निहित है।

५. पद्मनन्दि-पंचविंशतिकी संस्कृत टीका

प्रस्तुत ग्रन्थके साथ जो संस्कृत टीका प्रकाशित की गई है उसके रचयिताका कहीं नामनिर्देश नहीं है। इससे यह ज्ञात नहीं होता कि उसकी रचना कब और किसके द्वारा की गई है। उसके रचयिता किस प्रदेशके रहनेवाले थे, मुनि थे या गृहस्थ, तथा किसके शिष्य व किस परम्पराके थे; इत्यादि बातोंके जाननेका कोई उपाय नहीं है। इतना अवश्य है कि टीकाका जो स्वरूप है उसको देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि उसके रचयिता गणनीय विद्वान् नहीं थे। उनकी यह टीका बहुत साधारण है। उससे मूल श्लोकोंका न तो अर्थ ही स्पष्ट होता है और न भाव भी। उसमें जहां तहां केवल कुछ ही शब्दोंका, विशेषतः सरल शब्दोंका, अर्थ मात्र व्यक्त किया है। उदाहरणार्थ निम्न श्लोक और उसकी टीकाको देखिये—

रजकशिलासदृशीभिः कुर्कुरकर्परसमानचरिताभिः।
गणिकाभिर्यदि संगः कृतमिह परलोकवार्ताभिः॥ १-२४॥

इह लोके संसारे। यदि चेत्। गणिकाभिः वेश्याभिः। संगः कृतः तदा परलोकवार्ताभिः कृतं पूर्यतां पूर्णम् (?)। किंलक्षणाभिः वेश्याभिः। रजकशिलासदृशीभिः कुर्कुरकर्परसमानचरिताभिः॥ २४॥

इस प्रकार उक्त श्लोककी टीकामें केवल 'इह' का अर्थ 'लोके संसारे', 'यदि' का अर्थ 'चेत्' और 'गणिकाभिः' का अर्थ 'वेश्याभिः' मात्र किया गया है। इसके अतिरिक्त उसके शब्दार्थ और भावार्थको कुछ भी स्पष्ट नहीं किया गया है।

इसके आगे २७वें श्लोकका यह अन्तिम चरण है— नित्यं वञ्चनहिंसनोज्झविधौ लोकाः कुतो मुह्यत॥

इसका टीककार अर्थ करते हैं—भो लोकाः। नित्यं सदा। वञ्चनहिंसनोज्झविधौ। कुतो मुह्यत कस्मान्मोहं गच्छत।

इस प्रकारसे उसका भाव कुछ भी स्पष्ट नहीं होता है। यहां ये एक दो ही उदाहरण दिये गये हैं। वस्तुतः प्रस्तुत टीकाकी प्रायः सर्वत्र यही स्थिति है।

इसके अतिरिक्त इस टीकामें जहां तहां अर्थकी असंगति भी देखी जाती है। जैसे— श्लोक १–७५ में 'अश्रद्दधानः' पदका अर्थ 'आलस्यसहितः'; १–१०४ में 'मृत्पिण्डीभूतभूतम्' का अर्थ 'मृतप्राणिपिण्डसदृशम्'; १–१०९ में 'याति' का अर्थ 'यातिर्गमनं न', इसी श्लोकमें 'मृतः' का अर्थ 'मरणं न', 'जरा जर्जरा जाता' का अर्थ 'यत्र मुक्तौ जरा न यत्र मुक्तौ जरया कृत्वा जर्जराः सिद्धाः न'; १–११८ में 'आस्थाय' का अर्थ 'स्थित्वा'; इसीमें 'न विद्मः' का अर्थ 'क्वापि वयं न विद्मः'; तथा श्लोक १–१३७ में 'भूतानन्वयतो न भूतजनितो' का अर्थ 'अन्वयतः निश्चयतः। आत्मा भूतो न इन्द्रियरूपो न पृथिव्यादिजनितो न भूतजनितो न' और 'कथमपि अर्थक्रिया न युज्यते' का अर्थ 'उत्पादव्ययध्रौव्यत्रयात्मिका क्रिया न युज्यते। अपि तु सर्वेषु द्रव्येषु ध्रौव्यव्ययोत्पादक्रिया युज्यते'। इस श्लोकका भाव टीकाकारको सर्वथा हृदयंगम नहीं हुआ है।

टीकाकार संस्कृत भाषाके साथ ही सिद्धान्तके भी कितने ज्ञाता थे, इसका अनुमान 'लब्धिपञ्चकसामग्री' आदि श्लोक (४–१२) की टीकाको देखकर भली भांति किया जा सकता है।

टीकाकी भाषा— टीकाकारने जिस संस्कृत भाषामें इस टीकाकी रचना की है वह अतिशय अशुद्ध है। इस टीकाकी रचना करते हुए उन्हें बीच बीचमें हिन्दी वाक्यों व शब्दोंका भी अवलम्बन लेना पड़ा है (देखिये श्लोक ४–१२)। उनकी भाषाविषयक वे अशुद्धियां कुछ इस प्रकार हैं— वनतिष्ठनेन (१–६७), दुर्जयः दुर्जीतः (१–९९), स्तुत्यमानेषु (१–१०६), कठिनेन प्राप्यते (१–१६६), मनोइन्द्रियरहिताः (१०–३२), बाह्यपदार्थाः अन्यानि किं न सन्ति (११–२२), आकृष्टयत्रसूत्रात्=आकर्षितसूत्रात् (११–६०), तत्पतेः तस्याः स्त्रियाः पतेः वल्लभात् (१२–१०), कियत् आनन्दं परिस्फुरति (१३–३), छद्मेन (१३–१४), प्रमुक्त्वा (१३–३९), ब्रह्माप्रमुखाः ...किरणाः खद्योते योज्यते (१३–५१), तेजःसौख्यहतेः अकर्तृ=सौख्यहतेः तेजः अकर्तृ 'हन् हिंसागत्योः' देवादीनां सुखेन गमनस्य तेजः, तस्य तेजसः अकर्तृ अकारकम् (१७–७), घनघातात्=घनतः घातात्, शरीरस्य संनिधिः निकटं न जायते (२४–७), उभयथा द्विप्रकारं (२५–२) इत्यादि।

संस्कृतके समान प्राकृतका भी उनका ज्ञान अल्प ही दिखता है। उदाहरणस्वरूप उनके द्वारा टीकामें किये गये ऋषभस्तोत्रके अन्तर्गत कुछ शब्दोंके अर्थको देखिये—

५ अम्हारिसाण=मम सदृशानाम्; ५ हियइच्छिया=हृदयस्थिता; ८ स चिय=शची सुरदेवइन्द्राणी च; ९ सुरायलं=सुरालयं मन्दिरं; १४...सासछम्मेण=श्वासछद्मेन; १६ वराई=वराकिनी; १९,३२....चिय= भो अर्च्य भो पूज्यः २० मुयं व=मृतगवत्; २१ जियाण=यावताम्; ३२ अहोकयजडोहं=अहो इत्याश्चर्ये।....जलौघं समुद्रं; ३३ हिययपईइअरं=हृदयप्रदीपकरं; ३३ चिय=भो अर्च्य; ४५ हरिणंकमलीणो= चन्द्रकमलीनः; ५५ वत्थसत्थे=वस्तुशास्त्रे।

६. एकत्वसप्ततिकी कन्नड टीका

प्रस्तुत ग्रन्थका चतुर्थ प्रकरण एकत्व-सप्ततिकी अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्धि रही है, उसकी स्वतंत्र प्राचीन प्रतियां भी उपलभ्य होती हैं, और उसके अन्य ग्रन्थकारों द्वारा उद्धरण भी पाये जाते हैं। इस प्रकरणपर कन्नड भाषात्मक एक टीका भी उपलब्ध है जिसके लगभग ५० पद्य संस्कृत टीका सहित सन् १८९३ में पं. पद्मराज द्वारा सम्पादित होकर काव्याम्बुधि नामक ग्रन्थमालामें प्रकाशित हुए थे। डॉ. उपाध्येजी ने इसका तथा तीन हस्तलिखित प्राचीन प्रतियोंका अवलोकन किया है। इस कनाड़ी टीकाकी शैली दार्शनिक व समास-बहुल है। उसमें संस्कृत व प्राकृतके अनेक अवतरण भी पाये जाते हैं जो कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र आचार्योंकी रचनाओंसे लिये गये सिद्ध होते हैं। टीकाकारका नाम है पद्मनन्दी। इस नामके साथ पंडितदेव, व्रती व मुनिकी उपाधियां पाई जाती हैं। सौभाग्यसे उन्होंने अपना जो परिचय दिया है वह ऐतिहासिक दृष्टिसे बड़ा महत्त्वपूर्ण है। वे शुभचन्द्र राद्धान्तदेवके अग्रशिष्य थे और उनके विद्यागुरु थे कनकनन्दी पण्डित। उन्होंने अमृतचन्द्रकी वचनचन्द्रिकासे आध्यात्मिक प्रकाश प्राप्त किया था, और निम्बराजके संबोधनार्थ एकत्व-सप्तति वृत्तिकी रचना की थी। टीकाकी प्रशस्तिमें पद्मनन्दी और निम्बराज दोनोंकी खूब प्रशंसा की गई है। अनुमानतः ये निम्बराज वे ही हैं जो पार्श्वकवि-कृत 'निम्ब-सावन्त-चरिते' नामक ५०६ षट्पदी पद्यात्मक कन्नड काव्यके नायक हैं। इस काव्यकी उपलभ्य एक मात्र प्राचीन प्रति वि. सं. १७९३ की है। काव्यके वृत्तान्तसे सिद्ध होता है कि निम्बराज

शिलाहारवंशीय गण्डरादित्य नरेशके सामन्त थे। उन्होंने कोल्हापुरमें अपने अधिपतिके नामसे 'रूपनारायण-बसदि' नामक जैन मन्दिरका निर्माण कराया था तथा कार्तिक वदि ५ शक सं. १०५८ (वि. सं. ११९३) में कोल्हापुर व मिरजके आसपासके ग्रामोंकी आयका दान भी दिया था। मूलग्रन्थकार व टीकाकारके नाम-साम्य व रचनाकालको देखते हुए यह भी प्रतीत होता है कि वे एक ही व्यक्ति हों, किन्तु न तो उनके दीक्षा व शिक्षा गुरुओंके नाम एकसे मिलते और न वृत्तान्तमें इसका कोई स्पष्ट संकेत प्राप्त होता। इस कारण उनका एकत्व सन्देहात्मक ही है।

७. पद्मनन्दि-पंचविंशतिकी हिन्दी वचनिका

ऊपर 'च' प्रतिके परिचयमें उस प्रतिके साथ उपलभ्य 'वचनिका'का परिचय दिया जा चुका है। यह वचनिका ढुंढारी (राजस्थानमें जयपुरके आसपास बोली जानेवाली) हिन्दी भाषामें लिखी गई है। उक्त प्रतिकी प्रशस्तिके अनुसार ढुंढाहर देशवर्ती जयपुर नगरके राजा रामसिंहके राज्यकालमें सांगानेर बाजारमें स्थित खिन्दुकाके जैन मन्दिरमें पद्मनन्दि-पंचविंशतिका स्वाध्याय व उसपर धर्मचर्चा चला करती थी। एक वार सब पंचोंके हृदयमें यह भावना उत्पन्न हुई कि इस ग्रन्थकी भाषा-वचनिका लिखी जाय। यह कार्य वहांके ज्ञानचन्द्रके पुत्र जौहरीलालको सौंपा गया। किन्तु वे आठवें प्रकरण 'सिद्धस्तुति' तककी वचनिका लिखकर स्वर्गवासी हो गये। तब शेष ग्रन्थको पूरा करनेका कार्य हरिचन्द्रके पुत्र मन्नालालको सौंपा गया और उन्होंने उसे संवत् १९१५ मृगशिर कृष्णा ५, गुरुवारको समाप्त किया। इस प्रकार यह हिन्दी टीका केवल एक सौ तीन वर्ष पुरानी है और उसे जौहरीलाल और मन्नालाल इन दो विद्वानोंने क्रमसे रचा है। इस रचनामें प्रथम मूल संस्कृत या प्राकृत पद्य, उसके नीचे हिन्दीमें शब्दार्थ और तत्पश्चात् उसका भावार्थ लिखा गया है।

८. विषय-परिचय

'पद्मनन्दि-पञ्चविंशति' इस ग्रन्थनामसे ही सूचित होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थमें श्रीमुनि पद्मनन्दीके द्वारा रचित पच्चीस विषय समाविष्ट हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. धर्मोपदेशामृत— इस अधिकारमें १९८ श्लोक हैं। यहां सर्वप्रथम (श्लोक ६) धर्मके उपदेशका अधिकारी कौन है, इसको स्पष्ट करते हुए यह बतलाया है कि जो सर्वज्ञ होकर क्रोधादि कषायोंकी वासनासे रहित हो चुका है वह निर्बाध सुखके देनेवाले उस धर्मका उपदेश या व्याख्यान किया करता है और वही इस विषयमें प्रमाण माना जाता है। हेतु इसका यह बतलाया है कि लोकमें असत्यभाषणके दो ही कारण देखे जाते हैं— अज्ञानता और कषाय। जो भी कोई किसी विषयका असत्य विवेचन करता है वह या तो तद्विषयक पूर्ण ज्ञानके न रहनेसे वैसा करता है या फिर क्रोध, मान अथवा लोभ आदि किसी कषायविशेषके वशीभूत होकर वैसा करता है। इसके अतिरिक्त उस असत्यभाषणका अन्य कोई कारण दृष्टिगोचर नहीं होता। इसीलिये जो इन दोनों कारणोंसे रहित होकर सर्वज्ञ और वीतराग बन चुका है वही यथार्थ धर्मका वक्ता हो सकता है और उसे ही इसमें प्रमाण मानना चाहिये।

कोई यात्री जब एक देशसे किसी दूसरे देश अथवा नगरको जाता है तब वह अपने साथ पाथेयको— मार्गमें खानेके योग्य सामग्रीको— अवश्य रख लेता है। इससे उसकी यात्रा सुखसे समाप्त होती है— उसे

मार्गमें कोई कष्ट नहीं होता। यह सावधानी इस लोककी यात्राके लिये है। फिर भला जब प्राणी इस लोकको छोड़कर दूसरे लोकको (गत्यन्तरको) जाता है तब क्या उसे इस लम्बी यात्राके लिये पाथेयकी आवश्यकता नहीं है? है और अवश्य है। वह पाथेय है धर्म, जो उस परलोककी यात्राको सरल व सुखद बनाता है।

उस धर्मका स्वरूप यहां (७) व्यवहार और निश्चय इन दोनों दृष्टियोंसे दिखलाया गया है। उनमें प्रथमतः व्यवहारके आश्रयसे जीवदयाको– अशरणको शरण देने व उसके दुखमें स्वयं दुखके अनुभव करनेको– धर्म कहा है। उसके गृहस्थधर्म और मुनिधर्मकी अपेक्षा दो भेद, रत्नत्रय– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्-चारित्र– की अपेक्षा तीन भेद तथा उत्तमक्षमा आदिकी अपेक्षासे दस भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। यह सब धर्म व्यवहारोपयोगी है और इसे शुभ उपयोगके नामसे कहा जाता है। यह जीवको दुर्गतिसे– नरक व तिर्यंच योनियोंके दुखसे– बचाकर उसे मनुष्य और देवगतिके सुखको प्राप्त कराता है। इसलिये यह अपेक्षाकृत उपादेय है, किन्तु सर्वथा उपादेय तो वही धर्म है जो जीवको चतुर्गतिके दुखसे छुटकारा दिलाकर उसे अजर-अमर बना देता है। तब जीव शाश्वत पदमें स्थित होकर सदा निर्बाध सुखका अनुभव किया करता है। इस धर्मको शुद्धोपयोग या निश्चय धर्मके नामसे कहा गया है। इसके स्वरूपका निर्देश करते हुए यहां यह बतलाया है कि मोहके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले समस्त संकल्प-विकल्पोंसे रहित होकर जो शुद्ध आनन्दमय आत्माकी परिणति होती है उसे ही यथार्थ धर्म समझना चाहिये। उसमें वचन और शरीरका संसर्ग नहीं रहता।

पूर्वोक्त व्यवहार धर्मको जो यहां उपादेय बतलाया है वह इस निश्चय धर्मका साधक होनेकी दृष्टिसे है। किन्तु जो प्राणी सांसारिक सुखको– अभीष्ट विषयोपभोगजनित क्षणिक व सबाध इन्द्रियतृप्तिको– ही अन्तिम सुख मानकर उक्त व्यवहार धर्मको उसीका साधन समझते हैं और यथार्थ धर्मसे विमुख रहते हैं, उन अज्ञानी व कदाग्रही जनोंको लक्ष्यबिन्दु बनाकर उस व्यवहार धर्मको भी हेय बतलाया गया है, क्योंकि, वह मोक्षका साधन नहीं होता। यहां (८) धर्मवृक्षकी मूलभूत उस जीवदयाको समीचीन चारित्रकी उत्पादक व मोक्ष-महलपर आरोहण करानेवाली नसैनी कहा गया है। साथ ही धर्मात्मा जनोंके लिये यह प्रेरणा भी की गई है कि उन्हें निरन्तर अन्य प्राणियोंके विषयमें दयार्द्र रहना चाहिये, क्योंकि, प्राणीमें समस्त व्रत, शील एवं अन्यान्य उत्तमोत्तम गुण एक मात्र उसी जीवदयाके ही आश्रयसे रहते हैं। स्वस्थ प्राणीके विषयमें तो क्या, किन्तु जो रोगाक्रान्त है उसे भी यदि सम्पत्ति आदिका प्रलोभन देकर कोई मारना चाहे तो वह उसे स्वीकार न करके उसकी अपेक्षा एक मात्र अपने जीवनको ही प्रिय समझता है। वह उस जीवनके आगे तीनों लोकोंके भी राज्यको तुच्छ समझता है। बस, यही कारण है जो इस जीवितदानके आगे अन्य सब दानोंको तुच्छ गिना गया है (१०)। इस जीवदयाके विना तप व त्याग आदि सब ही व्यर्थ होते हैं।

उपर्युक्त गृहस्थ धर्म और मुनिधर्ममें अधिक श्रेष्ठ तो मुनिधर्म ही है, फिर भी चूंकि मोक्षके मार्गभूत रत्नत्रयके धारक साधु ही होते हैं और उनके शरीरकी स्थिति उन गृहस्थोंके द्वारा भक्तिपूर्वक दिये गये भोजनके आश्रित होती है, अत एव उन गृहस्थोंका धर्म (गृहिधर्म) भी अभीष्ट माना गया है (१२)। जो धर्म-वत्सल गृहस्थ अपने छह आवश्यकोंका परिपालन करता हुआ मुनिधर्मको स्थिर रखनेके लिये मुनियोंको निरन्तर आहारादि दिया करता है उसीका गृहस्थजीवन प्रशंसनीय है। इसके विपरीत जो गृहस्थ धर्मसे

विमुख होकर—जिनपूजन और पात्रदानादिसे रहित होकर—केवल धनके अर्जन और विषयोंके भोगनेमें ही मस्त रहते हैं उनके गृहस्थजीवनको एक प्रकारका बन्धन ही समझना चाहिये (१३)।

गृहिधर्ममें श्रावकके दर्शन व व्रत आदिके भेदसे ग्यारह स्थान (प्रतिमायें) निर्दिष्ट किये गये हैं। इनके पूर्वमें सात व्यसनोंका परित्याग अनिवार्य है, क्योंकि, उसके विना व्रत आदि प्रतिष्ठित नहीं रह सकते हैं। व्यसन वे हैं जो पुरुषोंको कल्याणके मार्गसे भ्रष्ट करके उन्हें अकल्याणमें प्रवृत्त किया करते हैं[1]। यहां (१६-३१) उन द्यूतादि व्यसनोंका पृथक् पृथक् स्वरूप बतलाकर उनमें रत रहनेसे जिन युधिष्ठिर आदिको कष्ट भोगना पड़ा है उनका उदाहरणके रूपमें नामोल्लेख भी किया गया है।

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह, इन पापोंका परित्याग जहां श्रावक एक देशरूपसे करता है, वहां मुनि उनका परित्याग पूर्ण रूपसे किया करते हैं। इसीलिये गृहस्थके धर्मको देशचरित्र और मुनिके धर्मको सकलचारित्र कहा जाता है। इस सकल चारित्रको धारण करनेवाले मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयके साधनमें तत्पर होकर मूलगुण, उत्तरगुण, पांच आचार और दस धर्मोंका परिपालन किया करते हैं। इसमें वे प्रमाद नहीं करते तथा जीवनके अन्तमें समाधि (सल्लेखना) को धारण करनेके लिये सदा उत्सुक रहते हैं (३८)। उनमें मूलगुणोंके परिपालनकी प्रमुखता है। जो तपस्वी मूलगुणोंका परिपालन न करके उत्तरगुणोंके परिपालनका प्रयत्न करता है उसका यह प्रयत्न उस मूर्खके समान बतलाया गया है जो अपने शिरके छेदनेमें उद्यत शत्रुसे अपने शिरोरक्षणका तो प्रयत्न नहीं करता, किन्तु अंगुलिके रक्षण मात्रमें संलग्न हो जाता है (४०)।

वे मुनिके मूलगुण २८ हैं जो इस प्रकार हैं—पांच महाव्रत, पांच समितियां, पांचों इन्द्रियोंका निरोध, समता आदि छह आवश्यक, लोच, वस्त्रका परित्याग, स्नानका परित्याग, भूमिशयन, दन्तघर्षणका त्याग, स्थितिभोजन और एकभक्त[2] (एक बार भोजनग्रहण)।

इन मूलगुणोंमेंसे यहां ग्रन्थकार श्री मुनिपद्मनन्दीने अचेलकत्व (वस्त्रत्याग), लोच, स्थितिभोजन और समताका ही मुख्यतासे स्वरूप दिखलाया है। वे दिगम्बरत्वकी आवश्यकताको प्रगट करते हुए कहते हैं कि जब वस्त्र मैला हो जाता है तब उसे स्वच्छ करनेके लिये जलादिका आरम्भ करना पड़ता है, और जहां आरम्भ है वहां संयमकी रक्षा सम्भव नहीं है। दूसरे, जब वह जीर्ण-शीर्ण होकर फट जाता है तो मनमें व्याकुलता होती है तथा दूसरोंसे उसके लिये याचना करना पड़ती है। इससे आत्मगौरव नष्ट होकर दीनताका भाव उत्पन्न होता है। फिर यदि किसीने उसका अपहरण कर लिया तो क्रोध भड़क उठता है। इस प्रकारसे वस्त्रको मुनिमार्गमें बाधक समझकर दिगम्बरत्वको स्वीकार करना ही योग्य है (४१)। कुछ मुनियोंकी भोगाकांक्षाको देखकर यहां यह कहा गया है कि जब साधुके लिये शय्याके हेतु घासको भी स्वीकार करना लज्जाजनक व निन्द्य माना जाता है, तब भला गृहस्थके योग्य रुपये-पैसे आदिको स्वीकार करना या

१. जाग्रत्तीव्रकषायकर्कशमनस्कारार्पितैर्दुष्कृतैश्चैतन्यं तिरयत्तमस्तरदपि द्यूतादि यच्छ्रेयसः। पुंसो व्यस्यति तद्विदो व्यसनमित्याख्यान्त्यतस्तद्व्रतः कुर्वीतापि रसादिसिद्धिपरतां तत्सोदरीं दूरगाम्॥ सा. ध. ३, १८.

२. पंच य महव्वयाइं समिदीओ पंच जिणवरुद्दिट्ठा। पंचेविंदियरोहा छप्पि य आवासया लोचो॥ अचेलकमण्हाणं खिदिसयणमदंतघंसणं चेव। ठिदिभोयणेयभत्तं मूलगुणं अट्ठवीसा दु॥ मूला. १, २-३.

उससे ममता रखना उनके लिये कहां तक योग्य है? यह तो उस मुनिमार्गसे पतनकी पराकाष्ठा है। यदि आज निर्ग्रन्थ कहे जानेवाले उन साधुओंकी यह दुरवस्था हो गई है तो इसे कलिकालके प्रभावके सिवाय और क्या कहा जा सकता है? (५३)।

इस प्रकार सामान्यसे साधुके स्वरूपको दिखला कर आगे आचार्य और उपाध्यायोंका भी पृथक् पृथक् (५९-६१) स्वरूप बतलाया गया है। तत्पश्चात् समीचीन साधुओंकी प्रशंसा करते हुए उनसे अपने कल्याणकी प्रार्थनाकी गई है (६२-६६)। वर्तमानमें इस भरतक्षेत्रके भीतर केवलज्ञानियोंका अस्तित्व नहीं पाया जाता, फिर भी परम्परासे उनकी वाणी (जिनागम) प्राप्त है और उसके आश्रयभूत ये रत्नत्रयके धारक साधु ही हैं, अत एव उनकी उपासना करना श्रावकका आवश्यक कर्म है। इस प्रकार उन समीचीन साधुओंकी पूजा-भक्तिसे साक्षात् जिन और उस जिनागमकी भी पूजा हो जाती है (६८)। ऐसे महात्माओंके जहांपर चरण-कमल पड़ते हैं वह भूमि तीर्थका रूप धारण कर लेती है और उनकी सेवामें नम्रीभूत हुए देव भी किंकरके समान उपस्थित रहते हैं। पूजा और स्तुति आदि तो दूर ही रही, किन्तु उनके नामस्मरणसे भी प्राणी पापसे मुक्त हो जाते हैं (६८-६९)।

ये मुनिजन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप जिस रत्नत्रयमें दृढ़ होते हैं उसका स्वरूप इस प्रकारसे निर्दिष्ट किया गया है– तत्त्वार्थ, देव और गुरुके श्रद्धानका नाम सम्यग्दर्शन है। स्व और पर दोनोंको सन्देह व विपरीततासे रहित होकर यथावत् जानना, इसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। प्रमादनिमित्तक कर्मके आस्रवसे विरत होनेको चारित्र कहा जाता है। इन तीनोंका ही नाम मोक्षमार्ग है और वह जन्म-मरणरूप संसारका नाशक है (७२)। यह व्यवहार रत्नत्रयका स्वरूप है। निश्चय रत्नत्रयका स्वरूप निम्न प्रकार है — आत्मा नामक निर्मल ज्योतिके निर्णयका नाम सम्यग्दर्शन, तद्विषयक बोधका नाम सम्यग्ज्ञान और उसीमें स्थित होनेका नाम सम्यक्चारित्र है[1]। यह निश्चय रत्नत्रय समुदित रूपमें कर्मबन्धको निर्मूल करनेवाला है। परन्तु व्यवहार रत्नत्रय बाह्य पदार्थोंको विषय करनेके कारण पर है जो शुभाशुभ बन्धका ही कारण है। इस प्रकार व्यवहार रत्नत्रय संसारका कारण और निश्चय रत्नत्रय मोक्षका कारण है (८१)।

मुमुक्षु तपस्वियोंको अज्ञानी जनके द्वारा पहुंचायी गई बाधाको शान्तिके साथ सहन करते हुए उनके ऊपर क्रोध नहीं करना चाहिये, इसीका नाम उत्तम क्षमा है। ये उत्तम क्षमा आदि दस धर्म संवरके कारण हैं[2]। इनका यहां पृथक् पृथक् वर्णन किया गया है (८२-१०६)।

सब ही प्राणी दुःखसे भयभीत होकर सुखको चाहते हैं और निरन्तर उसीकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न भी करते हैं। परन्तु यथार्थमें सबको उस सुखका लाभ नहीं हो पाता। इसका कारण उनका सुख-दुःख-विषयक अविवेक है। उन्हें सातावेदनीयके उदयसे जो कुछ कालके लिये वेदनाके परिहारस्वरूप सुखका आभास होता है उसे ही वे यथार्थ सुख मान लेते हैं जो वस्तुतः स्थायी यथार्थ सुख नहीं है (१५१), क्योंकि वे जिस इष्ट सामग्रीके संयोगमें सुखकी कल्पना करते हैं वह संयोग ही स्थायी

१. प्रस्तुत ग्रन्थमें इनका स्वरूप अनेक स्थानपर देखा जाता है। जैसे–श्लोक ४–१४ और ११, १२-१४ आदि।

२. स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परिषहजय-चारित्रैः। त. सू. ९–२.

नहीं है। अत एव जब उस अभीष्ट सामग्रीका वियोग होता है तब पुनः वह संताप उत्पन्न होता है। इस प्रकार जिस संयोगसे सुखकी कल्पना की जाती है वह अन्ततः दुख ही है[1]। सुख तो आकुलताके अभावमें है, जो मोक्षमें ही उपलब्ध होता है। वहां दिव्य ज्ञानमय आत्मा अनन्त काल तक निराकुल व बाधारहित शाश्वतिक सुखका उपभोग करता है (१०९)।

आत्मस्वरूपके व्याख्यानमें उसके वचनोंको प्रमाण माना जा सकता है जो सर्वज्ञ होकर राग-द्वेषादि से रहित होता हुआ वीतराग भी हो चुका है। उसने जो अंग और अंगबाह्यरूप जिस समस्त श्रुतकी प्ररूपणा की है उसमें एक मात्र आत्मतत्त्वको उपादेय और अन्य सबको हेय बतलाया गया है। चूंकि वर्तमान कालमें आयु और बुद्धिके हीन होनेसे समस्त श्रुतके पढ़नेकी शक्ति नहीं है, अत एव मुक्तिके साधक मात्र श्रुतका ही अभ्यास करना उचित है (१२४-२७)।

आत्माके सम्बन्धमें विभिन्न संप्रदायोंमें अनेक प्रकारकी कल्पनायें की गई हैं। यथा– माध्यमिक यदि उसे शून्य मानते हैं तो चार्वाक पृथिव्यादि भूतोंसे उत्पन्न हुआ उसे जड मानते हैं। इसी प्रकार सांख्य उसे अकर्ता (भोक्ता), सौत्रान्तिक क्षणिक तथा वैशेषिक नित्य व व्यापक मानते हैं। इन मत-मतान्तरोंका भी यहां संक्षेपमें विवेचन किया गया है (१३४–३९)। तत्पश्चात् उस आत्माके यथार्थ स्वरूपको दिखलाकर यह बतलाया है कि यह मनुष्य पर्याय अन्धकवर्तकीय न्यायसे करोड़ों कल्पकालोंके बीत जानेपर बड़ी कठिनतासे प्राप्त होती है। फिर उसके प्राप्त हो जानेपर भी यदि प्राणी मिथ्या उपदेशादिको पाकर विषयोंमें मुग्ध रहा तो प्राप्त हुई वह मनुष्य पर्याय यों ही नष्ट हो जाती है। अथवा, मनुष्य पर्यायके प्राप्त हो जानेपर भी यदि उत्तम कुल और बुद्धिकी चतुरता आदि प्राप्त नहीं हुई तो भी वह व्यर्थ ही जानेवाली है, क्योंकि, ये सब साधन उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। सौभाग्यसे इस सब सामग्रीको पा करके भी जो मनुष्य सुखप्रद धर्मका आराधन नहीं करता है वह उस मूर्खके समान है जो हाथमें आये हुए अमूल्य रत्नको यों ही फेंक देता है। कितने ही मनुष्य यह विचार किया करते हैं कि अभी हमारी आयु बहुत है, शरीर व इन्द्रियां भी पुष्ट हैं, तथा लक्ष्मी आदिकी अनुकूलता भी है; फिर भला अभी धर्मके लिये क्यों व्याकुल हों, उसका सेवन भविष्यमें निश्चिन्तता पूर्वक करेंगे, इत्यादि। परन्तु उनका यह विचार अज्ञानतासे परिपूर्ण है, क्योंकि, मृत्यु किस समय आकर उन्हें अपना ग्रास बना लेगी; इसका कोई नियम नहीं है (१६७–७०)। इस प्रकार मृत्युके अनियत होनेपर बुद्धिमान् मनुष्य वे ही समझे जाते हैं जो इस दुर्लभ साधन-सामग्रीको पा करके विषयतृष्णासे मुक्त होते हुए आत्महितको सिद्ध करते हैं (१७१–७८)। अन्तमें (१७९–९८) अनेक प्रकारसे धर्मकी महिमाको दिखलाकर इस प्रकरणको समाप्त किया गया है।

२. दानोपदेशन– इस अधिकारमें ५४ श्लोक हैं। यहां प्रथमतः व्रततीर्थके प्रवर्तक आदि जिनेन्द्र और दानतीर्थके प्रवर्तक श्रेयांस राजाका स्मरण किया गया है। पश्चात् दानकी आवश्यकता और महत्त्वको प्रगट करते हुए यह बतलाया है कि श्रावक गृहमें रहता हुआ अपने और अपने आश्रित कुटुम्बके

---

१. संयोगतो दुःखमनेकभेदं यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी। ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥ द्वात्रिंशिका २८.

भरण-पोषण आदिके लिये जो अनेक प्रकारके आरम्भ द्वारा धनका उपार्जन करता है, उसमें उसके हिंसा आदिके कारण अनेक प्रकारके पापका संचय होता है। इस पापको नष्ट करनेका यदि कोई साधन उसके पास है तो वह दान ही है। यह दान श्रावकके छह आवश्यकों (६,७) में प्रमुख है। जिस प्रकार पानी वस्त्रादिमें लगे हुए रुधिरको धोकर उसे स्वच्छ कर देता है उसी प्रकार सत्पात्रदान श्रावकके कृषि व वाणिज्य आदिसे उत्पन्न पाप-मलको धोकर उसे निष्पाप कर देता है[1] (५-७,१३)। इस दानके निमित्तसे दाताके जो पुण्य कर्मका बन्ध होता है उसके प्रभावसे उसे भविष्यमें भी उससे कई गुणी लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। उदाहरण स्वरूप यदि छोटे-से भी वटके बीजको योग्य भूमिमें बो दिया जाता है तो वह एक विशाल वृक्षके रूपमें परिणत होकर वैसे असंख्यात बीजोंको तो देता ही है, साथ ही वह उस महती छायाको भी देता है जिसके आश्रित होकर सैकड़ों मनुष्य शान्ति प्राप्त करते हैं[2] (८,१४,३८)। रत्नत्रयके साधक मुमुक्षु जनोंको आहारादि प्रदान करनेवाला सद्गृहस्थ न केवल साधुको ही उन्नत पदमें स्थित करता है, बल्कि वह स्वयं भी उसके साथ उन्नत पदको प्राप्त होता है। उदाहरणके लिये राज जब किसी ऊंचे भवनको बनाता है तब वह उस भवनके साथ साथ स्वयं भी क्रमशः ऊंचे स्थानको प्राप्त करता जाता है (९)। जो गृहस्थ सम्पन्न होता हुआ भी पात्रदान नहीं करता, उसे वस्तुतः धनवान् नहीं समझना चाहिये, वह तो किसी अन्यके द्वारा धनके रक्षणार्थ नियुक्त किये गये सेवकके समान ही है। कोषाध्यक्ष सब धनकी सम्हाल और आय-व्ययका पूरा पूरा हिसाब रखता है, परन्तु वह स्वयं उसमेंसे एक पैसेका भी उपभोग नहीं कर सकता (३६)। पात्रदानादिके निमित्तसे जिस गृहस्थकी लोकमें कीर्ति नहीं फैलती[3] उसका जन्म लेना और न लेना बराबर है। वह धनसे सम्पन्न होता हुआ भी रंकके समान है (४०)। कृपण मनुष्य यह तो सोचता है कि प्रथम तो मुझे धनका कुछ संचय करना है, भवनका निर्माण कराना है, तथा पुत्रका विवाह भी करना है, तत्पश्चात् दान करूंगा आदि; परन्तु वह यह नहीं सोचता कि मैं चिरकाल तक स्थित रहनेवाला नहीं हूं; न जाने कब मृत्यु आकर इस जीवन-लीलाको समाप्त कर दे। जिसका धन न तो भोगनेमें ही आता है और न पात्रदानमें भी लगता है उसकी अपेक्षा तो वह कौवा ही अच्छा है जो कांव कांव करता हुआ अन्य कौवोंको बुलाकर ही बलिको खाता है (४५-४६)। अन्तमें उत्तम, मध्यम व जघन्य पात्र, कुपात्र और अपात्रके स्वरूपको तथा उनके लिये दिये जानेवाले दानके फलको भी बतलाकर (४८-४९) इस प्रकरणको समाप्त किया गया है।

३. अनित्यपञ्चाशत्—इस अधिकारमें ५५ श्लोक हैं। यहां शरीर, स्त्री, पुत्र एवं धन आदिकी स्वाभाविक अस्थिरताको दिखलाकर उनके संयोग और वियोगमें हर्ष और विषादके परित्यागके लिये प्रेरणा की गई है। आयुकर्मके अनुसार जिसका जिस समय प्राणान्त होना है वह उसी समय होगा। इसके लिये धर्म न करके शोक करना ऐसा है जैसे सर्पके चले जानेपर उसकी लकीरको पीटते रहना (१०)। जिस प्रकार रात्रिके होनेपर पक्षी इधर उधरसे आकर किसी एक वृक्षके ऊपर निवास करते

---

१. गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्। अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि॥ र. श्रा. ११४.

२ क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले। फलतिच्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम्॥ र. श्रा. ११६.

३. अकीर्त्या तप्यते चेतश्चेतस्तापोऽशुभास्रवः। तत्तत्प्रसादाय सदा श्रेयसे कीर्तिमर्जयेत्॥ सा. ध. २, ८५.

और फिर प्रभातके हो जानेपर पुनः अनेक दिशाओंमें चले जाते हैं उसी प्रकार प्राणी अनेक योनियोंसे आकर विभिन्न कुलोंमें उत्पन्न होते हैं और फिर आयुके समाप्त होनेपर उन कुलोंसे अन्य कुलोंमें चले जाते हैं[1]। ऐसी अवस्थामें उनके लिये शोक करना अज्ञानताका द्योतक है (१६)। इस प्रकारसे अनेक विशेषताओंके द्वारा मृत्युकी अनिवार्यता और अन्य सभी चेतन-अचेतन पदार्थोंकी अस्थिरताको दिखलाकर यहां इष्टवियोगमें शोक न करनेका उपदेश दिया गया है।

४. एकत्वसप्तति—इस अधिकारमें ८० श्लोक हैं। यहां चिदानन्दस्वरूप परमात्माको नमस्कार कर यह बतलाया है कि वह चित्स्वरूप यद्यपि प्रत्येक प्राणिके भीतर अवस्थित है, फिर भी अपनी अज्ञानता के कारण अधिकतर प्राणी उसे जानते नहीं हैं। इसीलिये वे उसे बाह्य पदार्थोंमें खोजते हैं। जिस प्रकार अधिकतर प्राणी लकड़ीमें अव्यक्त स्वरूपसे अवस्थित अग्निको नहीं ग्रहण कर पाते उसी प्रकार कितने ही प्राणी अनेक शास्त्रोंमें उलझकर उसे नहीं प्राप्त कर पाते। वह चेतन तत्त्व अनेक-धर्मात्मक है। परन्तु कितने ही मन्दबुद्धि उसे जात्यन्धहस्ती न्यायके अनुसार एकान्तरूपसे ग्रहण करके अपना अहित करते हैं। कुछ मनुष्य उसको जान करके भी अभिमानके वशीभूत होकर उसका आश्रय नहीं लेते हैं। जो धर्म वास्तवमें प्राणीको दुखसे बचानेवाला है उसे दुर्बुद्धि जनोंने अन्यथा कर दिया है। इसीलिये विवेकी जीवोंको उसे परीक्षापूर्वक ग्रहण करना चाहिये (१–९)।

जो योगी शरीर व कर्मसे पृथक् उस ज्ञानानन्दमय परब्रह्मको जान लेता है वही उस स्वरूपको प्राप्त करता है। जीवका राग-द्वेषके अनुसार जो किसी पर पदार्थसे सम्बन्ध होता है वह बन्धका कारण है; तथा समस्त बाह्य पदार्थोंसे भिन्न एक मात्र आत्मस्वरूपमें जो अवस्थान होता है, यह मुक्तिका कारण है। बन्ध-मोक्ष, राग-द्वेष, कर्म-आत्मा और शुभ-अशुभ इत्यादि प्रकारसे जो द्वैत (दो पदार्थोंके आश्रित) बुद्धि होती है उससे संसारमें परिभ्रमण होता है, तथा इसके विपरीत अद्वैत (एकत्व) बुद्धिसे जीव मुक्तिके सन्मुख होता है। शुद्ध निश्चयनयके आश्रित इस अद्वैत बुद्धिमें एक मात्र अखण्ड आत्मा प्रतिभासित होता है। उसमें दर्शन, ज्ञान और चारित्र तथा क्रिया-कारक आदिका कुछ भी भेद प्रतिभासित नहीं होता। और तो क्या, उस अवस्थामें तो 'जो शुद्ध चैतन्य है वही निश्चयसे मैं हूं' इस प्रकारका भी विकल्प नहीं होता। मुमुक्षु योगी मोहके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाली मोक्षविषयक इच्छाको भी उसकी प्राप्तिमें बाधक मानते हैं। फिर भला वे किसी अन्य बाह्य पदार्थकी अभिलाषा करें, यह सर्वथा असम्भव है (५२-५३)।

जिनेन्द्र देवने उस परमात्मतत्त्वकी उपासनाका उपाय एक मात्र साम्यको बतलाया है। स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्तनिरोध और शुद्धोपयोग; ये-सब उसी साम्यके नामान्तर हैं। एक मात्र शुद्ध चैतन्यको छोड़कर आकृति, अक्षर, वर्ण एवं अन्य किसी भी प्रकारका विकल्प नहीं रहना; इसका नाम साम्य है (६३-६५)। आगे इस साम्यका और भी विवेचन करके यह निर्देश किया है कि कर्म और रागादिको हेय समझकर छोड़ देना चाहिये और उपयोगस्वरूप परंज्योतिको उपादेय समझकर ग्रहण करना चाहिये (७५)। अन्तमें इस आत्मतत्त्वके अभ्यासका फल शाश्वतिक मोक्षकी प्राप्ति बतलाकर इस प्रकरणको समाप्त किया गया है।

---

१. दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसन्ति नगे नगे। स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे॥ इष्टोपदेश ९.

५. यतिभावनाष्टक—इस अधिकारमें ९ श्लोक हैं। यहां उन मुनियोंकी स्तुति की गई है जो पांचों इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करके विषयभोगोंसे विरक्त होते हुए ऋतुविशेषके अनुसार अनेक प्रकारके कष्टको सहते हैं और भयानक उपसर्गके उपस्थित होनेपर भी कभी समाधिसे विचलित नहीं होते।

६. उपासकसंस्कार—इस अधिकारमें ६२ श्लोक हैं। यहां सर्वप्रथम व्रत और दानके प्रथम प्रवर्तक आदि जिनेन्द्र और राजा श्रेयांसके द्वारा धर्मकी स्थितिको दिखलाकर उसका स्वरूप बतलाया है। पश्चात् सम्पूर्ण और देशके भेदसे दो भेदरूप उस धर्मके स्वामियोंका निर्देश किया है। उनमें देशतः उस धर्मको धारण करनेवाले श्रावकोंके ये छह कर्म आवश्यक बतलाये गये हैं– देवपूजा, निर्ग्रन्थ गुरुकी उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान (७)। तत्पश्चात् सामायिक व्रतके स्वरूपका दिग्दर्शन कराते हुए उसके लिये सात व्यसनोंका परित्याग अनिवार्य निर्दिष्ट किया गया है (९)।

आगे यथाक्रमसे (१४-१७, १८-१९, २०-२१, २२-२५, २५-३०, ३१-३६) गृहस्थके उन देवपूजा आदि छह आवश्यकोंका विवेचन करके जीवदया (३७-४१) की आवश्यकता दिखलायी गई है। तत्पश्चात् कर्मक्षयकी कारण होनेसे बारह अनुप्रेक्षाओंके स्वरूपको बतलाकर उनके निरन्तर चिन्तनकी प्रेरणा की गई है (४२-५८)। अन्तमें जो उत्तमक्षमादिरूप दस धर्म मुनियोंके लिये निर्दिष्ट किये गये हैं उनका सेवन यथाशक्ति आगमोक्त विधिसे श्रावकोंको भी करना चाहिये, यह निर्देश करते हुए विशुद्ध आत्मा और जीवदया इन दोनोंके संमेलनको मोक्षका कारण बतलाकर इस अधिकारको पूर्ण किया गया है।

७. देशव्रतोद्योतन—इस अधिकारमें २७ श्लोक हैं। यहां अनेक मिथ्यादृष्टियोंकी अपेक्षा एक सम्यग्दृष्टिको प्रशंसाका पात्र बतलाया है तथा उस सम्यग्दर्शनके साथ मनुष्यभवके प्राप्त हो जानेपर तपको ग्रहण करनेकी ही प्रेरणा की है। यदि कदाचित् कुटुम्ब आदिके मोह अथवा अशक्तिके कारण उस तपका अनुष्ठान करना सम्भव न हो तो फिर सम्यग्दर्शनके साथ छह आवश्यकों, आठ मूलगुणों व पांच अणुव्रतादिरूप बारह उत्तरगुणोंको तो धारण करना ही चाहिये। साथ ही रात्रिभोजनका परित्याग करते हुए पवित्र व योग्य वस्त्रसे छाने गये जलका पीना तथा शक्तिके अनुसार मौन आदि अन्य नियमोंका पालन करना भी श्रावकके लिये पुण्यका वर्धक है (४-६)। चूंकि श्रावक अनेक पापप्रचुर कार्योंको करके धनका उपार्जन करता है, अत एव इस पापसे मुक्त होनेके लिये उसके लिये दानकी आवश्यकता और उसके महत्त्वको दिखलाकर सत्पात्रके लिये आहारादिरूप चार प्रकारके दानकी विशेष प्रेरणा की गई है (७-१७)।

श्रावकके छह आवश्यकोंमें देवदर्शन व पूजन प्रथम है। देवदर्शनादिके विना उस गृहस्थाश्रमको पत्थरकी नाव जैसा निर्दिष्ट किया गया है (१८)। इसके लिये चैत्यालयका निर्मापण अतिशय पुण्यवर्धक है। कारण यह कि उस चैत्यालयके सहारे मुनि और श्रावक दोनोंका ही धर्म अवस्थित रहता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष; इन चार पुरुषार्थोंमें सर्वश्रेष्ठ मोक्ष ही है। यदि धर्म पुरुषार्थ उस मोक्षके साधक रूपमें अनुष्ठित होता है तो वह भी उपादेय है। इसके विपरीत यदि वह भोगादिककी अभिलाषासे किया जाता है तो वह धर्म पुरुषार्थ भी पापरूप ही है। कारण यह कि अणुव्रत या महाव्रत दोनोंका ही उद्देश एक मात्र मोक्षकी प्राप्ति है, इसके विना वे भी दुखके ही कारण हैं (२५-२६)।

८. सिद्धस्तुति—इस अधिकारमें २९ श्लोक हैं। यहां प्रथमतः सिद्धोंको नमस्कारपूर्वक उनसे अपने कल्याणकी प्रार्थना करते हुए ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके क्षयसे क्रमशः सिद्धोंके कौन-से गुण प्रादुर्भूत होते हैं, इसका निर्देश किया गया है (६)। तत्पश्चात् उनके ज्ञान-दर्शन एवं सुखादिकी विशेष प्ररूपणा की गई है।

९. आलोचना—इस अधिकारमें ३३ श्लोक हैं। यहां जिनेन्द्रके गुणोंका कीर्तन करते हुए यह बतलाया है कि मन, वचन और काय तथा कृत, कारित व अनुमोदन; इनको परस्पर गुणित करनेपर जो नौ स्थान (मनकृत, मनकारित और मनानुमोदित आदि) प्राप्त होते हैं उनके द्वारा प्राणीके पाप उत्पन्न होता है। उसे दूर करनेके लिये जिनेन्द्र प्रभुके आगे आत्मनिन्दा करते हुए 'वह मेरा पाप मिथ्या हो' ऐसा विचार करना चाहिये। अज्ञानता या प्रमादके वशीभूत होकर जो पाप उत्पन्न हुआ है उसे निष्कपट भावसे जिनेन्द्र व गुरुके समक्ष प्रगट करना, इसका नाम आलोचना है। यद्यपि जिनेन्द्र भगवान् सर्वज्ञ होनेसे उस सब पापको स्वयं जानते हैं, फिर भी आत्मशुद्धिके लिये दोषोंकी आलोचना करना आवश्यक है। कारण कि साधुके मूल और उत्तर गुणोंके परिपालनमें जो दोष दृष्टिगोचर होते हैं, उनकी आलोचना करनेसे हृदयके भीतर कोई शल्य नहीं रहता (७-९)।

आगे यहां यह भी कहा गया है कि प्राणीके असंख्यात संकल्प-विकल्प और तदनुसार उसके असंख्यात पाप भी होते हैं। ऐसी अवस्थामें आगमोक्त विधिसे उन सब पापोंका प्रायश्चित्त करना सम्भव नहीं है। अत एव उन सबके शोधनका एक प्रमुख उपाय है अपने मन और इन्द्रियोंको बाह्य पदार्थोंकी ओरसे हटाकर उनका परमात्मस्वरूपके साथ एकीकरण करना। इसके लिये मनके ऊपर विजय प्राप्त करना आवश्यक हैं। कारण कि उस मनकी अवस्था ऐसी है कि समस्त परिग्रहको छोड़कर वनका आश्रय ले लेनेपर भी वह मन बाह्य पदार्थोंकी ओर दौड़ता है। अत एव उसके ऊपर विजय प्राप्त करनेके लिये उसे परमात्मस्वरूपके चिन्तनमें लगाना श्रेयस्कर है। इस प्रकार विवेचन करते हुए अन्तमें यह निर्दिष्ट किया गया है कि सर्वज्ञ प्रभुने जिस चरित्रका उपदेश दिया है उसका परिपालन इस कलि कालमें दुष्कर है। अत एव जो भव्य जीव इस समय तन्मय होकर उस सर्वज्ञ वीतराग प्रभुकी केवल भक्ति ही करता है वह उस दृढ भक्तिके प्रसादसे संसार-समुद्रके पार हो जाता है (३०)।

१०. सद्बोधचन्द्रोदय—इस अधिकारमें ५० श्लोक हैं। यहां भी चित्स्वरूप परमात्माकी महिमाको दिखलाकर यह निर्दिष्ट किया है कि जिसका चित्त उस चित्स्वरूपमें लीन हो जाता है वह योगी समस्त जीवराशिको आत्मसदृश देखता है। उसे अज्ञानी जनके कर्मकृत विकारको देखकर किसी प्रकारका क्षोभ नहीं होता। यहां यह भावना की गई है कि यह प्राणी मोहनिद्राके वशीभूत होकर बहुत काल तक सोया है। अब उसे इस शास्त्रको पढ़कर प्रबुद्ध (जागृत) हो जाना चाहिये।

११. निश्चयपञ्चाशत्—इस अधिकारमें ६२ श्लोक हैं। यहां प्रथमतः मन व वचनकी अविषयभूत (अचिन्त्य व अवर्णनीय) परंज्योति एवं गुरुके जयवंत रहनेकी प्रार्थना करके यह निर्देश किया है कि संसारमें सब प्राणियोंने जन्म-मरणके कारणभूत विषयोंको सुना है तथा उनका परिचय व अनुभव भी प्राप्त किया है, किन्तु मुक्तिकी कारणभूत वह परंज्योति उन्हें प्राप्त नहीं हुई। इसका कारण यह है कि उसका ज्ञान प्राप्त होना दुर्लभ है, और उससे भी अधिक दुर्लभ है उसका अनुभव (१-७)।

उसके जाननेमें हेतुभूत जो नय है वह दो प्रकारका है--शुद्ध नय और व्यवहार नय। इनमें व्यवहार नय तो अज्ञानी जनको प्रबोध करनेके लिये है, कर्मक्षयका कारण यथार्थमें शुद्ध नय ही है। व्यवहार नय यथावस्थित वस्तुको विषय न करनेके कारण अभूतार्थ और शुद्ध नय यथावस्थित वस्तुको विषय करनेके कारण भूतार्थ कहा जाता है। वस्तुका यथार्थ स्वरूप अनिर्वचनीय है, उसका वर्णन जो वचनों द्वारा किया जाता है वह व्यवहारके आश्रयसे ही किया जाता है। चूंकि मुख्य और उपचारके आश्रित किया जानेवाला सब विवरण उस व्यवहारके ऊपर ही निर्भर है, अत एव इस दृष्टिसे उसे भी पूज्य माना गया है (८-११)।

आगे शुद्ध नयके आश्रयसे रत्नत्रयके स्वरूपको बतलाकर यह निर्देश किया है कि जिसने समस्त परिग्रहको छोड़कर जंगलका आश्रय ले लिया है तथा जो वहां स्थित रहकर सब प्रकारके उपद्रवोंको भी सह रहा है, वह यदि सम्यग्ज्ञानसे रहित है तो फिर उसमें और वनके वृक्षमें कोई भेद नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, वह भी तो विवेकसे रहित होकर इसी प्रकारके कष्टोंको सहता है (१६)। इस प्रकारसे सम्यग्ज्ञान और उस चित्स्वरूपकी महिमाको बतलाकर निश्चयसे मैं कौन व कैसा हूं तथा मेरा कर्म व तत्कृत राग-द्वेषादिसे क्या सम्बन्ध है; इत्यादि विचार किया गया है। जो आत्माको बद्ध देखता है वह संसारमें बद्ध ही रहता है और जो उसे मुक्त देखता है वह मुक्त ही हो जाता है, अर्थात् जन्म-मरणरूप संसारसे छूट जाता है। जब जीवको विशुद्ध आत्माका अनुभवन होने लगता है तब वह इन्द्रकी भी विभूतिको तृणके समान तुच्छ समझता है।

१२. ब्रह्मचर्यरक्षावर्ति—इस अधिकारमें २२ श्लोक हैं। यहां प्रथमतः दुर्जेय काम-सुभटको जीत लेनेवाले मुनियोंको नमस्कार करके ब्रह्मचर्यके स्वरूपका निर्देश करते हुए यह कहा है कि 'ब्रह्म'का अर्थ विशुद्ध ज्ञानमय आत्मा होता है, उस आत्मामें चर्य अर्थात् रमण करनेका नाम ब्रह्मचर्य है। यह निश्चय ब्रह्मचर्यका स्वरूप है। वह उन मुनियोंके होता है जो स्त्रियोंकी तो बात ही क्या, किन्तु अपने शरीरसे भी निर्ममत्व हो चुके हैं। ऐसे जितेन्द्रिय तपस्वी सब स्त्रियोंको यथायोग्य माता, बहिन व बेटीके समान देखते हैं। इस ब्रह्मचर्यके विषयमें यदि कदाचित् स्वप्नमें दोष उत्पन्न होता है तो वे रात्रिविभागके अनुसार आगमोक्त विधिसे उसका प्रायश्चित्त करते हैं। उस ब्रह्मचर्यके रक्षणका मुख्य उपाय यद्यपि मनका संयम ही है, फिर भी गरिष्ठ व कामोद्दीपक भोजनका परित्याग भी उसके संरक्षणमें सहायक होता हैं। (१-३) इस ब्रह्मचर्यको सुरक्षित रखनेके लिये यहां स्त्रियोंके निन्द्य रूप व लावण्य आदिकी अस्थिरताको दिखलाकर (१२-१५) रागपूर्ण दृष्टिसे उनके अंगोपांगोंको देखना, उनके समीपमें रहना, उनके साथ वार्तालाप करना और उनका स्पर्श करना; इस सबको अनर्थ-परम्पराका कारण बतलाया गया है (९)।

१३. ऋषभस्तोत्र—यह प्रकरण प्राकृत भाषामें रचा गया है। इसमें ६० गाथायें हैं। यहां ग्रन्थकर्ता नाभिराय एवं मरुदेवीके पुत्र भगवान् ऋषभ जिनेन्द्रकी स्तुति करनेमें इस प्रकार अपनी असमर्थताका अनुभव करते हैं जिस प्रकार कुएँमें रहनेवाला क्षुद्र मेंढक समुद्रके विस्तार आदिका वर्णन नहीं कर सकता।

वे भगवान् जब सर्वार्थसिद्धिसे च्युत होकर माता मरुदेवीके गर्भमें आनेवाले थे, उसके छह महिने पूर्वसे ही नाभिरायके घरपर रत्नोंकी वर्षा प्रारम्भ हो गई। उस समय देवोंने आकर मरुदेवीके चरणोंमें नमस्कार किया। तत्पश्चात् प्रभुका जन्म हो जानेपर जब सौधर्म इन्द्रने उन्हें मेरु पर्वतपर अभिषेकार्थ ले जानेके लिये अपनी गोदमें लिया तब उन्हें देखकर उसमें अपने निर्निमेष हजार नेत्रोंको सफल समझा (६-९)।

इस अवसर्पिणी कालके चतुर्थ पर्वमें जब चौरासी लाख पूर्व, तीन वर्ष और साढ़े आठ माह शेष रहे थे तब भगवान् ऋषभ देवका जन्म हुआ था[१]। यह परिवर्तनका समय था–भोगभूमिका अन्त होकर कर्मभूमिकी रचना प्रारम्भ होनेवाली थी। उस समय कल्पवृक्ष धीरे धीरे नष्ट होते जा रहे थे। इससे प्रजाजन भूख आदिसे पीड़ित होने लगे थे। तब भगवान् ऋषभदेवने उन्हें यथायोग्य खेती आदिकी शिक्षा दी[२]। इस प्रकार उन्होंने बहुत-से कल्पवृक्षोंके कार्यको अकेले ही पूरा कर दिया (१३)। उनकी आयु चौरासी लाख पूर्वकी थी। इसमेंसे गृहस्थ अवस्थामें उनके तेरासी लाख पूर्व बीत चुके थे[३]।

एक समय वे सभाभवनमें सुन्दर सिंहासनके ऊपर स्थित होकर इन्द्रके द्वारा आयोजित नीलांजना अप्सराके नृत्यको देख रहे थे। इसी बीच नीलांजनाकी आयुके क्षीण हो जानेसे वह क्षणभरमें अदृश्य हो गई। यद्यपि इन्द्रने उसके स्थानपर उसी समय दूसरी अप्सराको खड़ा कर दिया, फिर भी यह बात भगवान्की दिव्य दृष्टिके ओझल नहीं रही[४]। फिर क्या था, उन्होंने उस नीलांजनाकी क्षणनश्वरताको देखकर राजलक्ष्मीके भी क्षणनश्वर स्वरूपको जान लिया। तब उन्होंने उस राजलक्ष्मीको जीर्ण तृणके समान छोड़कर दीक्षा ग्रहण कर ली (१५-१६)। इस प्रकार तपश्चरण करते हुए उनके एक हजार वर्ष बीत गये[५] तब उन्होंने अनुपम समाधिके द्वारा चार घातिया कर्मोंको नष्ट करके केवलज्ञानको प्राप्त किया (१९)।

इस प्रसंगमें यहां समवसरणमें विराजमान भगवान् आदि जिनेन्द्रके सिंहासनादि आठ प्रातिहार्योंका वर्णन किया गया है (२३-३४)। उस समय भगवान्ने अपनी दिव्य वाणीके द्वारा विश्वको हितकारी मोक्षमार्गका उपदेश दिया। उसको सुनकर मुमुक्षु जन मोहसे रहित होते हुए उस मार्गपर निराकुलतापूर्वक इस प्रकार चलने लगे जिस प्रकार कि चोरादिकी बाधासे रहित मार्गपर व्यवहारी जन निश्चिन्ततापूर्वक चला करते हैं (३७)। इस प्रकार तीर्थंकर प्रकृतिके उदयकी महिमाको प्रगट करते हुए ग्रन्थकार मुनि पद्मनन्दीने इस स्तुतिको समाप्त किया है।

१४. जिनदर्शनस्तवन—यह प्रकरण भी प्राकृत भाषामय है और उसमें ३४ गाथाओंके द्वारा जिनदर्शनकी महिमाको दिखलाया गया है।

१५. श्रुतदेवतास्तुति—इस प्रकरणमें ३१ श्लोकोंके द्वारा जिनवाणीकी स्तुति की गई है।

---

१ सुसमदुसमम्मि णामे सेसे चउसीदिलक्खपुव्वाणि। वासतए अडमासे इगिपक्खे उसहउप्पत्ती ॥ ति. प. ४,५५३.

२ प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ॥ बृहत्स्व. २.

३ ति. प. ४-५८३,५९० (कुमारकाल २० लाखपूर्व+राज्यकाल ६३ लाखपूर्व=८३ लाखपूर्व)। ४ आ. पु. १७,१-११. ५ ति. प. ४,६७५.

१६. स्वयंभूस्तुति—इस प्रकरणमें २४ श्लोकोंके द्वारा क्रमसे ऋषभादि २४ तीर्थंकरोंकी स्तुति की गई है।

१७. सुप्रभाताष्टक—यह ८ श्लोकोंकी एक स्तुति है। प्रभात कालके होनेपर रात्रिका अन्धकार नष्ट होकर सब ओर सूर्यका प्रकाश फैल जाता है। तथा उस समय जनसमुदायकी निद्रा भंग होकर उनके नेत्र खुल जाते हैं। ठीक इसी प्रकारसे मोहनीय कर्मका क्षय हो जानेसे जिन भगवान्‌की निद्रा—मोहनिर्मित जड़ता—नष्ट हो जाती है तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंके निर्मूल नष्ट हो जानेसे उनके अनन्त ज्ञान-दर्शनका प्रकाश सर्वत्र फैल जाता है। इस प्रकार उन्हें उस समय अपूर्व ही उत्तम प्रभातका लाभ होता है।

१८. शान्तिनाथस्तोत्र—यहां ९ श्लोकों द्वारा तीन छत्र आदिरूप आठ प्रातिहार्योंका उल्लेख करके भगवान् शान्तिनाथ तीर्थंकर की स्तुति की गई।

१९. जिनपूजाष्टक—यहां १० श्लोकोंमें क्रमसे जल-चन्दनादि आठ द्रव्योंके द्वारा जिन भगवान्‌की पूजा की गई है।

२०. करुणाष्टक—इस ८ श्लोकोंके प्रकरणमें अपनी दीनता दिखलाकर जिनेन्द्र देवसे दयाकी याचना करते हुए संसारसे अपने उद्धारकी प्रार्थना की गई है।

२१. क्रियाकाण्डचूलिका—इस प्रकरणमें १८ श्लोक हैं। उनमें प्रथम ९ श्लोकोंमें समस्त दोषोंसे रहित और सम्यग्दर्शनादि अनेक गुणोंसे विभूषित जिन भगवान्‌की स्तुति करते हुए उनसे यह प्रार्थना की गई है कि मैं अनन्त गुणोंसे सम्पन्न आपकी स्तुति नहीं कर सकता। साथ ही मुझे इस समय मोक्षका कारणभूत समस्त आगमज्ञान व चारित्र भी नहीं प्राप्त हो सकता हूं। अत एव मैं आपसे यही याचना करता हूं कि मेरी भक्ति सदा आपके विषयमें बनी रहे और मैं इस भव और परभवमें भी आपके चरणयुगलकी सेवा करता रहूं। आप मुझे अपूर्व रत्नत्रय प्रदान करें।

तत्पश्चात् जिन भगवान्‌से यह प्रार्थना की गई है कि रत्नत्रय एवं मूल व उत्तर गुणों आदिके सम्बन्धमें अभिमान व प्रमादके वश होकर जो मुझसे अपराध हुआ है तथा मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे जो मैंने प्राणिपीडन भी किया है व उससे कर्मका संचय हुआ है वह सब आपके चरण-कमलके स्मरणसे मिथ्या हो। अन्तमें जिनवाणीका स्मरण करते हुए इसे क्रियाकाण्डरूप कल्पवृक्षका पत्र बतलाकर उसके जयकी प्रार्थना की गई है और इस क्रियाकाण्डचूलिकाके पढ़नेके फलकी घोषणा भी की गई है।

२२. एकत्वभावनादशक—इस प्रकरणमें ११ श्लोक हैं। यहां परंज्योतिस्वरूपसे प्रसिद्ध व एकत्वरूप अद्वितीय पदको प्राप्त आत्मतत्त्वका विवेचन करते हुए यह कहा गया है कि जो उस आत्मतत्त्वको जानता है वह स्वयं दूसरोंके द्वारा पूजा जाता है, उसका आराध्य फिर अन्य कोई नहीं रहता। उस एकत्वका ज्ञान दुर्लभ अवश्य है, पर मुक्तिको प्रदान वही करता है। और मुक्तिमें जो निर्बाध सुख प्राप्त है वह संसारमें सर्वत्र दुर्लभ है।

२३. परमार्थविंशति—इस प्रकरणमें २० श्लोक हैं। यहांपर भी शुद्ध चिद्रूप (अद्वैत) की प्रशंसा करते हुए यह कहा गया है कि जो जानता देखता है वही मैं हूं, उसको छोड़कर और कोई भी दूसरा स्वरूप मेरा नहीं है। यदि मेरे अन्तःकरणमें शाश्वतिक सुखको प्रदान करनेवाले गुरुके वचन जागते हैं तो फिर मुझसे कोई स्नेह करे या न करे, गृहस्थ मुझे भोजन दें चाहे न दें, तथा जनसमुदाय यदि मुझे नग्न देखकर निन्दा करता है तो भले ही करता रहे; फिर भी मुझे उससे कुछ भी खेद नहीं है। सुख और दुख जिस कर्मके फल हैं वह कर्म आत्मासे पृथक् है, यह विवेकबुद्धि जिसे प्राप्त हो चुकी है उसके 'मैं सुखी हूं अथवा दुखी हूं' यह विकल्प ही नहीं उत्पन्न होता। ऐसा योगी कभी ऋतु आदिके कष्टको कष्ट नहीं मानता।

२४. शरीराष्टक—यहां ८ श्लोकोंके द्वारा शरीरकी स्वाभाविक अपवित्रता और अस्थिरताको दिखलाते हुए उसे नाडीव्रणके समान भयानक और कडुवी तूंबड़ीके समान उपभोगके अयोग्य बतलाया गया है। साथ ही यह भी कह दिया है कि एक ओर जहां मनुष्य अनेक पोषक तत्त्वोंके द्वारा उसका संरक्षण करके उसके स्थिर रखनेमें उद्यत होता है वहीं दूसरी ओर वृद्धत्व उसे क्रमशः जर्जरित करनेमें उद्यत होता है और अन्तमें वही सफल भी होता है—प्राणीका वह रक्षाका प्रयत्न व्यर्थ होकर अन्तमें यह शरीर कीड़ोंका स्थान या भस्म बन जाता है।

२५. स्नानाष्टक—यहां ८ श्लोकोंमें यह कहा गया है कि मलसे परिपूर्ण घड़ेके समान निरन्तर मल-मूत्रादिसे परिपूर्ण रहनेवाला यह शरीर कभी जलस्नानके द्वारा पवित्र नहीं हो सकता है। उसका यथार्थ स्नान तो विवेक है जो जीवके चिरसंचित मिथ्यात्व आदिरूप अन्तरंग मलको धो देता है। इसके विपरीत उस जलके स्नानसे तो प्राणिहिंसाजनित केवल पाप-मलका ही संचय होता है। जो शरीर प्रतिदिन स्नानको प्राप्त होकर भी अपवित्र बना रहता है तथा अनेक सुगन्धित लेपनोंसे लिप्त होकर भी दुर्गन्धको ही छोड़ता है उसको शुद्ध करनेवाला संसारमें न कोई जल है और न वैसा कोई तीर्थ भी है।

२६. ब्रह्मचर्याष्टक—इस नौ श्लोकमय प्रकरणमें यह निर्देश किया गया है कि विषयसेवनके लिये चूंकि अधिकतर पशुओंका मन ही लालायित रहता है, अत एव उसे पशुकर्म कहा जाता है। वह विषयसेवन जब अपनी ही स्त्रीके साथ भी निन्द्य माना जाता है तब भला परस्त्री या वेश्याके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है? यह विषयोपभोग एक प्रकारका वह तीक्ष्ण कुठार है जो संयमरूप वृक्षको निर्मूल कर देता है।

विषय–सूची

२. दानोपदेशन १-५४, पृ. ७८

५. यतिभावनाष्टक १–९, पृ. १२५

६. उपासकसंस्कार १–६२, पृ. १२८

७. देशव्रतोद्योतन १-२७, पृ. १३९

८. सिद्धस्तुति १-२९, पृ. १४७

९. आलोचना १-३३, पृ. १२८

१२. ब्रह्मचर्यरक्षावर्ति १-२२, पृ. १९३

१३. ऋषभस्तोत्र १-६१, पृ. २०१

पद्मनन्दि-पञ्चविंशतिः

। ॐ नमः सिद्धेभ्यः ।

पद्मनन्दि-पञ्चविंशतिः

[१. धर्मोपदेशामृतम्]

1) कायोत्सर्गायताङ्गो जयति जिनपतिर्नाभिसूनुर्महात्मा
मध्याह्ने यस्य भास्वानुपरि परिगतो राजति[1] स्मोग्रमूर्तिः ।
चक्रं कर्मेन्धनानामतिबहु दहतो दूरमौदास्यवात-
स्फूर्जत्[2]सद्ध्यानवह्नेरिव रुचिरतरः प्रोद्गतो विस्फुलिङ्गः ॥ १ ॥

2) नो किंचित्करकार्यमस्ति गमनप्राप्यं न[3] किंचिद् दृशो-
र्दृश्यं यस्य न कर्णयोः किमपि हि श्रोतव्यमप्यस्ति न ।
तेनालम्बितपाणिरुज्झितगतिर्नासाग्रदृष्टी रहः
संप्राप्तो ऽतिनिराकुलो विजयते ध्यानैकतानो जिनः ॥ २ ॥

[संस्कृत टीका]

स जिनपतिः[4] जयति । कथंभूतो जिनपतिः[5] । नाभिसूनुः नाभिपुत्रः । पुनः कथंभूतः । महात्मा महांश्चासौ आत्मा महात्मा । पुनः किंलक्षणः[6] । कायोत्सर्गायताङ्गः कायोत्सर्गेण आयतं प्रसारितम् अङ्गं यस्य सः । मध्याह्ने मध्याह्नकाले[7] । यस्य जिनपतेः उपरि । परिगतः प्राप्तः । भास्वान् सूर्यः । राजति[8] स्म शुशुभे । कथंभूतो भास्वान् । उग्रमूर्तिः । तत्रोत्प्रेक्षते-सूर्यः क इव । औदास्यवातस्फूर्जत्[9]सद्ध्यानवह्नेः विस्फुलिङ्ग इव[10] । उदासस्य भावः औदास्यम् उदासीनता सैव वातः तेन औदास्यवातेन स्फूर्जत्[11] विस्फुरितः सद्ध्यानमेव वह्निः तस्य सद्ध्यानवह्नेः विस्फुलिङ्गः । प्रोद्गतः उत्पन्नः । कथंभूतो विस्फुलिङ्गः । रुचिरतरः दीप्तिमान्[12] । कथंभूतस्य वह्नेः । कर्माण्येवेन्धनानि कर्मेन्धनानि तेषां कर्मेन्धनानाम् । चक्रं समूहम् । अतिबहु बहुतरम् । दूरम् अतिशयेन । दहतः भस्मीकुर्वतः इत्यर्थः ॥१॥ जिनः विजयते कर्मारातीन् कर्मशत्रून् जयति इति जिनः विजयते । यस्य जिनस्य । किंचित्करकार्यं नोऽस्ति कराभ्यां[13] कार्यं करकार्यं नोऽस्ति । तेन हेतुना । स जिनः आलम्बितपाणिः आलम्बितौ पाणी यस्य स आलम्बित-पाणिः । यस्य जिनस्य किंचिद्गमनप्राप्यं न गमनेन किंचिल्लभ्यं न । तेन हेतुना । उज्झितगतिः उज्झिता गतिर्येन स उज्झितगतिः ।

[हिन्दी अनुवाद]

कायोत्सर्गके निमित्तसे जिनका शरीर लम्बायमान हो रहा है ऐसे वे नाभिरायके पुत्र महात्मा आदिनाथ जिनेन्द्र जयवन्त होवें, जिनके ऊपर प्राप्त हुआ मध्याह्न (दोपहर) का तेजस्वी सूर्य ऐसा सुशोभित होता है मानो कर्मरूप इन्धनोंके समूहको अतिशय जलानेवाली एवं उदासीनतारूप वायुके निमित्तसे प्रगट हुई समीचीन ध्यानरूपी अग्निकी देदीप्यमान चिनगारी ही उत्पन्न हुई हो ॥ विशेषार्थ—भगवान् आदिनाथ जिनेन्द्रकी ध्यानावस्थामें उनके ऊपर जो मध्याह्न कालका तेजस्वी सूर्य आता था उसके विषयमें ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि वह सूर्य क्या था मानो समताभावसे आठ कर्मरूपी इन्धनको जलानेके इच्छुक होकर भगवान् आदिनाथ जिनेन्द्रके द्वारा किये जानेवाले ध्यानरूपी अग्निका विस्फुलिंग ही उत्पन्न हुआ है ॥ १ ॥ हाथोंसे करने योग्य कोई भी कार्य शेष न रहनेसे जिन्होंने अपने दोनों हाथोंको नीचे लटका रक्खा था, गमनसे प्राप्त करनेके योग्य कुछ भी कार्य न रहनेसे जो गमनसे रहित हो चुके थे, नेत्रोंके देखने योग्य कोई भी वस्तु न रहनेसे जो अपनी दृष्टिको नासाके अग्रभाग पर रखा करते थे, तथा कानोंके सुनने योग्य कुछ भी शेष न रहनेसे जो आकुलतासे रहित होकर एकान्त स्थानको प्राप्त हुए थे; ऐसे वे ध्यानमें एकाग्र-

---

१ अ श राजते । २ अ श स्फूर्यत् । ३ अ श न । ४ अ श स जिनः । ५ श जिनः । ६ श कथम्भूतः । ७ श मध्यह्ने वासरमध्यकाले । ८ श राजते । ९ श स्फूर्यत् । १० श 'इव' नास्ति । ११ श स्फूर्यत् । १२ अ दीप्तिवान् श दीप्तवान् । १३ श कराभ्यां कार्यं करकार्यं नोऽस्ति' इत्ययं पाठो नास्ति ।

3) रागो यस्य न विद्यते क्वचिदपि प्रध्वस्तसंगग्रहात्
अस्त्रादेः परिवर्जनाच्च च बुधैर्द्वेषो ऽपि संभाव्यते ।
तस्मात्साम्यमथात्मबोधनमतो जातः क्षयः कर्मणा-
मानन्दादिगुणाश्रयस्तु नियतं सो ऽर्हन्सदा पातु वः ॥ ३ ॥

4) इन्द्रस्य प्रणतस्य शेखरशिखारत्नार्कभासा नख-
श्रेणीतेक्षणबिम्बशुम्भदलिभृद्दूरोल्लसत्पाटलम् ।

यस्य जिनस्य दृशोः नेत्रयोः किंचिद् दृश्यं नास्ति[1] । तेन हेतुना । नासाग्रदृष्टिः नासाग्रे आरोपितदृष्टिः[2] । यस्य जिनस्य कर्णयोः किमपि श्रोतव्यं न अस्ति । तेन हेतुना । रहः एकान्ते । प्राप्तः । पुनः किंलक्षणो जिनः । अतिनिराकुलः आकुलतारहितः । पुनः कथंभूतो जिनः । ध्यानैकतानः ध्याने एकाग्रचित्तः । एतादृशः जिनः विजयते इत्यर्थः ॥ २ ॥ स अर्हन् जिनः । वः युष्मान् । सदा । पातु रक्षतु । यस्य जिनस्य । नियतं निश्चितम् । क्वचिदपि । रागो न विद्यते । कस्मात् । प्रध्वस्तसंगग्रहात् प्रध्वस्तः स्फेटित[3]: संग्रहः पिशाचः यत्र तस्मात् परिग्रहत्यजनात् । च । यस्य जिनस्य । बुधैः द्वेषोऽपि न संभाव्यते । कस्मात् । अस्त्रादेः परिवर्जनात् अस्त्ररहितत्वात् । तस्मात् रागद्वेषाभावात् साम्यं जातम् । साम्यात्किं जातम् । आत्मबोधनं जातम् । अतः आत्मबोधनात् किं जातम्[4] । कर्मणां क्षयो जातः । कर्मणां क्षयात्किं जातः । आनन्दादिगुणाश्रयः जातः आनन्दादिगुणानां आश्रयः स्थानम् । एवंभूतः जिनः वः युष्मान् पातु सदा रक्षतु ॥३॥ जिनस्य वीतरागस्य । अङ्घ्रियुगं चरणकमलयुगम् । न अस्माकम् । चेतोऽर्पितं चित्ते अर्पितं मनसि स्थापितम् । शर्मणे सुखाय भवतु । कथंभूतम् अङ्घ्रियुगम् । जाड्यहरं जडस्य भावः जाड्यं मूर्खत्वस्फेटकम् । पुनः किंलक्षणम् । अम्भोजसाम्यं दधत् कमलसादृश्यं दधत् । पुनः किंलक्षणम् । रजस्त्यक्तं रजसा त्यक्तं रजस्त्यक्तम् । अपि निश्चितम् । पुनः किंलक्षणं चरणयुगम् । श्रीसद्म श्रीः लक्ष्मीस्तथा श्रीः शोभा तस्याः लक्ष्म्याः गृहं तथा तस्याः शोभायाः गृहम् । पुनः किंलक्षणम् । प्रणतस्य

चित्त हुए जिन भगवान् जयवन्त होवें ॥ विशेषार्थ— अन्य समस्त पदार्थोंकी ओरसे चिन्ताको हटाकर किसी एक ही पदार्थकी ओर उसे नियमित करना, इसे ध्यान कहा जाता है । यह ध्यान कहीं एकान्त स्थानमें ही किया जा सकता है । यदि उक्त ध्यान कार्योत्सर्गसे किया जाता है तो उस अवस्थामें दोनों हाथोंको नीचे लटका कर दृष्टिको नासाके ऊपर रखते हैं । इस ध्यानकी अवस्थाको लक्ष्य करके ही यहां यह कहा गया है कि उस समय जिन भगवान्को न हाथोंसे करने योग्य कुछ कार्य शेष रहा था, न गमनसे प्राप्त करनेके योग्य धनादिककी अभिलाषा शेष थी, न कोई भी दृश्य उनके नेत्रोंको रुचिकर शेष रहा था, और न कोई गीत आदि भी उनके कानोंको मुग्ध करनेवाला शेष रहा था ॥ २ ॥ जिस अरहंत परमेष्ठीके परिग्रह रूपी पिशाचसे रहित हो जानेके कारण किसी भी इन्द्रियविषयमें राग नहीं है, त्रिशूल आदि आयुधोंसे रहित होनेके कारण उक्त अरहंत परमेष्ठीके विद्वानोंके द्वारा द्वेषकी भी सम्भावना नहीं की जा सकती है । इसीलिये राग-द्वेषसे रहित हो जानेके कारण उनके समताभाव आविर्भूत हुआ है, और इस समताभावके प्रगट हो जानेसे उनके आत्मावबोध तथा इससे उनके कर्मोंका वियोग हुआ है । अत एव कर्मोंके क्षयसे जो अर्हत् परमेष्ठी अनन्त सुख आदि गुणोंके आश्रयको प्राप्त हुए हैं वे अर्हत् परमेष्ठी सर्वदा आप लोगोंकी रक्षा करें ॥ ३ ॥ जो जिन भगवान्के श्रेष्ठ उभय चरण नमस्कार करते समय नम्रीभूत हुए इन्द्रके मुकुटकी शिखामें जड़े हुए रत्नरूपी सूर्यकी प्रभासे कुछ धवलताके साथ लाल वर्णवाले हैं, तथा जो नखपंक्तियोंमें प्राप्त हुए इन्द्रके नेत्रप्रतिबिम्बरूप भ्रमरोंको धारण करते हैं, तथा जो शोभाके स्थानभूत हैं, इसीलिये जो कमलकी उपमाको

१ अ श किंचित् दृश्यं न द्रष्टु योग्यं । २ क आश्रयितदृष्टिः श आरोपिता दृष्टिः । ३ अ स्फेटितः । ४ अ किं जातः ।

श्रीसद्माङ्घ्रियुगं जिनस्य दधदप्यम्भोजसाम्यं रज-
स्त्यक्तं जाड्यहरं परं भवतु नश्चेतो ऽर्पितं शर्मणे ॥ ४ ॥

5) **जयति जगदधीशः शान्तिनाथो यदीयं स्मृतमपि हि जनानां पापतापोपशान्त्यै ।**
विबुधकुलकिरीटप्रस्फुरन्नीलरत्नद्युतिचलमधुपालीचुम्बितं पादपद्मम् ॥ ५ ॥

6) **स जयति जिनदेवः सर्वविद्विश्वनाथो वितथवचनहेतुक्रोधलोभादिमुक्तः ।**
शिवपुरपथपान्थप्राणिपाथेयमुच्चैर्जनितपरमशर्मा येन धर्मो ऽभ्यधायि ॥ ६ ॥

नमस्कारं कुर्वतः इन्द्रस्य शेखरशिखारत्नार्कभासा कृत्वा पाटलम् इन्द्रस्य शेखरः मुकुटः तस्य मुकुटस्य शिखारत्नं स एव अर्कः सूर्यः तस्य शेखरशिखारत्नार्कस्य भा दीप्तिः तया शेखरशिखारत्नार्कभासा कृत्वा पाटलम् । 'श्वेतरक्तस्तु पाटलम्' इत्यमरः । पुनः किंलक्षणम् । नखश्रेणीतेक्षणबिम्बशुम्भदलिभृत्, नखानां श्रेण्यः नखश्रेण्यः पङ्क्तयः तासु नखश्रेणीषु इतानि प्राप्तानि यानि इन्द्रस्य ईक्षणबिम्बानि तान्येव शुम्भन्तः अलयः भृङ्गाः तान् अलीन् बिभर्ति इति भृत् नखश्रेणीतेक्षणबिम्बशुम्भदलिभृत् । पुनः किंलक्षणम् अङ्घ्रियुगम् । दूरोल्लसत् दूरम् अतिशयेन उल्लसत् प्रकाशमानम् । एवंभूतम् अङ्घ्रियुगं भवतां सुखाय भवतु ॥ ४ ॥ स श्रीशान्तिनाथः जयति । किंलक्षणः श्रीशान्तिनाथः । जगदधीशः जगतः अधीशः जगदधीशः । हि निश्चितम् । यदीयं पादपद्मं स्मृतममपि । जनानां लोकानाम् । पापतापोपशान्त्यै भवति पापतापस्य उपशान्तिः तस्यै पापतापोपशान्त्यै भवति[1] । किंलक्षणं पादपद्मम् । विबुधकुलकिरीटप्रस्फुरन्नीलरत्नद्युतिचलमधुपालीचुम्बितं विबुधकुलानां देवसमूहानां किरीटे मुकुटे प्रस्फुरती[2] या नीलरत्नद्युतिः सैव चञ्चला मधुपानां भृङ्गाणां आली पङ्क्तिः तया चुम्बितं स्पर्शितं पादपद्मम् ॥ ५ ॥ स जिनदेवो जयति । किंलक्षणो जिनदेवः[3] । सर्ववित् सर्वं वेत्तीति सर्ववित् । पुनः किंलक्षणः । विश्वनाथः त्रैलोक्यप्रभुः । पुनः किंलक्षणः । वितथवचनहेतुक्रोधलोभादिमुक्तः असत्यवचनहेतुः क्रोधलोभादिः तेन मुक्तः रहितः । येन जिनदेवेन धर्मः अभ्यधायि अकथि । किंलक्षणो धर्मः । शिवपुरपथपान्थप्राणिपाथेयं मोक्षनगरमार्गपथिकजीवानां पाथेयं सम्बलम् । पुनः किंलक्षणो

धारण करते हुए भी धूलिके सम्पर्कसे रहित होकर जड़ता (अज्ञान) को हरनेवाले हैं; वे उभय चरण हमारे चित्तमें स्थित होकर सुखके कारणीभूत होवें ॥ विशेषार्थ– यहां जिन भगवान्‌के चरणोंको कमलकी उपमा देते हुए यह बतलाया है कि जिस प्रकार कमल पाटल (किंचित् सफेदीके साथ लाल) वर्ण होता है उसी प्रकार जिन भगवान्‌के चरणोंमें जब इन्द्र नमस्कार करता था तब उसके मुकुटमें जड़े हुए रत्नकी छाया उनपर पड़ती थी, इसलिये वे भी कमलके समान पाटल वर्ण हो जाते थे। यदि कमलपर भ्रमर रहते हैं तो जिन भगवान्‌के पादनखोंमें भी नमस्कार करते हुए इन्द्रके नेत्रप्रतिबिम्बरूप भ्रमर विद्यमान थे । कमल यदि श्री(लक्ष्मी)का स्थान माना जाता है तो वे जिनचरण भी श्री(शोभा)के स्थान थे । इस प्रकार कमलकी उपमाको धारण करते हुए भी जिनचरणोंमें उससे कुछ और भी विशेषता थी । यथा– कमल तो रज अर्थात् परागसे सहित होता है, किन्तु जिनचरण उस रज(धूलि) के सम्पर्कसे सर्वथा रहित थे । इसी प्रकार कमल जड़ता (अचेतनता) को धारण करता है, परन्तु जिनचरण उस जड़ता (अज्ञानता) को नष्ट करनेवाले थे ॥ ४ ॥ देवसमूहके मुकुटोंमें प्रकाशमान नील रत्नोंकी कान्तिरूपी चंचल भ्रमरोंकी पंक्तिसे स्पर्शित जिन शान्तिनाथ जिनेन्द्रके चरण-कमल स्मरण करने मात्रसे ही लोगोंके पापरूप संतापको दूर करते हैं वह लोकके अधिनायक भगवान् शान्तिनाथ जिनेन्द्र जयवन्त होवें ॥ ५ ॥ जो जिन भगवान् असत्य भाषणके कारणीभूत क्रोध एवं लोभ आदिसे रहित है तथा जिसने मुक्तिपुरीके मार्गमें चलते हुए पथिक जनोंके लिये पाथेय (कलेवा) स्वरूप एवं उत्तम सुखको उत्पन्न करनेवाले ऐसे धर्मका उपदेश दिया है वह समस्त पदार्थोंको जाननेवाला तीन

---

१ क शान्त्यै पापतापस्य । २ क प्रस्फुरन्ती । ३ श क किंलक्षणो देवः ।

7) धर्मो जीवदया गृहस्थशमिनोर्भेदाद्द्विधा च त्रयं
रत्नानां परमं तथा दशविधोत्कृष्टक्षमादिस्ततः ।
मोहोद्भूतविकल्पजालरहिता वागङ्गसंगोज्झिता
शुद्धानन्दमयात्मनः परिणतिर्धर्माख्यया गीयते ॥ ७ ॥

8) आद्या सद्व्रतसंचयस्य जननी सौख्यस्य सत्संपदां
मूलं धर्मतरोरनश्वरपदारोहैकनिःश्रेणिका ।
कार्या सद्भिरिहाङ्गिषु प्रथमतो नित्यं दया धार्मिकैः
धिङ्नामाप्यदयस्य तस्य च परं सर्वत्र शून्या दिशः ॥ ८ ॥

धर्मः । उच्चैः अतिशयेन जनितपरमशर्मा जनितम् उत्पादितं परमशर्म सुखं येनासौ जनितपरमशर्मा । एवंविधो जिनदेवो जयति ॥६॥ जीवदया धर्मः । गृहस्थशमिनोः द्वयोः भेदाद् द्विधा धर्मः कथ्यते । च । रत्नानां त्रयं त्रिविधं धर्मः दर्शनज्ञानचारित्राणि धर्मः । तथा दशविधो धर्मः उत्कृष्टक्षमादिः उत्तमक्षमादिः । ततः पश्चात् । आत्मनः परिणतिः । धर्माख्यया धर्मनाम्ना कृत्वा आत्मनः परिणतिः । गीयते कथ्यते[1] । किंलक्षणा परिणतिः । मोहोद्भूतविकल्पजालरहिता मोहोद्भूतविकल्पजालेन रहिता । पुनः किंलक्षणा । वागङ्गसंगोज्झिता वचनकायसंगरहिता । पुनः किंलक्षणा । शुद्धानन्दमया[मयी] ॥ ७ ॥ इह लोके । सद्भिः पण्डितैः भव्यैः । प्रथमतः । अङ्गिषु जीवेषु । दया कार्या । नित्यं सदैव । धार्मिकैः कार्या । किंलक्षणा दया । सद्व्रतसंचयस्य आद्या जननी माता । सौख्यस्य जननी माता । पुनः किंलक्षणा दया । सत्संपदां मूलम् । पुनः धर्मतरोः धर्मवृक्षस्य मूलम् । पुनः[2] किंलक्षणा दया । अनश्वरपदारोहैकनिःश्रेणिका अनश्वरपदस्य मोक्षपदस्यारोहैकनिःश्रेणिका । तस्य अदयस्य नामापि धिक् । च

लोकका अधिपति जिन देव जयवन्त होवे ॥६॥ प्राणियोंके ऊपर दयाभाव रखना, यह धर्मका स्वरूप है। वह धर्म गृहस्थ (श्रावक) और मुनिके भेदसे दो प्रकारका है। वही धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र रूप उत्कृष्ट रत्नत्रयके भेदसे तीन प्रकारका तथा उत्तम क्षमा एवं उत्तम मार्दव आदिके भेदसे दस प्रकारका भी है। परन्तु निश्चयसे तो मोहके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले मानसिक विकल्पसमूहसे तथा वचन एवं शरीरके संसर्गसे भी रहित जो शुद्ध आनन्दरूप आत्माकी परिणति होती है उसे ही 'धर्म' इस नामसे कहा जाता है ॥ विशेषार्थ- प्राणियोंके ऊपर दयाभाव रखना, रत्नत्रयका धारण करना, तथा उत्तमक्षमादि दस धर्मोंका परिपालन करना; यह सब व्यवहार धर्मका स्वरूप है। निश्चय धर्म तो शुद्ध आनन्दमय आत्माकी परिणतिको ही कहा जाता है ॥ ७ ॥ यहां धर्मात्मा सज्जनोंको सबसे पहिले प्राणियोंके विषयमें नित्य ही दया करनी चाहिये, क्योंकि वह दया समीचीन व्रतसमूह, सुख एवं उत्कृष्ट सम्पदाओंकी मुख्य जननी अर्थात् उत्पादक है; धर्मरूपी वृक्षकी जड़ है, तथा अविनश्वर पद अर्थात् मोक्षमहलपर चढ़नेके लिये अपूर्व नसैनीका काम करती है। निर्दय पुरुषका नाम लेना भी निन्दाजनक है, उसके लिये सर्वत्र दिशायें शून्य जैसी हैं ॥ विशेषार्थ-- जिस प्रकार जड़के विना वृक्षकी स्थिति नहीं रहती है उसी प्रकार प्राणिदयाके विना धर्मकी स्थिति भी नहीं रह सकती। अत एव वह धर्मरूपी वृक्षकी जड़के समान है। इसके अतिरिक्त प्राणिदयाके होनेपर ही चूंकि उत्तम व्रत, सुख एवं समीचीन संपदायें तथा अन्तमें मोक्ष भी प्राप्त होता है; अत एव धर्मात्मा जनोंका यह प्रथम कर्तव्य है कि वे समस्त प्राणधारियोंमें दयाभाव रक्खें। जो प्राणी निर्दयतासे जीवघातमें प्रवृत्त होते हैं उनका नाम लेना भी बुरा समझा जाता है। उनके लिये कहीं भी सुखसामग्री प्राप्त होनेवाली नहीं है। इसीलिये सत्पुरुषोंके लिये यह प्रथम उपदेश है वे समस्त प्राणियोंमें

१ अ श परिणतिः कथ्यते। २ श सत्संपदां मूला अथवा धर्मतरोः मूला पुनः।

9) संसारे भ्रमतश्चिरं तनुभृतः के के न पित्रादयो
जातास्तद्वधमाश्रितेन खलु[1] ते सर्वे भवन्त्याहताः ।
पुंसात्मापि[2] हतो यदत्र निहतो जन्मान्तरेषु ध्रुवम्
हन्तारं प्रतिहन्ति हन्त बहुशः संस्कारतो नु क्रुधः ॥ ९ ॥

10) त्रैलोक्यप्रभुभावतो ऽपि सरुजो ऽप्येकं निजं जीवितं
प्रेयस्तेन विना स कस्य भवितेत्याकांक्षतः प्राणिनः ।
निःशेषव्रतशीलनिर्मलगुणाधारात्ततो निश्चितं
जन्तोर्जीवितदानतस्त्रिभुवने सर्वप्रदानं लघु ॥ १० ॥

पुनः । सर्वत्र शून्या दिशः । अत एव दया कार्या ॥ ८ ॥ तनुभृतः प्राणिनः । संसारे चिरं चिरकालं भ्रमतः के के पित्रादयो न जाताः । तेषां प्राणिनां वधम् आश्रितेन पुंसा पुरुषेण । ते सर्वे पित्रादयः आहताः भवन्ति । ननु अहो । आत्मापि हतः । यत् यस्मात् कारणात् । अत्र संसारे । यः निहतः । ध्रुवं निश्चितम् । जन्मान्तरेषु । हन्त इति खेदे । नु इति वितर्के । हन्तारं पुरुषम् । बहुशः बहुवारान्[3] । प्रतिहन्ति मारयति । कस्मात् । क्रुधः संस्कारतः क्रोधस्य स्मरणात् ॥ ९ ॥ ततः कारणात् । निश्चितम् । त्रिभुवने संसारे । जन्तोः जीवस्य । जीवितदानतः सकाशात् अन्यत्सर्वप्रदानं लघु । निःशेषव्रतशीलनिर्मलगुणाधारात् निःशेषाः संपूर्णाः व्रतशीलनिर्मलगुणास्तेषाम् आधारस्तस्मात् । प्राणिनः जीवस्य । त्रैलोक्यप्रभुभावतः प्रभुत्वतः अपि एकं निजं जीवितं प्रेयः वल्लभम् । किंलक्षणस्य । सरुजोऽपि रोगयुक्तस्य पुरुषस्य । पुनः किंलक्षणस्य

दयायुक्त आचरण करें ॥ ८ ॥ संसारमें चिर कालसे परिभ्रमण करनेवाले प्राणीके कौन कौनसे जीव पिता, माता व भाई आदि नहीं हुए हैं? अत एव उन उन जीवोंके घातमें प्रवृत्त हुआ प्राणी निश्चयसे उन सबको मारता है । आश्चर्य तो यह है कि वह अपने आपका भी घात करता है । इस भवमें जो दूसरेके द्वारा मारा गया है वह निश्चयसे भवान्तरोंमें क्रोधकी वासनासे अपने उस घातकका बहुत बार घात करता है, यह खेदकी बात है ॥ विशेषार्थ– जन्म-मरणका नाम संसार है । इस संसारमें परिभ्रमण करते हुए प्राणीके भिन्न भिन्न भवोंमें अधिकतर जीव माता-पिता आदि सम्बन्धोंको प्राप्त हुए हैं । अत एव जो प्राणी निर्दय होकर उन जीवोंका घात करता है वह अपने माता-पिता आदिका ही घात करता है । और तो क्या कहा जाय, क्रोधी जीव अपना आत्मघात भी कर बैठता है । इस क्रोधकी वासनासे इस जन्ममें किसी अन्य प्राणीके द्वारा मारा गया जीव अपने उस घातकका जन्मान्तरोंमें अनेकों वार घात करता है । इसीलिये यहां यह उपदेश दिया गया है कि जो क्रोध अनेक पापोंका जनक है उसका परित्याग करके जीवदयामें प्रवृत्त होना चाहिये ॥ ९ ॥ रुग्ण प्राणीको भी तीनों लोकोंकी प्रभुताकी अपेक्षा एक मात्र अपना जीवन ही प्रिय होता है । कारण यह कि वह सोचता है कि जीवनके नष्ट हो जानेपर वह तीनों लोकोंकी प्रभुता भला किसको प्राप्त होगी । निश्चयसे वह जीवनदान चूंकि समस्त व्रत, शील एवं अन्यान्य निर्मल गुणोंका आधारभूत है अत एव लोकमें जीवके जीवनदानकी अपेक्षा अन्य समस्त सम्पत्ति आदिका दान भी तुच्छ माना जाता है ॥ विशेषार्थ–प्राणों का घात किये जानेपर यदि किसीको तीन लोकका प्रभुत्व भी प्राप्त होता हो तो वह उसको नहीं चाहेगा, किन्तु अपने जीवितकी ही अपेक्षा करेगा । कारण कि वह समझता है कि जीवितका घात होनेपर आखिर उसे भोगेगा कौन? इसके अतिरिक्त व्रत, शील, संयम एवं तप आदिका आधार चूंकि उक्त जीवनदान ही है अत एव अन्य सब दानोंकी अपेक्षा जीवनदान ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है ॥ १० ॥

१ श ननु । २ क ब नन्वात्मापि । ३ श बहुशः वारान् ।

11) स्वर्गायाव्रतिनो ऽपि सार्द्रमनसः श्रेयस्करी केवला
सर्वप्राणिदया तया तु रहितः पापस्तपस्स्थो ऽपि वा ।
तद्दानं बहु दीयतां तपसि वा चेतश्चिरं धीयतां
ध्यानं वा क्रियतां जना न सफलं किंचिद्दयावर्जितम् ॥ ११ ॥

12) सन्तः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितं मुक्तेः परं कारणं
रत्नानां दधति त्रयं त्रिभुवनप्रद्योति काये सति ।
वृत्तिस्तस्य यदन्नतः परमया भक्त्यार्पिताज्जायते
तेषां सद्गृहमेधिनां गुणवतां धर्मो न कस्य प्रियः ॥ १२ ॥

13) आराध्यन्ते जिनेन्द्रा गुरुषु च विनतिर्धार्मिकैः प्रीतिरुच्चैः
पात्रेभ्यो दानमापन्निहतजनकृते तच्च कारुण्यबुद्ध्या ।

प्राणिनः । तेन जीवितेन विना स राज्यभावः कस्य भविता इति आकाङ्क्षतः वाञ्छतः ॥ १० ॥ सर्वप्राणिदया । सार्द्रमनसः क्षमासहितजीवस्य । स्वर्गाय भवति । किंलक्षणस्य प्राणिनः । अव्रतिनोऽपि व्रतरहितस्यापि । किंलक्षणा दया । केवला । श्रेयस्करी सुखकारिणी च । तया जीवदयया रहितः तपस्स्थोऽपि तपःसहितोऽपि । पापः पापिष्ठः । तद्विना दानं बहु दीयताम् । वा अथवा । तपसि विषये । चिरं चिरकालम् । चेतः धीयतामारोप्यताम् । भो जनाः ध्यानं वा क्रियताम् । भो जनाः दयावर्जितं किंचित् सफलं न फलदायकं न ॥ ११ ॥ सन्तः साधवः । रत्नानां त्रयम् । दधति धारयन्ति । किंलक्षणं रत्नानां त्रयम् । सर्वसुरासुरेन्द्रमहितं सर्वे सुरेन्द्रा असुरेन्द्राः तैः । महितं[1] पूजितम् । पुनः किंलक्षणं रत्नानां त्रयम् । मुक्तेः परं कारणम् । पुनः किंलक्षणम् । त्रिभुवनप्रद्योति त्रिभुवनं प्रद्योतयति तत् त्रिभुवनप्रद्योति । सन्तः क्व सति धारयन्ति रत्नानां त्रयम् । काये सति शरीरे सति । यदन्नतः सकाशात् तस्य शरीरस्य[2] वृत्तिर्जायते प्रवर्तनं जायते । किंलक्षणात् अन्नतः । तैः गृहस्थैः परमया श्रेष्ठतरया भक्त्या कृत्वा अर्पितस्तस्मात् । तेषां सद्गृहमेधिनां गुणवतां गुणयुक्तानां धर्मः कस्य जीवस्य प्रियः न । अपि तु सर्वेषां प्रियः श्रेष्ठः ॥ १२ ॥ इह लोके संसारे । तद्गार्हस्थ्यं बुधानां बुधैः पूज्यं यत्र गार्हस्थ्ये जिनेन्द्रा आराध्यन्ते । च पुनः । गुरुषु विनतिः क्रियते । धार्मिकैः पुरुषैः । उच्चैः अतिशयेन प्रीतिः क्रियते । यत्र गृहपदे पात्रेभ्यो दानं दीयते । च पुनः । तद्दानं आपन्निहतजनकृते आपत्पीडितमनुष्ये । कारुण्यबुद्ध्या दीयते । यत्र गृहपदे तत्त्वाभ्यासः क्रियते । यत्र गृहपदे स्वकीयव्रतरतिः स्वकीयव्रते अनुरागः

जिसका चित्त दयासे भीगा हुआ है वह यदि व्रतोंसे रहित भी हो तो भी उसकी कल्याणकारिणी एक मात्र सर्वप्राणिदया स्वर्गप्राप्तिकी निमित्तभूत होती है। इसके विरुद्ध उक्त प्राणिदयासे रहित प्राणी तपमें स्थित होकर भी पापिष्ठ माना जाता है। अत एव हे भव्य जनो! चाहे आप बहुत-सा दान देवें, चाहे चिर काल तक चित्तको तपमें लगावें, अथवा चाहे ध्यान भी क्यों न करें, किन्तु दयाके विना वह सब निष्फल रहेगा ॥११॥ जो रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) समस्त देवेन्द्रों एवं असुरेन्द्रोंसे पूजित है, मुक्तिका अद्वितीय कारण है तथा तीनों लोकोंको प्रकाशित करनेवाला है उसे साधु जन शरीरके स्थित रहने-पर ही धारण करते हैं। उस शरीरकी स्थिति उत्कृष्ट भक्तिसे दिये गये जिन सद्गृहस्थोंके अन्नसे रहती है उन गुणवान् सद्गृहस्थों (श्रावकों) का धर्म भला किसे प्रिय न होगा? अर्थात् सभीको प्रिय होगा ॥ १२ ॥ जिस गृहस्थ अवस्थामें जिनेन्द्रोंकी आराधना की जाती है, निर्ग्रन्थ गुरुओंके विषयमें विनय युक्त व्यवहार किया जाता है, धर्मात्मा पुरुषोंके साथ अतिशय वात्सल्य भाव रखा जाता है, पात्रोंके लिये दान दिया जाता है, वह दान आपत्तिसे पीड़ित प्राणीके लिये भी दयाबुद्धिसे दिया जाता है, तत्त्वोंका परिशीलन किया जाता है, अपने व्रतोंसे अर्थात् गृहस्थधर्मसे प्रेम किया जाता है, तथा निर्मल सम्यग्दर्शन धारण किया

१ अ सर्वसुरेन्द्रअसुरेन्द्रस्तैर्महितम्, क सर्वसुरेन्द्रासुरेन्द्रास्तैर्महितम् । २ श सकाशात् शरीरस्य ।

तत्त्वाभ्यासः स्वकीयव्रतरतिरमलं दर्शनं यत्र पूज्यं
तद्गार्हस्थ्यं बुधानामितरदिह पुनर्दुःखदो मोहपाशः ॥ १३ ॥

14) आदौ दर्शनमुन्नतं व्रतमितः सामायिकं प्रोषध-
स्त्यागश्चैव सचित्तवस्तुनि दिवाभुक्तं तथा ब्रह्म च ।
नारम्भो न परिग्रहो ऽननुमतिर्नोद्दिष्टमेकादश
स्थानानीति गृहिव्रते व्यसनितात्यागस्तदाद्यः स्मृतः ॥ १४ ॥

क्रियते । यत्र गृहपदे अमलं दर्शनं भवति । तद्गृहपदं बुधैः पूज्यम् । पुनः इतरत् द्वितीयं क्रियादानरहितं गृहपदं दुःखदः मोहपाशः ॥ १३ ॥ गृहिव्रते गृहस्थधर्मे इति एकादशस्थानानि सन्ति । धर्मार्थं तान्येव दर्शयति । आदौ प्रथमतः । दर्शनं दर्शनप्रतिमा १ । इतः पश्चात् व्रतं व्रतप्रतिमा २ । ततः सामायिकं सामायिकप्रतिमा ३ । ततः प्रोषधं प्रोषधोपवासप्रतिमा ४ । च पुनः । एव निश्चयेन । सचित्तवस्तुनि त्यागः ५ । ततः दिवाभुक्तं रात्रौ स्त्री असेव्या (?) ६ । तथा ब्रह्म ब्रह्मचर्यप्रतिमा ७ । आरम्भो न ८ । परिग्रहो न ९ । अनुमतिर्न १० । उद्दिष्टं न ११ । गृहिधर्मे एकादश स्थानानि कथितानि । तासां प्रतिमानां आद्यस्तदाद्यः व्यसनिता-

जाता है वह गृहस्थ अवस्था विद्वानोंके लिये (पूज्य) पूजनेके योग्य है । और इससे विपरीत गृहस्थ अवस्था यहां लोकमें दुःखदायक मोहजाल ही है ॥ १३ ॥ सर्वप्रथम उन्नतिको प्राप्त हुआ सम्यग्दर्शन, इसके पश्चात् व्रत, तत्पश्चात् क्रमशः सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्त वस्तुका त्याग, दिनमें भोजन करना अर्थात् रात्रिभोजनका त्याग, तदनन्तर ब्रह्मचर्यका धारण करना, आरम्भ नहीं करना, परिग्रहका न रखना, गृहस्थीके कार्योंमें सम्मति न देना, तथा उद्दिष्ट भोजनको ग्रहण न करना; इस प्रकार ये श्रावकधर्ममें ग्यारह प्रतिमायें निर्दिष्ट की गई हैं । उन सबके आदिमें द्यूतादि दुर्व्यसनोंका त्याग स्मरण किया गया है अर्थात् बतलाया गया है ॥ विशेषार्थ— सकलचारित्र और विकलचारित्रके भेदसे चारित्र दो प्रकारका है । इनमें सकलचारित्र मुनियोंके और विकलचारित्र श्रावकोंके होता है । उनमें श्रावकोंकी निम्न ग्यारह श्रेणियां (प्रतिमायें) हैं— दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग, दिवाभुक्ति, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग । (१) विशुद्ध सम्यग्दर्शनके साथ संसार, शरीर एवं इन्द्रियविषयभोगोंसे विरक्त होकर पाक्षिक श्रावकके आचारके उन्मुख होनेका नाम दर्शनप्रतिमा है । (२) माया, मिथ्या और निदानरूप तीन शल्योंसे रहित होकर अतिचार रहित पांच अणुव्रतों एवं सात शीलव्रतोंके धारण करनेको व्रतप्रतिमा कहा जाता है । (३) नियमित समय तक हिंसादि पांचों पापोंका पूर्णतया त्याग करके अनित्य व अशरण आदि भावनाओंका तथा संसार एवं मोक्षके स्वरूप आदिका विचार करना, इसे सामायिक कहते हैं । तृतीय प्रतिमाधारी श्रावक इसे प्रातः, दोपहर और सायंकालमें नियमित स्वरूपसे करता है । (४) प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीको सोलह पहर तक चार प्रकारके भोजन (अशन, पान, खाद्य और लेह्य) के परित्यागका नाम प्रोषधोपवास है । यहां प्रोषध शब्दका अर्थ एकाशन और उपवासका अर्थ सब प्रकारके भोजनका परित्याग है । जैसे-- यदि अष्टमीको प्रोषधोपवास करना है तो सप्तमीके दिन एकाशन करके अष्टमीको उपवास करना चाहिये और तत्पश्चात् नवमीको भी एकाशन ही करना चाहिये । प्रोषधोपवासके समय हिंसादि पापोंके साथ शरीरशृंगारादिका भी त्याग करना अनिवार्य होता है । (५) जो वनस्पतियां निगोदजीवोंसे व्याप्त होती हैं उनके त्यागको सचित्तत्याग कहा जाता है । (६) रात्रिमें भोजनका परित्याग

१ श प्रौषधः । २ अ क दिवाभक्तम् ।

15) यत्प्रोक्तं प्रतिमाभिराभिरभितो विस्तारिभिः सूरिभिः
ज्ञातव्यं तदुपासकाध्ययनतो गेहिव्रतं विस्तरात् ।
तत्रापि व्यसनोज्झनं यदि तदप्यासूत्र्यते ऽत्रैव यत्
तन्मूलः सकलः सतां व्रतविधिर्याति प्रतिष्ठां पराम् ॥ १५ ॥

16) द्यूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गनाः । महापापानि सप्तेति व्यसनानि त्यजेद्बुधः ॥१६॥

17) भवनमिदमकीर्तेश्चौर्यवेश्यादिसर्वव्यसनपतिरशेषापन्निधिः पापबीजम् ।
विषमनरकमार्गेष्वग्रयायीति मत्वा क इह विशदबुद्धिर्द्यूतमङ्गीकरोति ॥ १७ ॥

त्यागः स्मृतः कथितः ॥ १४ ॥ यद्गेहिव्रतम्। सूरिभिः अभितः समन्तात्। आभिः प्रतिमाभिः विस्तारिभिः प्रोक्तम्। तद्गेहिव्रतम्[2] उपासकाध्ययनतः सप्तमाङ्गात्। विस्तरात् ज्ञातव्यम्। तत्रापि उपासकाध्ययने। यदि आदौ व्यसनोज्झनं मतं कथितम्[3] तद्व्यसनोज्झनम्। अत्रैव पद्मनन्दिग्रन्थे। आसूत्र्यते कथ्यते। यद्यतः। तद्व्यसनोज्झनं सतां व्रतविधेः मूलः स व्रतविधिः परां प्रतिष्ठां याति गच्छति ॥ १५ ॥ इति हेतोः। बुधः। सप्त व्यसनानि त्यजेत्। इतीति किम्। यतः महापापानि महापापयुक्तानि। तान्येव दर्शयति। द्यूतं मांसं सुरा वेश्या आखेटः चौर्यं पराङ्गना इति ॥ १६ ॥ इह लोके संसारे। इति मत्वा। कः विशदबुद्धिः निर्मलबुद्धिः द्यूतम् अङ्गीकरोति। इतीति किम्। इदं द्यूतम्। अकीर्तेः अपयशसः। भवनं गृहम्। पुनः किंलक्षणं द्यूतम्। चौर्यवेश्यादिसर्वव्यसनपतिः। पुनः किंलक्षणं द्यूतम्। अशेषापन्निधिः समस्तापदां स्थानम्। पुनः किंलक्षणम्। पापबीजम्। पुनः किंलक्षणम् इदं द्यूतम्। विषमनरकमार्गेषु अग्रयायी अग्रेसरः। इति पूर्वोक्तम्। मत्वा। कः द्यूतम् अङ्गीकरोति

करके दिनमें ही भोजन करनेका नियम करना, यह दिवाभुक्तिप्रतिमा कही जाती है। किन्हीं आचार्योंके अभिप्रायानुसार दिनमें मथुनके परित्यागको दिवाभुक्ति (षष्ठ प्रतिमा) कहा जाता है। (७) शरीरके स्वभावका विचार करके कामभोगसे विरत होनेका नाम ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। (८) कृषि एवं वाणिज्य आदि आरम्भके परित्यागको आरम्भत्यागप्रतिमा कहते हैं। (९) धन-धान्यादिरूप दस प्रकारके बाह्य परिग्रहमें ममत्वबुद्धिको छोड़कर सन्तोषका अनुभव करना, इसे परिग्रहत्यागप्रतिमा कहा जाता है। (१०) आरम्भ, परिग्रह एवं इस लोक सम्बन्धी अन्य कार्योंके विषयमें सम्मति न देनेका नाम अनुमतित्याग ह। (११) गृहवासको छोड़कर भिक्षावृत्तिसे भोजन करते हुए उद्दिष्ट भोजनका त्याग करनेको उद्दिष्टत्याग कहा जाता है। इन प्रतिमाओंमें पूर्वकी प्रतिमाओंका निर्वाह होनेपर ही आगेकी प्रतिमामें परिपूर्णता होती हैं, अन्यथा नहीं ॥१४॥ इन प्रतिमाओंके द्वारा जिस गृहस्थव्रत (विकलचारित्र) को यहां आचार्योंने विस्तारपूर्वक कहा है उसको यदि अधिक विस्तारसे जानना ह तो उपासकाध्ययन अंगसे जानना चहिये। वहांपर भी जो व्यसनका परित्याग बतलाया गया हैं उसका निर्देश यहांपर भी कर दिया गया हैं। कारण इसका यह है कि साधु पुरुषोंके समस्त व्रतविधानादिकी उत्कृष्ट प्रतिष्ठा व्यसनोंके परित्यागपर ही निर्भर है ॥ १५ ॥ जुआ, मांस, मद्य, वेश्या, शिकार, चोरी और परस्त्री; इस प्रकार ये सात महापापरूप व्यसन हैं। बुद्धिमान् पुरुषको इन सबका त्याग करना चाहिये ॥ विशेषार्थ--व्यसन बुरी आदतको कहा जाता है। ऐसे व्यसन सात हैं-- १ जुआ खेलना २ मांस भक्षण करना ३ शराब पीना ४ वेश्यासे सम्बन्ध रखना ५ शिकार खेलना (मृग आदि पशुओंके घातमें आनन्द मानना) ६ चोरी करना और ७ अन्यकी स्त्रीसे अनुराग करना। ये सातों व्यसन चूंकि महापापको उत्पन्न करनेवाले हैं, अत एव विवेकी जनको इनका परित्याग अवश्य करना चाहिये ॥ १६ ॥ यह जुआ निन्दाका स्थान है, चोरी एवं वेश्या आदि अन्य सब व्यसनोंमें मुख्य है, समस्त

१ श इति। २ श प्रोक्तः सद्गेहिव्रतम्। ३ श व्यसनोज्झनं फलं कथितं। ४ अ कथ्यते यतः तत् व्यसनोज्झनम्, श कथ्यते यत ततः व्यसनोज्झनम्।

18) काकीर्तिः क्व दरिद्रता क्व विपदः क्व क्रोधलोभादयः
चौर्यादिव्यसनं क्व च क्व नरके दुःखं मृतानां नृणाम् ।
चेतश्चेद्गुरुमोहतो न रमते द्यूते वदन्त्युन्नत-
प्रज्ञा यद्भुवि दुर्णयेषु निखिलेष्वेतद्धुरि स्मर्यते ॥ १८ ॥

19) बीभत्सु प्राणिघातोद्भवमशुचि कृमिस्थानमश्लाघ्यमूलं
हस्तेनाक्ष्णापि शक्यं यदिह न महतां स्प्रष्टुमालोकितुं[1] च ।
तन्मांसं भक्ष्यमेतद्वचनमपि सतां गर्हितं यस्य साक्षात्
पापं तस्यात्र पुंसो भुवि भवति कियत्का गतिर्वा न विद्मः ॥ १९ ॥

अपि तु ज्ञानवान्नाङ्गीकरोति ॥ १७ ॥ उन्नतप्रज्ञा विवेकिनः । इति वदन्ति । इतीति किम् । चेत् यदि । चेतः मनः । द्यूते न रमते । कुतः[2] । गुरुमोहतः । द्यूते न रमते तदा अकीर्तिः क्व अपयशः क्व । क्व-शब्दः महदन्तरं सूचयति । चेन्मनः गुरुमोहतः द्यूते न रमते तदा[3] क्व दरिद्रता । क्व विपदः । क्व क्रोधलोभादयः । क्व चौर्यादिव्यसनम् । क्व मृतानां नृणां मनुष्याणां नरके दुःखम् । चेन्मनः द्यूते न रमते । यद् यस्मात् । भुवि पृथिव्याम्[4] । निखिलेषु व्यसनेषु । एतद् द्यूतम् । धुरि आदौ । स्मर्यते कथ्यते ॥ १८ ॥ यन्मांसं बीभत्सु भयानकं घृणास्पदम् । यन्मांसं प्राणिघातोद्भवं प्राणिवधोत्पन्नम् । यन्मांसं अशुचि अपवित्रम् । यन्मांसं कृमिस्थानम् । यन्मांसं अश्लाघ्यमूलम् । इह लोके । महतां पुरुषाणां हस्तेन स्प्रष्टुं स्पर्शितुं शक्यं न । महतां अक्ष्णापि आलोकितुं[5] न । तत् तस्मात्कारणात् । भक्ष्यमेतद्वचनमपि सतां गर्हितं निन्द्यं भवति । अत्र भुवि पृथिव्याम् । यस्य पुरुषस्य मांसं भक्ष्यं भवति तस्य मांसभक्षकस्य पुंसः । साक्षात् केवलम् । कियत्पापं भवति तस्य का गतिर्भवति वयं न विद्मः वयं न जानीमः ॥ १९ ॥

आपत्तियोंका स्थान है, पापका कारण है, तथा दुःखदायक नरकके मार्गोंमें अग्रगामी है; इस प्रकार जानकर यहां लोकमें कौन-सा निर्मल बुद्धिका धारक मनुष्य उपर्युक्त जुआको स्वीकार करता है? अर्थात् नहीं करता। जो दुर्बुद्धि मनुष्य हैं वे ही इस अनेक आपत्तियोंके उत्पादक जुआको अपनाते हैं, न कि विवेकी मनुष्य ॥ १७ ॥ यदि चित्त महामोहसे जुआमें नहीं रमता है तो फिर अपयश अथवा निन्दा कहांसे हो सकती है? निर्धनता कहां रह सकती है? विपत्तियां कहांसे आ सकती हैं? क्रोध एवं लोभ आदि कषायें कहांसे उदित हो सकती हैं? चोरी आदि अन्यान्य व्यसन कहां रह सकते हैं? तथा मर करके नरकमें उत्पन्न हुए मनुष्योंको दुःख कहांसे प्राप्त हो सकता है? [अर्थात् जुआसे विरक्त हुए मनुष्यको उपर्युक्त आपत्तियोंमेंसे कोई भी आपत्ति नहीं प्राप्त होती।] इस प्रकार उन्नत बुद्धिके धारक विद्वान् कहा करते हैं। ठीक ही है, क्योंकि समस्त दुर्व्यसनोंमें यह जुआ गाड़ीके धुराके समान मुख्य माना जाता है ॥ १८ ॥ जो मांस घृणाको उत्पन्न करता है, मृग आदि प्राणियोंके घातसे उत्पन्न होता है, अपवित्र है, कृमि आदि क्षुद्र कीड़ोंका स्थान है, जिसकी उत्पत्ति निन्दनीय है, तथा महापुरुष जिसका हाथसे स्पर्श नहीं करते और आंखसे जिसे देखते भी नहीं हैं 'वह मांस खानेके योग्य है' ऐसा कहना भी सज्जनोंके लिये निन्दाजनक है। फिर ऐसे अपवित्र मांसको जो पुरुष साक्षात् खाता है उसके लिये यहां लोकमें कितना पाप होता है तथा उसकी क्या अवस्था होती है, इस बातको हम नहीं जानते॥ विशेषार्थ– मांस चूंकि प्रथम तो मृग आदिक मूक प्राणियोंके वधसे उत्पन्न होता है, दूसरे उसमें असंख्य अन्य त्रस जीव भी उत्पन्न हो जाते हैं जिनकी हिंसा होना अनिवार्य है। इस कारण उसके भक्षणमें हिंसाजनित पापका होना अवश्यंभावी

१ क °मालोकितं। २ श रमते यद्यस्मात् कुतः। ३ श अतोऽग्रे यद् यस्मात्पर्यंतः पाठस्त्रुटितो जातः। ४ श भुवि मेदिन्यां पृथिव्याम्। ५ क आलोकितं।

20) **गतो ज्ञातिः कश्चिद्बहिरपि न यद्येति सहसा**
शिरो हत्वा हत्वा कलुषितमना रोदिति जनः ।
परेषामुत्कृत्य प्रकटितमुखं खादति पलं
कले रे निर्विण्णा वयमिह भवच्चित्रचरितैः ॥ २० ॥

21) **सकलपुरुषधर्मभ्रंशकार्यत्र जन्मन्यधिकमधिकमग्रे यत्परं दुःखहेतुः ।**
तदपि न यदि मद्यं त्यज्यते बुद्धिमद्भिः स्वहितमिह किमन्यत्कर्म धर्माय कार्यम् ॥२१॥

22) **आस्तामेतद्यदिह जननीं वल्लभां मन्यमाना**
निन्द्याश्चेष्टा विदधति जना निस्त्रपाः पीतमद्याः ।

कश्चित् ज्ञातिः स्वगोत्री जनः । बहिरपि गतः ग्रामान्तरे गतः । यदि सहसा शीघ्रं न एति नागच्छति । तदा जनः शिरो हत्वा हत्वा रोदिति। किंलक्षणो जनः । कलुषितमनाः । परेषां जीवानां मृगादीनाम् । पलं मांसम् । उत्कृत्य छित्त्वा छेदयित्वा । प्रकटितमुखं प्रसारितमुखं यथा स्यात्तथा खादति । एवंविधः मूर्खलोकैः[1] । रे कले भो पञ्चमकाल । इह संसारे । अथ इदानीम् अस्मिन्प्रस्तावे भवच्चित्रचरितैः वयं निर्विण्णाः ॥ २० ॥ यन्मद्यम् । अत्र जन्मनि । सकलपुरुषधर्मभ्रंशकारि सकलाः ये पुरुषधर्माः तेषां[2] धर्मार्थकामानां भ्रंशकारि विलयकरणशीलम्[3] । यन्मद्यम् । अग्रे परजन्मनि । अधिकमधिकं परं दुःखहेतुः कारणम् । तदपि । बुद्धिमद्भिः पण्डितैः । मद्यं यदि न[4] त्यज्यते । इह लोके स्वहितम् आत्महितम् । धर्माय अन्यत्किं कार्यं करणीयम् ॥ २१ ॥ इह लोके । पीतमद्याः जनाः निन्द्याश्चेष्टाः विदधति कुर्वन्ति । यत् जननीं वल्लभां मन्यमानाः जनाः । एतत् आस्तां दूरे तिष्ठतु ।

है । अत एव सज्जन पुरुप उसका केवल परित्याग ही नहीं करते, अपि तु उसको वे हाथसे स्पर्श करना और आंखसे देखना भी बुरा समझते हैं । मांसभक्षक जीवोंकी दुर्गति अनिवार्य है ॥ १९ ॥ यदि कोई अपना सम्बन्धी स्वकीय स्थानसे बाहिर भी जाकर शीघ्र नहीं आता है तो मनुष्य मनमें व्याकुल होता हुआ शिरको बार बार पीटकर रोता है । वही मनुष्य अन्य मृग आदि प्राणियोंके मांसको काटकर अपने मुखको फाड़ता हुआ खाता है । हे कलिकाल! यहां हम लोग तेरी इन विचित्र प्रवृत्तियोंसे निर्वेदको प्राप्त हुए हैं ॥ विशेषार्थ– जब अपना कोई इष्ट बन्धु कार्यवश कहीं बाहिर जाता है और यदि वह समयपर घर वापिस नहीं आता है तब यह मनुष्य अनिष्टकी आशंकासे व्याकुल होकर शिरको दीवाल आदिसे मारता हुआ रुदन करता है । फिर वही मनुष्य जो अन्य पशु-पक्षियोंको मारकर उनका अपनी माता आदिसे सदाके लिये वियोग कराता हुआ मांसभक्षणमें अनुरक्त होता है, यह इस कलिकालका ही प्रभाव है । कालकी ऐसी प्रवृत्तियोंसे विवेकी जनोंका विरक्त होना स्वाभाविक है ॥ २० ॥ जो मद्य इस जन्ममें समस्त पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ और काम) का नाश करनेवाला है और आगेके जन्ममें अत्यधिक दुःखका कारण है उस मद्यको यदि बुद्धिमान् मनुष्य नहीं छोड़ते हैं तो फिर यहां लोकमें धर्मके निमित्त अपने लिये हितकारक दूसरा कौन-सा काम करनेके योग्य है? कोई नहीं । अर्थात् मद्यपायी मनुष्य ऐसा कोई भी पुण्य कार्य नहीं कर सकता है जो उसके लिये आत्महितकारक हो ॥ विशेषार्थ– शराबी मनुष्य न तो धर्मकार्य कर सकता है, न अर्थोपार्जन कर सकता है, और न यथेच्छ भोग भी भोग सकता है; इस प्रकार वह इस भवमें तीनों पुरुषार्थोंसे रहित होता है । तथा परभवमें वह मद्यजनित दोषोंसे नरकादि दुर्गतियोंमें पड़कर असह्य दुखको भी भोगता है । इसी विचारसे बुद्धिमान् मनुष्य उसका सदाके लिये परित्याग करते हैं ॥२१॥ मद्यपायी जन निर्लज्ज होकर यहां जो माताको पत्नी समझ कर निन्दनीय चेष्टायें (सम्भोग आदि) करते हैं

१ क मूर्खलोकैः । २ अ क सकलानि यानि पुरुषधर्माणि तेषाम् । ३ श विषयकरणशीलम् । ४ श मद्यं न ।

तत्राधिक्यं पथि निपतिता[1] यत्किरत्सारमेयाद्-
वक्त्रे मूत्रं मधुरमधुरं भाषमाणाः पिबन्ति ॥ २२ ॥

23) **याः खादन्ति पलं पिबन्ति च सुरां जल्पन्ति मिथ्यावचः**
स्निह्यन्ति द्रविणार्थमेव विदधत्यर्थप्रतिष्ठाक्षतिम् ।
नीचानामपि दूरवक्रमनसः पापात्मिकाः कुर्वते
लालापानमहर्निशं न नरकं वेश्या विहायापरम् ॥ २३[4] ॥

24) **रजकशिलासदृशीभिः कुर्कुर[2]कर्परसमानचरिताभिः ।**
गणिकाभिर्यदि संगः कृतमिह परलोकवार्ताभिः ॥ २४ ॥

25) **या दुर्देहैकवित्ता वनमधिवसति त्रातृसंबन्धहीना**
भीतिर्यस्यां[3] स्वभावाद्दशनधृततृणा नापराधं करोति ।

तत्र मद्यपाने । अन्यत् आधिक्यं वर्तते । पथि मार्गे निपतितां (?) जनानाम् । वक्त्रे मुखे । सारमेयात्किरन्मूत्रम् । मधुरमधुरं मिष्टं मिष्टं भाषमाणाः पिबन्ति ॥ २२ ॥ वेश्या विहाय अपरं नरकं न वर्तते । याः पलं मांसं खादन्ति । च पुनः । सुरां मदिरां पिबन्ति । या वेश्याः मिथ्यावचः असत्यं जल्पन्ति । या वेश्याः द्रविणार्थं द्रव्यार्थं द्रव्ययुक्तं पुरुषम् । स्निह्यन्ति स्नेहं कुर्वन्ति । एव निश्चयेन । या वेश्याः अर्थप्रतिष्ठाक्षतिं अर्थप्रतिष्ठाविनाशं कुर्वन्ति । या वेश्या अहर्निशं दिवारात्रम् । लालापानं[4] कुर्वते । केषाम् । नीचानामपि । किंलक्षणाः वेश्याः । दूरवक्रमनसः दूरमतिशयेन वक्रमनसः । पुनः किंलक्षणाः वेश्याः । पापात्मिकाः । इति हेतोः । वेश्यां विहाय त्यक्त्वा अपरं नरकं न । किन्तु वेश्या एव नरकम् ॥ २३ ॥ इह लोके संसारे । यदि चेत् । गणिकाभिः वेश्याभिः । संगः कृतः तदा परलोकवार्ताभिः कृतं पूर्यतां (?) पूर्णम्[5] । किं लक्षणाभिः वेश्याभिः । रजकशिला-सदृशीभिः कुर्कुर[6]कर्परसमानचरिताभिः ॥ २४ ॥ ननु अहो । अस्मिन् आखेटे । रतानां जीवानाम् । यद्विरूपं यत्पापम् इह लोके भवति तत्पापं केन वर्ण्यते । अधिकं पापं किमु न भवति । अपि तु बहुतरं पापं भवति । अन्यत्र परजन्मनि किं पापं[7] न भवति । अपि तु भवति । यस्मिन्नाखेटे । मांसपिण्डप्रलोभात् सा मृगवनिता हरिणी अपि । अलम्[8] अत्यर्थम् । वध्या हन्तव्या ।

यह तो दूर रहे । किन्तु अधिक खेदकी बात तो यह है कि मार्गमें पड़े हुए उनके मुखमें कुत्ता मूत देता है और वे उसे अतिशय मधुर बतलाकर पीते रहते हैं ॥ २२ ॥ मनमें अत्यन्त कुटिलताको धारण करनेवाली जो पापिष्ठ वेश्यायें मांसको खाती हैं, मद्यको पीती हैं, असत्य वचन बोलती हैं, केवल धनप्राप्तिके लिये ही स्नेह करती हैं, धन और प्रतिष्ठा इन दोनोंको ही नष्ट करती हैं, तथा जो वेश्यायें नीच पुरुषोंकी भी लारको पीती हैं उन वेश्याओंको छोड़कर दूसरा कोई नरक नहीं है, अर्थात् वे वेश्यायें नरकगतिप्राप्तिकी कारण हैं ॥ २३ ॥ जो वेश्यायें धोबीकी कपड़े धोनेकी शिलाके समान हैं तथा जिनका आचरण कुत्तेके कपालके समान है ऐसी वेश्याओंसे यदि संगति की जाती है तो फिर यहां परभवकी बातोंसे बस हो ॥ विशेषार्थ—जिस प्रकार धोबीके पत्थरपर अच्छे बुरे सब प्रकारके कपड़े धोये जाते हैं तथा जिस प्रकार एक ही कपालको अनेक कुत्ते खींचते हैं उसी प्रकार जिन वेश्याओंसे ऊंच और नीच सभी प्रकारके पुरुष सम्बन्ध रखते हैं उन वेश्याओंमें अनुरक्त रहनेसे इस भवमें धन और प्रतिष्ठाका नाश होता है तथा परभवमें नरकादिका महान् कष्ट भोगना पड़ता है । अत एव इस भव और पर भवमें आत्मकल्याणके चाहनेवाले सत्पुरुषोंको वेश्याव्यसनका परित्याग करना ही चाहिये ॥ २४ ॥ जो हरिणी दुःखदायक एक मात्र शरीररूप धनको धारण करती हुई वनमें रहती है, रक्षकके सम्बन्धसे रहित है अर्थात् जिसका कोई रक्षक नहीं है,

१ ब प्रतिपाठोऽयम् । अ क श निपतितां । २ अ कुर्कर, ब कुक्कुर, श कुर्पर । ३ ब यस्या । ४ अ क अहर्निशं लालापानम् । ५ अ 'पूर्ण' नास्ति । ६ अ कुक्कर, श कुर्कर । ७ अ श परजन्मनि पापं । ८ क अपि तु अलं ।

वध्यालं सापि यस्मिन् ननु मृगवनितामांसपिण्डप्रलोभात्
आखेटे ऽस्मिन् रतानामिह किमु न किमन्यत्र नो यद्विरूपम् ॥ २५॥

26) तनुरपि यदि लग्ना कीटिका स्याच्छरीरे
भवति तरलचक्षुर्व्याकुलो यः स लोकः ।
कथमिह मृगयाप्तानन्दमुत्खातशस्त्रो
मृगमकृतविकारं ज्ञातदुःखो ऽपि हन्ति ॥ २६ ॥

27) यो येनैव हतः स तं हि बहुशो हन्त्येव यैर्वञ्चितो
नूनं वञ्चयते स तानपि भृशं जन्मान्तरे ऽप्यत्र च ।
स्त्रीबालादिजनादपि स्फुटमिदं शास्त्रादपि श्रूयते
नित्यं वञ्चनहिंसनोज्झनविधौ लोकाः कुतो मुह्यत ॥ २७॥

किंलक्षणा मृगी। या दुर्देहैकवित्ता दुर्देहैकमेव शरीरमेव वित्तं धनं यस्याः सा दुर्देहैकवित्ता । पुनः किंलक्षणा मृगी । वनमधिवसति वनं तिष्ठति । पुनः किंलक्षणा मृगी। त्रातृसंबन्धहीना रक्षकरहिता । यस्यां मृगवनितायाम् । स्वभावात् भीतिर्भयं वर्तते । पुनः किंलक्षणा मृगी । दशनधृततृणा दशनेषु धृतं तृणं यया सा दशनधृततृणा । सा मृगी कस्यापि अपराधं न करोति ॥ २५ ॥ यदि चेत् । तनुरपि सूक्ष्मापि । कीटिका पिपीलिका । शरीरे लग्ना स्याद्भवेत् तदा । यः अयं लोकः व्याकुलः तरलचक्षुः चञ्चलदृष्टिः भवति स लोकः । इह जगति संसारे । उत्खातशस्त्रः नग्नशस्त्रः । अकृतविकारं[1] मृगं कथं हन्ति । मृगया आखेटकत्वया आप्तानन्दं प्राप्तानन्दं यथा स्यात्तथा । ज्ञातदुःखोऽपि लोकः अकृतविकारं मृगं हन्ति ॥ २६ ॥ यः कश्चित् । येन पुंसा पुरुषेण हतः । एव निश्चयेन । हि यतः । स पुमान् । तं हन्तारं नरम् । बहुशः बहुवारान् । हन्ति । यैः मनुष्यैः । यः कश्चित् । वञ्चितः छद्मितः । स पुमान् । तान् वञ्चकान् । अत्र लोके । भृशमत्यर्थम् । जन्मान्तरे परजन्मनि । बहुशः बहुवारान् । वञ्चयते । इदं वचः । स्त्री-बालादिजनात् शास्त्रादपि श्रूयते । इति मत्वा । भो लोकाः । नित्यं सदा । वञ्चनहिंसनोज्झनविधौ । कुतो मुह्यत

जिसके स्वभावसे ही भय रहता है, तथा जो दातोंके मध्यमें तृणको धारण करती हुई अर्थात् घास खाती हुई किसीके अपराधको नहीं करती है; आश्चर्य है कि वह भी मृगकी स्त्री अर्थात् हरिणी मांसके पिण्डके लोभसे जिस मृगया व्यसनमें शिकारियोंके द्वारा मारी जाती है उस मृगया (शिकार) में अनुरक्त हुए जनोंके इस लोकमें और परलोकमें कौनसा पाप नहीं होता है ? ॥ विशेषार्थ– यह एक प्राचीन पद्धति रही है कि जो शत्रु दांतोंके मध्यमें तिनका दबाकर सामने आता था उसे वीर पुरुष विजित समझकर छोड़ देते थे, फिर उसके ऊपर वे शस्त्रप्रहार नहीं करते थे। किन्तु खेद इस बातका है कि शिकारी जन ऐसे भी निरपराध दीन मृग आदि प्राणियोंका घात करते हैं जो घासका भक्षण करते हुए मुखमें तृण दबाये रहते हैं। यही भाव 'दशनधृततृणा' इस पदसे ग्रन्थकारके द्वारा यहां सूचित किया गया है ॥ २५ ॥ जब अपने शरीरमें छोटा-सा भी चींटी आदि कीड़ा लग जाता है तब वह मनुष्य व्याकुल होकर चपल नेत्रोंसे उसे इधर उधर ढूंढ़ता है। फिर वही मनुष्य अपने समान दूसरे प्राणियोंके दुःखका अनुभव करके भी शिकारसे प्राप्त होनेवाले आनन्दकी खोजमें क्रोधादि विकारोंसे रहित निरपराध मृग आदि प्राणियोंके ऊपर शस्त्र चला कर कैसे उनका वध करता है ? ॥ २६ ॥ जो मनुष्य जिसके द्वारा मारा गया है वह मनुष्य अपने मारनेवाले उस मनुष्यको भी अनेकों वार मारता ही है। इसी प्रकार जो प्राणी जिन दूसरे लोगोंके द्वारा ठगा गया है वह निश्चयसे उन लोगोंको भी जन्मान्तरमें और इसी जन्ममें भी अवश्य ठगता है। यह बात स्त्री एवं बालक आदि जनसे तथा शास्त्रसे भी स्पष्टतया सुनी जाती है। फिर लोग हमेशा धोखादेही और हिंसाके छोड़नेमें

१ श उत्खातशस्त्रः अकृतविकारं ।

28) अर्थादौ प्रचुरप्रपञ्चरचनैर्ये वञ्चयन्ते परान्
नूनं ते नरकं व्रजन्ति पुरतः पापव्रजादन्यतः ।
प्राणाः प्राणिषु तन्निबन्धनतया तिष्ठन्ति नष्टे धने
यावान् दुःखभरो नरे न मरणे तावानिह प्रायशः ॥ २८ ॥

29) चिन्ताव्याकुलताभयारतिमतिभ्रंशातिदाहभ्रम-
क्षुत्तृष्णाहतिरोगदुःखमरणान्येतान्यहो आसताम् ।
यान्यत्रैव पराङ्गनाहितमतेस्तद्भूरि दुःखं चिरं
श्वभ्रे भावि यदग्निदीपितवपुर्लोहाङ्गनालिङ्गनात् ॥ २९ ॥

30) धिक् तत्पौरुषमासतामनुचितास्ता बुद्धयस्ते गुणाः
मा भून्मित्रसहायसंपदपि सा तज्जन्म यातु क्षयम् ।
लोकानामिह येषु सत्सु भवति व्यामोहमुद्राङ्कितं
स्वप्ने ऽपि स्थितिलङ्घनात्परधनस्त्रीषु प्रसक्तं मनः ॥ ३० ॥

कस्मान्मोहं गच्छत ॥ २७ ॥ ये नराः । अर्थादौ विषये । प्रचुरप्रपञ्चरचनैः बहुलपाखण्डविशेषैः रचनाविशेषैः । परान् लोकान् वञ्चयन्ते । ते नराः । नूनं निश्चितम् । अन्यतः पापव्रजात् पापसमूहात् पुरतः नरकं व्रजन्ति । प्राणिषु जीवेषु । प्राणाः । तन्निबन्धनतया तस्य द्रव्यस्य[1] आधारत्वेन तिष्ठन्ति । इह लोके संसारे । नरे मनुष्ये । यावान्दुःखभरः धने नष्टे सति प्रायशः बाहुल्येन भवति तावान्दुःखभरः मरणे न भवति ॥ २८ ॥ अहो इत्याश्चर्ये । पराङ्गनाहितमतेः पुरुषस्य पराङ्गनासु आहिता मतिर्येन स तस्य पराङ्गनाहितमतेः । एतानि दुःखानि । आसतां तिष्ठन्तु । तान्येव दर्शयति । चिन्ताव्याकुलताभयारतिमतिभ्रंशातिदाहभ्रम-क्षुत्तृष्णाहतिरोगदुःखमरणानि । एतानि दुःखानि आसतां दूरे तिष्ठन्तु । यानि एतानि । अत्रैव जन्मनि भवन्ति । परजन्मनि श्वभ्रे नरके । चिरं चिरकालम् । तद्भूरि दुःखं भावि यद् दुःखम् अग्निदीपितवपुर्लोहाङ्गनालिङ्गनात् भवति ॥ २९ ॥ तत्पौरुषं धिक् । ता बुद्धयः अनुचिताः अयोग्याः । ते गुणाः आसतां दूरे तिष्ठन्तु । सा मित्रसहायसंपत् मा भूत् । तज्जन्म क्षयं यातु । येषु पौरुषादि-धनेषु । सत्सु विद्यमानेषु । इह संसारे । लोकानां मनः स्वप्नेऽपि परधन-स्त्रीषु । प्रसक्तम् आसक्तं भवति । कस्मात् । स्थितिलङ्घनात् । किंलक्षणं मनः । व्यामोहमुद्राङ्कितम् ॥ ३० ॥ इह लोके । इति अमुना प्रकारेण । हठात् । एकैकव्यसनाहताः एक-

---

क्यों मोहको प्राप्त होते हैं ? अर्थात् उन्हें मोहको छोड़कर हिंसा और परवंचनका परित्याग सदाके लिये अवश्य कर देना चाहिये ॥ २७ ॥ जो मनुष्य धन आदिके कमानेमें अनेक प्रपंचोंको रचकर दूसरोंको ठगा करते हैं वे निश्चयसे उस पापके प्रभावसे दूसरोंके सामने ही नरकमें जाते हैं। कारण यह कि प्राणियोंमें प्राण धनके निमित्तसे ही ठहरते हैं, धनके नष्ट हो जानेपर मनुष्यको जितना अधिक दुःख होता है उतना प्रायः उसे मरते समय भी नहीं होता ॥ २८ ॥ परस्त्रीमें अनुरागबुद्धि रखनेवाले व्यक्तिको जो इसी जन्ममें चिन्ता, आकुलता, भय, द्वेषभाव, बुद्धिका विनाश, अत्यन्त संताप, भ्रान्ति, भूख, प्यास, आघात, रोगवेदना और मरण रूप दुःख प्राप्त होते हैं; ये तो दूर रहें। किन्तु परस्त्रीसेवनजनित पापके प्रभावसे जन्मान्तरमें नरकगतिके प्राप्त होनेपर अग्निमें तपायी हुई लोहमय स्त्रियोंके आलिंगनसे जो चिरकाल तक बहुत दुःख प्राप्त होनेवाला है उसकी ओर भी उसका ध्यान नहीं जाता, यह कितने आश्चर्यकी बात है ॥ २९ ॥ जिस पौरुष आदिके होनेपर लोगोंका व्यामोहको प्राप्त हुआ मन मर्यादाका उल्लंघन करके स्वप्नमें भी परधन एवं परस्त्रियोंमें आसक्त होता है उस पौरुषको धिक्कार है, वे अयोग्य विचार और वे अयोग्य गुण दूर ही रहें, ऐसे मित्रोंकी सहायता रूप सम्पत्ति भी न प्राप्त हो, तथा वह जन्म भी नाशको प्राप्त हो जाय।

---

[1] क श तस्य तद्द्रव्यस्य ।

31) द्यूताद्धर्मसुतः पलादिह बको मद्याद्यदोर्नन्दनाः
चारुः कामुकया मृगान्तकतया स ब्रह्मदत्तो नृपः ।
चौर्यत्वाच्छिवभूतिरन्यवनितादोषाद्दशास्यो हठात्
एकैकव्यसनाहता इति जनाः सर्वैर्न को नश्यति ॥ ३१ ॥

एकव्यसनेन पीडिताः जनाः दुःखिता जाताः । सर्वैर्व्यसनैः कः पुमान् न नश्यति । अपि तु नश्यति । द्यूतात् धर्मसुतः युधिष्ठिरः नष्टः । पलात् मांसात् बको नाम राजा नष्टः । मद्यात्सुरापानात् यदोः नन्दनाः नष्टाः । चारुः चारुदत्तः कामुकया वेश्यया नष्टः । स ब्रह्मदत्तः नृपः मृगान्तकतया अहेटकवृत्त्या नष्टः । चौर्यत्वात् शिवभूतिर्ब्राह्मणः नष्टः । अन्यवनितादोषात् परस्त्रीसङ्गात् दशास्यः रावणः नष्टः । तत्र सर्वैः व्यसनैः कः न नश्यति ॥ ३१ ॥ परं केवलम् । व्यसनानि इयन्ति न भवन्ति । अपराण्यपि

अभिप्राय यह है कि यदि उपर्युक्त सामग्रीके होनेपर लोगोंका मन लोकमर्यादाको छोड़कर परधन और परस्त्रीमें आसक्त होता है तो वह सब सामग्री धिक्कारके योग्य है ॥ ३० ॥ यहां जुआसे युधिष्ठिर, मांससे बक राजा, मद्यसे यादव जन, वेश्यासेवनसे चारुदत्त, मृगोंके विनाश रूप शिकारसे ब्रह्मदत्त राजा, चोरीसे शिवभूति ब्राह्मण तथा परस्त्रीदोषसे रावण; इस प्रकार एक एक व्यसनके सेवनसे ये सातों जन महान् कष्टको प्राप्त हुए हैं । फिर भला जो सभी व्यसनोंका सेवन करता है उसका विनाश क्यों न होगा ? अवश्य होगा ॥
विशेषार्थ– 'यत् पुंसः श्रेयसः व्यस्यति तत् व्यसनम्' अर्थात् जो पुरुषोंको कल्याणके मार्गसे भ्रष्ट करके दुःखको प्राप्त कराता है उसे व्यसन कहा जाता है । ऐसे व्यसन मुख्य रूपसे सात हैं । उनका वर्णन पूर्वमें किया जा चुका है । इनमेंसे केवल एक एक व्यसनमें ही तत्पर रहनेसे जिन युधिष्ठिर आदिने महान् कष्ट पाया है उनके नामोंका निर्देश मात्र यहां किया गया हैं । संक्षेपमें उनके कथानक इस प्रकार हैं । **१ युधिष्ठिर**– हस्तिनापुरमें धृतराज नामका एक प्रसिद्ध राजा था । उसके अम्बिका, अम्बालिका और अम्बा नामकी तीन रानियां थीं । इनमेंसे अम्बिकासे धृतराष्ट्र, अम्बालिकासे पाण्डु और अम्बासे विदुर उत्पन्न हुए थे । इनमें धृतराष्ट्रके दुर्योधन आदि सौ पुत्र तथा पाण्डुके युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेव नामक पांच पुत्र थे । पाण्डु राजाके स्वर्गस्थ होनेपर कौरवों और पाण्डवोंमें राज्यके निमित्तसे परस्पर विवाद होने लगा था । एक समय युधिष्ठिर दुर्योधनके साथ द्यूतक्रीडा करनेमें उद्यत हुए । वे उसमें समस्त सम्पत्ति हार गये । अन्तमें उन्होंने द्रौपदी आदिको भी दावपर रख दिया और दुर्योधनने इन्हें भी जीत लिया । इससे द्रौपदीको अपमानित होना पड़ा तथा कुन्ती और द्रौपदीके साथ पांचों भाइयोंको बारह वर्ष तक वनवास भी करना पड़ा । इसके अतिरिक्त उन्हें द्यूतव्यसनके निमित्तसे और भी अनेक दुःख सहने पड़े । **२ बकराजा**– कुशाग्रपुरमें भूपाल नामका एक राजा था । उसकी पत्नीका नाम लक्ष्मीमती था । इनके बक नामका एक पुत्र था जो मांसभक्षणका बहुत लोलुपी था । राजा प्रतिवर्ष अष्टाह्निक पर्वके प्राप्त होनेपर जीवहिंसा न करनेकी घोषणा कराता था । उसने मांसभक्षी अपने पुत्रकी प्रार्थनापर केवल एक प्राणीकी हिंसाकी छूट देकर उसे भी द्वितीयादि प्राणियोंकी हिंसा न करनेका नियम कराया था । तदनुसार ही उसने अपनी प्रवृत्ति चालू कर रखी थी । एक समय रसोइया मांसको रखकर कार्यवश कहीं बाहर चला गया था । इसी बीच एक बिल्ली उस मांसको खा गई थी । रसोइयेको इससे बड़ी चिन्ता हुई । वह व्याकुल होकर मांसकी खोजमें नगरसे बाहिर गया । उसने एक मृत बालकको जमीनमें गाढ़ते हुए देखा । अवसर पाकर वह उसे निकाल लाया और उसका मांस पकाकर बक राजकुमारको खिला दिया । उस दिनका मांस उसे बहुत स्वादिष्ट लगा ।

बकने जिस किसी प्रकार रसोइयेसे यथार्थ स्थिति जान ली। उसने प्रतिदिन इसी प्रकारका मांस खिलानेके लिये रसोइएको बाध्य किया। वेचारा रसोइया प्रतिदिन चना एवं लड्डू आदि लेकर जाता और किसी एक बालकको फुसला कर ले आता। इससे नगरमें बच्चोंकी कमी होने लगी। पुरवासी इससे बहुत चिन्तित हो रहे थे। आखिर एक दिन वह रसोइया बालकके साथ पकड़ लिया गया। लोगोंने उसे लात-घूसोंसे मारना शुरु कर दिया। इससे घबड़ा कर उसने यथार्थ स्थिति प्रगट कर दी। इसी बीच पिताके दीक्षित हो जानेपर बकको राज्यकी भी प्राप्ति हो चुकी थी। पुरवासियोंने मिलकर उसे राज्यसे भ्रष्ट कर दिया। वह नगरसे बाहिर रहकर मृत मनुष्योंके शवोंको खाने लगा। जब कभी उसे यदि जीवित मनुष्य भी मिलता तो वह उसे भी खा जाता था। लोग उसे राक्षस कहने लगे थे। अन्तमें वह किसी प्रकार वसुदेवके द्वारा मारा गया था। उसे मांसभक्षण व्यसनसे इस प्रकार दुःख सहना पड़ा। **३ यादव**—किसी समय भगवान् नेमि जिनका समवसरण गिरनार पर्वत आया था। उस समय अनेक पुरवासी उनकी वंदना करने और उपदेश श्रवण करनेके लिये गिरनार पर्वतपर पहुंचे थे। धर्मश्रवणके अन्तमें बलदेवने पूछा कि भगवन्! यह द्वारिकापुरी कुबेरके द्वारा निर्मित की गई है। उसका विनाश कब और किस प्रकारसे होगा? उत्तरमें भगवान् नेमि जिन बोले कि यह पुरी मद्यके निमित्तसे बारह वर्षमें द्वीपायनकुमारके द्वारा भस्म की जावेगी। यह सुनकर रोहिणीका भाई द्वीपायनकुमार दीक्षित हो गया और इस अवधिको पूर्ण करनेके लिये पूर्व देशमें जाकर तप करने लगा। तत्पश्चात् वह द्वीपायनकुमार भ्रान्तिवश 'अब बारह वर्ष बीत चुके' ऐसा समझकर फिरसे वापिस आगया और द्वारिकाके बाहिर पर्वतके निकट ध्यान करने लगा। इधर जिनवचनके अनुसार मद्यको द्वारिकादाहका कारण समझकर कृष्णने प्रजाको मद्य और उसकी साधन-सामग्रीको भी दूर फेंक देनेका आदेश दिया था। तदनुसार मद्यपायी जनोंने मद्य और उसके साधनोंको कादम्ब पर्वतके पास एक गड्ढेमें फेंक दिया था। इसी समय शंब आदि राजकुमार वनक्रीड़ाके लिये उधर गये थे। उन लोगोंने प्याससे पीड़ित होकर पूर्वनिक्षिप्त उस मद्यको पानी समझकर पी लिया। इससे उन्मत्त होकर वे नाचते गाते हुए द्वारिकाकी ओर वापिस आरहे थे। उन्होंने मार्गमें द्वीपायन मुनिको स्थित देखकर और उन्हें द्वारिकादाहक समझकर उनके ऊपर पत्थरोंकी वर्षा आरम्भ की, जिससे क्रोधवश मरणको प्राप्त होकर वे अग्निकुमार देव हुए। उसने चारों ओरसे द्वारिकापुरीको अग्निसे प्रज्वलित कर दिया। इस दुर्घटनामें कृष्ण और बलदेवको छोड़कर अन्य कोई भी प्राणी जीवित नहीं बच सका। यह सब मद्यपानके ही दोषसे हुआ था। **४ चारुदत्त**—चम्पापुरीमें एक भानुदत्त नामके सेठ थे। उनकी पत्नीका नाम सुभद्रा था। इन दोनोंकी यौवन अवस्था विना पुत्रके ही व्यतीत हुई। तत्पश्चात् उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम चारुदत्त रखा गया। उसे बाल्य कालमें ही अणुव्रत दीक्षा दिलायी गयी थी। उसका विवाह मामा सर्वार्थकी पुत्री मित्रवतीके साथ सम्पन्न हुआ था। चारुदत्तको शास्त्रका व्यसन था, इसलिये पत्नीके प्रति उसका किंचित् भी अनुराग न था। चारुदत्तकी माताने उसे कामभोगमें आसक्त करनेके लिये रुद्रदत्त (चारुदत्तके चाचा) को प्रेरित किया। वह किसी बहानेसे चारुदत्तको कलिंगसेना वेश्याके यहां ले गया। उसके एक वसन्तसेना नामकी सुन्दर पुत्री थी। चारुदत्तको उसके प्रति प्रेम हो गया। उसमें अनुरक्त होनेसे कलिंग-सेनाने वसन्तसेनाके साथ चारुदत्तका पाणिग्रहण कर दिया था। वह वसन्तसेनाके यहां बारह वर्ष रहा।

उसमें अत्यन्त आसक्त होनेसे जब चारुदत्तने कभी माता, पिता एवं पत्नीका भी स्मरण नहीं किया तब भला अन्य कार्यके विषयमें क्या कहा जा सकता है? इस बीच कलिंगसेनाके यहां चारुदत्तके घरसे सोलह करोड़ दीनारें आचुकी थीं। तत्पश्चात् जब कलिंगसेनाने मित्रवतीके आभूषणोंको भी आते देखा तब उसने वसन्तसेनासे धनसे हीन चारुदत्तको अलग कर देनेके लिये कहा। माताके इन वचनोंको सुनकर वसन्तसेनाको अत्यन्त दुःख हुआ। उसने कहा हे माता! चारुदत्तको छोड़कर मैं कुबेर जैसे सम्पत्तिशाली भी अन्य पुरुषको नहीं चाहती। माताने पुत्रीके दुराग्रहको देखकर उपायान्तरसे चारुदत्तको अपने घरसे निकाल दिया। तत्पश्चात् उसने घर पहुंचकर दुःखसे काल्यापन करनेवाली माता और पत्नीको देखा। उनको आश्वासन देकर चारुदत्त धनोपार्जनके लिये देशान्तर चला गया। वह अनेक देशों और द्वीपोंमें गया, परन्तु सर्वत्र उसे महान् कष्टोंका सामना करना पड़ा। अन्तमें वह पूर्वोपकृत दो देवोंकी सहायतासे महा विभूतिके साथ चम्पापुरीमें वापिस आ गया। उसने वसन्तसेनाको अपने घर बुला लिया। पश्चात् मित्रवती एवं वसन्तसेना आदिके साथ सुखपूर्वक कुछ काल विताकर चारुदत्तने जिनदीक्षा लेली। इस प्रकार तपश्चरण करते हुए वह मरणको प्राप्त होकर सर्वार्थसिद्धिमें देव उत्पन्न हुआ। जिस वेश्याव्यसनके कारण चारुदत्तको अनेक कष्ट सहने पड़े उसे विवेकी जनोंको सदाके लिये ही छोड़ देना चाहिये। **५ ब्रह्मदत्त** — उज्जयिनी नगरीमें एक ब्रह्मदत्त नामका राजा था। वह मृगया (शिकार) व्यसनमें अत्यन्त आसक्त था। किसी समय वह मृगयाके लिये वनमें गया था। उसने वहां एक शिलातलपर ध्यानावस्थित मुनिको देखा। इससे उसका मृगया कार्य निष्फल हो गया। वह दूसरे दिन भी उक्त वनमें मृगयाके निमित्त गया, किन्तु मुनिके प्रभावसे फिर भी उसे इस कार्यमें सफलता नहीं मिली। इस प्रकार वह कितने ही दिन वहां गया, किन्तु उसे इस कार्यमें सफलता नहीं मिल सकी। इससे उसे मुनिके ऊपर अतिशय क्रोध उत्पन्न हुआ। किसी एक दिन जब मुनि आहारके लिये नगरमें गये हुए थे। तब ब्रह्मदत्तने अवसर पाकर उस शिलाको अग्निसे प्रज्वलित कर दिया। इसी बीच मुनिराज भी वहां वापिस आ गये और शीघ्रतासे उसी जलती हुई शिलाके ऊपर बैठ गये। उन्होंने ध्यानको नहीं छोड़ा, इससे उन्हें केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई। वे अन्तःकृत् केवली होकर मुक्तिको प्राप्त हुए। इधर ब्रह्मदत्त राजा मृगया व्यसन एवं मुनिप्रद्वेषके कारण सातवें नरकमें नारकी उत्पन्न हुआ। तत्पश्चात् बीच बीचमें क्रूर हिंसक तिर्यंच होकर क्रमसे छठे और पांचवें आदि शेष नरकोंमें भी गया। मृगया व्यसनमें आसक्त होनेसे प्राणियोंको ऐसे ही भयानक कष्ट सहने पड़ते हैं। **६ शिवभूति** — बनारस नगरमें राजा जयसिंह राज्य करता था। रानीका नाम जयावती था। इस राजाके एक शिवभूति नामका पुरोहित था जो अपनी सत्यवादिताके कारण पृथिवीपर 'सत्यघोष' इस नामसे प्रसिद्ध हो गया था। उसने अपने यज्ञोपवीतमें एक छुरी बांध रक्खी थी। वह कहा करता था कि यदि मैं कदाचित् असत्य बोलूं तो इस छुरीसे अपनी जिह्वा काट डालूंगा। इस विश्वाससे बहुतसे लोग इसके पास सुरक्षार्थ अपना धन रखा करते थे। किसी एक दिन पद्मपुरसे एक धनपाल नामका सेठ आया और इसके पास अपने वेसकीमती चार रत्न रखकर व्यापारार्थ देशान्तर चला गया। वह बारह वर्ष विदेशमें रहकर और बहुत-सा धन कमाकर वापिस आ रहा था। मार्गमें उसकी नाव डूब गई और सब धन नष्ट हो गया। इस प्रकार वह धनहीन होकर बनारस वापिस पहुंचा। उसने शिवभूति पुरोहितसे अपने चार

रत्न वापिस मांगे । पुरोहितने पागल बतलाकर उसे घरसे बाहिर निकलवा दिया । पागल समझकर ही उसकी बात राजा आदि किसीने भी नहीं सुनी । एक दिन रानीने उसकी बात सुननेके लिये राजासे आग्रह किया । राजाने उसे पागल बतलाया जिसे सुनकर रानीने कहा कि पागल वह नहीं है, किन्तु तुम ही हो। तत्पश्चात् राजाकी आज्ञानुसार रानीने इसके लिये कुछ उपाय सोचा । उसने पुरोहितके साथ जुवा खेलते हुए उसकी मुद्रिका और छुरीयुक्त यज्ञोपवीत भी जीत लिया, जिसे प्रत्यभिज्ञानार्थ पुरोहितकी स्त्रीके पास भेजकर वे चारों रत्न मंगा लिये । राजाको शिवभूतिके इस व्यवहारसे बड़ा दुख हुआ । राजाने उसे गोबरभक्षण, मुष्टिघात अथवा निज द्रव्य समर्पणमेंसे किसी एक दण्डको सहनेके लिये बाध्य किया । तदनुसार वह गोबरभक्षणके लिये उद्यत हुआ, किन्तु खा नहीं सका । अत एव उसने मुष्टिघात (घूंसा मारना) की इच्छा प्रगट की । तदनुसार मल्लों द्वारा मुष्टिघात किये जानेपर वह मर गया और राजाके भाण्डागारमें सर्प हुआ । इस प्रकार उसे चोरी व्यसनके वश यह कष्ट सहना पड़ा । **७ रावण**– किसी समय अयोध्या नगरीमें राजा दशरथ राज्य करते थे । उनके ये चार पत्नियां थीं – कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी और सुप्रभा । इनके यथाक्रमसे ये चार पुत्र उत्पन्न हुए थे – रामचन्द्र, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न । एक दिन राजा दशरथको अपना बाल सफेद दिखायी दिया । इससे उन्हें बड़ा वैराग्य हुआ । उन्होंने रामचन्द्रको राज्य देकर जिनदीक्षा ग्रहण करनेका निश्चय किया । पिताके साथ भरतके भी दीक्षित हो जानेका विचार ज्ञात कर उसकी माता कैकेयी बहुत दुखी हुई । उसने इसका एक उपाय सोचकर राजा दशरथसे पूर्वमें दिया गया वर मांगा । राजाकी स्वीकृति पाकर उसने भरतके लिये राज्य देनेकी इच्छा प्रगट की । राजा विचारमें पड़ गये । उन्हें खेदखिन्न देखकर रामचन्द्रने मंत्रियोंसे इसका कारण पूछा और उनसे उपर्युक्त समाचार ज्ञातकर स्वयं ही भरतके लिये प्रसन्नतापूर्वक राज्यतिलक कर दिया । तत्पश्चात् 'मेरे यहां रहनेपर भरतकी प्रतिष्ठा न रह सकेगी' इस विचारसे वे सीता और लक्ष्मणके साथ अयोध्यासे बाहिर चले गये । इस प्रकार जाते हुए वे दण्डक वनके मध्यमें पहुंच कर वहां ठहर गये । यहां वनकी शोभा देखते हुए लक्ष्मण इधर उधर घूम रहे थे । उन्हें एक बांसोंके समूहमें लटकता हुए एक खड्ग (चन्द्रहास) दिखायी दिया । उन्होंने लपककर उसे हाथमें ले लिया और परीक्षणार्थ उसी बांससमूहमें चला दिया । इससे बांससमूहके साथ उसके भीतर बैठे हुए शम्बूककुमारका शिर कटकर अलग हो गया । यह शम्बूककुमार ही उसे यहां बैठकर बारह वर्षसे सिद्ध कर रहा था । इस घटनाके कुछ ही समयके पश्चात् खरदूषणकी पत्नी और शम्बूककी माता सूर्पनखा वहां आ पहुंची । पुत्रकी इस दुरवस्थाको देखकर वह विलाप करती हुई इधर उधर शत्रुकी खोज करने लगी । वह कुछ ही दूर रामचन्द्र और लक्ष्मणको देखकर उनके रूपपर मोहित हो गयी । उसने इसके लिये दोनोंसे प्रार्थना की । किन्तु जब दोनोंमेंसे किसीने भी उसे स्वीकार न किया तब वह अपने शरीरको विकृत कर खरदूषणके पास पहुंची और उसे युद्धके लिये उत्तेजित किया । खरदूषण भी अपने साले रावणको इसकी सूचना करा कर युद्धके लिये चल पड़ा । सेनासहित खरदूषणको आता देखकर लक्ष्मण भी युद्धके चल दिया । वह जाते समय रामचन्द्रसे यह कहता गया कि यदि मैं विपत्तिग्रस्त होकर सिंहनाद करूं तभी आप मेरी सहायताके लिए आना, अन्यथा यहीं स्थित रहकर सीताकी रक्षा करना । इसी बीच पुष्पक विमानमें आरूढ होकर रावण भी खरदूषणकी सहायतार्थ लंकासे इधर आरहा था । वह यहां सीताको बैठी देखकर उसके रूपपर मोहित हो

32) न परमियन्ति भवन्ति व्यसनान्यपराण्यपि प्रभूतानि ।
त्यक्त्वा सत्पथमपथप्रवृत्तयः क्षुद्रबुद्धीनाम् ॥ ३२ ॥

33) सर्वाणि व्यसनानि दुर्गतिपथाः स्वर्गापवर्गार्गलाः
वज्राणि व्रतपर्वतेषु विषमाः संसारिणां शत्रवः ।
प्रारम्भे मधुरेषु पाककटुकेष्वेतेषु सद्धीधनैः
कर्तव्या न मतिर्मनागपि हितं वाञ्छद्भिरत्रात्मनः ॥ ३३ ॥

प्रभूतानि उत्पन्नानि भवन्ति । ये अपथप्रवृत्तयः कुमार्गे गमनशीलाः सत्पथं त्यक्त्वा अपथे चलन्ति तेषां क्षुद्रबुद्धीनां बहूनि व्यसनानि सन्ति ॥ ३२ ॥ सर्वाणि व्यसनानि दुर्गतिपथाः सन्ति । स्वर्गगमने अपवर्ग-मोक्षगमने अर्गलाः । पुनः व्रतपर्वतेषु वज्राणि सन्ति । पुनः किंलक्षणानि व्यसनानि । संसारिणां जीवानां विषमाः कठिनाः शत्रवः वर्तन्ते । एतेषु निन्द्यव्यसनेषु । सद्धीधनैः विवेकिभिः । मनागपि मतिर्न कर्तव्या । किंलक्षणेषु व्यसनेषु । प्रारम्भे मधुरेषु पाककटुकेषु । किंलक्षणैः सद्धीधनैः । अत्र जगति आत्मनः

गया और उसके हरणका उपाय सोचने लगा । उसने विद्याविशेषसे ज्ञात करके कुछ दूरसे सिंहनाद किया । इससे रामचन्द्र लक्ष्मणको आपत्तिग्रस्त समझकर उसकी सहायतार्थ चले गये । इस प्रकार रावण अवसर पाकर सीताको हरकर ले गया । इधर लक्ष्मण खरदूषणको मारकर युद्धमें विजय प्राप्त कर चुका था । वह अकस्मात् रामचन्द्रको इधर आते देखकर बहुत चिन्तित हुआ । उसने तुरन्त ही रामचन्द्रको वापिस जानेके लिये कहा । उन्हें वापिस पहुंचनेपर वहां सीता दिखायी नहीं दी । इससे वे बहुत व्याकुल हुए । थोड़ी देरके पश्चात् लक्ष्मण भी वहां आ पहुंचा । उस समय उनका परिचय सुग्रीव आदि विद्याधरोंसे हुआ । जिस किसी प्रकारसे हनुमान लंका जा पहुंचा । उसने वहां रावणके उद्यानमें स्थित सीताको अत्यन्त व्याकुल देखकर सान्त्वना दी और शीघ्र ही वापिस आकर रामचन्द्रको समस्त वृत्तान्त कह सुनाया । अन्तमें युद्धकी तैयारी करके रामचन्द्र सेनासहित लंका जा पहुंचे । उन्होंने सीताको वापिस देनेके लिये रावणको बहुत समझाया, किन्तु वह सीताको वापिस करनेके लिये तैयार नहीं हुआ । उसे इस प्रकार परस्त्रीमें आसक्त देखकर स्वयं उसका भाई विभीषण भी उससे रुष्ट होकर रामचन्द्रकी सेनामें आ मिला । अन्तमें दोनोंमें घमासान युद्ध हुआ, जिसमें रावणके अनेक कुटुम्बी जन और स्वयं वह भी मारा गया । परस्त्रीमोहसे रावणकी बुद्धि नष्ट हो गई थी, इसीलिये उसे दूसरे हितैषी जनोंके प्रिय वचन भी अप्रिय ही प्रतीत हुए और अन्तमें उसे इस प्रकारका दुःख सहना पड़ा ॥ ३१ ॥ केवल इतने (सात) ही व्यसन नहीं हैं, किन्तु दूसरे भी बहुत-से व्यसन हैं । कारण कि अल्पमति पुरुष समीचीन मार्गको छोड़कर कुत्सित मार्गमें प्रवृत्त हुआ करते हैं ॥ विशेषार्थ — जो असत्प्रवृत्तियां मनुष्यको सन्मार्गसे भ्रष्ट करती हैं उनका नाम व्यसन है । ऐसे व्यसन बहुत हो सकते हैं । उनकी वह सात संख्या स्थूल रूपसे ही निर्धारित की गई है । कारण कि मन्दबुद्धि जन सन्मार्गसे च्युत होकर विविध रीतियोंसे कुमार्गमें प्रवृत्त होते हैं । उनकी ये सब प्रवृत्तियां व्यसनके ही अन्तर्गत हैं । अत एव व्यसनों की यह सात (७) संख्या स्थूल रूपसे ही समझनी चाहिये ॥३२॥ सभी व्यसन नरकादि दुर्गतियोंके कारण होते हुए स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्तिमें अर्गला (बेंड़ा) के समान हैं, इसके अतिरिक्त वे व्रतरूपी पर्वतोंको नष्ट करनेके लिये वज्र जैसे होकर संसारी प्राणियोंके लिये दुर्दम शत्रुके समान ही हैं । ये व्यसन यद्यपि प्रारम्भमें मिष्ट प्रतीत होते हैं, परन्तु परिणाममें वे कटुक ही हैं । इसीलिये यहां आत्महितकी इच्छा रखनेवाले बुद्धिमान् पुरुषोंको इन व्यसनोंमें जरा भी बुद्धि नहीं करनी चाहिये ॥ ३३ ॥

34) मिथ्यादृशां विसदृशां च पथच्युतानां मायाविनां व्यसनिनां च खलात्मनां च।
संगं विमुञ्चत बुधाः कुरुतोत्तमानां गन्तुं मतिर्यदि समुन्नतमार्ग एव ॥ ३४ ॥

35) स्निग्धैरपि व्रजत मा सह संगमेभिः क्षुद्रैः कदाचिदपि पश्यत सर्षपाणाम्।
स्नेहो ऽपि संगतिकृतः खलताश्रितानां लोकस्य पातयति निश्चितमश्रु नेत्रात् ॥ ३५ ॥

36) कलावेकः साधुर्भवति कथमप्यत्र भुवने
स चाघ्रातः क्षुद्रैः कथमकरुणैर्जीवति चिरम्।
अतिग्रीष्मे शुष्यत्सरसि विचरच्चञ्चुचरतां
बकोटानामग्रे तरलशफरी गच्छति कियत् ॥ ३६ ॥

37) इह वरमनुभूतं भूरि दारिद्र्यदुःखं वरमतिविकराले कालवक्त्रे प्रवेशः।
भवतु वरमितो ऽपि क्लेशजालं विशालं न च खलजनयोगाज्जीवितं वा धनं वा ॥३७॥

हितं वाञ्छद्भिः हितं[त]वाञ्छकैः ॥ ३३ ॥ भो बुधाः भो पण्डिताः। यदि चेत्। उन्नतमार्गे एव निश्चयेन गन्तुं मतिरस्ति तदा मिथ्यादृशां संगं विमुञ्चत। विसदृशां विपरीतानां संगं विमुञ्चत। चकारग्रहणात् पथच्युतानां संगं विमुञ्चत। व्यसनिनां संगं विमुञ्चत। मायाविनां संगं विमुञ्चत। खलात्मनां संगं विमुञ्चत। भो जनाः उत्तमानां संगं कुरुत ॥ ३४ ॥ भो बुधाः। एभिः क्षुद्रैः सह कदाचिदपि संगं मा व्रजत। किंलक्षणैः क्षुद्रैः। स्निग्धैरपि स्नेहयुक्तैरपि। भो भव्याः। पश्यत। खलताश्रितानां सर्षपाणां स्नेहोऽपि संगतिकृतः निश्चितं लोकस्य नेत्रादश्रु पातयति ॥ ३५ ॥ अत्र भुवने संसारे। कलौ पञ्चमकाले। कथमपि एकः साधुर्भवति। स च साधुः। क्षुद्रैः आघ्रातः पीडितः। चिरं चिरकालं कथं जीवति। किंलक्षणैः क्षुद्रैः। अकरुणैः दयारहितैः। अतिग्रीष्मे ज्येष्ठाषाढे [ज्येष्ठाषाढयोः]। शुष्यत्सरसि शुष्कसरोवरे। बकोटानां बकानाम् अग्रे। तरलशफरी चञ्चलमत्सिका। कियद् दूरे गच्छति। किंलक्षणानां बकानाम्। विचरच्चञ्चुचरताम् ॥३६॥ इह संसारे। भूरि दारिद्र्यदुःखम् अनुभूतम्। वरं श्रेष्ठम्। अतिविकराले अतिरुद्रे। कालवक्त्रे कालमुखे। प्रवेशः वरं शुभम्। इतः संसारात्। विशालं क्लेशजालमपि भवतु वरम्।

यदि उत्तम मार्गमें ही गमन करनेकी अभिलाषा है तो बुद्धिमान् पुरुषोंका यह आवश्यक कर्तव्य है कि वे मिथ्यादृष्टियों, विसदृशों अर्थात् विरुद्ध धर्मानुयायियों, सन्मार्गसे भ्रष्ट हुए, मायाचारियों, व्यसनानुरागियों तथा दुष्ट जनोंकी संगतिको छोड़कर उत्तम पुरुषोंका सत्संग करें ॥ ३४ ॥ उपर्युक्त मिथ्यादृष्टि आदि क्षुद्र जन यदि अपने स्नेही भी हों तो भी उनकी संगति कभी भी न करना चाहिये। देखो, खलता (तेल निकल जानेपर प्राप्त होनेवाली सरसोंकी खल भागरूप अवस्था, दूसरे पक्षमें दुष्टता) के आश्रित हुए क्षुद्र सरसोंके दानोंका स्नेह (तेल) भी संगतिको प्राप्त होकर निश्चयतः लोगोंके नेत्रोंसे अश्रुओंको गिराता है ॥ विशेषार्थ— जिस प्रकार छोटे भी सरसोंके दानोंसे उत्पन्न हुए स्नेह (तेल) के संयोगसे उसकी तीक्ष्णताके कारण मनुष्यकी आंखोंसे आंसू निकलने लगते हैं उसी प्रकार उपर्युक्त क्षुद्र मिथ्यादृष्टि आदि दुष्ट पुरुषोंके स्नेह (प्रेम, संगति) से होनेवाले ऐहिक एवं पारलौकिक दुखका अनुभव करनेवाले प्राणीकी भी आंखोंसे पश्चात्तापके कारण आंसू निकलने लगते हैं। अत एव आत्महितैषी जनोंको ऐसे दुष्ट जनोंकी संगतिका परित्याग करना ही चाहिये ॥ ३५ ॥ इस लोकमें कलिकालके प्रभावसे बड़ी कठिनाईमें एक आध ही साधु होता है। वह भी जब निर्दय दुष्ट पुरुषोंके द्वारा सताया जाता है तब भला कैसे चिरकाल जीवित रह सकता है ? अर्थात् नहीं रह सकता। ठीक ही है— जब तीक्ष्ण ग्रीष्मकालमें तालाबका पानी सूखने लगता है तब चोंचको हिलाकर चलनेवाले बगुलोंके आगे चंचल मछली कितनी देर तक चल सकती है ? अर्थात् बहुत अधिक समय तक वह चल नहीं सकती, किन्तु उनके द्वारा मारकर खायी ही जाती है ॥ ३६ ॥ संसारमें निर्धनताके भारी दुखका अनुभव करना कहीं अच्छा है, इसी प्रकार अत्यन्त भयानक मृत्युके मुखमें प्रवेश करना भी कहीं अच्छा है, इसके अतिरिक्त यदि यहां और भी अतिशय कष्ट प्राप्त होता है तो वह भी भले हो; परन्तु दुष्ट जनोंके सम्बन्धसे जीवित

38) आचारो दशधर्मसंयमतपोमूलोत्तराख्या गुणाः
मिथ्यामोहमदोज्झनं शमदमध्यानाप्रमादस्थितिः ।
वैराग्यं समयोपबृंहणगुणा रत्नत्रयं निर्मलं
पर्यन्ते च समाधिरक्षयपदानन्दाय धर्मो यतेः ॥ ३८ ॥

39) स्वं शुद्धं प्रविहाय चिद्गुणमयं भ्रान्त्याणुमात्रे ऽपि यत्
संबन्धाय मतिः परे भवति तद्बन्धाय मूढात्मनः ।
तस्मात्त्याज्यमशेषमेव महतामेतच्छरीरादिकं
तत्कालादिविनादियुक्तित इदं तत्त्यागकर्म व्रतम् ॥ ३९ ॥

च पुनः । खलजनयोगात् दुष्टजनसंयोगात् । जीवितं वा धनं वा न वरं न श्रेष्ठम् ॥ ३७ ॥ इति गृहिधर्मप्रकरणं समाप्तम्[1] ॥ यतेः मुनीश्वरस्य । धर्मः अक्षयपदानन्दाय भवति मोक्षाय भवति । तमेव धर्मं दर्शयति । आचारो धर्माय भवति । दशधर्म-संयम-तपोमूलोत्तराख्याः गुणाः धर्माय भवन्ति । आचारस्तु पञ्चप्रकारः ज्ञानाचारः दर्शनाचारः चारित्राचारः तपा[पआ]चारः वीर्याचारः । धर्मः दशभेदः दशलाक्षणिकः[2] । संयमस्तु द्वादशभेदकः । तपस्तु द्वादशभेदकम् । मूलगुणास्तु अष्टाविंशतयः [विंशतिः]। उत्तरगुणास्तु बहवः सन्ति । सर्वे पूर्वोक्ताः गुणाः धर्माय भवन्ति । मिथ्यामोहमदोज्झनं धर्माय भवति । शमः उपशमः दमः इन्द्रियदमनं ध्यानं तन्मध्ये द्वयं श्रेष्ठं धर्मशुक्लौ अप्रमादस्थितिः प्रमादरहितस्थितिः धर्माय भवति । वैराग्यं च धर्माय भवति । समयोपबृंहणगुणाः सिद्धान्तवर्धनस्वभावगुणाः धर्माय भवन्ति । निर्मलं रत्नत्रयं धर्माय भवति । पर्यन्ते च अन्तावस्थायां समाधिमरणं धर्माय भवति । यतेः सर्वं धर्मं [सर्वो धर्मः] मोक्षाय भवति । दर्शनेन विना सम्यक्त्वेन विना स्वर्गाय भवति ॥ ३८ ॥ यद्यस्मात्कारणात् । मूढात्मनः मतिः मूढयतेः मतिः भ्रान्त्या कृत्वा अणुमात्रेऽपि परे द्रव्ये परवस्तुनि । संबन्धाय भवति । किं कृत्वा शुद्धं स्वमात्मानम् । चिद्गुणमयं ज्ञानगुणमयम् । प्रविहाय[3] त्यक्त्वा । तत्तस्मात्कारणात् । सा मतिः बन्धाय कर्मबन्धाय भवति । तस्मात्कारणात् । एतच्छरीरादिकम् अशेषम् । एवं[4] निश्चयेन । त्याज्यम् । महतां मुनीश्वरैः । तत्कालादिविना तस्य शरीरस्य कालक्रिया आहारक्रिया विना त्याज्यम् । शरीरे यन्ममत्वं वर्तते तन्ममत्वं स्फेटनीयं भोजनादिकं न त्याज्य-

अथवा धनका चाहना श्रेष्ठ नहीं है ॥ ३७ ॥ ज्ञानाचारादिस्वरूप पांच प्रकारका आचार; उत्तम क्षमादिरूप दस प्रकारका धर्म; संयम, तप तथा मूलगुण और उत्तरगुण; मिथ्यात्व, मोह एवं मदका परित्याग; कषायोंका शमन, इन्द्रियोंका दमन, ध्यान, प्रमादरहित अवस्थान; संसार, शरीर एवं इन्द्रियविषयोंसे विरक्ति; धर्मको बढ़ानेवाले अनेक गुण, निर्मल रत्नत्रय, तथा अन्तमें समाधिमरण; यह सब मुनिका धर्म है जो अविनश्वर मोक्षपदके आनन्द (अव्याबाध सुख) का कारण है ॥ ३८ ॥ चैतन्य गुणस्वरूप शुद्ध आत्माको छोड़कर भ्रान्तिसे जो अज्ञानी जीवकी बुद्धि परमाणु प्रमाण भी बाह्य वस्तुविषयक संयोगके लिये होती है वह उसके लिये कर्मबन्धका कारण होती है । इसलिये महान् पुरुषोंको समस्त ही इस शरीर आदिका त्याग कालादिके विना प्रथम युक्तिसे करना चाहिये । यह त्यागकर्म व्रत है ॥ विशेषार्थ—इसका अभिप्राय यह है कि शरीर आदि जो भी बाह्य पदार्थ हैं उनमें ममत्वबुद्धि रखकर उनके संयोग आदिके लिये जो कुछ भी प्रयत्न किया जाता है उससे कर्मका बन्ध होता है और फिर इससे जीव पराधीनताको प्राप्त होता है । इसके विपरीत शुद्ध चैतन्य स्वरूपको उपादेय समझकर उसमें स्थिरता प्राप्त करनेके लिये जो प्रयत्न किया जाता है उससे कर्मबन्धका अभाव होकर जीवको स्वाधीनता प्राप्त होती है । इसीलिये यहां वह उपदेश दिया गया है कि जब तक उपर्युक्त शरीर आदि रत्नत्रयकी परिपूर्णतामें सहायता करते हैं तब तक ही ममत्वबुद्धिको छोड़कर शुद्ध आहार आदिके द्वारा उनका रक्षण करना चाहिये । किन्तु जब वे असाध्य रोगादिके कारण उक्त रत्नत्रयकी

१ अ इति गृहस्थधर्मप्रकरण पूर्ण, ब गृहिधर्मः, श इति गृहिधर्मप्रकरणं । २ अ श वीर्याचारः दशभेदस्तु दशलक्षणकः । ३ अ श विहाय । ४ क एवं ।

40) मुक्त्वा मूलगुणान् यतेर्विदधतः शेषेषु यत्नं परं
दण्डो मूलहरो भवत्यविरतं पूजादिकं वाञ्छतः ।
एकं प्राप्तमरेः प्रहारमतुलं हित्वा शिरश्छेदकं
रक्षत्यङ्गुलिकोटिखण्डनकरं को ऽन्यो रणे बुद्धिमान् ॥ ४० ॥

41) म्लाने क्षालनतः कुतः कृतजलाद्यारम्भतः संयमो
नष्टे व्याकुलचित्तताथ महतामप्यन्यतः प्रार्थनम् ।
कौपीने ऽपि हृते परैश्च झटिति क्रोधः समुत्पद्यते
तन्नित्यं शुचि रागहृत् शमवतां वस्त्रं ककुम्मण्डलम् ॥ ४१ ॥

42) काकिन्या अपि संग्रहो न विहितः क्षौरं यया कार्यते
चित्तक्षेपकृदस्त्रमात्रमपि वा तत्सिद्धये नाश्रितम् ।
हिंसाहेतुरहो जटाद्यपि तथा यूकाभिरप्रार्थनैः
वैराग्यादिविवर्धनाय यतिभिः केशेषु लोचः कृतः ॥ ४२ ॥

मित्यर्थः । आदियुक्तितः व्रतं रक्षणीयम् । इदं त्यागकर्मव्रतम् ॥ ३९ ॥ यतेः मुनीश्वरस्य । मूलहरो दण्डो भवति । किंलक्षणस्य यतेः । मूलगुणान् मुक्त्वा शेषेषु उत्तरगुणेषु परं यत्नं विदधतः यत्नं कुर्वतः । पुनः किंलक्षणस्य मुनेः । पूजादिकं वाञ्छतः । तत्र दृष्टान्तमाह । अरेः शत्रोः । एकमद्वितीयम् । अतुलं प्रहारं घातं शिरश्छेदकं प्राप्तं हित्वा को बुद्धिमान् नरः । रणे संग्रामे । अन्यं द्वितीयं प्रहारं रक्षति । किंलक्षणम् अन्यं द्वितीयं प्रहारम् । अङ्गुलिकोटिखण्डनकरम् ॥ ४० ॥ तत्तस्मात्कारणात् । शमवतां मुनीश्वराणाम् । ककुम्मण्डलं दिशासमूहम्[हः] । वस्त्रं वर्तते । कौपीने गृहीते सति तत्कौपीनं म्लानं भवति । म्लाने सति क्षालनतः प्रक्षालनात् कृतजलाद्यारम्भतः संयमः[१] कुतः भवति । अथ कौपीने नष्टे सति । महतामपि मुनीनां व्याकुलचित्तता भवति । अथान्यतः प्रार्थनं भवति । च पुनः । परैः दुष्टैः । कौपीने हृतेऽपि चौरितेऽपि । झटिति क्रोधः समुत्पद्यते । तस्माद्दिक्समूहं[हः] वस्त्रं मुनीनाम् ॥ ४१ ॥ यतिभिः केशेषु लोचः कृतः । कस्मै हेतवे । वैराग्यादि-विवर्धनाय वैराग्यवृद्धिहेतवे । यैः यतिभिः । काकिन्या वराटिकायाः अपि । संग्रहः संचयः । न विहितः न कृतः । यया कपर्दिकया । क्षौरं मुण्डनम् । कार्यते क्रियते । वा अथवा । तत्सिद्धये वैराग्यसिद्धये(?) । अस्त्रमात्रमपि नाश्रितं शस्त्रसंग्रहः न

पूर्णतामें बाधक बन जाते हैं तब उनके नष्ट होनेके काल आदिकी अपेक्षा न करके धर्मकी रक्षा करते हुए सल्लेखनाविधिसे उनका त्याग कर देना चाहिये । यही त्याग कर्मकी विशेषता है ॥ ३९ ॥ मूलगुणोंको छोड़कर केवल शेष उत्तरगुणोंके परिपालनमें ही प्रयत्न करनेवाले तथा निरन्तर पूजा आदिकी इच्छा रखनेवाले साधुका यह प्रयत्न मूलघातक होगा । कारण कि उत्तरगुणोंमें दृढ़ता उन मूलगुणोंके निमित्तसे ही प्राप्त होती है । इसीलिये यह उसका प्रयत्न इस प्रकारका है जिस प्रकार कि युद्धमें कोई मूर्ख सुभट अपने शिरका छेदन करनेवाले शत्रुके अनुपम प्रहारकी परवाह न करके केवल अंगुलिके अग्रभागको खण्डित करनेवाले प्रहारसे ही अपनी रक्षा करनेका प्रयत्न करता है ॥ ४० ॥ वस्त्रके मलिन हो जानेपर उसके धोनेके लिये जल एवं सोड़ा-साबुन आदिका आरम्भ करना पड़ता है, और इस अवस्थामें संयमका घात होना अवश्यम्भावी है । इसके अतिरिक्त उस वस्त्रके नष्ट हो जानेपर महान् पुरुषोंका भी मन व्याकुल हो उठता है, इसीलिये दूसरोंसे उसको प्राप्त करनेके लिये प्रार्थना करनी पड़ती है । यदि दूसरोंके द्वारा केवल लंगोटीका ही अपहरण किया जाता है तो झटसे क्रोध उत्पन्न होने लगता है । इसी कारणसे मुनिजन सदा पवित्र एवं रागभावको दूर करनेवाले दिङ्मण्डल रूप अविनश्वर वस्त्र(दिगम्बरत्व)का आश्रय लेते हैं ॥ ४१ ॥ मुनिजन कौड़ी मात्र भी धनका संग्रह नहीं करते जिससे कि मुण्डन कार्य कराया जा सके; अथवा उक्त मुण्डन कार्यको सिद्ध करनेके लिये वे

१ क कृतजलाद्यारम्भः भवति ततः संयमः । २ अ क श दिक्समूहं ।

43) यावन्मे स्थितिभोजने ऽस्ति दृढता पाण्योश्च संयोजने
भुञ्जे तावदहं रहाम्यथ विधावेषा प्रतिज्ञा यतेः ।
काये ऽप्यस्पृहचेतसो ऽन्त्यविधिषु प्रोल्लासिनः सन्मतेः
न ह्येतेन दिवि स्थितिर्न नरके संपद्यते तद्विना ॥ ४३ ॥

44) एकस्यापि ममत्वमात्मवपुषः स्यात्संसृतेः कारणं
का बाह्यार्थकथा प्रथीयसि तपस्याराध्यमाने ऽपि च ।
तद्वास्यां हरिचन्दने ऽपि च समः संश्लिष्टतो ऽप्यङ्गतो
भिन्नं स्वं स्वयमेकमात्मनि धृतं पश्यत्यजस्रं मुनिः ॥ ४४ ॥

45) तृणं वा रत्नं वा रिपुरथ परं मित्रमथवा
सुखं वा दुःखं वा पितृवनमहो सौधमथवा ।

कृतः । किंलक्षणमस्त्रम् । चित्तक्षेपकृत् चित्तव्याकुलताकरम् । तथा अहो जटादिरपि हिंसाहेतुः । काभिः यूकादिभिः । ततः अप्रार्थनै-याचनरहितैः यतिभिः । केशेषु लोचः कृतः ॥ ४२ ॥ यावत्कालम् । मे मम । स्थितिभोजने दृढता अस्ति । यावत्कालं पाण्योः हस्तयोः संयोजने दृढता अस्ति तावदहम् । भोजनं भुञ्जे आहारं गृह्णामि । अथ अन्यथा दृढता न भवति शरीरे तद-आहारं रहामि त्यजामि । विधौ विधिविषये क्रियाविधौ । यतेः एषा प्रतिज्ञा । पुनः किंलक्षणस्य यतेः । अन्त्यविधिषु मरणाविधिषु कायेऽपि शरीरेऽपि निस्स्पृहचेतसः । प्रोल्लासिनः आनन्दधारिणः । सन्मतेः यतेः । एतेन पूर्वोक्तेन विधिना । दिवि स्वर्गे । स्थितिर्न अपि तु अस्ति । तद्विना तेन पूर्वोक्तेन विधिना विना । नरके स्थितिर्न अपि तु नरके स्थितिरस्ति ॥ ४३ ॥ एकस्यापि मिथ्यादृष्टेः जीवस्य । आत्मवपुषः आत्मशरीरस्य । ममत्वम् । संसृतेः संसारस्य कारणं स्याद्भवेत् । बाह्यार्थकथा का बाह्यपदार्थे कथा का । च पुनः । तपसि आराध्यमानेऽपि ममत्वं संसारकारणम् । तस्मात्कारणात् । मुनिः अजस्रं निरन्तरम् । स्वयम् आत्मना कृत्वा । एकं स्वम् आत्मानम् । अङ्गतः शरीरात् । भिन्नम् । किंलक्षणो मुनिः । समः । कस्मात् । वास्यां कुठारिकायाम् । हरिचन्दनेऽपि । च पुनः । संश्लिष्टतः आश्लेषतः । अङ्गतः शरीरतः[1] । स्वं भिन्नं पश्यन् आत्मानं भिन्नं पश्यन् ॥ ४४ ॥ अहो इति कोमलवाक्ये । शान्तमनसां निर्ग्रन्थानां मुनीनाम् । स्फुटं व्यक्तम् । तृणं वा रत्नं वा द्वयमपि समं

उस्तरा या कैंची आदि औजारका भी आश्रय नहीं लेते, क्योंकि, उनसे चित्तमें क्षोभ उत्पन्न होता है । इससे वे जटाओंको धारण कर लेते हों सो यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि, ऐसी अवस्थामें उनमें उत्पन्न होनेवाले जूं आदि जन्तुओंकी हिंसा नहीं टाली जा सकती है । इसीलिये अयाचन वृत्तिको धारण करनेवाले साधु जन वैराग्य आदि गुणोंके बढ़ानेके लिये बालोंका लोच किया करते हैं ॥ ४२ ॥ जब तक मुझमें खड़े होकर भोजन करनेकी दृढ़ता है तथा दोनों हाथोंको जोड़नेकी भी दृढ़ता है तब तक मैं भोजन करूंगा, अन्यथा भोजनका परित्याग करके विना भोजनके ही रहूंगा; इस प्रकार जो यति प्रतिज्ञापूर्वक अपने नियममें दृढ़ रहता है उसका चित्त शरीरमें निःस्पृह (निर्ममत्व) हो जाता है । इसीलिये वह सद्बुद्धि साधु समाधिमरणके नियमोंमें आनन्दका अनुभवन करता है । इस प्रकारसे मरकर वह स्वर्गमें स्थित होता है, तथा इसके विपरीत आचरण करनेवाला दूसरा नरकमें स्थित होता है ॥ ४३ ॥ महान् तपका आराधन करनेपर भी जब एक मात्र अपने शरीरमें ही रहनेवाला ममत्वभाव संसारका कारण होता है तब भला प्रत्यक्षमें पृथक् दिखनेवाले अन्य बाह्य पदार्थोंके विषयमें क्या कहा जाय ? अर्थात् उनके मोहसे तो संसारपरिभ्रमण होगा ही । इसीलिये मुनि जन निरन्तर बसूला और हरित चन्दन इन दोनोंमें ही समभावको धारण करते हुए आत्मासे संयोगको प्राप्त हुए शरीरसे भिन्न एक मात्र आत्माको ही आत्मामें धारणकर उसकी भिन्नताका स्वयं अवलोकन करते हैं ॥ ४४ ॥ जिनका मन शान्त हो चुका है ऐसे निर्ग्रन्थ मुनियोंकी तृण और रत्न, शत्रु और उत्तम मित्र, सुख और

१ श संश्लिष्टतः आश्लेषतः शरीतः, श संश्लिष्टतः शरीरतः आश्लेषितः ।

स्तुतिर्वा निन्दा वा मरणमथवा जीवितमथ
स्फुटं निर्ग्रन्थानां द्वयमपि समं शान्तमनसाम् ॥ ४५ ॥

46) वयमिह निजयूथभ्रष्टसारङ्गकल्पाः परपरिचयभीताः क्वापि किंचिच्चरामः ।
विजनमिह वसामो न व्रजामः प्रमादं स्वकृतमनुभवामो यत्र तत्रोपविष्टाः ॥ ४६ ॥

47) कति न कति न वारान्भूपतिर्भूरिभूतिः
कति न कति न वारानत्र जातोऽस्मि कीटः ।
नियतमिति न कस्याप्यस्ति सौख्यं न दुःखं
जगति तरलरूपे किं मुदा किं शुचा वा ॥ ४७ ॥

48) प्रतिक्षणमिदं हृदि स्थितमतिप्रशान्तात्मनो
मुनेर्भवति संवरः परमशुद्धिहेतुर्ध्रुवम् ।

तुल्यम् । अथ । रिपुः शत्रुः । अथ परं मित्रम् । मुनीनां द्वयमपि समम् । सुखं वा दुःखं वा द्वयमपि समं सदृशम् । वा पितृवनं श्मशानभूमिः अथवा सौधं मन्दिरम् । द्वयमपि समम् । मुनीनां स्तुतिर्वा निन्दा वा द्वयमपि समम् । अथवा मरणं अथवा जीवितं द्वयमपि समम् ॥ ४५ ॥ इह संसारे । वयम् । क्वापि स्थाने । किंचित् स्तोकम् । चरामः भुञ्जामहे । किंलक्षणाः वयम् । निजयूथभ्रष्टसारङ्गकल्पाः स्वकीययूथभ्रष्टमृगसदृशाः । पुनः किंलक्षणाः वयम् । परपरिचयभीताः परपदार्थसंगेन भीताः वयम् । विजनं जनरहितं स्थानम् । अधिवसामः । वयं प्रमादं न व्रजामः प्रमादं न गच्छामः । यत्र तत्रोपविष्टाः यस्मिंस्तस्मिन् स्थाने उपविष्टा निषण्णाः स्थिताः । स्वकृतं आत्महितम् । अनुभवामः स्मरामः ॥ ४६ ॥ अत्र संसारे । कति न कति न वारान् भूपतिर्जातोऽस्मि । किंलक्षणो भूपतिः । भूरिभूतिः बहुलविभूतिः । अत्र संसारे । कति न कति न वारान् कीटः जातोऽस्मि । इति हेतोः । नियतं निश्चितम् । कस्यापि सौख्यं नास्ति वा दुःखं न । तरलरूपे जगति चञ्चलरूपे संसारे । मुदा हर्षेण किम् । वा अथवा । शुचा शोकेन किम् । न किमपि ॥ ४७ ॥ इदं पूर्वोक्तं(?) विचारः । प्रतिक्षणं क्षणं क्षणं प्रति समयं समयं प्रति । अतिप्रशान्तात्मनः मुनेः हृदि स्थितम् । ध्रुवं निश्चितम् । संवरः भवति । किंलक्षणः संवरः । परमशुद्धिहेतुः परमशुद्धिकारणम् । संवरेण कृत्वा ।

दुःख, श्मशान और प्रासाद, स्तुति और निन्दा, तथा मरण और जीवन; इन इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंमें स्पष्टतया समबुद्धि हुआ करती है । अभिप्राय यह कि वे तृण एवं शत्रु आदि अनिष्ट पदार्थोंमें द्वेषबुद्धि नहीं रखते तथा उनके विपरीत रत्न एवं मित्र आदि इष्ट पदार्थोंमें रागबुद्धि भी नहीं रखते, किन्तु दोनोंको ही समान समझते हैं ॥ ४५ ॥ मुनि विचार करते हैं कि यहां हम लोग अपने समुदायसे पृथक् हुए मृगके सदृश हैं । अत एव उसीके समान हम भी दूसरोंके परिचयसे भयभीत होकर कहीं भी (किसी श्रावकके यहां) किंचित् भोजन करते हैं, यहां एकान्त स्थानमें निवास करते हैं, प्रमादको नहीं प्राप्त होते हैं, तथा जहां कहीं भी स्थित होकर अपने द्वारा किये गये शुभ अथवा अशुभ कर्मका अनुभव करते हैं ॥ ४६ ॥ मैं कितनी कितनी बार बहुत सम्पत्तिशाली राजा नहीं हुआ हूं ? अर्थात् बहुत बार अत्यन्त विभवशाली राजा भी हुआ हूं । इसके विपरीत कितनी कितनी बार मैं क्षुद्र कीड़ा भी नहीं हुआ हूं ? अर्थात् अनेकों भवोंमें मैं क्षुद्र कीड़ा भी हो चुका हूं । इस परिवर्तनशील संसारमें किसीके भी न तो सुख ही नियत है और न दुःख भी नियत है । ऐसी अवस्थामें हर्ष अथवा विषाद करनेसे क्या लाभ है ? कुछ भी नहीं ॥ विशेषार्थ— अभिप्राय यह है कि यह प्राणी कभी तो महा विभूतिशाली राजा होता है और कभी अनेक कष्टोंका अनुभव करनेवाला क्षुद्र कीटक भी होता है । इससे यह निश्चित है कि कोई भी प्राणी सदा सुखी अथवा दुखी ही नहीं रह सकता । किन्तु कभी वह सुखी भी होता है और कभी दुखी भी । ऐसी अवस्थामें विवेकी जन न तो सुखमें राग करते हैं और न दुखमें द्वेष भी ॥ ४७ ॥ जिसकी आत्मा अत्यन्त शान्त हो चुकी है ऐसे मुनिके हृदयमें सदा ही उपर्युक्त विचार स्थित रहता है । इससे उसके निश्चित ही अतिशय विशुद्धिका

रजः खलु पुरातनं गलति नो नवं ढौकते
ततो ऽतिनिकटं भवेदमृतधाम दुःखोज्झितम् ॥ ४८ ॥

49) प्रबोधो नीरन्ध्रं प्रवहणममन्दं पृथुतपः
सुवायुर्यैः प्राप्तो गुरुगणसहायाः प्रणयिनः ।
कियन्मात्रस्तेषां भवजलधिरेषो ऽस्य च परः
कियद्दूरे पारः स्फुरति महतामुद्यमयुताम् ॥ ४९ ॥

50) अभ्यस्यतान्तरदृशं किमु लोकभक्त्या
मोहं कृशीकुरुत किं वपुषा कृशेन ।
एतद्द्वयं यदि न किं बहुभिर्नियोगैः
क्लेशैश्च किं किमपरैः प्रचुरैस्तपोभिः ॥ ५० ॥

51) जुगुप्सते संसृतिमत्र मायया तितिक्षते प्राप्तपरीषहानपि ।
न चेन्मुनिर्दृष्टकषायनिग्रहाच्चिकित्सति स्वान्तमघप्रशान्तये ॥ ५१ ॥

खलु पुरातनं रजः पापं गलति । नवं पापं न ढौकते न आगच्छति । ततः कारणात् अमृतधाम मोक्षपदम् । अतिनिकटं भवेत् । किंलक्षणं मोक्षम् । दुःखोज्झितं दुःखरहितम् ॥ ४८ ॥ यैः यतिभिः । प्रबोधः प्रवहणं प्राप्तं ज्ञानप्रवहणं[1] प्राप्तम् । किंलक्षणं प्रवहणम् । नीरन्ध्रं छिद्ररहितम् । पुनः किंलक्षणं प्रोहणम् । अमन्दं वेगयुक्तम् । यैः यतिभिः । पृथुतपः विस्तीर्णं तपः सुवायुः प्राप्तः । यैः यतिभिः । गुरुगणसहायाः प्रणयिनः स्नेहकारिणः । तेषां मुनीनाम् । एषः भवजलधिः संसार-समुद्रः कियन्मात्रः । उद्यमयुतां उद्यमयुक्तानां मुनीनाम् । अस्य संसारसमुद्रस्य पारः कियद्दूरे स्फुरति । परः प्रकृष्टः ॥ ४९ ॥ अन्तर्दृशं ज्ञाननेत्रम् । अभ्यस्यताम् । लोकभक्त्या किमु । भो मुनयः मोहं कृशीकुरुत । वपुषा कृशेन किम् । यदि चेत् । एतद्द्वयं न अन्तर्दृष्टिर्मोहं कृशं न । तदा बहुभिः नियोगैः व्रतादिकरणैः किम् । च पुनः । क्लेशैः कायक्लेशैः किम् । अपरैः प्रचुरैः तपोभिः किम् । न किमपि ॥ ५० ॥ अत्र संसारे । चेत् यदि । मुनिः । अघप्रशान्तये पापप्रशान्तये । दुष्टकषाय-

कारणभूत संवर होता है, जिससे कि नियमतः पूर्व कर्मकी निर्जरा होती है और नवीन कर्मका आगम भी नहीं होता । अत एव उक्त मुनिके लिये दुःखोंसे रहित एवं उत्तम सुखका स्थानभूत जो मोक्षपद है वह अत्यन्त निकट हो जाता है ॥ ४८ ॥ जिन मुनियोंने सम्यग्ज्ञानरूपी छिद्ररहित एवं शीघ्रगामी जहाज प्राप्त करलिया है, जिन्होंने विपुल तपस्वरूप उत्तम वायुको भी प्राप्त कर लिया है, तथा स्नेही गुरुजन जिनके सहायक हैं; ऐसे उद्यमशील उन महामुनियोंके लिये यह संसार-समुद्र कितने प्रमाण हैं ? अर्थात् वह उन्हें क्षुद्र ही प्रतीत होता है । तथा उनके लिये इसका दूसरा पार कितने दूर है ? अर्थात् कुछ भी दूर नहीं है ॥ विशेषार्थ — जिस प्रकार अनुभवी चालकोंसे संचालित, निश्छिद्र, शीघ्रगामी एवं अनुकूल वायुसे संयुक्त जहाजसे गमन करनेवाले मनुष्योंके लिये अत्यन्त गम्भीर एवं अपार भी समुद्र क्षुद्र ही प्रतीत होता है उसी प्रकार मोक्षमार्गमें प्रयत्नशील जिन महामुनियोंने निर्दोष उत्कृष्ट सम्यग्ज्ञानके साथ विपुल तपको भी प्राप्त करलिया है तथा स्नेही गुरुजन जिनके मार्गदर्शक हैं उनके लिये इस संसार-समुद्रसे पार होना कुछ भी कठिन नहीं है ॥ ४९ ॥ हे मुनिजन! सम्यग्ज्ञानरूप अभ्यन्तर नेत्रका अभ्यास कीजिये, आपको लोकभक्तिसे कुछ भी प्रयोजन नहीं है । इसके अतिरिक्त आप मोहको कृश करें, केवल शरीरके कृश करनेसे कुछ भी लाभ नहीं है । कारण कि यदि उक्त दोनों नहीं हैं तो फिर उनके विना बहुत-से यम-नियमोंसे, कायक्लेशोंसे और दूसरे प्रचुर तपोंसे कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता है ॥ ५० ॥ यदि मुनि पापकी शान्तिके लिये दुष्ट कषायोंका निग्रह करके अपने मनका उपचार नहीं करता है, अर्थात् उसे निर्मल नहीं करता है, तो यह

---

१ अ श ज्ञानप्रोहणं । २ अ श पृथुतपः सुवायुः ।

52) हिंसा प्राणिषु कल्मषं भवति सा प्रारम्भतः सोऽर्थतः
तस्मादेव भयादयोऽपि नितरां दीर्घा ततः संसृतिः ।
तत्रासातमशेषमर्थत इदं मत्वेति यस्त्यक्तवान्
मुक्त्यर्थी पुनरर्थमाश्रितवता तेनाहतः सत्पथः ॥ ५२ ॥

53) दुर्ध्यानार्थमवद्यकारणमहो निर्ग्रन्थताहानये
शय्याहेतु तृणाद्यपि प्रशमिनां लज्जाकरं स्वीकृतम् ।
यत्तत्किं न गृहस्थयोग्यमपरं स्वर्णादिकं सांप्रतं
निर्ग्रन्थेष्वपि चेत्तदस्ति नितरां प्रायः प्रविष्टः कलिः ॥ ५३ ॥

54) कादाचित्को बन्धः क्रोधादेः कर्मणः सदा संगात् ।
नातः क्वापि कदाचित्परिग्रहग्रहवतां सिद्धिः ॥ ५४ ॥

निग्रहात् । स्वान्तं मनः । न चिकित्सति निर्मलं न करोति । स मुनिः । मायया कृत्वा । संसृतिं संसारं । जुगुप्सते निन्द्यति[1] । स मुनिः प्राप्तपरीषहानपि क्षुत्पिपासादिपरीषहान् । मायया तितिक्षते सहते । तदा अघप्रशान्तये कथं भवति ॥ ५१ ॥ यत्र प्राणिषु हिंसा वर्तते तत्र कल्मषं पापं भवति । सा हिंसा प्रारम्भतो भवति । स आरम्भः अर्थतः द्रव्यतः भवति । तस्माद्द्रव्यात् नितरामतिशयेन भयादयोऽपि भवन्ति । ततः भयात् । दीर्घा संसृतिः दीर्घसंसारः भवति । तत्र संसारे । अशेषं परिपूर्णम् । असातं दुःखं भवति । मुक्त्यर्थी मुक्तिवाञ्छकः[2] मुनिः इति इदं पूर्वोक्तं पापम् । अर्थतः द्रव्यतः । मत्वा ज्ञात्वा । द्रव्यं त्यक्तवान् । पुनः तेन अर्थमाश्रितवता द्रव्यं आश्रितवता मुनिना । सत्पथः आहतः ॥ ५२ ॥ अहो इति खेदे । यद्यस्मात्कारणात् । प्रशमिनां मुनीनाम् । शय्याहेतुः तृणाद्यपि स्वीकृतमङ्गीकृतं दुर्ध्यानार्थं भवति । पुनः अवद्यकारणं भवति । पुनः निर्ग्रन्थताहानये भवति । पुनः तृणादि अङ्गीकृतं लज्जाकरं भवति । तत्तस्मात्कारणात् । अपरं गृहस्थयोग्यं स्वर्णादिकं किं न । अपि तु गृहपदं स्वर्णादियोग्यं वर्तते । चेद्यदि तद् द्रव्यम् । निर्ग्रन्थेषु मुनिषु सांप्रतम् । अस्ति वर्तते । तदा नितरामतिशयेन । प्रायः बाहुल्येन । कलिः प्रविष्टः ॥ ५३ ॥ क्रोधादेः सकाशात् । कोऽपि बन्धः । कदाचिद्भवति । संगात्परिग्रहात् । सदा सर्वदा बन्धः भवति । अतः कारणात् । क्वापि कस्मिन्स्थाने । कदाचित् कस्मिन्समये । परिग्रहग्रहवतां परिग्रह एव ग्रहः राक्षसः वर्तते[3] येषां ते परिग्रहग्रहवन्तः तेषां परिग्रह-

समझना चाहिये कि वह जो संसारसे घृणा करता है तथा परीषहोंको भी सहता है वह केवल मायाचारसे ही ऐसा करता है, न कि अन्तरंग प्रेरणासे ॥ ५१ ॥ प्राणियोंकी हिंसा पापको उत्पन्न करती है, वह हिंसा प्रकृष्ट आरम्भसे होती है, वह आरम्भ धनके निमित्तसे होता है, उस धनसे ही भय आदिक उत्पन्न होते हैं, तथा उक्त भय आदिसे संसार अतिशय लंबा होता है । इस प्रकार इस समस्त दुखका कारण धन ही है, ऐसा समझकर जिस मोक्षाभिलाषी मुनिने धनका परित्याग कर दिया है वह यदि फिरसे उक्त धनका सहारा लेता है तो समझना चाहिये कि उसने मोक्षमार्गको नष्ट कर दिया है ॥ ५२ ॥ जब कि शय्याके निमित्त स्वीकार किये गये लज्जाजनक तृण (प्याल) आदि भी मुनियोंके लिये आर्त-रौद्रस्वरूप दुर्ध्यान एवं पापके कारण होकर उनकी निर्ग्रन्थता (निष्परिग्रहता) को नष्ट करते हैं तब फिर गृहस्थके योग्य अन्य सुवर्ण आदि क्या उस निर्ग्रन्थताके घातक न होंगे ? अवश्य होंगे । फिर यदि वर्तमानमें निर्ग्रन्थ कहे जानेवाले मुनियोंके भी उपर्युक्त गृहस्थयोग्य सुवर्ण आदि परिग्रह रहता है तो समझना चाहिये प्रायः कलिकालका प्रवेश हो चुका है ॥ ५३ ॥ क्रोधादि कषायोंके निमित्तसे जो बन्ध होता है वह कादाचित्क होता है, अर्थात् कभी होता है और कभी नहीं भी होता है । किन्तु परिग्रहके निमित्तसे जो बन्ध होता है वह सदा काल होता है । इसलिये जो साधुजन परिग्रहरूपी ग्रहसे पीड़ित हैं उनको कहींपर और कभी

१ अ श संसारं जुगुप्सते संसारं निन्द्यति । २ क मुक्तिवाञ्छिकः । ३ अ श विद्यते ।

55) मोक्षे ऽपि मोहादभिलाषदोषो विशेषतो मोक्षनिषेधकारी ।
यतस्ततो ऽध्यात्मरतो मुमुक्षुर्भवेत् किमन्यत्र कृताभिलाषः ॥ ५५ ॥

56) परिग्रहवतां शिवं यदि तदानलः शीतलो
यदीन्द्रियसुखं सुखं तदिह कालकूटः सुधा ।
स्थिरा[1] यदि तनुस्तदा स्थिरतरं तडिद्म्बरं[2]
भवे ऽत्र रमणीयता यदि तदिन्द्रजाले ऽपि च ॥ ५६ ॥

57) स्मरमपि हृदि येषां ध्यानवह्निप्रदीप्ते
सकलभुवनमल्लं दह्यमानं विलोक्य ।
कृतभिय इव नष्टास्ते कषाया न तस्मिन्
पुनरपि हि समीयुः साधवस्ते जयन्ति ॥ ५७ ॥

58) अनर्घ्यरत्नत्रयसंपदो ऽपि निर्ग्रन्थतायाः पदमद्वितीयम् ।
अपि प्रशान्ताः स्मरवैरिवध्वा वैधव्यदास्ते गुरवो नमस्याः ॥ ५८ ॥

ग्रहवताम् । कदाचिन्न सिद्धिः परिग्रहपिशाचपीडितानां मुनीनां सिद्धिर्न ॥ ५४ ॥ यतः यस्मात्कारणात् । मोक्षेऽपि मोहात् अभिलाषदोषः विशेषतः मोक्षनिषेधकारी भवति । ततः कारणात् अध्यात्मरतः मुमुक्षुः मुनिः अन्यत्र वस्तुनि कृताभिलाषः किं भवेत् । अपि तु अन्यत्र वस्तुनि कृताभिलाषः न भवेत् ॥ ५५ ॥ यदि चेत् परिग्रहवतां जीवानां शिवं भवेत् तदानलः शीतलो भवति । यदि चेत् । इन्द्रियसुखं सुखं भवेत् तदा इह जगति विषये कालकूटः विषः सुधा अमृतं भवेत् । यदि चेत् । इयं तनुः स्थिरा भवेत् तदा तडित् विद्युद्युक्तम् अम्बरं स्थिरतरं भवति । यदि अत्र भवे संसारे रमणीयता भवेत् तदा इन्द्रजालेऽपि रमणीयता भवति ॥ ५६ ॥ हि यतः । ते साधवो जयन्ति । येषां मुनीश्वराणाम् । ध्यानवह्निप्रदीप्ते ध्यानवह्निप्रज्वलिते हृदि । स्मरं कामम् । दह्यमानम् । विलोक्य दृष्ट्वा । ते कषाया नष्टाः । कृतभियः इव कृता भीः भयं यैः ते कृतभियः । किंलक्षणं कामम् । सकलभुवनमल्लम् । ते कषायाः तथा नष्टाः यथा पुनरपि तस्मिन् मुनीनां हृदि । न समीयुः न प्राप्ताः । ते साधवो जयन्ति ॥ ५७ ॥ ते गुरवः । नमस्याः नमस्करणीयाः । ये अनर्घ्यरत्नत्रयसंपदोऽपि निर्ग्रन्थतायाः अद्वितीयं पदं प्राप्ताः । प्रशान्ता

भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती ॥ ५४ ॥ जब अज्ञानतासे मोक्षके विषयमें भी की जानेवाली अभिलाषा दोषरूप होकर विशेष रूपसे मोक्षकी निषेधक होती है तब क्या अपनी शुद्ध आत्मामें लीन हुआ मोक्षका अभिलाषी साधु स्त्री-पुत्र-मित्रादिरूप अन्य बाह्य वस्तुओंकी अभिलाषा करेगा? अर्थात् कभी नहीं करेगा ॥ ५५ ॥ यदि परिग्रहयुक्त जीवोंका कल्याण हो सकता है तो अग्नि भी शीतल हो सकती है, यदि इन्द्रियजन्य सुख वास्तविक सुख हो सकता है तो तीव्र विष भी अमृत बन सकता है, यदि शरीर स्थिर रह सकता है तो आकाशमें उदित होनेवाली बिजली उससे भी अधिक स्थिर हो सकती है, तथा इस संसारमें यदि रमणीयता हो सकती है तो वह इन्द्रजालमें भी हो सकती है ॥ विशेषार्थ—इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार अग्निका शीतल होना असम्भव है उसी प्रकार परिग्रहसे कल्याण होना भी असम्भव ही है। इसी प्रकार जैसे विष कभी अमृत नहीं हो सकता, आकाशमें चंचल बिजली कभी स्थिर नहीं रह सकती, तथा इन्द्रजाल कभी रमणीय नहीं हो सकता है; उसी प्रकार क्रमशः इन्द्रियसुख कभी सुख नहीं हो सकता, शरीर कभी स्थिर नहीं रह सकता, तथा यह संसार कभी रमणीय नहीं हो सकता है ॥ ५६ ॥ जिन मुनियोंके ध्यानरूपी अग्निसे प्रज्वलित हृदयमें त्रिलोकविजयी कामदेवको भी जलता हुआ देखकर मानो अतिशय भयभीत हुई कषायें इस प्रकारसे नष्ट हो गईं कि उसमें वे फिरसे प्रविष्ट नहीं हो सकीं, वे मुनि जयवन्त होते हैं ॥ ५७ ॥ जो गुरु अमूल्य रत्नत्रयस्वरूप सम्पत्तिसे सम्पन्न होकर भी निर्ग्रन्थताके अनुपम पदको प्राप्त हुए हैं, तथा जो अत्यन्त शान्त होकर भी कामदेवरूपशत्रुकी पत्नीको

१ क स्थिरो । २ क श तडिदम्बरम् ।

59) ये स्वाचारमपारसौख्यसुतरोर्बीजं परं पञ्चधा
सद्बोधाः स्वयमाचरन्ति च परानाचारयन्त्येव च।
ग्रन्थग्रन्थिविमुक्तमुक्तिपदवीं प्राप्ताश्च यैः प्रापिताः
ते रत्नत्रयधारिणः शिवसुखं कुर्वन्तु नः सूरयः ॥ ५९ ॥

60) भ्रान्तिप्रदेषु बहुवर्त्मसु जन्मकक्षे पन्थानमेकममृतस्य परं नयन्ति।
ये लोकमुन्नतधियः प्रणमामि तेभ्यः तेनाप्यहं जिगमिषुर्गुरुनायकेभ्यः ॥ ६० ॥

61) शिष्याणामपहाय मोहपटलं कालेन दीर्घेण य-
ज्जातं स्यात्पदलाञ्छितोज्ज्वलवचोदिव्याञ्जनेन स्फुटम्।
ये कुर्वन्ति दृशं परामतितरां सर्वावलोकक्षमां
लोके कारणमन्तरेण भिषजास्ते पान्तु नो ऽध्यापकाः ॥ ६१ ॥

अपि स्मरवैरिवध्वाः वैधव्यं रण्डात्वं ददतीति[1] वैधव्यदाः। ते गुरवः जयन्ति ॥ ५८ ॥ ते सूरयः। नः अस्माकं। शिवसुखं कुर्वन्तु। ये मुनयः पञ्चधा। स्वाचारं स्वकीयमाचारम्। स्वयम् आचरन्ति। किंलक्षणमाचारम्। अपारसौख्यसुतरोर्बीजम्। परम् उत्कृष्टम्। च पुनः। परान् शिष्यादीन् आचारयन्ति। ये ग्रन्थग्रन्थिविमुक्तमुक्तिपदवीं प्राप्ताः, ग्रन्थस्य या ग्रन्थिः ग्रन्थग्रन्थिः तेन च तया विमुक्ता या मुक्तिपदवी तां विमुक्तमुक्तपदवीं प्राप्ताः। यैः मुनीश्वरैः। अन्ये मुक्तिपदवीं प्रापिताः। पुनः किंलक्षणाः सूरयः। रत्नत्रयधारिणः। एवंभूताः मुनयः नः अस्माकं शिवसुखं कुर्वन्तु ॥ ५९ ॥ ये गुरवः। जन्मकक्षे संसारवने। भ्रान्तिप्रदेषु बहुवर्त्मसु बहुमिथ्यात्वमार्गेषु सत्सु। लोकम्। अमृतस्य मोक्षस्य। एकं पन्थानं मार्गम्। नयन्ति। किंलक्षणाः गुरवः। उन्नतधियः। तेभ्य आचार्येभ्यः प्रणमामि। किंलक्षणेभ्यः आचार्येभ्यः। गुरुनायकेभ्यः। तेन पथा अहमपि जिगमिषुः यातुमिच्छुः ॥ ६० ॥ ते अध्यापकाः। नः अस्मान्। पान्तु रक्षन्तु। ये शिष्याणां दृशं नेत्रम्। अतितराम्। परां श्रेष्ठाम्। कुर्वन्ति। किं कृत्वा। मोहपटलम् अपहाय स्फेटयित्वा। केन। स्यात्पदलाञ्छितोज्ज्वलवचोदिव्याञ्जनेन। किंलक्षणं मोहपटलम्। यद्दीर्घेण कालेन जातम् उत्पन्नम्। किंलक्षणां दृशम्। सर्वावलोकक्षमां सर्वपदार्थावलोकनक्षमाम्। पुनः ये अध्यापकाः। कारणमन्तरेण

वैधव्य प्रदान करनेवाले हैं, वे गुरु नमस्कार करने योग्य हैं ॥ विशेषार्थ— जो अमूल्य तीन रत्नोंसे सम्पन्न होगा वह निर्ग्रन्थ (दरिद्र) नहीं हो सकता, इसी प्रकार जो प्रशनत होगा – क्रोधादि विकारोंसे रहित होगा—वह शत्रुपत्नीको विधवा नहीं बना सकता है। इस प्रकार यहां विरोधाभासको प्रगट करके उसका परिहार करते हुए ग्रन्थकार यह बतलाते हैं कि जो गुरु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप अनुपम रत्नत्रयके धारक होकर निर्ग्रन्थ—मूर्छारहित होते हुए दिगम्बरत्व-- अवस्थाको प्राप्त हुए हैं; तथा जो अशान्तिके कारणभूत क्रोधादि कषायोंको नष्ट करके कामवासनासे रहित हो चुके हैं उन गुरुओंको नमस्कार करना चाहिये ॥ ५८ ॥ जो विवेकी आचार्य अपरिमित सुखरूपी उत्तम वृक्षके बीजभूत अपने पांच प्रकारके (ज्ञान, दर्शन, तप, वीर्य और चारित्र) उत्कृष्ट आचारका स्वयं पालन करते हैं तथा अन्य शिष्यादिकोंको भी पालन कराते हैं, जो परिग्रहरूपी गांठसे रहित ऐसे मोक्षमार्गको स्वयं प्राप्त हो चुके हैं तथा जिन्होंने अन्य आत्महितैषियोंको भी उक्त मोक्षमार्ग प्राप्त कराया है, वे रत्नत्रयके धारक आचार्य परमेष्ठी हमको मोक्षसुख प्रदान करें ॥ ५९ ॥ जो उन्नत बुद्धिके धारक आचार्य इस जन्म-मरणस्वरूप संसाररूपी वनमें भ्रान्तिको उत्पन्न करनेवाले अनेक मार्गोंके होनेपर भी दूसरे जनोंको केवल मोक्षके मार्गपर ही ले जाते हैं उन अन्य मुनियोंको सन्मार्गपर ले जानेवाले आचार्योंको मैं भी उसी मार्गसे जानेका इच्छुक होकर नमस्कार करता हूं ॥ ६० ॥ जो लोकमें अकारण (निस्वार्थ) वैद्यके समान होते हुए शिष्योंके चिरकालसे उत्पन्न हुए अज्ञानसमूहको हटाकर 'स्यात्' पदसे चिह्नित अर्थात् अनेकान्तमय निर्मल वचनरूपी दिव्य अंजनसे उनकी अत्यन्त श्रेष्ठ दृष्टिको स्पष्टतया समस्त पदार्थोंके देखनेमें समर्थ

१ क ददतीति श ददति ते।

62) उन्मुच्यालयबन्धनादपि दृढात्काये ऽपि वीतस्पृहा-
श्चित्ते मोहविकल्पजालमपि यद्दुर्भेद्यमन्तस्तमः ।
भेदायास्य हि साधयन्ति तदहो ज्योतिर्जितार्कप्रभं
ये सद्बोधमयं भवन्तु भवतां ते साधवः श्रेयसे ॥ ६२ ॥

63) वज्रे पतत्यपि भयद्रुतविश्वलोकमुक्ताध्वनि प्रशमिनो न चलन्ति योगात् ।
बोधप्रदीपहतमोहमहान्धकाराः सम्यग्दृशः किमुत शेषपरीषहेषु ॥ ६३ ॥

64) प्रोद्यत्तिग्मकरोग्रतेजसि लसच्चण्डानिलोद्यद्दिशि
स्फारीभूतसुतप्तभूमिरजसि प्रक्षीणनद्यम्भसि ।
ग्रीष्मे ये गुरुमेदिनीध्रशिरसि ज्योतिर्निधायोरसि ।
ध्वान्तध्वंसकरं वसन्ति मुनयस्ते सन्तु नः श्रेयसे ॥ ६४ ॥

कारणं विना । भिषजाः वैद्याः ते नः अस्मान् पान्तु ॥ ६१ ॥ अहो इति आश्चर्ये[1] । ते साधवः । भवताम् । श्रेयसे कल्याणाय । भवन्तु । ये साधवः । दृढात् । आलयबन्धनात् गृहबन्धनात् । उन्मुच्य भिन्नीभूय । कायेऽपि शरीरेऽपि । वीतस्पृहाः जाताः निःस्पृहा जाताः । यद्दुर्भेद्यं दुःखेन भेद्यम् इति दुर्भेद्यं मोहविकल्पजालम् अन्तस्तमः । चित्ते हृदि । वर्तते । ये मुनयः । अस्य अन्तस्तमसः । भेदाय स्फेटनाय । ज्योतिः साधयन्ति । किंलक्षणं ज्योतिः । जितार्कप्रभम् । पुनः किंलक्षणं ज्योतिः । सद्बोधमयं ज्ञानमयम् । ते साधवः । सुखाय मोक्षाय भवन्तु ॥ ६२ ॥ प्रशमिनः मुनयः । योगात् न चलन्ति । क सति । वज्रे पतत्यपि । पुनः भयद्रुतविश्वलोकमुक्ताध्वनि भयेन द्रुताः पीडिताः ये विश्वलोकाः तैः भयद्रुतविश्वलोकैः मुक्तः अध्वा मार्गः यत्र तस्मिन् भयद्रुतविश्वलोकमुक्ताध्वनि सति । प्रशमिनः योगान्न चलन्ति । उत अहो । शेषपरीषहेषु किं का कथा । किंलक्षणा मुनयः । बोधप्रदीपहतमोहमहान्धकाराः ज्ञानप्रदीपेन स्फेटितमिथ्यान्धकाराः । पुनः किंलक्षणा मुनयः । सम्यग्दृशः ॥ ६३ ॥ ते मुनयः । नः अस्माकम् । श्रेयसे । सन्तु भवन्तु । ये मुनयः । ग्रीष्मे । गुरुमेदिनीध्रशिरसि गरिष्ठपर्वतमस्तके । वसन्ति तिष्ठन्ति । ध्वान्तध्वंसकरं मिथ्यात्वविनाशकरं ज्योतिः उरसि निधाय संस्थाप्य । किंलक्षणे ग्रीष्मे । प्रोद्यत्तिग्मकरोग्रतेजसि तीक्ष्णसूर्यकरैः उग्रतेजसि । पुनः किंलक्षणे । लसच्चण्डानिलोद्यद्दिशि प्रचण्डपवनेन पूरितदिशि । पुनः किंलक्षणे ग्रीष्मे । स्फारीभूतसुतप्तभूमिरजसि ।

कर देते हैं वे उपाध्याय परमेष्ठी हमारी रक्षा करें ॥ ६१ ॥ जो मजबूत गृहरूप बन्धनसे छुटकारा पाकर अपने शरीरके विषयमें भी निस्पृह (ममत्वरहित) हो चुके हैं तथा जो मनमें स्थित दुर्भेद्य (कठिनतासे नष्ट किया जानेवाला) मोहजनित विकल्पसमूहरूपी अभ्यन्तर अन्धकारको नष्ट करनेके लिये सूर्यकी प्रभाको भी जीतनेवाली ऐसी उत्तम ज्ञानरूपी ज्योतिके सिद्ध करनेमें तत्पर हैं वे साधुजन आपके कल्याणके लिये होवें ॥ ६२ ॥ भयसे शीघ्रतापूर्वक भागनेवाले समस्त जनसमुदायके द्वारा जिसका मार्ग छोड़ दिया जाता है ऐसे वज्रके गिरनेपर भी जो मुनिजन समाधिसे विचलित नहीं होते हैं वे ज्ञानरूपी दीपकके द्वारा अज्ञानरूपी घोर अन्धकारको नष्ट करनेवाले सम्यग्दृष्टि मुनिजन क्या शेष परीषहोंके आनेपर विचलित हो सकते हैं ? कभी नहीं ॥ ६३ ॥ जो ग्रीष्म काल उदित होनेवाले सूर्यकी किरणोंके तीक्ष्ण तेजसे संयुक्त होता है, जिसमें तीक्ष्ण पवन (लू) से दिशायें परिपूर्ण हो जाती हैं, जिसमें अत्यन्त सन्तप्त हुई पृथिवीकी धूलि अधिक मात्रामें उत्पन्न होती है, तथा जिसमें नदियोंका जल सूख जाता है; उस ग्रीष्म कालमें जो मुनि जन हृदयमें अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेवाली ज्ञानज्योतिको धारण करके महापर्वतके शिखरपर

१ अ श अहो इति खेदे ।

65) **ते वः पान्तु मुमुक्षवः कृतरवैरब्दैरतिश्यामलैः**
शश्वद्वारिवमद्भिरब्धिविषयक्षारत्वदोषादिव।
काले मज्जदिले पतद्गिरिकुले धावद्धुनीसंकुले
झञ्झावातविसंस्थुले तरुतले तिष्ठन्ति ये साधवः॥ ६५ ॥

66) **म्लायत्कोकनदे गलत्कपिमदे भ्रश्यद्द्रुमौघच्छदे**
हर्षद्रोमदरिद्रके हिमऋतावत्यन्तदुःखप्रदे।
ये तिष्ठन्ति चतुष्पथे पृथुतपःसौधस्थिताः साधवः
ध्यानोष्मप्रहतोग्रशैत्यविधुरास्ते मे विदध्युः श्रियम्॥ ६६ ॥

67) **कालत्रये बहिरवस्थितिजातवर्षाशीतातपप्रमुखसंघटितोग्रदुःखे।**
आत्मप्रबोधविकले सकलोऽपि कायक्लेशो वृथा वृतिरिवोज्झितशालिवप्रे॥ ६७ ॥

पुनः किंलक्षणे ग्रीष्मे। प्रक्षीणनद्यम्भसि स्तोकनदीजले। एवंभूते ग्रीष्मे ये पर्वते तिष्ठन्ति ते मुनयः जयन्ति॥ ६४॥ ते साधवः। वः युष्मान्। पान्तु रक्षन्तु। ये मुमुक्षवः मुनयः। वर्षाकाले तरुतले तिष्ठन्ति। किंलक्षणे वर्षाकाले। अब्दैः मेघैः। मज्जदिले मज्जन्ती इला भूमिर्यत्र तस्मिन् मज्जदिले। किंलक्षणैः मेघैः। कृतरवैः शब्दयुक्तैः। पुनः किंलक्षणैः अब्दैः। अतिश्यामलैः मेघैः। किं कुर्वद्भिरिव। अब्धिक्षारत्वदोषात्समुद्रसंबन्धिक्षारत्वदोषात्। शश्वद्वारिवमद्भिरिव निरन्तरजलवर्षणशीलैः। पुनः किंलक्षणे वर्षाकाले। पतद्गिरिकुले पतन्ति गिरिकुलानि यत्र तस्मिन् पतद्गिरिकुले। पुनः किंलक्षणे वर्षाकाले। धावद्धुनीसंकुले वेगयुक्तनदीसंकुले। पुनः[2] किंलक्षणे वर्षाकाले। झञ्झावातविसंस्थुले भयानकवातयुक्ते। एवंविधे वर्षाकाले[3] तरुतले मुनयः तिष्ठन्ति॥ ६५॥ ते साधवः। मे मम। श्रियम्। विदध्युः कुर्युः। ये साधवः। हिमऋतौ चतुष्पथे तिष्ठन्ति। किंलक्षणे हिमऋतौ। म्लायत्कोकनदे कमले। पुनः किंलक्षणे हिमऋतौ। गलत्कपिमदे विगलितवानरमदे। पुनः किंलक्षणे हिमऋतौ। भ्रश्यद्द्रुमौघच्छदे पतितवृक्षसमूहपत्रे[4]। पुनः किंलक्षणे हिमऋतौ। हर्षद्रोमदरिद्रके कम्पितरोमदरिद्रके। पुनः किंलक्षणे हिमऋतौ अत्यन्तदुःखप्रदे। एवंभूते हिमऋतौ मुनयश्चतुष्पथे तिष्ठन्ति। किंलक्षणा मुनयः। पृथुतपःसौधस्थिताः तपोमन्दिरे स्थिताः। पुनः किंलक्षणाः। ध्यानोष्मप्रहतोग्रशैत्यविधुराः ध्यानाग्निना प्रहतः स्फेटितः उग्रः शैत्यविधुर-शीतकष्टो यैः ते जयन्ति॥ ६६॥ आत्मप्रबोधविकले पुंसि पुरुषे। सकलोऽपि कायक्लेशः। वृथा निष्फलम्। किंलक्षणे। आत्मप्रबोधविकले। कालत्रये शीतोष्मवर्षाकाले। बहिरवस्थितिजातवर्षाशीतातपप्रमुखसंघटितोग्रदुःखे कालत्रये[5] वनतिष्ठनेन (?) जातः उत्पन्नः वर्षाशीतातपपरीषहप्रमुखेन संघटितम् उग्रदुःखं यत्र

निवास करते हैं वे मुनिजन हमारे कल्याणके लिये होवें ॥६४॥ जिस वर्षा कालमें गर्जना करनेवाले, अतिशय काले, तथा समुद्रविषयक क्षारत्व (खारापन) के दोषसे ही मानो नित्य ही पानीको उगलनेवाले (गिरानेवाले) ऐसे मेघोंके द्वारा पृथिवी जलमें डूबने लगती है; जिसमें पानीके प्रबल प्रवाहसे पर्वतोंका समूह गिरने लगता है, जो वेगसे बहनेवाली नदियोंसे व्याप्त होता है, तथा जो झंझावातसे (जलमिश्रित तीक्ष्ण वायुसे) संयुक्त होता है, ऐसे उस वर्षा कालमें जो मुमुक्षु साधु वृक्षके नीचे स्थित रहते हैं वे आप लोगोंकी रक्षा करें ॥६५॥ जिस ऋतुमें कमल मुरझाने लगते हैं, बन्दरोंका अभिमान नष्ट हो जाता है, वृक्षसमूहसे पत्ते नग्न होने लगते हैं, तथा शीतसे दरिद्र जनके रोम कम्पायमान होते हैं; उस अत्यन्त दुखको देनेवाली हिम (शिशिर) ऋतुमें विशाल तपरूपी प्रासादमें स्थित तथा ध्यानरूपी उष्णतासे नष्ट किये गये तीक्ष्ण शैत्यसे रहित जो साधु चतुष्पथमें स्थित रहते हैं वे साधु मेरी लक्ष्मीको करें ॥६६॥ साधु जिन तीन कालोंमें घर छोड़कर बाहिर रहनेसे उत्पन्न हुए वर्षा, शैत्य और धूप आदिके तीव्र दुखको सहता है वह यदि उन तीन कालोंमें अध्यात्म ज्ञानसे रहित होता है तो उसका यह सब ही कायक्लेश इस प्रकार व्यर्थ होता है जिस प्रकार कि

१ **अ ब श** वर्ष। २ **क** धावद्धुनीसंकुले पुनः। ३ **अ श** एवंविधे काले। ४ **श** वृक्षपत्रसमूहे। ५ **अ श** स्थित। ६ **अ क** कालत्रय।

68) संप्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलोक्यचूडामणिः
तद्वाचः परमासते ऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्द्योतिकाः ।
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तासां समालम्बनं
तत्पूजा जिनवाचि पूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः ॥ ६८ ॥

69) स्पृष्टा यत्र मही तदङ्घ्रिकमलैस्तत्रैति सत्तीर्थतां
तेभ्यस्ते ऽपि सुराः कृताञ्जलिपुटा नित्यं नमस्कुर्वते ।
तन्नामस्मृतिमात्रतो ऽपि जनता निष्कल्मषा जायते
ये जैना यतयश्चिदात्मनि परं स्नेहं समातन्वते ॥ ६९ ॥

70) सम्यग्दर्शनबोधवृत्तनिचितः शान्तः शिवैषी मुनि-
र्मन्दैः स्यादवधीरितो ऽपि विशदः साम्यं यदालम्बते ।

तस्मिन् संघटितोग्रदुःखे । तत्रोत्प्रेक्षते । कस्मिन् केव । उज्झितशालिवप्रे धान्यरहितक्षेत्रे वृतिरिव निष्फलम् ॥ ६७ ॥ किल इति सत्ये । अत्र भरतक्षेत्रे । कलौ पञ्चमकाले । संप्रति इदानीम् । केवली न अस्ति । किंलक्षणः केवली । त्रैलोक्यचूडामणिः । परं केवलम् । तद्वाचः तस्य जिनस्य वाचः । आसते तिष्ठन्ति । किंलक्षणा वाचः । जगद्द्योतिकाः । तासां वाणीनां समालम्बनम् । सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवराः तिष्ठन्ति । तेषां यतीनां पूजा तत्पूजा कृता जिनवाचि पूजनं कृतम् । अतः जिनवाचि पूजनात् साक्षाज्जिनः पूजितः ॥ ६८ ॥ ये जैना यतयः । परम् उत्कृष्टम् । चिदात्मनि विषये स्नेहं समातन्वते आत्मनि प्रीतिं विस्तारयन्ति । तदङ्घ्रिकमलैः तेषां यतीनां चरणकमलैः कृत्वा । यत्र प्रदेशे । या मही पृथ्वी । स्पृष्टा स्पर्शिता भवति । तत्र प्रदेशे । सा मही । सत्तीर्थताम् एति गच्छति । तेभ्यः मुनिभ्यः । तेऽपि कृताञ्जलिपुटाः सुराः । नित्यं सदैव । नमः नमस्कारं कुर्वते । तन्नामस्मृतिमात्रतोऽपि तेषां मुनीनां नामस्मरणमात्रतः । जनता जनसमूहः[2] । निष्कल्मषा जायते पापरहिता जायते ॥ ६९ ॥ मन्दैः मूर्खैः । अवधीरितोऽपि अपमानितोऽपि । यत्साम्यम् उपशमम् आलम्बते तदा विशदः स्यात् भवेत् । किंलक्षणो मुनिः । सम्यग्दर्शनबोधवृत्तिनिचितः[1] । पुनः शान्तः । पुनः शिवैषी मोक्षाभिलाषी । तैः मन्दैः दुष्टैः । आत्मा विहतः । अत्र जगति । तेषाम् अकल्याणिना

धान्याङ्कुरोंसे रहित खेतमें बांसों या कांटों आदिसे बाढ़का निर्माण करना ॥ ६७ ॥ इस समय इस कलिकाल (पंचम काल) में भरतक्षेत्रके भीतर यद्यपि तीनों लोकोंमें श्रेष्ठभूत केवली भगवान् विराजमान नहीं हैं फिर भी लोकको प्रकाशित करनेवाले उनके वचन तो यहां विद्यमान हैं ही और उन वचनोंके आश्रयभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्ररूप उत्तम रत्नत्रयके धारी श्रेष्ठ मुनिराज हैं । इसीलिये उक्त मुनियोंकी पूजा वास्तवमें जिनवचनोंकी ही पूजा है, और इससे प्रत्यक्षमें जिन भगवान्की ही पूजा की गई है ऐसा समझना चाहिये ॥ विशेषार्थ—इस पंचम कालमें भरत और ऐरावत क्षेत्रोंके भीतर साक्षात् केवली नहीं पाये जाते हैं, फिर भी जनोंके अज्ञानान्धकारको हरनेवाले उनके वचन (जिनागम) परम्परासे प्राप्त हैं ही । चूंकि उन वचनोंके ज्ञाता श्रेष्ठ मुनिजन ही हैं अत एव वे पूजनीय हैं । इस प्रकारसे की गई उक्त मुनियोंकी पूजासे जिनागमकी पूजा और इससे साक्षात् जिन भगवान्की ही की गई पूजा समझना चाहिये ॥६८॥ जो जैन मुनि ज्ञान-दर्शन स्वरूप चैतन्यमय आत्मामें उत्कृष्ट स्नेहको करते हैं उनके चरण-कमलोंके द्वारा जहां पृथिवीका स्पर्श किया जाता है वहांकी वह पृथिवी उत्तम तीर्थ बन जाती है, उनके लिये दोनों हाथोंको जोड़कर वे देव भी नित्य नमस्कार करते हैं, तथा उनके नामके स्मरणमात्रसे ही जनसमूह पापसे रहित हो जाता है ॥ ६९ ॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्रसे सम्पन्न, शान्त और आत्मकल्याण (मोक्ष) का अभिलाषी मुनि अज्ञानी जनोंके द्वारा तिरस्कृत होकर भी चूंकि समता (वीतरागता) का ही सहारा लेता है अत एव वह तो निर्मल ही

१ क वृत्ति । २ क जनसमूहाः ।

आत्मा तैर्विहतो यदत्र विषमध्वान्ताश्रिते निश्चितं
संपातो भवितोग्रदुःखनरके तेषामकल्याणिनाम् ॥ ७० ॥

71) मानुष्यं प्राप्य पुण्यात्प्रशममुपगता रोगवद्भोगजालं[1]
मत्वा गत्वा वनान्तं दृशि विदि चरणे ये स्थिताः संगमुक्ताः ।
कः स्तोता वाक्पथातिक्रमणपटुगुणैराश्रितानां मुनीनां
स्तोतव्यास्ते महद्भिर्भुवि य इह तदङ्घ्रिद्वये भक्तिभाजः ॥ ७१ ॥

72) तत्त्वार्थाप्ततपोभृतां यतिवराः श्रद्धानमाहुर्दृशं
ज्ञानं जानदनूनमप्रतिहतं स्वार्थावसंदेहवत् ।
चारित्रं विरतिः प्रमादविलसत्कर्मास्रवाद्योगिनां
एतन्मुक्तिपथस्त्रयं च परमो धर्मो भवच्छेदकः ॥ ७२ ॥

73) हृदयभुवि दृगेकं बीजमुप्तं त्वशङ्काप्रभृतिगुणसदम्भःसारणी[2] सिक्तमुच्चैः ।

मन्दानाम् । निश्चितम् । उग्रदुःखनरके संपातः भविता तेषां नरकपतनं भविष्यति । किंलक्षणे नरके । विषमध्वान्ताश्रिते अन्धकारयुक्ते ॥ ७० ॥ मुनीनां स्तोता कः मुनीनां स्तवनकर्ता कः । अपि तु न कोऽपि । किंलक्षणानां मुनीनाम् । वाक्पथातिक्रमणपटुगुणैराश्रितानां वचनातीत-वचनागोचरश्रेष्ठगुणयुक्तानाम् । ये मुनयः पुण्यान्मानुष्यं मनुष्यपदम् । प्राप्य । प्रशममुपगताः । भोगजालं भोगसमूहम् । रोगवन्मत्वा वनान्तं गत्वा । ये मुनयः । दृशि विदि चरणे दर्शनज्ञानचारित्रे स्थिताः । पुनः संगमुक्ताः परिग्रहरहिताः । इह जगति विषये । भुवि पृथिव्याम् । ते मुनयः । महद्भिः पण्डितैः । स्तोतव्याः । किंलक्षणाः पण्डिताः । तेषां मुनीनां अङ्घ्रिद्वये भक्तिभाजः । तेऽपि स्तोतव्याः ॥ ७१ ॥ इति यत्याचारधर्मः[3] ॥ तत्त्वार्थाप्ततपोभृतां सिद्धान्तार्हन्मुनीनां श्रद्धानं यतिवराः दृशं दर्शनमाहुः कथयन्ति । स्वार्थौ जानत् ज्ञानं आहुः स्वपरप्रकाशकं ज्ञानम् आहुः कथयन्ति । किंलक्षणं ज्ञानम् । अप्रतिहतं न केनापि हतम् । पुनः अनूनं पूर्णं ज्ञानम् । पुनः किंलक्षणं ज्ञानम् । असन्देहवत् सन्देहरहितम् । योगिनां मुनीनाम् । प्रमादविलसत्कर्मास्रवाद् विरतिः चारित्रम् । प्रमादरहितं चारित्रं कथयन्ति । एतत्त्रयं मुक्तिपथः दर्शनज्ञानचारित्रं मुक्तिपथः कारणमिति शेषः । च पुनः । अयं परमो धर्मः । भवच्छेदकः संसारविनाशकः ॥ ७२ ॥ एकम् । दृक् दर्शनं बीजम् । हृदयभुवि हृदयभूमौ । उप्तं वापितम् । किंलक्षणं दर्शनम् । त्वशङ्काप्रभृतिगुण-

रहता है । किन्तु वैसा करनेसे वे अज्ञानी जन ही अपनी आत्माका घात करते हैं, क्योंकि, कल्याणमार्गसे भ्रष्ट हुए उन अज्ञानियोंका गाढ़ अन्धकारसे व्याप्त एवं तीव्र दुःखोंसे संयुक्त ऐसे नरकमें नियमसे पतन होगा ॥ ७० ॥ जो मुनि पुण्यके प्रभावसे मनुष्य भवको पाकर शान्तिको प्राप्त होते हुए इन्द्रियजनित भोगसमूहको रोगके समान कष्टदायक समझ लेते हैं और इसीलिये जो गृहसे वनके मध्यमें जाकर समस्त परिग्रहसे रहित होते हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्रमें स्थित हो जाते हैं; वचनके अगोचर ऐसे उत्तमोत्तम गुणोंके आश्रयभूत उन मुनियोंकी स्तुति करनेमें कौन-सा स्तोता समर्थ है ? कोई भी नहीं । जो जन उक्त मुनियोंके दोनों चरणोंमें अनुराग करते हैं वे यहां पृथिवीपर महापुरुषोंके द्वारा स्तुति करनेके योग्य हैं ॥ ७१ ॥ इस प्रकार मुनिके आचारधर्मका निरूपण हुआ ॥ सात तत्त्व, देव और गुरुका श्रद्धान करना; इसे मुनियोंमें श्रेष्ठ गणधर आदि सम्यग्दर्शन कहते हैं । स्व और पर पदार्थ दोनोंकी न्यूनता, बाधा एवं सन्देहसे रहित होकर जो जानना है इसे ज्ञान कहा जाता है । योगियोंका प्रमादसे होनेवाले कर्मास्रवसे रहित हो जानेका नाम चारित्र है । ये तीनों मोक्षके मार्ग हैं । इन्हीं तीनोंकोही उत्तम धर्म कहा जाता है जो संसारका विनाशक होता है ॥ ७२ ॥ हृदयरूपी पृथिवीमें बोया गया एक सम्यग्दर्शनरूपी बीज निःशंकित आदि आठ अंगस्वरूप उत्तम जलसे परिपूर्ण क्षुद्र

१ क जालम् । २ क ब सारिणी । ३ अ इति यत्याचारधर्मः पूर्णः, ब इति यत्याचारः, श इति यत्याचारधर्मः ।

भवदवगमशाखश्चारुचारित्रपुष्पस्तरुरमृतफलेन प्रीणयत्याशु भव्यम् ॥ ७३ ॥

74) **दृगवगमचरित्रालंकृतः सिद्धिपात्रं लघुरपि न गुरुः स्यादन्यथात्वे कदाचित् ।**
स्फुटमवगतमार्गो याति मन्दो ऽपि गच्छन्नभिमतपदमन्यो नैव तूर्णो ऽपि जन्तुः ॥ ७४ ॥

75) **वनशिखिनि मृतो ऽन्धः संचरन् बाढमङ्घ्रिद्वितयविकलमूर्तिर्वीक्षमाणो ऽपि खञ्जः ।**
अपि सनयनपादो ऽश्रद्दधानश्च तस्माद्दृगवगमचरित्रैः संयुतैरेव सिद्धिः ॥ ७५ ॥

सदम्भःसारिणीसिक्तमुच्चैः तु पुनः अशङ्काआदिअष्टगुणाः सत्समीचीना एव अम्भः[1]सारणी[2] जलधोरिणी[3] तया सिक्तं सिञ्चितम् उच्चैः आतिशयेन । तरुः अमृतफलेन । आशु शीघ्रम् । भव्यं प्रीणयति पोषयति । किंलक्षणस्तरुः । चारुचारित्रपुष्पः । भव्यम् अमृतफलेन मोक्षफलेन पोषयति । पुनः किंलक्षणस्तरुः । भवदवगमशाखः । भवद् उत्पद्यमानः अवगमः ज्ञानं तदेव शाखा यस्य सः ॥ ७३ ॥ कश्चिन्मुनिः लघुरपि तथा शिष्योऽपि यदि दृगवगमचरित्रालङ्कृतो दर्शनज्ञानचारित्रसहितः । सिद्धिपात्रं स्याद्भवेत् । अन्यथात्वे[4] गुरुः गरिष्ठोऽपि दर्शनज्ञानचारित्ररहितः सिद्धिपात्रं न स्यात् मोक्षभोक्ता न भवति । तत्र दृष्टान्तमाह । स्फुटं प्रगटम् । अवगतमार्गः ज्ञातमार्गः । जन्तुः जीवः[5] । मन्दोऽपि गच्छन् मन्दं मन्दं गच्छन् । अभिमतपदं याति अभिलषितपदं याति । अन्यः अज्ञातमार्गः जीवः । तूर्णोऽपि गच्छन् शीघ्रगमनसहितः । अभिमतपदं न याति गच्छति न ॥ ७४ ॥ अन्धः । वनशिखिनि दवाग्नौ । मृतः । किंलक्षणोऽन्धः । बाढम् अतिशयेन । संचरन् गच्छन् । पुनः खञ्जः पङ्गुः वनशिखिनि मृतः । किंलक्षणः खञ्जः । वीक्षमाणोऽपि अवलोकमानोऽपि । पुनः किंलक्षणः खञ्जः । अङ्घ्रिद्वितयविकलमूर्तिः चरणरहितः । च पुनः । सनयनपादः पुमान् वनशिखिनि मृतः । किंलक्षणः सनयनपादः । अश्रद्दधानः आलस्यसहितः । तस्मात्कारणात् । दृगवगमचरित्रैः

नदीके द्वारा अतिशय सींचा जाकर उत्पन्न हुई सम्यग्ज्ञानरूपी शाखाओं और मनोहर सम्यक्चारित्ररूपी पुष्पोंसे सम्पन्न होता हुआ वृक्षके रूपमें परिणत होता है, जो भव्य जीवको शीघ्र ही मोक्षरूपी फलको देकर प्रसन्न करता है ॥ ७३ ॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्रसे विभूषित पुरुष यदि तप आदि अन्य गुणोंमें मन्द भी हो तो भी वह सिद्धिका पात्र है, अर्थात् उसे सिद्धि प्राप्त होती है । किन्तु इसके विपरीत यदि रत्नत्रयसे रहित पुरुष अन्य गुणोंमें महान् भी हो तो भी वह कभी भी सिद्धिको प्राप्त नहीं हो सकता है । ठीक ही है— स्पष्टतया मार्गसे परिचित व्यक्ति यदि चलनेमें मन्द भी हो तो भी वह धीरे धीरे चलकर अभीष्ट स्थानमें पहुंच जाता है । किन्तु इसके विपरीत जो अन्य व्यक्ति मार्गसे अपरिचित है वह चलनेमें शीघ्रगामी होकर भी अभीष्ट स्थानको नहीं प्राप्त हो सकता है ॥ ७४ ॥ दावानलसे जलते हुए वनमें शीघ्र गमन करनेवाला अन्धा मर जाता है, इसी प्रकार दोनों पैरोंसे रहित शरीरवाला लंगड़ा मनुष्य दावानलको देखता हुआ भी चलनेमें असमर्थ होनेसे जलकर मर जाता है, तथा अग्निका विश्वास न करनेवाला मनुष्य भी नेत्र एवं पैरोंसे संयुक्त होकर भी उक्त दावानलमें भस्म हो जाता है । इसीलिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंके एकताको प्राप्त होनेपर ही उनसे सिद्धि प्राप्त होती है; ऐसा निश्चित समझना चाहिये ॥ विशेषार्थ—जिस प्रकार उक्त तीनों मनुष्योंमें एक व्यक्ति तो आंखोंसे अग्निको देखकर और भागनेमें समर्थ होकर भी केवल अविश्वासके कारण मरता है, दूसरा (अन्धा) व्यक्ति अग्निका परिज्ञान न हो सकनेसे मृत्युको प्राप्त होता है, तथा तीसरा (लंगड़ा) व्यक्ति अग्निपर भरोसा रखकर और उसे जानकर भी चलनेमें असमर्थ होनेसे ही मृत्युके मुखमें प्रविष्ट होता है । उसी प्रकार ज्ञान और चारित्रसे रहित जो प्राणी तत्त्वार्थका केवल श्रद्धान करता है, श्रद्धान और आचरणसे रहित जिसको एक मात्र तत्त्वार्थका परिज्ञान ही है, अथवा श्रद्धा और ज्ञानसे रहित जो जीव केवल चारित्रका ही परिपालन करता है; इन तीनोंमेंसे किसीको भी मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती । वह तो इन तीनोंकी

१ **अ श** सत् समीचीन स एव अम्भः, २ **अ** सारिणी । ३ **क** धारिणी । ४ **अ श** अन्यथा । ५ **श** ज्ञातमार्गः जीवः ।

76) बहुभिरपि किमन्यैः प्रस्तरै रत्नसंज्ञैर्वपुषि जनितखेदैर्भारकारित्वयोगात् ।
हृतदुरिततमोभिश्चारुरत्नैरनर्घ्यैस्त्रिभिरपि कुरुतात्मालंकृतिं[1] दर्शनाद्यैः ॥ ७६ ॥

77) जयति सुखनिधानं मोक्षवृक्षैकबीजं
सकलमलविमुक्तं दर्शनं यद्विना स्यात् ।
मतिरपि कुमतिर्नु दुश्चरित्रं चरित्रं
भवति मनुजजन्म प्राप्तमप्राप्तमेव ॥ ७७ ॥

78) भवभुजगनागदमनी दुःखमहादावशमनजलवृष्टिः ।
मुक्तिसुखामृतसरसी जयति दृगादित्रयी सम्यक् ॥ ७८ ॥

79) वचनविरचितैवोत्पद्यते भेदबुद्धिर्दृगवगमचरित्राण्यात्मनः स्वं स्वरूपम् ।
अनुपचरितमेतच्चेतनैकस्वभावं व्रजति विषयभावं योगिनां योगदृष्टेः ॥ ७९ ॥

त्रिभिः संयुतैः सिद्धिः । एव निश्चयेन ॥ ७५ ॥ भो यतिवराः । अन्यैः बहुभिः रत्नसंज्ञैरपि किं प्रयोजनम् । किंलक्षणै रत्नसंज्ञैः । प्रस्तरैः पाषाणमयैः । पुनः भारकारित्वयोगात् भारस्वभावात् । वपुषि शरीरे । जनितखेदैः उत्पादितखेदैः । इति हेतोः । भो मुनयः । त्रिभिः चारुरत्नैः दर्शनाद्यैः । आत्मानं अलंकृतं मण्डितं कुरुत । किंलक्षणैः दर्शनाद्यैः । हृतदुरिततमोभिः स्फेटित-पापैः ॥ ७६ ॥ दर्शनं जयति । किंलक्षणं दर्शनम् । सुखनिधानम् । पुनः किंलक्षणम् । मोक्षवृक्षैकबीजम् । पुनः किंलक्षणं दर्शनम् । सकलमलविमुक्तं मलरहितम् । यद्विना येन दर्शनेन विना मतिरपि कुमतिः । येन दर्शनेन विना चरित्रं दुश्चरित्रम् । पुनः येन दर्शनेन विना मनुजजन्म मनुष्यजन्म । प्राप्तम् अपि अप्राप्तमेव निश्चयेन ॥ ७७ ॥ सम्यक् निश्चयेन । दृगादित्रयी जयति । किंलक्षणा दृगादित्रयी । भवभुजगनागदमनी संसारसर्पस्फेटने औषधिः । पुनः किंलक्षणा दृगादित्रयी । दुःखमहादाव-शमनजलवृष्टिः दुःखाग्निशमने जलवर्षा । पुनः किंलक्षणा त्रयी । मुक्तिसुखामृतसरसी मुक्तिसुखामृतसरोवरी । त्रयी जयति ॥ ७८ ॥ भेदबुद्धिर्भेदविज्ञानबुद्धिः । वचनविरचिता उत्पद्यते एवं । दृगवगमचरित्राणि आत्मनः स्वं स्वरूपम् अस्ति । किंलक्षणं स्वरूपम् । अनुपचरितम् उपचाररहितम् । पुनः एतत्स्वरूपं चेतनैकस्वभावम् । योगिनां योगदृष्टेः विषयभावं गोचरभावं व्रजति योगीश्वरज्ञान

एकतामें ही प्राप्त हो सकती है ॥ ७५ ॥ 'रत्न' संज्ञाको धारण करनेवाले अन्य बहुत-से पत्थरोंसे क्या लाभ है ? कारण कि भारयुक्त होनेसे उनके द्वारा केवल शरीरमें खेद ही उत्पन्न होता है । इसलिये पापरूप अन्धकारको नष्ट करनेवाले सम्यग्दर्शनादिरूप अमूल्य तीनों ही सुन्दर रत्नोंसे अपनी आत्माको विभूषित करना चाहिये ॥ ७६ ॥ जिस सम्यग्दर्शनके विना ज्ञान मिथ्याज्ञान और चारित्र मिथ्याचारित्र हुआ करता है वह सुखका स्थानभूत, मोक्षरूपी वृक्षका अद्वितीय बीजस्वरूप तथा समस्त दोषोंसे रहित सम्यग्दर्शन जयवन्त होता है । उक्त सम्यग्दर्शनके विना प्राप्त हुआ मनुष्यजन्म भी अप्राप्त हुएके ही समान होता है [कारण कि मनुष्यजन्मकी सफलता सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिमें ही हो सकती है, सो उसे प्राप्त किया नहीं है] ॥ ७७ ॥ जो सम्यग्दर्शन आदि तीन रत्न संसाररूपी सर्पका दमन करनेके लिये नागदमनीके समान हैं, दुखरूपी दावानलको शान्त करनेके लिये जलवृष्टिके समान हैं, तथा मोक्षसुखरूप अमृतके तालाबके समान हैं; वे सम्यग्दर्शन आदि तीन रत्न भले प्रकार जयवन्त होते हैं ॥७८॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों आत्माके निज स्वरूप हैं । इनमें जो भिन्नताकी बुद्धि होती है वह केवल शब्दजनित ही होती है— वास्तवमें वे तीनों अभिन्न ही हैं । आत्माका यह स्वरूप उपचारसे रहित अर्थात् परमार्थभूत और चेतना ही है एक स्वभाव जिसका ऐसा होता हुआ योगी जनोंकी योगरूप दृष्टिकी विषयताको प्राप्त होता है, अर्थात्

१ च प्रतिपाठोऽयम् । अ क श कुरुतात्मालङ्कृतं, ब कुरुतात्मालङ्कृति । २ अ श स्फोटने । ३ क एवं ।

80) निरूप्य तत्त्वं स्थिरतामुपागता मतिः सतां शुद्धनयावलम्बिनी ।
अखण्डमेकं विशदं चिदात्मकं निरन्तरं पश्यति तत्परं महः ॥ ८० ॥

81) दृष्टिर्निर्णीतिरात्माह्वयविशदमहस्यत्र बोधः प्रबोधः
शुद्धं चारित्रमत्र स्थितिरिति युगपद्बन्धविध्वंसकारि[1] ।
बाह्यं बाह्यार्थमेव त्रितयमपि परं स्याच्छुभो वाशुभो वा
बन्धः संसारमेवं श्रुतनिपुणधियः साधवस्तं वदन्ति ॥ ८१ ॥

82) जडजनकृतबाधाक्रोश[2]हासाप्रियादा-
वपि सति न विकारं यन्मनो याति साधोः ।

गोचरस्वरूपं वर्तते वचनरहितम् ॥७९॥ ये साधवः । तत्त्वम् आत्मस्वरूपम् । निरूप्य कथयित्वा । स्थिरताम् उपागतः स्थिरभावं प्राप्ताः । तेषां मुनीनां मतिः । तत्परं महः निरन्तरं पश्यति । किंलक्षणा बुद्धिः । शुद्धनयावलम्बिनी । किंलक्षणं महः । अखण्डं खण्डरहितम् एकम् । पुनः विशदं निर्मलं चिदात्मकम् । मुनयः पश्यन्ति ॥ ८० ॥ आत्माह्वयविशदमहसि निर्णीतिः दृष्टिः निर्णयं दर्शनं भवति । अत्र आत्मनि बोधः प्रबोधः ज्ञानं भवति । अत्र आत्मनि स्थितिः शुद्धं चारित्रं भवति । इति त्रितयमपि । युगपत् बन्धविध्वंसकारी[रि] कर्मबन्धस्फेटै[3]कम् । त्रितयं बाह्यं रत्नत्रयं व्यवहाररत्नत्रयं बाह्यार्थसूचकं जानीहि । पुनः बाह्यं रत्नत्रयं परं वा शुभो वा अशुभो वा बन्धः स्याद्भवेत् । श्रुतनिपुणधियः मुनयः बाह्यार्थं संसारम् एवं वदन्ति कथयन्ति ॥ ८१ ॥ इति रत्नत्रयस्वरूपम् ॥ अथोत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः इति दशधर्मं निरूपयति । सा उत्तमा श्रेष्ठा क्षमा । या क्षमा । शिवपथपथिकानां मोक्षमार्गे प्रवर्तकानां(?) मुनीनाम् । आदौ प्रथमम् । सत्सहायत्वमेति सहायत्वं गच्छति । यत्र क्षमायाम् । साधोः मुनेः । यन्मनः विकारं न याति । क्व सति । जडजनकृतबाधाक्रोशहासाप्रियादौ अपि सति जडजनैः

उसका अवलोकन योगी जन ही अपनी योग-दृष्टिसे कर सकते हैं ॥ ७९ ॥ शुद्ध नयका आश्रय लेनेवाली साधु जनोंकी बुद्धि तत्त्वका निरूपण करके स्थिरताको प्राप्त होती हुई निरन्तर अखण्ड, एक, निर्मल एवं चेतनस्वरूप उस उत्कृष्ट ज्योतिका ही अवलोकन करती है ॥ ८० ॥ आत्मा नामक निर्मल तेजके निर्णय करने अर्थात् अपने शुद्ध आत्मरूपमें रुचि उत्पन्न होनेका नाम सम्यग्दर्शन है । उसी आत्मस्वरूपके ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहा जाता है । इसी आत्मस्वरूपमें लीन होनेको सम्यक्चारित्र कहते हैं । ये तीनों एक साथ उत्पन्न होकर बन्धका विनाश करते हैं । बाह्य रत्नत्रय केवल बाह्य पदार्थों (जीवाजीवादि) को ही विषय करता है और उससे शुभ अथवा अशुभ कर्मका बन्ध होता है जो संसारपरिभ्रमणका ही कारण है । इस प्रकार आगमके जानकार साधुजन निरूपण करते हैं ॥ विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंमेंसे प्रत्येक व्यवहार और निश्चयके भेदसे दो दो प्रकारका है । इनमें जीवादिक सात तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपका श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन कहलाता है । उनके स्वरूपके जाननेका नाम व्यवहार सम्यग्ज्ञान है । अशुभ क्रियाओंका परित्याग करके शुभ क्रियाओंमें प्रवृत्त होनेको व्यवहार सम्यक्चारित्र कहा जाता है । देहादिसे भिन्न आत्मामें रुचि होनेका नाम निश्चय सम्यग्दर्शन है । उसी देहादिसे भिन्न आत्माके स्वरूपके अवबोधको निश्चय सम्यग्ज्ञान कहा जाता है । आत्मस्वरूपमें लीन रहनेको निश्चय सम्यक्चारित्र कहते हैं । इनमें व्यवहार रत्नत्रय शुभ और अशुभ कर्मोंके बन्धका कारण होनेसे स्वर्गादि अभ्युदयका निमित्त होता है । किन्तु निश्चय रत्नत्रय शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके ही कर्मोंके बन्धको नष्ट करके मोक्षसुखका कारण होता है ॥ ८१ ॥ इस प्रकार रत्नत्रयके स्वरूपका निरूपण हुआ ॥ अज्ञानी जनके द्वारा शारीरिक बाधा, अपशब्दोंका प्रयोग, हास्य एवं और भी अप्रिय कार्योंके किये जानेपर जो

१ क श कारी । २ अ क्रोध, श क्रोष । ३ श स्फोटकम् ।

अमलविपुलचित्तेरुत्तमा सा क्षमादौ
शिवपथपथिकानां सत्सहायत्वमेति ॥ ८२ ॥

83) श्रामण्यपुण्यतरुरुच्चगुणौघशाखा-
पत्रप्रसूननिचितो ऽपि फलान्यदत्त्वा ।
याति क्षयं क्षणत एव घनोग्रकोप-
दावानलात् त्यजत तं यतयो ऽतिदूरम् ॥ ८३ ॥

84) तिष्ठामो वयमुज्ज्वलेन मनसा रागादिदोषोज्झिताः
लोकः किंचिदपि स्वकीयहृदये स्वेच्छाचरो मन्यताम् ।
साध्या शुद्धिरिहात्मनः शमवतामत्रापरेण द्विषा
मित्रेणापि किमु स्वचेष्टितफलं स्वार्थः स्वयं लप्स्यते ॥ ८४ ॥

85) दोषानाघुष्य लोके मम भवतु सुखी दुर्जनश्चेद्धनार्थी
तत्सर्वस्वं गृहीत्वा रिपुरथ सहसा जीवितं स्थानमन्यः ।
मध्यस्थस्त्वेवमेवाखिलमिह जगज्जायतां सौख्यराशिः
मत्तो माभूदसौख्यं कथमपि भविनः कस्यचित्पूत्करोमि ॥ ८५ ॥

मूर्खजनैः लोकः (?) तेन कृता बाधा लोककृतबाधा[3] । आक्रोशः कठोरवचनम् । हास्यअप्रियअहितकारीवचनविद्यमानेऽपि सति ॥ ८२ ॥ श्रामण्यपुण्यतरुः श्रमणस्य भावः श्रामण्यं श्रमणपदं मुनिपदम् एव वृक्षः । फलानि अदत्त्वा क्षणतः एव क्षयं याति । किंलक्षणः तरुः । उच्चगुणौघशाखापत्रप्रसूननिचितोऽपि गुणशाखापत्रपुष्पखचितः वृक्षः । घनोग्रकोपदवानलात् बहुलक्रोधाग्नेः सकाशात् । विनाशं याति । भो यतयः तं क्रोधम् । अतिदूरं त्यजत ॥ ८३ ॥ कश्चिन्मुनिः वैराग्यं चिन्तयति । वयमुज्ज्वलेन मनसा तिष्ठामः । किंलक्षणाः वयम् । रागादिदोषोज्झिताः रागादिदोषरहिताः । स्वेच्छाचरः लोकः स्वकीयहृदये किंचिदपि मन्यताम् । इह जगति विषये । शमवतां मुनीनाम् । आत्मनः शुद्धिः साध्या । अत्रापि मुनौ । अपरेण द्विषा शत्रुणा किं कार्यम् । मित्रेणापि किमु स्वार्थः स्वप्रयोजनम् । स्वचेष्टितफलम् आत्मना उपार्जितम् । स्वयं लप्स्यते आत्मना प्राप्यते ॥ ८४ ॥ मुनिः उदासं(?) चिन्तयति । दुर्जनः लोके मम दोषान् आघुष्य कथयित्वा सुखी भवतु । यदि चेद्धनार्थी दुर्जनः तदा तत्सर्वस्वं समस्तद्रव्यं गृहीत्वा सुखी भवतु । अथ रिपुः सहसा जीवितं गृहीत्वा सुखी भवतु । अन्यः जनः स्थानं गृहीत्वा सुखी भवतु । तु पुनः । अहं मध्यस्थः । इह मयि अखिलं जगत् सौख्यराशिर्जायताम् । मत्तः सकाशात् कस्यचित् भविनः जीवस्य । असौख्यं

निर्मल व विपुल ज्ञानके धारी साधुका मन क्रोधादि विकारको नहीं प्राप्त होता है उसे उत्तम क्षमा कहते हैं। वह मोक्षमार्गमें चलनेवाले पथिक जनोंके लिये सर्वप्रथम सहायक होती है ॥ ८२ ॥ मुनिधर्मरूपी पवित्र वृक्ष उन्नत गुणोंके समूहरूप शाखाओं, पत्तों एवं पुष्पोंसे परिपूर्ण होता हुआ भी फलोंको न देकर अतिशय तीव्र क्रोधरूपी दावाग्निसे क्षणभरमें ही नाशको प्राप्त हो जाता है। इसलिये हे मुनिजन ! आप उस क्रोधको दूरसे ही छोड़ दें ॥ ८३ ॥ हम लोग रागादिक दोषोंसे रहित होकर विशुद्ध मनके साथ स्थित होते हैं। इसे यथेच्छ आचरण करनेवाला जनसमुदाय अपने हृदयमें कुछ भी माने। लोकमें शान्तिके अभिलाषी मुनिजनोंके लिये अपनी आत्मशुद्धिको सिद्ध करना चाहिये। उन्हें यहां दूसरे शत्रु अथवा मित्रसे भी क्या प्रयोजन है? वह (शत्रु या मित्र) तो अपने किये हुए कार्यके अनुसार स्वयं ही फल प्राप्त करेगा ॥ ८४ ॥ यदि दुर्जन पुरुष मेरे दोषोंकी घोषणा करके सुखी होता है तो हो, यदि धनका अभिलाषी पुरुष मेरे सर्वस्वको ग्रहण करके सुखी होता है तो हो, यदि शत्रु मेरे जीवनको ग्रहण करके सुखी होता है तो हो, यदि दूसरा कोई मेरे स्थानको ग्रहण करके सुखी होता है तो हो, और जो मध्यस्थ है– राग-द्वेषसे रहित है– वह ऐसा ही मध्यस्थ बना रहे।

---

१ अ क श चित्तै। २ अ श रुच। ३ अ जडजनमूर्खजनलोक तेन कृत बाधा, श जडजनमूर्खजन लोकस्तेन कृता बाधा।

86) किं जानासि न वीतरागमखिलत्रैलोक्यचूडामणिं
किं तद्धर्मं समाश्रितं न भवता किं वा न लोको जडः ।
मिथ्यादृग्भिरसज्जनैरपटुभिः किंचित्कृतोपद्रवात्
यत्कर्मार्जनहेतुमस्थिरतया बाधां मनो मन्यसे ॥ ८६ ॥

87) धर्माङ्गमेतदिह मार्दवनामधेयं
जात्यादिगर्वपरिहारमुशन्ति सन्तः ।
तद्धार्यते किमुत बोधदृशा समस्तं
स्वप्नेन्द्रजालसदृशं जगदीक्षमाणैः ॥ ८७ ॥

88) कास्था सद्मनि सुन्दरे ऽपि परितो दन्दह्यमानाग्निभिः
कायादौ तु जरादिभिः प्रतिदिनं गच्छत्यवस्थान्तरम् ।
इत्यालोचयतो हृदि प्रशमिनः शश्वद्विवेकोज्ज्वले
गर्वस्यावसरः कुतो ऽत्र घटते भावेषु सर्वेष्वपि ॥ ८८ ॥

दुःखम् । मा भूत् मा भवतु कथमपि मा भवतु इति पूत्करोमि ॥ ८५ ॥ हे मनः वीतरागं किं न जानासि । किंलक्षणं वीतरागम् । अखिलत्रैलोक्यचूडामणिम् । तद्धर्मं [र्मे] किं न समाश्रितं तस्य वीतरागस्य धर्मे[1] किं न समाश्रितं भवता । वा अथवा । लोकः जडः न । अपि तु जडोऽस्ति । यत् यस्मात्कारणात् मिथ्यादृग्भिः किंचित्कृतोपद्रवात् । अस्थिरतया चञ्चलतया । बाधां मन्यसे । किंलक्षणैः । असज्जनैः दुष्टैः । पुनः अपटुभिः मूर्खैः । किंलक्षणां बाधाम् । कर्मार्जनहेतुं कर्मोपार्जनहेतुम् ॥ ८६ ॥ सन्तः साधवः एतत् जात्यादिगर्वपरिहारम् । मार्दवनामधेयम् । उशन्ति कथयन्ति । तन्मार्दवं धर्माङ्गम् । समस्तं जगत् । स्वप्नेन्द्रजालसदृशं स्वप्नतुल्यम् । ईक्षमाणैः विलोकमानैः[2] पुरुषैः । बोधदृशा ज्ञानदृष्ट्या कृत्वा[3] । मार्दवं किमु न धार्यते । अपि तु धार्यते ॥ ८७ ॥ अत्र संसारे । प्रशमिनः मुनेः । हृदि हृदयविषये । सर्वेष्वपि भावेषु जातिकुलतपोज्ञानादिअष्टमदादिषु पञ्चदशप्रमादादिषु विषये । गर्वस्य अवसरः कुतः घटते । किंलक्षणे हृदि । शश्वद्विवेकोज्ज्वले । किंलक्षणस्य मुनेः । इत्यालोचयतः इति विचारयतः । इतीति किम् । सद्मनि गृहे । कास्था का स्थितिः को विश्वासः । किंलक्षणे गृहे । सुन्दरेऽपि नेत्रानन्दकरेऽपि । परितः सर्वतः समन्तात् । अग्निभिः दन्दह्यमानेऽपि दग्धीभूते । तु पुनः । कायादौ शरीरे । कास्था को विश्वासः । किंलक्षणे कायादौ । जरादिभिः प्रतिदिनम्

यहां सम्पूर्ण जगत् अतिशय सुखका अनुभव करे । मेरे निमित्तसे किसी भी संसारी प्राणीको किसी भी प्रकारसे दुख न हो, इस प्रकार मैं ऊंचे स्वरसे कहता हूं ॥ ८५ ॥ हे मन ! तुम क्या पूरे तीनों लोकोंमें चूडामणिके समान श्रेष्ठ ऐसे वीतराग जिनको नहीं जानते हो ? क्या तुमने वीतरागकथित धर्मका आश्रय नहीं लिया है ? क्या जनसमूह जड अर्थात् अज्ञानी नहीं है ? जिससे कि तुम मिथ्यादृष्टि एवं अज्ञानी दुष्ट पुरुषोंके द्वारा किये गये थोड़े-से भी उपद्रवसे विचलित होकर बाधा समझते हो जो कि कर्मास्रवकी कारण है ॥ ८६ ॥ जाति एवं कुल आदिका गर्व न करना, इसे सज्जन पुरुष मार्दव नामका धर्म बतलाते हैं । यह धर्मका अङ्ग है । ज्ञानमय चक्षुसे समस्त जगत्को स्वप्न अथवा इन्द्रजालके समान देखनेवाले साधु जन क्या उस मार्दव धर्मको नहीं धारण करते हैं ? अवश्य धारण करते हैं ॥ ८७ ॥ सब ओरसे अतिशय जलनेवाली अग्नियोंसे खण्डहर (खड़ैरा) रूप दूसरी अवस्थाको प्राप्त होनेवाले सुन्दर गृहके समान प्रतिदिन वृद्धत्व आदिके द्वारा दूसरी (जीर्ण) अवस्थाको प्राप्त होनेवाले शरीरादि बाह्य पदार्थोंमें नित्यताका विश्वास कैसे किया जा सकता है ? अर्थात् नहीं किया जा सकता । इस प्रकार सर्वदा विचार करनेवाले साधुके विवेक-युक्त निर्मल हृदयमें जाति, कुल एवं ज्ञान आदि सभी पदार्थोंके विषयमें अभिमान करनेका अवसर कहांसे

१ क धर्मः । २ क श विलोक्यमानैः । ३ क ज्ञानदृष्टजग कृत्वा, श ज्ञानदृष्ट्या जगत् कृत्वा ।

89) हृदि यत्तद्वाचि बहिः फलति तदेवार्जवं भवत्येतत् ।
धर्मो निकृतिरधर्मो द्वाविह सुरसद्मनरकपथौ ॥ ८९ ॥

90) मायित्वं कुरुते कृतं सकृदपि च्छायाविघातं गुणे-
ष्वाजातेर्यमिनो ऽर्जितेष्विह गुरुक्लेशैः समादिष्वलम् ।
सर्वे तत्र यदासते ऽतिनिभृताः क्रोधादयस्तत्त्वत-
स्तत्पापं बत येन दुर्गतिपथे जीवश्चिरं भ्राम्यति ॥ ९० ॥

91) स्वपरहितमेव मुनिभिर्मितममृतसमं सदैव सत्यं च ।
वक्तव्यं वचनमथ प्रविधेयं धीधनैर्मौनम् ॥ ९१ ॥

92) सति सन्ति व्रतान्येव सूनृते वचसि स्थिते ।
भवत्याराधिता सद्भिर्जगत्पूज्या च भारती ॥ ९२ ॥

93) आस्तामेतदमुत्र सूनृतवचाः कालेन यल्लप्स्यते
सद्भूपत्वसुरत्वसंसृतिसरित्पाराप्तिमुख्यं फलम् ।

अवस्थान्तरं गच्छति अन्याम् अवस्थां गच्छति सति । इति चिन्तयतः मुनेः गर्वावसरः कुतः ॥ ८८ ॥ यत् हृदि तत् वाचि वचसि वर्तते तदेव बहिः फलति एतदार्जवं भवति आर्जवधर्मं(?) भवति । निकृतिः माया अधर्मः । इह जगति विषये । द्वौ आर्जवधर्म-मायाधर्मौ सुरसद्मनरकपथौ स्तः ॥ ८९ ॥ यमिनः मुनीश्वरस्य । सकृदपि मायित्वं कृतम् । समादिषु[2] गुणेषु छायाविघातं विनाशं कुरुते । किंलक्षणेषु गुणेषु । इह जगति । आजातेः गुरुक्लेशैः अर्जितेषु दीक्षाम् आमर्यादीकृत्य उपार्जितेषु । कैः । गुरुक्लेशैः । अलम् अत्यर्थम् । यत् तत्र मायासमूहे । तत्त्वतः परमार्थतः । सर्वे क्रोधादयः । अतिनिभृताः पूर्णाः । आसते तिष्ठन्ति । बत इति खेदे । मायित्वेन तत्पापं भवति येन पापेन जीवः दुर्गतिपथे । चिरं बहुकालम् । भ्राम्यति ॥ ९० ॥ मुनिभिः सत्यं वचनं सदैव वक्तव्यम् । किंलक्षणं वचनम् । स्वपरहितं आत्मपरहितकारकम् । पुनः किंलक्षणं वचनम् । मितं मर्यादासहितम् । पुनः किंलक्षणम् । अमृत-समम् अमृततुल्यं वचः वक्तव्यम् । अथ धीधनैः मुनिभिः । मौनं प्रविधेयं मौनं कर्तव्यम् ॥९१॥ सूनृते सत्ये । वचसि स्थिते सति । सर्वाणि व्रतानि सन्ति तिष्ठन्ति । च पुनः । सद्भिः पण्डितैः । भारती सत्यवाणी । आराधिता भवति । किंलक्षणा वाणी । जगत्पूज्या ॥ ९२ ॥ सूनृतवचाः सत्यवादी पुमान् । अमुत्र परलोके । यत्फलं कालेन लप्स्यते । एतदास्ताम् एतत्फलं दूरे तिष्ठतु । किंलक्षणं फलम् । सद्भूपत्वसुरत्वसंसृतिसरित्पाराप्तिमुख्यं सद्भूपत्वराज्यपदं सुरत्वं देवपदं संसारनदीपारप्राप्तिमोक्षपदसूचकं यत्फलम् । इहैव

प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् नहीं प्राप्त हो सकता ॥ ८८ ॥ जो विचार हृदयमें स्थित है वही वचनमें रहता है तथा वही बाहिर फलता है अर्थात् शरीरसे भी तदनुसार ही कार्य किया जाता है, यह आर्जव धर्म है । इसके विपरीत दूसरोंको धोखा देना, यह अधर्म है । ये दोनों यहां क्रमसे देवगति और नरकगतिके कारण हैं ॥ ८९ ॥ यहां लोकमें एक बार भी किया गया कपटव्यवहार आजन्मतः भारी कष्टोंसे उपार्जित मुनिके सम (राग-द्वेषनिवृत्ति) आदि गुणोंके विषयमें अतिशय छायाविघात करता है, अर्थात् उक्त मायाचारसे सम आदि गुणोंकी छाया भी शेष नहीं रहती—वे निर्मूलतः नष्ट हो जाते हैं । कारण कि उस कपटपूर्ण व्यवहारमें वस्तुतः क्रोधादिक सभी दुर्गुण परिपूर्ण होकर रहते हैं । खेद है कि वह कपटव्यवहार ऐसा पाप है जिसके कारण यह जीव नरकादि दुर्गतियोंके मार्गमें चिर काल तक परिभ्रमण करता है ॥९०॥ मुनियोंको सदा ही ऐसा सत्य वचन बोलना चाहिये जो अपने लिये और परके लिये भी हितकारक हो, परिमित हो, तथा अमृतके समान मधुर हो । यदि कदाचित् ऐसे सत्य वचनके बोलनेमें बाधा प्रतीत हो तो ऐसी अवस्थामें बुद्धिरूप धनको धारण करनेवाले उन मुनियोंको मौनका ही अवलम्बन करना चाहिये ॥९१॥ चूंकि सत्य वचनके स्थित होनेपर ही व्रत होते हैं इसीलिये सज्जन पुरुष जगत्पूज्य उस सत्य वचनकी आराधना करते हैं ॥ ९२ ॥ सत्य वचन बोलनेवाला प्राणी समयानुसार परलोकमें उत्तम राज्य, देव पर्याय एवं संसाररूपी नदीके पारकी

१ क समाधिष्वलम् । २ क समाधिषु ।

यत्प्राप्नोति यशः शशाङ्कविशदं शिष्टेषु यन्मान्यतां
तत्साधुत्वमिहैव जन्मनि परं तत्केन संवर्ण्यते ॥ ९३ ॥

94) यत्परदारार्थादिषु जन्तुषु निःस्पृहमहिंसकं चेतः ।
दुश्छेद्यान्तर्मलहृत्तदेव शौचं परं नान्यत् ॥ ९४ ॥

95) गङ्गासागरपुष्करादिषु सदा तीर्थेषु सर्वेष्वपि
स्नातस्यापि न जायते तनुभृतः प्रायो विशुद्धिः परा ।
मिथ्यात्वादिमलीमसं यदि मनो बाह्ये ऽतिशुद्धोदकै-
र्धौतः किं बहुशो ऽपि शुद्ध्यति सुरापूरप्रपूर्णो घटः ॥ ९५ ॥

96) जन्तुकृपार्दितमनसः समितिषु साधोः प्रवर्तमानस्य ।
प्राणेन्द्रियपरिहारं संयममाहुर्महामुनयः ॥ ९६ ॥

97) मानुष्यं किल दुर्लभं भवभृतस्तत्रापि जात्यादय-
स्तेष्वेवाप्तवचःश्रुतिः स्थितिरतस्तस्याश्च दृग्बोधने ।

जन्मनि भवति । परम् उत्कृष्टम् । शशाङ्कविशदं यशः प्राप्नोति[1] । यत् शिष्टेषु सज्जनेषु । मान्यता भवति । यत्साधुत्वं भवति । तत्फलं केन संवर्ण्यते । अपि तु न केनापि ॥९३॥ यत्परदारार्थादिषु परस्त्रीपरअर्थादिषु परद्रव्येषु । निःस्पृहं वाञ्छारहितम् । चेतः । पुनः जन्तुषु प्राणिषु । अहिंसकं चेतः । तदेव परं शौचम् । किंलक्षणं शौचम् । दुश्छेद्यान्तर्मलहृत् दुर्भेद्यान्तर्मलस्फेटकम्[2] । अन्यत् हिंसादि-परत्वं द्रव्यादिस्पृहा । शौचं न ॥९४॥ यदि चेत् । तनुभृतः जीवस्य । मनः । मिथ्यात्वादिमलीमसं वर्तते मिथ्यात्वेन पूर्णं वर्तते । तदा । प्रायः बाहुल्येन । परा विशुद्धिर्न जायते विशुद्धिर्न उत्पद्यते[3] । किंलक्षणस्य तनुभृतः जीवस्य । गङ्गासागरपुष्करादिषु सर्वेषु तीर्थेष्वपि सदा स्नातस्य । सुरापूरप्रपूर्णः घटः बाह्ये अतिशुद्धोदकैः शुद्धजलैः । बहुशोऽपि धौतः प्रक्षालितः अपि किं शुद्ध्यति । अपि तु न शुद्ध्यति ॥ ९५ ॥ महामुनयः योगीश्वराः । साधोः । प्राणेन्द्रियपरिहारं प्राणरक्षा[4] जीवस्य रक्षा इन्द्रियविषयत्यागं संयमम् । आहुः कथयन्ति । किंलक्षणस्य साधोः । जन्तुकृपार्दितमनसः जन्तुषु कृपया[5] कृत्वा सार्द्रमनसः कृपालुचित्तस्य । पुनः किं-लक्षणस्य साधोः । समितिषु प्रवर्तमानस्य ॥ ९६ ॥ किल इति सत्ये । भवभृतः जीवस्य । मानुष्यं मनुष्यपदम् । दुर्लभम् । तत्रापि मनुष्ये जात्यादयः दुर्लभाः । तेषु जात्यादिषु समीचीनेषु प्राप्तेषु सत्सु । आप्तवचःश्रुतिः दुर्लभा सर्वज्ञवचनश्रवणं दुर्लभम् । अतः

प्राप्ति अर्थात् मोक्षपद प्रमुख फलको पावेगा; यह तो दूर ही रहे । किन्तु वह इसी भवमें जो चन्द्रमाके समान निर्मल यश, सज्जन पुरुषोंमें प्रतिष्ठा और साधुपनेको प्राप्त करता है; उसका वर्णन कौन कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं ॥ ९३ ॥ चित्त जो परस्त्री एवं परधनकी अभिलाषा न करता हुआ षट्काय जीवोंकी हिंसासे रहित हो जाता है, इसे ही दुर्भेद्य अभ्यन्तर कलुषताको दूर करनेवाला उत्तम शौच धर्म कहा जाता है । इससे भिन्न दूसरा कोई शौच धर्म नहीं हो सकता है ॥ ९४ ॥ यदि प्राणीका मन मिथ्यात्व आदि दोषोंसे मलिन हो रहा है तो गंगा, समुद्र एवं पुष्कर आदि सभी तीर्थोंमें सदा स्नान करनेपर भी प्रायः करके वह अतिशय विशुद्ध नहीं हो सकता है । ठीक भी है — मद्यके प्रवाहसे परिपूर्ण घटको यदि बाह्यमें अतिशय विशुद्ध जलसे बहुत बार धोया भी जावे तो भी क्या वह शुद्ध हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता ॥ विशेषार्थ — इसका अभिप्राय यह है कि यदि मन शुद्ध है तो स्नानादिके विना भी उत्तम शौच हो सकता है । किन्तु इसके विपरीत यदि मन अपवित्र है तो गंगा आदिक अनेक तीर्थोंमें बार बार स्नान करनेपर भी शौच धर्म कभी भी नहीं हो सकता है ॥ ९५ ॥ जिसका मन जीवानुकम्पासे भीग रहा है तथा जो ईर्या-भाषा आदि पांच समितियोंमें प्रवर्तमान है ऐसे साधुके द्वारा जो षट्काय जीवोंकी रक्षा और अपनी इन्द्रियोंका दमन किया जाता है उसे गणधरदेवादि महामुनि संयम कहते हैं ॥ ९६ ॥ इस संसारी प्राणीके मनुष्य भवका प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है, यदि मनुष्य पर्याय प्राप्त भी हो गई तो उसमें भी उत्तम जाति आदिका

---

१ अ श भवति । २ श स्फोटकम् । ३ श जायते नोत्पद्यते । ४ श प्राणस्य रक्षा । ५ अ श जन्तुकृपया ।

प्राप्ते ते अतिनिर्मले अपि परं स्यातां न येनोज्झिते
स्वर्मोक्षैकफलप्रदे स च कथं न श्लाघ्यते संयमः ॥ ९७ ॥

98) **कर्ममलविलयहेतोर्बोधदृशा तप्यते तपः प्रोक्तम् ।**
तद् द्वेधा द्वादशधा जन्माम्बुधियानपात्रमिदम् ॥ ९८ ॥

आप्तवचःश्रुतेः सकाशात् स्थितिः दुर्लभा । तस्याः स्थितेः । च पुनः । दृग्बोधने दुर्लभे । ते द्वे अपि दृग्बोधने अतिनिर्मले प्राप्ते सति । येन संयमेन । उज्झिते द्वे । परम् । स्वर्मोक्षैकफलप्रदे । न स्यातां न भवेताम् । च पुनः । स संयमः कथं न श्लाघ्यते । अपि तु श्लाघ्यते ॥ ९७ ॥ तत् तपः प्रोक्तम् । यत्तपः । बोधदृशा ज्ञाननेत्रेण । कर्ममलविलयहेतोः तप्यते । इदं तपः द्वेधा । च

मिलना कठिन है, उत्तम जाति आदिके प्राप्त हो जानेपर जिनवाणीका श्रवण दुर्लभ है, जिनवाणीका श्रवण मिलनेपर भी बड़ी आयुका प्राप्त होना दुर्लभ है, तथा उससे भी दुर्लभ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हैं । यदि अत्यन्त निर्मल वे दोनों भी प्राप्त हो जाते हैं तो जिस संयमके विना वे स्वर्ग एवं मोक्षरूप अद्वितीय फलको नहीं दे सकते हैं वह संयम कैसे प्रशंसनीय न होगा? अर्थात् वह अवश्य ही प्रशंसाके योग्य है ॥ ९७ ॥ सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले साधुके द्वारा जो कर्मरूपी मैलको दूर करनेके लिये तपा जाता है उसे तप कहा गया है । वह बाह्य और अभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारका तथा अनशनादिके भेदसे बारह प्रकारका है । यह तप जन्मरूपी समुद्रसे पार होनेके लिये जहाजके समान है ॥ विशेषार्थ – जो कर्मोंका क्षय करनेके उद्देशसे तपा जाता है उसे तप कहते हैं । वह बाह्य और अभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारका है । जो तप बाह्य द्रव्यकी अपेक्षा रखता है तथा दूसरोंके द्वारा प्रत्यक्षमें देखा जा सकता है वह बाह्य तप कहलाता है । उसके निम्न छह भेद हैं । १ अनशन – संयम आदिकी सिद्धिके लिये चार प्रकारके (अन्न, पेय, खाद्य और लेह्य) के आहारका परित्याग करना । २ अवमौदर्य – बत्तीस ग्रास प्रमाण स्वाभाविक आहारमेंसे एक-दो-तीन आदि ग्रासोंको कम करके एक ग्रास तक ग्रहण करना । ३ वृत्तिपरिसंख्यान – गृहप्रमाण तथा दाता एवं भाजन आदिका नियम करना । गृहप्रमाण – जैसे आज मैं दो घर ही जाऊंगा । यदि इनमें आहार प्राप्त हो गया तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा (दोसे अधिक घर जाकर) नहीं । इसी प्रकार दाता आदिके विषयमें भी समझना चाहिये । ४ रसपरित्याग – दूध, दही, घी, तेल, गुड़ और नमक इन छह रसोंमेंसे एक-दो आदि रसोंका त्याग करना अथवा तिक्त, कटुक, कषाय, आम्ल और मधुर रसोंमेंसे एक-दो आदि रसोंका परित्याग करना । ५ विविक्तशय्यासन — जन्तुओंकी पीड़ासे रहित निर्जन शून्य गृह आदिमें शय्या (सोना) या आसन लगाना । ६ कायक्लेश — धूप, वृक्षमूल अथवा खुले मैदानमें स्थित रहकर ध्यान आदि करना । जो तप मनको नियमित करता है उसे अभ्यन्तर तप कहते हैं । उसके भी निम्न छह भेद हैं । १ प्रायश्चित्त – प्रमादसे उत्पन्न हुए दोषोंको दूर करना । २ विनय — पूज्य पुरुषोंमें आदरका भाव रखना । ३ वैयावृत्य — शरीरकी चेष्टासे अथवा अन्य द्रव्यसे रोगी एवं वृद्ध आदि साधुओंकी सेवा करना । ४ स्वाध्याय — आलस्यको छोड़कर ज्ञानका अभ्यास करना । वह वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेशके भेदसे पांच प्रकारका है – १ निर्दोष ग्रन्थ, अर्थ और दोनोंको ही प्रदान करना इसे वाचना कहा जाता है । २ संशयको दूर करनेके लिये दूसरे अधिक विद्वानोंसे पूछनेको पृच्छना कहते हैं । ३ जाने हुए पदार्थका मनसे विचार करनेका नाम अनुप्रेक्षा है । ४ शुद्ध उच्चारणके साथ पाठका परिशीलन करनेका नाम आम्नाय है । ५ धर्मकथा आदिके अनुष्ठानको धर्मोपदेश कहा जाता है । ५ व्युत्सर्ग — अहंकार और

99) कषायविषयोद्भटप्रचुरतस्करौघो हठात्
तपःसुभटताडितो विघटते यतो दुर्जयः ।
अतो हि निरुपद्रवश्चरति तेन धर्मश्रिया
यतिः समुपलक्षितः पथि विमुक्तिपुर्याः सुखम् ॥ ९९ ॥

100) मिथ्यात्वादेर्यदिह भविता दुःखमुग्रं तपोभ्यो
जातं तस्मादुदककणिकैकेव सर्वाब्धिनीरात् ।
स्तोकं तेन प्रभवमखिलं कृच्छ्रलब्धे नरत्वे
यद्येतर्हि स्खलति तदहो का क्षतिर्जीव ते स्यात् ॥ १०० ॥

101) व्याख्या यत् क्रियते श्रुतस्य यतये यद्दीयते पुस्तकं
स्थानं संयमसाधनादिकमपि प्रीत्या सदाचारिणा ।

पुनः । द्वादशधा । पुनः इदं तपः । जन्माम्बुधियानपात्रं संसारसमुद्रतरणे प्रोहणम् ॥ ९८ ॥ यतः यस्मात्कारणात् । कषायविषयोद्भटप्रचुरतस्करौघः कषायविषयचौरसमूहः । दुर्जयः दुर्जातः(?) । हठाद्बलात् । तपःसुभटेन ताडितः कषायविषयचौरसमूहः । विघटते विनाशं गच्छति । अतः कारणात् । हि यतः । मुनिः । तेन तपसा । समुपलक्षितः संयुक्तः । पुनः धर्मश्रिया समुपलक्षितः युक्तः यतिः । विमुक्तिपुर्याः पथि मुक्तिमार्गे यथा स्यात्तथा । निरुपद्रवः उपद्रवरहितः । चरति गच्छति ॥ ९९ ॥ अहो इति संबोधने । भो जीव इह जगति विषये । यदि चेत् । मिथ्यात्वादेः सकाशात् । उग्रं दुःखं । भविता भविष्यति । इह जगति । तपोभ्यः स्तोकं दुःखम् । जातम् उत्पन्नम् । तपोभ्यः दुःखं का इव । सर्वाब्धिनीरात् समुद्रजलात् । एका उदककणिका इव जलकणिका इव । एतर्हि एतस्मिन् । कृच्छ्रलब्धे नरत्वे कष्टेन प्राप्ते मनुष्यपदे । अखिलं प्रभवम् । उत्पन्नं क्षमादिगुणं वर्तते । यदि एतस्मिन् नरत्वे स्खलसि तदा तव का हानिः का क्षतिः न स्यात् । अपि तु सर्वथा प्रकारेण हानिः स्याद्भवेत् । इति हेतोः नरत्वे तपः करणीयम् ॥ १०० ॥ सदाचारिणा मुनिना । यत् श्रुतस्य व्याख्या क्रियते । यत्पुस्तकं स्थानं संयमसाधनादिकं

ममकारका त्याग करना । ६ ध्यान — चित्तको इधर उधरसे हटाकर किसी एक पदार्थके चिन्तनमें लगाना ॥ ९८ ॥ जो क्रोधादि कषायों और पंचेन्द्रियविषयोंरूप उद्भट एवं बहुत-से चोरोंका समुदाय बड़ी कठिनतासे जीता जा सकता है वह चूंकि तपरूपी सुभटके द्वारा बलपूर्वक ताड़ित होकर नष्ट हो जाता है, अत एव उस तपसे तथा धर्मरूप लक्ष्मीसे संयुक्त साधु मुक्तिरूपी नगरीके मार्गमें सब प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे रहित होकर सुखपूर्वक गमन करता है ॥ विशेषार्थ — जिस प्रकार चोरोंका समुदाय मार्गमें चलनेवाले पथिक जनोंके धनका अपहरण करके उनको आगे जानेमें बाधा पहुंचाता है उसी प्रकार क्रोधादि कषायें एवं पंचेन्द्रियविषयभोग मोक्षमार्गमें चलनेवाले सत्पुरुषोंके सम्यग्दर्शनादिरूप धनका अपहरण करके उनके आगे जानेमें बाधक होता है । उपर्युक्त चोरोंका समुदाय जिस प्रकार किसी शक्तिशाली सुभटसे पीड़ित होकर यत्र तत्र भाग जाता है उसी प्रकार तपके द्वारा वे विषय-कषायें भी नष्ट कर दी जाती हैं । इसीलिये चोरोंके न रहनेसे जिस प्रकार पथिक जन निरुपद्रव होकर मार्गमें गमन करते हैं उसी प्रकार विषय-कषायोंके नष्ट हो जानेसे सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे सम्पन्न साधु जन भी निर्बाध मोक्षमार्गमें गमन करते हैं ॥ ९९ ॥ लोकमें मिथ्यात्व आदिके निमित्तसे जो तीव्र दुःख प्राप्त होनेवाला है उसकी अपेक्षा तपसे उत्पन्न हुआ दुःख इतना अल्प होता है जितनी कि समुद्रके सम्पूर्ण जलकी अपेक्षा उसकी एक बूंद होती है । उस तपसे सब कुछ (समता आदि) आविर्भूत होता है । इसीलिये हे जीव ! कष्टसे प्राप्त होनेवाली मनुष्य पर्यायके प्राप्त हो जानेपर भी यदि तुम इस समय उस तपसे भ्रष्ट होते हो तो फिर तुम्हारी कौन-सी हानि होगी, यह जानते हो ? अर्थात् उस अवस्थामें तुम्हारा सब कुछ ही नष्ट हो जानेवाला है ॥ १०० ॥ सदाचारी पुरुषके द्वारा मुनिके लिये जो प्रेमपूर्वक आगमका व्याख्यान किया जाता है, पुस्तक दी जाती है, तथा

१ श पुनः पुनः ।

स त्यागो वपुरादिनिर्ममतया नो किंचनास्ते यते-
रार्किचन्यमिदं च संसृतिहरो धर्मः सतां संमतः ॥ १०१ ॥

102) विमोहा मोक्षाय स्वहितनिरताश्चारुचरिताः
गृहादि त्यक्त्वा ये विदधति तपस्ते ऽपि विरलाः ।
तपस्यन्तो ऽन्यस्मिन्नपि यमिनि शास्त्रादि ददतः
सहायाः स्युर्ये ते जगति यतयो दुर्लभतराः ॥ १०२ ॥

103) परं मत्वा सर्वं परिहृतमशेषं श्रुतविदा
वपुःपुस्ताद्यास्ते तदपि निकटं चेदिति मतिः ।
ममत्वाभावे तत्सदपि न सदन्यत्र घटते
जिनेन्द्राज्ञाभङ्गो भवति च हठात्कल्मषमृषेः ॥ १०३ ॥

104) यत्संगाधारमेतच्चलति लघु च यत्तीक्ष्णदुःखौघधारं
मृत्पिण्डीभूतभूतं कृतबहुविकृतिभ्रान्ति संसारचक्रम् ।

प्रीत्या कृत्वा । यतये मुनीश्वराय दीयते । स त्यागः धर्मः कथ्यते । च पुनः । यतेः मुनीश्वरस्य । निर्ममतया वपुरादिउपरि उदासीनतया । किंचन परिग्रहः नो आस्ते परिग्रहो न वर्तते । इदम् आकिंचन्यं धर्मः इति । संसृतिहरः संसारनाशनः । सतां साधूनां मुनीश्वरैः संमतः कथितः ॥ १०१ ॥ ये जनाः गृहादि त्यक्त्वा मोक्षाय तपो विदधति कुर्वन्ति । तेऽपि जनाः विरलाः स्तोकाः सन्ति । किंलक्षणा जनाः । विमोहाः मोहरहिताः । पुनः स्वहितनिरताः आत्महिते लीनाः । पुनः चारुचरिताः मनोहराचाराः । जगति विरलाः सन्ति । ये यतयः स्वयं तपस्यन्तः अन्यस्मिन् यमिनि सहायाः स्युः भवेयुः शास्त्रादि ददतः तेऽपि यतयः जगति विषये दुर्लभतराः विरलाः वर्तन्ते ॥ १०२ ॥ श्रुतविदा श्रुतज्ञानिना मुनिना । सर्वं परम् । मत्वा ज्ञात्वा । अशेषं समस्तम् । परिग्रहम् । परिहृतं त्यक्तम् । तदपि वपुःपुस्तादि पुस्तकादि निकटम् आस्ते चेत् इति मतिः ममत्वाभावे तत् पुस्तकादिपरिग्रहं सत् अपि विद्यमानमपि न सत् अविद्यमानम् । अन्यत्र अथवा शरीरादिषु पुस्तकादिषु ममत्वे कृते सति । ऋषेः मुनेः जिनेन्द्राज्ञाभङ्गः घटते । मुनिधर्मस्य नाशो भवति । मुनीश्वरस्य हठात् । कल्मषं पापं भवति[1] ॥ १०३ ॥ तत्परम् उत्कृष्टम् । ब्रह्मचर्यं कथ्यते । यत् यतिः मुनिः । ताः स्त्रियः हरिणदृशः । नित्यं सदाकालम् । जामीः भगिनीः[2] । पुत्रीः । सवित्रीः जननीः । इव प्रपश्येत् । किंलक्षणो यतिः । मुमुक्षुः मोक्षाभिलाषी । पुनः किंलक्षणो यतिः । अमलमतिः

संयमकी साधनभूत पीछी आदि भी दी जाती हैं उसे उत्तम त्याग धर्म कहा जाता है । शरीर आदिमें ममत्वबुद्धिके न रहनेसे मुनिके पास जो किंचित् मात्र भी परिग्रह नहीं रहता है इसका नाम उत्तम आकिंचन्य धर्म है । सज्जन पुरुषोंको अभीष्ट वह धर्म संसारको नष्ट करनेवाला है ॥ १०१ ॥ मोहसे रहित, अपने आत्महितमें लवलीन तथा उत्तम चारित्रसे संयुक्त जो मुनि मोक्षप्राप्तिके लिये घर आदिको छोड़कर तप करते हैं वे भी विरल हैं, अर्थात् बहुत थोडे हैं । फिर जो मुनि स्वयं तपश्चरण करते हुए अन्य मुनिके लिये भी शास्त्र आदि देकर उसकी सहायता करते हैं वे तो इस संसारमें पूर्वोक्त मुनियोंकी अपेक्षा और भी दुर्लभ हैं ॥ १०२ ॥ आगमके जानकार मुनिने समस्त बाह्य वस्तुओंको पर अर्थात् आत्मासे भिन्न जानकर उन सबको छोड़ दिया है । फिर भी जब शरीर और पुस्तक आदि उनके पासमें रहती हैं तो ऐसी अवस्थामें वे निष्परिग्रह कैसे कहे जा सकते हैं, ऐसी यदि यहां आशंका की जाय तो इसका उत्तर यह है कि उनका चूंकि उक्त शरीर एवं पुस्तक आदिसे कोई ममत्वभाव नहीं रहता है अत एव उनके विद्यमान रहनेपर भी वे अविद्यमानके ही समान हैं । हां, यदि उक्त मुनिका उनसे ममत्वभाव है तो फिर वह निष्परिग्रह नहीं कहा जा सकता है । और ऐसी अवस्थामें उसे समस्त परिग्रहके त्यागरूप जिनेन्द्रआज्ञाके भंग करनेका दोष प्राप्त होता है जिससे कि उसे बलात् पापबन्ध होता है ॥ १०३ ॥ जो तीव्र दुःखोंके समूहरूप धारसे सहित है, जिसके प्रभावसे प्राणी मृत्तिकापिण्डके समान घूमते हैं, तथा जो बहुत विकार-

[1] श अतोऽग्रे 'त्यागाकिंचन्ये' इत्यधिकः पाठः । [2] अ श भगीः ।

ता नित्यं यन्मुमुक्षुर्यतिरमलमतिः शान्तमोहः प्रपश्ये-
ज्जामीः पुत्रीः सवित्रीरिव हरिणदृशस्तत्परं ब्रह्मचर्यम् ॥ १०४ ॥

105) अविरतमिह तावत्पुण्यभाजो मनुष्याः
हृदि विरचितरागाः कामिनीनां वसन्ति ।
कथमपि न पुनस्ता जातु येषां तदङ्घ्री
प्रतिदिनमतिनम्रास्ते ऽपि नित्यं स्तुवन्ति ॥ १०५ ॥

106) वैराग्यत्यागदारुद्वयकृतरचना चारुनिश्रेणिका यैः
पादस्थानैरुदारैर्दशभिरनुगता निश्चलैर्ज्ञानदृष्टेः ।
योग्या स्यादारुरुक्षोः शिवपदसदनं गन्तुमित्येषु केषां
नो धर्मेषु त्रिलोकीपतिभिरपि सदा स्तूयमानेषु हृष्टिः ॥ १०६ ॥

नैर्मलबुद्धिः । पुनः किंलक्षणो यतिः । शान्तमोहः उपशान्तमोहः । यत्संगाधारं यासां स्त्रीणां संगाधारम् । एतत्संसारचक्रम् । लघु शीघ्रेण । चलति । च पुनः । किंलक्षणं संसारचक्रम् । तीक्ष्णदुःखौघधारं तीक्ष्णदुःखधारासहितम् । पुनः किंलक्षणं संसारचक्रम् । मृत्पिण्डीभूतभूतं मृतप्राणिपिण्डसदृशम् (?)। पुनः किंलक्षणं संसारचक्रम् । कृतबहुविकृतिभ्रान्ति कृतबहुविकारस्वरूपम् एकेन्द्रियादि-पञ्चेन्द्रियपर्यन्तम् ॥ १०४ ॥ इह जगति विषये । पुण्यभाजः मनुष्याः । कामिनीनां स्त्रीणाम् । हृदि । अविरतं निरन्तरम् । तावत् सदैव वसन्ति । पुनः येषां पुण्ययुक्तानाम् । हृदि । ताः विरचितरागाः । कामिन्यः स्त्रियः । जातु कदाचित् । कथमपि न वसन्ति । तेऽपि पुण्ययुक्ताः नराः । अतिनम्राः । तदङ्घ्री तेषां मुनीनाम् अङ्घ्री चरणौ । नित्यं स्तुवन्ति ॥१०५॥ इति एषु धर्मेषु । केषां जीवानां हृष्टिः हर्षः नो, अपि तु सर्वेषां जीवानां 'हर्षः । किंलक्षणेषु दशभेदधर्मेषु । त्रिलोकीपतिभिः इन्द्रधरणेन्द्रचक्रिभिः । सदा स्तूयमानेषु स्तुत्यमानेषु (?) । यैः दशभिः निश्चलैः उदारैः उत्कटैः पादस्थानैः कृत्वा । वैराग्यत्यागदारुद्वयकृतरचना चारुनिश्रेणिका अनुगता प्राप्ता । मनोज्ञा सा इयं निःश्रेणिका । शिवपदसदनं गृहम् । गन्तुम् । आरुरुक्षोः मुनेः चटितुमिच्छोः । ज्ञानदृष्टेः मुनी-

रूप भ्रमको करनेवाला है, ऐसा यह संसाररूपी चक्र जिन स्त्रियोंके आश्रयसे शीघ्र चलता है उन हरिणके समान नेत्रवाली स्त्रियोंको मोहको उपशान्त कर देनेवाला मोक्षका अभिलाषी निर्मलबुद्धि मुनि सदा बहिन, बेटी और माताके समान देखे । यही उत्तम ब्रह्मचर्यका स्वरूप है ॥ विशेषार्थ—यहां संसारमें चक्रका आरोप किया गया है । वह इस कारणसे— जिस प्रकार चक्र (कुम्हारका चाक) कीलके आधारसे चलता है उसी प्रकार यह संसारचक्र (संसारपरिभ्रमण) स्त्रियोंके आधारसे चलता है । चक्रमें यदि तीक्ष्ण धार रहती है तो इस संसारचक्रमें जो अनेक दुःखोंका समुदाय रहता है वही उसकी तीक्ष्ण धार है, कुम्हारके चक्रपर जहां मिट्टीका पिण्ड परिभ्रमण करता है वहां इस संसारचक्रपर समस्त देहधारी प्राणी परिभ्रमण करते हैं, तथा जिस प्रकार कुम्हारका चक्र घूमते हुए मिट्टीके पिण्डसे अनेक विकारोंको— सकोरा, घट, रांजन एवं कूंडे आदिको— उत्पन्न करता है उसी प्रकार यह संसारचक्र भी अनेक विकारोंको— जीवकी नरनारकादिरूप पर्यायोंको— उत्पन्न करके उन्हें घुमाता है । तात्पर्य यह है कि संसारपरिभ्रमणकी कारणभूत स्त्रियां हैं– तद्विषयक अनुराग है । उन स्त्रियोंको अवस्थाविशेषके अनुसार माता, बहिन एवं बेटीके समान समझकर उनसे अनुराग न करना; यह ब्रह्मचर्य है जो उस संसारचक्रसे प्राणीकी रक्षा करता है ॥ १०४ ॥ लोकमें पुण्यवान् पुरुष रागको उत्पन्न करके निरन्तर ही स्त्रियोंके हृदयमें निवास करते हैं । ये पुण्यवान् पुरुष भी जिन मुनियोंके हृदयमें वे स्त्रियां कभी और किसी प्रकारसे भी नहीं रहती हैं उन मुनियोंके चरणोंकी प्रतिदिन अत्यन्त नम्र होकर नित्य ही स्तुति करते हैं ॥ १०५ ॥ वैराग्य और त्यागरूप दो काष्ठखण्डोंसे निर्मित सुन्दर नसैनी जिन दस महान् स्थिर पादस्थानों (पैर रखनेके दण्डों) से संयुक्त होकर मोक्ष-महलमें जानेके लिये चढ़नेकी अभिलाषा रखनेवाले मुनिके लिये योग्य होती है तीन लोकोंके अधिपतियों (इन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्ती) द्वारा

107) निःशेषामलशीलसद्गुणमयीमत्यन्तसाम्यस्थितां
वन्दे तां परमात्मनः प्रणयिनीं कृत्यान्तगां स्वस्थताम् ।
यत्रानन्तचतुष्टयामृतसरित्यात्मानमन्तर्गतं
न प्राप्नोति जरादिदुःसहशिखः संसारदावानलः ॥ १०७ ॥

108) आयाते ऽनुभवं भवारिमथने निर्मुक्तमूर्त्याश्रये
शुद्धे ऽन्यादृशि सोमसूर्यहुतभुक्कान्तेरनन्तप्रभे ।
यस्मिन्नस्तमुपैति चित्रमचिरान्निःशेषवस्त्वन्तरं
तद्वन्दे विपुलप्रमोदसदनं चिद्रूपमेकं महः ॥ १०८ ॥

109) जातिर्याति न यत्र यत्र च मृतो मृत्युर्जरा जर्जरा
जाता यत्र न कर्मकायघटना नो वाग् न च व्याधयः ।
यत्रात्मैव परं चकास्ति विशदज्ञानैकमूर्तिः प्रभु-
र्नित्यं तत्पदमाश्रिता निरुपमाः सिद्धाः सदा पान्तु वः ॥ १०९ ॥

श्वरस्य । योग्या स्याद्भवेत् । इति दशविधो धर्मः पूर्णः[१] ॥ १०६ ॥ तां स्वस्थतां वन्दे अहं नमामि । किंलक्षणां स्वस्थताम् । निःशेषामलशीलसद्गुणसमीचीनगुणमयीम् । पुनः किंलक्षणां स्वस्थताम् । अत्यन्तसाम्यस्थितां समतायुक्ताम् । पुनः किंलक्षणां स्वस्थताम् । परमात्मनः प्रणयिनीं वल्लभाम् । पुनः कृत्यान्तगां कृतकृत्याम् । यत्र स्वस्थतायाम् । अन्तर्गतं मध्यगतम् । आत्मानम् । संसारदावानलः संसाराग्निः । न प्राप्नोति । पुनः किंलक्षणायां स्वस्थतायाम् । अनन्तचतुष्टयामृतसरिति नद्याम् । किंलक्षणः संसारदावानलः । जरादिदुःसहशिखः जराआदिदुःसहज्वालायुक्तः ॥ १०७ ॥ तत् एकम् । चिद्रूपं महः । वन्दे अहं नमामि । किंलक्षणं महः । विपुलप्रमोदसदनं विपुलानन्दमन्दिरम् । यस्मिन् चिद्रूपमहसि विषये । निःशेषवस्त्वन्तरं विकल्परूपं खण्डज्ञानम् । अचिरात् स्तोककालेन । अस्तम् उपैति । चित्रं महदाश्चर्यकरम्[२] । किंलक्षणे यस्मिन् । अनुभवम् आयाते । पुनः किंलक्षणे महसि । भवारिमथने संसारशत्रुनाशकरे[३] । पुनः किंलक्षणे महसि । निर्मुक्तमूर्त्याश्रये रहितमूर्त्याश्रये । पुनः किंलक्षणे महसि । शुद्धे निर्मले । पुनः किंलक्षणे महसि । अन्यादृशि असदृशे । पुनः किंलक्षणे । सोमसूर्यहुतभुक्कान्तेः अनन्तप्रभे[४] ॥ १०८ ॥ सिद्धाः । वः युष्मान् । सदा पान्तु रक्षन्तु । किंलक्षणाः सिद्धाः । निरुपमाः उपमारहिताः । पुनः किंलक्षणाः सिद्धाः । तत्पदमाश्रिताः मोक्षपदम् आश्रिताः । यत्र मोक्षपदे । जातिः उत्पत्तिः न । यत्र मोक्षपदे यातिर्गमनं न । च पुनः । यत्र मृत्युः न यमः न । यत्र मृतः मरणं (?) न । यत्र[५] मुक्तौ जरा न यत्र मुक्तौ जरया कृत्वा जर्जराः सिद्धाः न । यत्र[६] कर्मकायघटना न । च पुनः । यत्र

स्तूयमान उन दस धर्मोंके विषयमें किन पुरुषोंको हर्ष न होगा ? ॥१०६॥ जो स्वस्थता निर्मल समस्त शीलों एवं समीचीन गुणोंसे रची गई है, अत्यन्त समताभावके ऊपर स्थित है, तथा कार्यके अन्तको प्राप्त होकर कृतकृत्य हो चुकी है; उस परमात्माकी प्रियास्वरूप स्वस्थताको मैं नमस्कार करता हूं । अनन्त चतुष्टयरूप अमृतकी नदीके समान उस स्वस्थताके भीतर स्थित आत्माको वृद्धत्व आदिरूप दुःसह ज्वालाओंसे संयुक्त ऐसा संसाररूपी दावानल (जंगलकी आग) नहीं प्राप्त होता है ॥ १०७ ॥ जो चैतन्यरूप तेज संसाररूपी शत्रुको मथनेवाला है, रूप-रस-गन्ध-स्पर्शरूप मूर्तिके आश्रयसे रहित अर्थात् अमूर्तिक है, शुद्ध है, अनुपम है तथा चन्द्र सूर्य एवं अग्निकी प्रभाकी अपेक्षा अनन्तगुणी प्रभासे संयुक्त है; उस चैतन्यरूप तेजका अनुभव प्राप्त हो जानेपर आश्चर्य है कि अन्य समस्त पर पदार्थ शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं अर्थात् उनका फिर विकल्प ही नहीं रहता । अतिशय आनन्दको उत्पन्न करनेवाले उस चैतन्यरूप तेजको मैं नमस्कार करता हूं ॥ १०८ ॥ जिस मोक्षपदमें जन्म नहीं जाता है, मृत्यु मर चुकी है, जरा जीर्ण हो चुकी है, कर्म और शरीरका सम्बन्ध नहीं रहा है, वचन नहीं है, तथा व्याधियां भी शेष नहीं रही हैं, जहां

१ अ क इति दशविधो धर्मः । २ श महः आश्चर्यककरं, क महाश्चर्यकरं । ३ क नाशकरणे । ४ अ श कान्ते पुनः अनन्तप्रभे । ५ क मरणं न न यत्र । ६ क जर्जराः जाताः सिद्धाः यत्र, श जर्जरा न यत्र ।

110) दुर्लक्ष्ये ऽपि[1] चिदात्मनि श्रुतबलात् किंचित्स्वसंवेदनात्
ब्रूमः किंचिदिह प्रबोधनिधिभिर्ग्राह्यं न किंचिच्छलम् ।
मोहे राजनि कर्मणामतितरां प्रौढान्तराये रिपौ
दृग्बोधावरणद्वये सति मतिस्तादृक्कुतो मादृशाम् ॥ ११० ॥

111) विद्वन्मन्यतया सदस्यतितरामुद्दण्डवाग्डम्बराः
शृङ्गारादिरसैः प्रमोदजनकं व्याख्यानमातन्वते ।
ये ते च प्रतिसद्म सन्ति बहवो व्यामोहविस्तारिणो
येभ्यस्तत्परमात्मतत्त्वविषयं ज्ञानं तु ते दुर्लभाः ॥ १११ ॥

112) आपद्धेतुषु रागरोषनिकृतिप्रायेषु दोषेष्वलं
मोहात्सर्वजनस्य चेतसि सदा सत्सु स्वभावादपि ।
तन्नाशाय च संविदे च फलवत्काव्यं कवेर्जायते
शृङ्गारादिरसं तु सर्वजगतो मोहाय दुःखाय च ॥ ११२ ॥

मुक्तौ वाग्वचनं न । यत्र व्याधयः दुःख-पीडाः न[2] । यत्र मुक्तौ आत्मा परं केवलम् । चकास्ति शोभते ॥ १०९ ॥ चिदात्मनि विषये । किंचित् श्रुतबलात् शास्त्रबलात् । किंचित् स्वसंवेदनात् स्वानुभवात् । ब्रूमः । किंलक्षणे चिदात्मनि । दुर्लक्ष्येऽपि । इह अस्मिन् शास्त्रे । प्रबोधनिधिभिः ज्ञानधनैः । किंचित् छलम् । न ग्राह्यं न ग्रहणीयम् । मादृशां मनुष्याणाम् । तादृक् कुतः मतिः । क्व सति । मोहे सति । किंलक्षणे मोहे । कर्मणाम् अतितराम् अतिशयेन राजनि । पुनः प्रौढान्तराये सति । दृग्बोधावरणद्वये रिपौ विद्यमाने सति ॥ ११० ॥ ये पण्डिताः । विद्वन्मन्यतया पण्डितमन्यतया[3] । सदसि सभायाम् । अतितराम् अतिशयेन । उद्दण्डवाग्डम्बराः । शृङ्गारादिरसैः कृत्वा प्रमोदजनकं व्याख्यानम् । आतन्वते विस्तारयन्ति । च पुनः । ते पण्डिताः । प्रतिसद्म गृहे गृहे । बहवः सन्ति वर्तन्ते । किंलक्षणास्ते पण्डिताः । व्यामोहविस्तारिणः । येभ्यः पण्डितेभ्यः । तत्परमात्मतत्त्व-विषयं ज्ञानं प्राप्यते । तु पुनः । ते दुर्लभाः विरलाः स्तोकाः ॥ १११ ॥ रागरोषनिकृतिप्रायेषु । अलम् अत्यर्थम् । दोषेषु मोहात्सर्वजनस्य चेतसि सदा स्वभावादपि सत्सु विद्यमानेषु । किंलक्षणेषु । आपद्धेतुषु दुःखहेतुषु सत्सु । तन्नाशाय तस्य मोहस्य नाशाय । च पुनः । संविदे सम्यग्ज्ञानार्थं । कवेः काव्यम् । फलवत् सफलं जायते । तु पुनः । शृङ्गारादिरसं सर्वजगतः मोहाय । च पुनः

केवल निर्मलज्ञानरूप अद्वितीय शरीरको धारण करनेवाला प्रभावशाली आत्मा ही सदा प्रकाशमान है; उस मोक्ष पदको प्राप्त हुए अनुपम सिद्ध परमेष्ठी सर्वदा आपकी रक्षा करें ॥ १०९ ॥ यद्यपि चैतन्य-स्वरूप आत्मा अदृश्य है फिर भी शास्त्रके बलसे तथा कुछ स्वानुभवसे भी यहां उसके सम्बन्धमें कुछ निरूपण करते हैं । सम्यग्ज्ञानरूप निधिको धारण करनेवाले विद्वानोंको इसमें कुछ छल नहीं समझना चाहिये । कारण कि सब कर्मोंके अधिपतिस्वरूप मोह, शक्तिशाली अन्तरायरूप शत्रु तथा दर्शनावरण एवं ज्ञानावरण इन चार घातिया कर्मोंके विद्यमान होनेपर मुझ जैसे अल्पज्ञानियोंके वैसी उत्कृष्ट बुद्धि कहांसे हो सकती है ? ॥ ११० ॥ विद्वत्ताके अभिमानसे सभामें अत्यन्त उद्दण्ड वचनोंका समारम्भ करनेवाले जो कवि शृंगारादिक रसोंके द्वारा दूसरोंको आनन्दोत्पादक व्याख्यानका विस्तार करके उन्हें मुग्ध करते हैं वे कवि तो यहां घर घरमें बहुत-से हैं । किन्तु जिनसे परमात्मतत्त्वविषयक ज्ञान प्राप्त होता है वे तो दुर्लभ ही हैं ॥ १११ ॥ जो राग, क्रोध एवं माया आदि दोष अत्यन्त दुःखके कारणभूत हैं वे तो मोहके वश स्वभावसे ही सर्वदा सब जनोंके चित्तमें निवास करते हैं । उक्त दोषोंको नष्ट करने तथा सम्यग्ज्ञान प्राप्त करनेके उद्देशसे रचा गया कविका काव्य सफल होता है । इसके विपरीत शृंगारादिरसप्रधान काव्य तो

१ अ श दुर्लक्ष्येपि । २ अ श व्याधयः न । ३ अ क पण्डितं मन्यतया । ४ अ श ज्ञानाय ।

113) कालादपि प्रसृतमोहमहान्धकारे मार्गं न पश्यति जनो जगति प्रशस्तम् ।
क्षुद्राः क्षिपन्ति दृशि दुःश्रुतिधूलिमस्य न स्यात्कथं गतिरनिश्चितदुःपथेषु ॥ ११३ ॥

114) विण्मूत्रक्रिमिसंकुले कृतघृणैरन्त्रादिभिः पूरिते
शुक्रासृग्वरयोषितामपि तनुर्मातुः कुगर्भे ऽजनि ।
सापि क्लिष्टरसादिधातुकलिता पूर्णा मलाद्यैरहो
चित्रं चन्द्रमुखीति जातमतिभिर्विद्वद्भिरावर्ण्यते ॥ ११४ ॥

115) कचा यूकावासा मुखमजिनबद्धास्थिनिचयः
कुचौ मांसोच्छ्रायौ जठरमपि विष्ठादिघटिका ।
मलोत्सर्गे यन्त्रं जघनमबलायाः क्रमयुगं
तदाधारस्थूणे किमिह किल रागाय महताम् ॥ ११५ ॥

116) परमधर्मनदाज्जनमीनकान् शशिमुखीबडिशेन समुद्धृतान् ।
अतिसमुल्लसिते रतिमुर्मुरे पचति हा हतकः स्मरधीवरः ॥ ११६ ॥

दुःखाय भवति ॥ ११२ ॥ जगति विषये । जनः लोकः । प्रशस्तं मार्गं न पश्यति । किंलक्षणे जगति । कालात् पञ्चमकाल-प्रभावात् । अपि । प्रसृतमोहमहान्धकारे विस्तरिताज्ञानान्धकारे । क्षुद्राः सरागजनाः । अस्य लोकस्य । दृशि नेत्रे । दुःश्रुतिधूलिं कुशास्त्रधूलिम् । क्षिपन्ति । ततः कारणात् । अनिश्चितदुःपथेषु निश्चयरहितमार्गेषु । गतिः गमनम् । कथं न स्यात् । अपि तु दुःपथेषु गमनं स्याद्भवेत् ॥ ११३ ॥ वरयोषितां स्त्रीणाम् अपि । तनुः मातुः कुगर्भे निन्द्यगर्भे । अजनि उत्पन्ना बभूव । किंलक्षणे गर्भे । विण्मूत्रक्रिमिसंकुले विष्टामूत्रक्रमिभरिते । पुनः किंलक्षणे गर्भे । कृतघृणैः घृणायुक्तैः अन्त्रादिभिः पूर्णे । पुनः शुक्रधातुअसृक्-रुधिरपूरिते गर्भे । अहो इति संबोधने । विद्वद्भिः पण्डितैः । सापि स्त्री चन्द्रमुखी इति आवर्ण्यते । तत् चित्रम् आश्चर्यम् । किंलक्षणा स्त्री । क्लिष्टरसादिधातुकलिता । मलाद्यैः । पूर्णा भरिता । किंलक्षणैः विद्वद्भिः । जातमतिभिः उत्पन्नबुद्धिभिः ॥ ११४ ॥ अबलायाः । कचाः कुन्तलाः । यूकावासाः यूकास्थानाः । अबलायाः मुखम् । अजिनबद्धास्थिनिचयः चर्मबद्धअस्थिसमूहः । अबलायाः कुचौ मांसोच्छ्रायौ मांसग्रन्थी । अबलायाः जठरम् उदरम् अपि विष्ठादिघटिका विष्ठाभाजनम् । अबलाया जघनं मलो-त्सर्गे मलमूत्रादित्यजने । यन्त्रं धारागृहम् । अबलायाः क्रमयुगं तदाधारस्थूणे तस्य मलत्यजनयन्त्रस्य स्तम्भ द्वे । किल इति सत्ये । इह अबलायां विषये । महता रागाय किम् । अपि तु किमपि न ॥ ११५ ॥ हा इति कष्टम् । स्मरधीवरः कामधीवरः । जनमीनकान् लोकमत्स्यकान् । रतिमुर्मुरे कामकरीषाग्नौ । पचति । किंलक्षणः स्मरधीवरः । हतकः प्राणघातकः । किंलक्षणान्

सर्व जनोंके लिये मोह एवं दुःखको ही उत्पन्न करनेवाला होता है ॥११२॥ कालके प्रभावसे जहां मोहरूप महान् अन्धकार फैला हुआ है ऐसे इस लोकमें मनुष्य उत्तम मार्ग नहीं देख पाता है । इसके अतिरिक्त नीच मिथ्यादृष्टि जन उसकी आंखमें मिथ्या उपदेशरूप धूलिको भी फेंकते हैं । फिर भला ऐसी अवस्थामें उसका गमन अनिश्चित खोटे मार्गोंमें कैसे नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य ही होगा ॥ ११३ ॥ जो माताकी कुत्सित कुक्षि विष्ठा, मूत्र एवं क्षुद्र कीडोंसे व्याप्त तथा घृणाजनक आंतों आदिसे परिपूर्ण है ऐसी उस कुक्षिमें उत्तम स्त्रियोंका भी वीर्य एवं रजसे निर्मित शरीर उत्पन्न हुआ है । वह उत्तम स्त्री भी क्लेशजनक रस आदि धातुओंसे युक्त तथा मल आदिसे परिपूर्ण है । फिर भी आश्चर्य है कि उसे प्रतिभाशाली विद्वान् चन्द्रमुखी (चन्द्र जैसे मुखवाली) बतलाते हैं ॥ ११४ ॥ जिस स्त्रीके बाल तो जुओंके स्थानभूत हैं, मुख चमड़ेसे सम्बद्ध हड्डियोंके समूहसे संयुक्त है, स्तन मांससे उन्नत हैं, उदर भी विष्ठा आदिके क्षुद्र घड़ेके समान है, जघन मल छोड़नेके यन्त्रके समान है, तथा दोनों पैर उस यन्त्रके आधारभूत खम्भोंके समान हैं; ऐसी वह स्त्री क्या महान् पुरुषोंके लिये रागकी कारण हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती ॥ ११५ ॥ हत्यारा कामदेवरूपी धीवर उत्तम धर्मरूपी नदीसे मनुष्योंरूप मछलियोंको स्त्रीरूप कांटेके द्वारा निकाल कर उन्हें अत्यन्त जलनेवाली अनुरागरूपी आगमें पकाता है, यह बड़े खेदकी बात है ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार

117) येनेदं जगदापदम्बुधिगतं कुर्वीत मोहो हठात्
येनैते प्रतिजन्तु हन्तुमनसः क्रोधादयो दुर्जयाः।
येन भ्रातरियं च संसृतिसरित्संजायते दुस्तरा
तज्जानीहि समस्तदोषविषमं स्त्रीरूपमेतद्ध्रुवम् ॥ ११७ ॥

118) मोहव्याधभटेन संसृतिवने मुग्धैणबन्धापदे
पाशाः पङ्कजलोचनादिविषयाः सर्वत्र सज्जीकृताः।
मुग्धास्तत्र पतन्ति तानपि वरानास्थाय वाञ्छन्त्यहो
हा कष्टं परजन्मने ऽपि न विदः क्वापीति धिङ्मूर्खताम् ॥ ११८॥

119) एतन्मोहठकप्रयोगविहितभ्रान्तिभ्रमच्चक्षुषा
पश्यत्येष जनो ऽसमञ्जसमसद्बुद्धिर्ध्रुवं व्यापदे।
अप्येतान् विषयाननन्तनरकक्लेशप्रदानस्थिरान्।
यत् शश्वत्सुखसागरानिव सतश्चेतःप्रियान् मन्यते ॥ ११९ ॥

लोकमत्स्यकान्। परमधर्मनदात् धर्मसरोवरात्। शशिमुखीबडिशेन शशिवन्मुखाः याः स्त्रियः ताः एव बडिशः तेन। समुद्धृतान्[1] समाकर्षितान्। किंलक्षणे रतिमुर्मुरे। अतिसमुल्लसिते अतिप्रकाशिते ॥११६॥ भो भ्रातः भो जीव। एतत् स्त्रीरूपं ध्रुवम्। समस्तदोषविषमं समस्तदोषभरितम्। जानीहि। येन स्त्रीरूपेण। मोहः। हठात् बलात् मोहशक्तितः। इदं जगत्। आपदम्बुधिगतं कुर्वीत। येन स्त्रीरूपेण। एते दुर्जयाः क्रोधादयः। जन्तु जन्तु प्रति हन्तुमनसः जाताः। च पुनः। येन स्त्रीरूपेण इयं संसृतिसरित् संसारनदी। दुस्तरा जायते ॥ ११७ ॥ संसृतिवने संसारवने। मोहव्याधभटेन। मुग्धैणबन्धापदे मुग्धजनमृगबन्धनाय। सर्वत्र। पङ्कजलोचनादिविषयाः स्त्रीरूपादिविषयाः। पाशाः बन्धनाः सज्जीकृताः। अहो इति संबोधने। तत्र पाशेषु। मुग्धाः जनाः पतन्ति। हा इति कष्टम्। तान् बन्धनान् वरान् ज्ञात्वा। आस्थाय स्थित्वा। परजन्मनेऽपि परलोकाय। वाञ्छन्ति। इति मूर्खनाम् (?)। क्वापि वयं न विदः (?) इति[2] मूर्खतां धिक् ॥ ११८ ॥ एषः असद्बुद्धिजनः असमीचीनबुद्धिः लोकः। एतत् विषयसौख्यम्। मोहठकप्रयोगेण चूर्णेन विहिता कृता या भ्रान्तिः तया भ्रान्त्या भ्रमत् यच्चक्षुः तेन चक्षुषा। असमञ्जसं वैपरीत्यं पश्यति। इन्द्रियविषयं वरं पश्यति। ध्रुवं निश्चयेन। तद्विषयं व्यापदे कष्टाय भवति। तथापि

धीवर कांटेके द्वारा नदीसे मछलियोंको निकालकर उन्हें आगमें पकाता है उसी प्रकार कामदेव (भोगाभिलाषा) भी मनुष्योंको स्त्रियोंके द्वारा धर्मसे भ्रष्ट करके उन्हें विषयभोगोंसे सन्तप्त करता है ॥ ११६ ॥ जिस स्त्रीके सौन्दर्यके प्रभावसे यह मोह जगत्के प्राणियोंको बलात् आपत्तिरूप समुद्रमें प्रविष्ट करता है, जिसके द्वारा ये दुर्जय क्रोध आदि शत्रु प्रत्येक प्राणीके घातमें तत्पर रहते हैं, तथा जिसके द्वारा यह संसाररूपी नदी पार करनेके लिये अशक्य हो जाती है, हे भ्राता! तुम उस स्त्रीके सौन्दर्यको निश्चयतः समस्त दोषोंसे युक्त होनेके कारण कष्टदायक समझो ॥ ११७ ॥ सुभट मोहरूपी व्याधने संसाररूप वनमें मूर्खजनरूपी मृगोंको बन्धनजनित आपत्तिमें डालनेके लिये सर्वत्र कमलके समान नेत्रोंवाली स्त्री आदि विषयरूपी जालोंको तैयार कर लिया है। ये मूर्ख प्राणी उस इन्द्रियविषयरूपी जालमें फंस जाते हैं और उन विषयभोगोंको उत्तम एवं स्थायी समझ कर परलोकमें भी उनकी इच्छा करते हैं, यह बहुत खेदकी बात है। परन्तु विद्वान् पुरुष उनकी अभिलाषा इस लोक और परलोकमेंसे कहीं भी नहीं करते हैं। उस मूर्खताको धिक्कार है ॥ ११८ ॥ यह दुर्बुद्धि मनुष्य मोहरूपी ठगके प्रयोगसे की गई भ्रान्तिसे भ्रमको प्राप्त हुई चक्षुके द्वारा इस विषयसुखको विपरीत देखता है, अर्थात् उस दुखदायक विषयसुखको सुखदायक मानता है। परन्तु वास्तवमें वह निश्चयसे आपत्तिजनक ही है। जो ये विषयभोग नरकमें अनन्त दुख देनेवाले व

[1] अ क शशिमुखीबडिशेन समुद्धृतान्। [2] श विदमः इति।

120) संसारे ऽत्र घनाटवीपरिसरे मोहष्ठकः कामिनी-
क्रोधाद्याश्च तदीयपेटकमिदं तत्संनिधौ जायते ।
प्राणी तद्विहितप्रयोगविकलस्तद्वश्यतामागतो
न स्वं चेतयते लभेत विपदं ज्ञातुः प्रभोः कथ्यताम् ॥ १२० ॥

121) ऐश्वर्यादिगुणप्रकाशनतया मूढा हि ये कुर्वते
सर्वेषां टिरिटिल्लितानि पुरतः पश्यन्ति नो व्यापदः ।
विद्युल्लोलमपि स्थिरं परमपि स्वं पुत्रदारादिकं
मन्यन्ते यदहो तदत्र विषमं मोहप्रभोः शासनम् ॥ १२१ ॥

122) क यामः किं कुर्मः कथमिह सुखं किं च भविता
कुतो लभ्या लक्ष्मीः क इह नृपतिः सेव्यत इति ।
विकल्पानां जालं जडयति मनः पश्यत सतां
अपि ज्ञातार्थानामिह महदहो मोहचरितम् ॥ १२२ ॥

एतान् विषयान् । लोकस्य चेतः प्रियान् मन्यते । किंलक्षणान् विषयान् । अनन्तनरकक्लेशप्रदान् अस्थिरान् । मूढजनः शश्वत्सुखसागरान् इव मन्यते । सतः विद्यमानान् ॥ ११९ ॥ अत्र संसारे । मोहः ठकः[1] वर्तते । किंलक्षणे संसारे । घनाटवीपरिसरे चतुर्गतिपरिभ्रमे । च पुनः । कामिनीक्रोधाद्याः । इदं तस्य[2] मोहस्य पेटकं परिवारः । प्राणी जीवः । तत्संनिधौ तस्य मोहस्य निकटे । तद्विहित-प्रयोगविकलः मोहचूर्णेन विकलः । जायते । किंलक्षणः जीवः । तस्य मोहस्य वश्यताम् आगतः । स्वम् आत्मानम् । न चेतयते । विपदं लभेत आपदं लभेत । भो जीव । ज्ञातुः प्रभोः अग्रे सर्वज्ञस्य अग्रे कथ्यताम् ॥१२०॥ हि यतः । ये मूढाः मूर्खाः । सर्वेषां लोकानाम् । पुरतः अग्रे । टिरिटिल्लितानि हास्यं कुर्वन्ते । लोकानां पुरतः अग्रे चेष्टितानि कुर्वन्ति । कया । ऐश्वर्यादिगुणप्रकाशनतया लक्ष्मीगर्वेण । जनाः व्यापदः दुःखानि । नो पश्यन्ति । अहो इति आश्चर्ये । यत्पुत्रदारादिकम् । स्वम् आत्मानम् अपि परं द्रव्यादिकम् । स्थिरं मन्यन्ते । किंलक्षणं पुत्रादिकम् । सर्वं विद्युल्लोलं चञ्चलं विनश्वरम् । तत् अत्र संसारे । मोहप्रभोः मोहराज्ञः । शासनं प्रभावः वर्तते ॥१२१॥ अहो इति संबोधने । भो भव्याः भो लोकाः । इह जगति संसारे । मोहचरितं पश्यत । किंलक्षणं मोहचरितम् । महद्गरिष्ठम्[3] । इति विकल्पानां जालम् । सतां सत्पुरुषाणाम् । मनश्चित्तम् । जडयति मूर्खं करोति । किंलक्षणानां सताम् । ज्ञातार्थानाम् । इति किम् । वयं क यामः कुत्र गच्छामः । वयं किं कुर्मः । इह संसारे कथं सुखं भवति । च पुनः । किं भविता किं भविष्यति । लक्ष्मीः कुतः लभ्या । इह संसारे कः नृपतिः राजा सेव्यते । इति विकल्पानां जालं मनः जडयति । एतत्सर्वं मोह-

अस्थिर हैं उनको वह सर्वदा चित्तको प्रिय लगनेवाले सुखके समुद्रके समान मानता है ॥ ११९ ॥ सघन वनकी पर्यन्तभूमिके समान इस संसारमें मोहरूप ठग विद्यमान है । स्त्री और क्रोधादि कषायें उसकी पेटीके समान हैं अर्थात् वे उसके प्रबल सहायक हैं । कारण कि ये उसके रहनेपर ही होते हैं । उक्त मोहके द्वारा किये गये प्रयोगसे व्याकुल हुआ प्राणी उसके वशमें होकर अपने आत्मस्वरूपका विचार नहीं करता, इसीलिये वह विपत्तिको प्राप्त होता है । उस मोहरूप ठगसे प्राणीकी रक्षा करनेवाला चूंकि ज्ञाता प्रभु (सर्वज्ञ) है अत एव उस ज्ञाता प्रभुसे ही प्रार्थना की जाय ॥ १२० ॥ जो मूर्खजन अपने ऐश्वर्य आदि गुणोंको प्रगट करनेके विचारसे अन्य सब जनोंकी मजाक किया करते हैं वे आगे आनेवाली आपत्तियोंको नहीं देखते हैं । आश्चर्य है कि जो पुत्र एवं पत्नी आदि विजलीके समान चंचल (अस्थिर) हैं उन्हें वे लोग स्थिर मानते हैं तथा प्रत्यक्षमें पर (भिन्न) दिखनेपर भी उन्हें स्वकीय समझते हैं । यह मोहरूपी राजाका विषम शासन है ॥ १२१ ॥ हम कहां जावें, क्या करें, यहां सुख कैसे प्राप्त हो सकता है, और क्या होगा, लक्ष्मी कहांसे प्राप्त हो सकती है, तथा इसके लिये कौन-से राजाकी सेवा की जाय; इत्यादि विकल्पोंका समुदाय यहां तत्त्वज्ञ सज्जन पुरुषोंके भी मनको जड़ बना देता है, यह शोचनीय है ।

१ क मोहठकः । २ क क्रोधाद्याः तस्य । ३ श महागरिष्ठम् ।

123) विहाय व्यामोहं धनसदनतन्वादिविषये
कुरुध्वं तत्तूर्णं किमपि निजकार्यं बत बुधाः ।
न येनेदं जन्म प्रभवति सुनृत्वादिघटना
पुनः स्यान्न स्याद्वा किमपरवचोडम्बरशतैः ॥ १२३ ॥

124) वाचस्तस्य प्रमाणं य इह जिनपतिः सर्वविद्वीतरागो
रागद्वेषादिदोषैरुपहततमनसो नेतरस्यानृतत्वात् ।
एतन्निश्चित्य चित्ते श्रयत बत बुधा विश्वतत्त्वोपलब्धौ
मुक्तेर्मूलं तमेकं भ्रमत किमु बहुष्वन्धवद्दुःपथेषु ॥ १२४ ॥

125) यः कल्पयेत् किमपि सर्वविदोऽपि वाचि संदिह्य तत्त्वमसमञ्जसमात्मबुद्ध्या ।
खे पत्रिणां विचरतां सुदृशेक्षितानां संख्यां प्रति प्रविदधाति स वादमन्धः ॥ १२५ ॥

चरितम् ॥ १२२ ॥ बत इति खेदे । भो बुधाः भो लोकाः । अपरवचोडम्बरशतैः किं वचनसहस्रैः किम् । तूर्णं शीघ्रम् । तत्किमपि निजकार्यं कुरुध्वम् । येन कर्मणा । इदं जन्म संसारः । न प्रभवति । धनसदनतन्वादिविषये व्यामोहं विहाय त्यक्त्वा । पुनः सुनृत्वादिघटना पुनः स्यात् भवेत् । वा न स्याद् न भवेत् ॥ १२३ ॥ इह संसारे । तस्य वाचः प्रमाणं श्रेष्ठम् । यः जिनपतिः भवति । यः सर्वविद्भवति । यो वीतरागो भवति । इतरस्य देवस्य वाचः प्रमाणं न स्यात् न भवेत् । कस्मात् । अनृतत्वात् असत्यत्वात् । किंलक्षणस्य कुदेवस्य । रागद्वेषादिदोषैः कृत्वा उपहतमनसः रागद्वेषैः पीडितचित्तस्य । बत इति खेदे । भो बुधाः एतत्पूर्वोक्तम् । चित्ते निश्चित्य चित्ते स्थाप्य । विश्वतत्त्वोपलब्धौ सत्याम् । एकं तम् आत्मानं मुक्तेर्मूलं श्रयत आश्रयत । बहुषु दुःपथेषु अन्धवत् किमु भ्रमत ॥ १२४ ॥ यः मूर्खः आत्मबुद्ध्या कृत्वा । तत्त्वं प्रति संदिह्य संदेहं गत्वा । सर्वविदः वाचि सर्वज्ञस्य वचने । किमपि असमञ्जसं वैपरीत्यं । कल्पयेत् असत्यं विचारयेत् । स मूर्खः अन्धः । खे आकाशे । विचरतां गच्छताम् । पत्रिणां पक्षिणाम् । संख्यां प्रति । वादं प्रविदधाति वादं करोति । किंलक्षणानां पत्रिणाम् । सुदृशेक्षितानां दृष्टियुक्तेन जीवेन

यह सब मोहकी महती लीला है ॥ १२२ ॥ हे पण्डितजन! धन, महल और शरीर आदिके विषयमें ममत्व बुद्धिको छोड़कर शीघ्रतासे कुछ भी अपना ऐसा कार्य करो जिससे कि यह जन्म फिरसे न प्राप्त करना पड़े । दूसरे सैकड़ों वचनोंके समारम्भसे तुम्हारा कोई भी अभीष्ट सिद्ध होनेवाला नहीं है । यह जो तुम्हें उत्तम मनुष्य पर्याय आदि स्वहितसाधक सामग्री प्राप्त हुई है वह फिरसे प्राप्त हो सकेगी अथवा नहीं प्राप्त हो सकेगी, यह कुछ निश्चित नहीं है । अर्थात् उसका फिरसे प्राप्त होना बहुत कठिन है ॥ १२३ ॥ यहां जो जिनेन्द्र देव सर्वज्ञ होता हुआ राग-द्वेषसे रहित है उसका वचन प्रमाण (सत्य) है । इसके विपरीत जिसका अन्तःकरण राग-द्वेषादिसे दूषित है ऐसे अन्य किसीका वचन प्रमाण नहीं हो सकता, कारण कि वह सत्यतासे रहित है । ऐसा मनमें निश्चय करके हे बुद्धिमान् सज्जनो! जो सर्वज्ञ हो जानेसे मुक्तिका मूल कारण है उसी एक जिनेन्द्र देवका आप लोग समस्त तत्त्वोंके परिज्ञानार्थ आश्रय करें, अन्धेके समान बहुत-से कुमार्गोंमें परिभ्रमण करना योग्य नहीं है ॥ १२४ ॥ जो सर्वज्ञके भी वचनमें सन्दिग्ध होकर अपनी बुद्धिसे तत्त्वके विषयमें अन्यथा कुछ कल्पना करता है वह अज्ञानी पुरुष निर्मल नेत्रोंवाले व्यक्तिके द्वारा देखे गये आकाशमें विचरते हुए पक्षियोंकी संख्याके विषयमें विवाद करनेवाले अन्धेके समान आचरण करता है ॥ १२५ ॥ जिन देवने अंगश्रुतके बारह तथा अंगबाह्यके अनन्त भेद बतलाये हैं । इस दोनों ही प्रकारके श्रुतमें चेतन आत्माको ग्राह्यस्वरूपसे तथा उससे भिन्न पर पदार्थोंको

१ अ श उपहत ।

126) उक्तं जिनैर्द्वादशभेदमङ्गं श्रुतं ततो बाह्यमनन्तभेदम् ।
तस्मिन्नुपादेयतया चिदात्मा ततः परं हेयतयाभ्यधायि ॥ १२६ ॥

127) अल्पायुषामल्पधियामिदानीं कुतः समस्तश्रुतपाठशक्तिः ।
तदत्र मुक्तिं प्रति बीजमात्रमभ्यस्यतामात्महितं प्रयत्नात् ॥ १२७ ॥

128) निश्चेतव्यो जिनेन्द्रस्तदतुलवचसां गोचरे ऽर्थे परोक्षे
कार्यः सो ऽपि प्रमाणं वदत किमपरेणालकोलाहलेन[1] ।

अवलोकितानाम् ॥ १२५ ॥ जिनैः गणधरदेवैः । द्वादशभेदम् अङ्गं श्रुतम् उक्तं कथितम् । ततः । द्वादशाङ्गाद्बाह्यम् अनेकभेदम् । तस्मिन् द्विधाश्रुतेषु (?) । उपादेयतया चिदात्मा वर्तते । अभ्यधायि अकथि । ततः आत्मनः सकाशात् । परं परवस्तु । हेयतया अभ्यधायि जिनः कथितवान् ॥ १२६ ॥ तत्तस्मात्कारणात् । इदानीम् अल्पायुषाम् अल्पधियां मनुष्याणाम् । समस्तश्रुतपाठ-शक्तिः कुतः भवति । अत्र संसारे । प्रयत्नात् मुक्तिं प्रति बीजमात्रम् आत्महितं श्रुतम् अभ्यस्यताम् ॥१२७॥ भो भो भव्याः । जिनेन्द्रः निश्चेतव्यः । तस्य जिनेन्द्रस्य । अतुलवचसां गोचरे परोक्षे अर्थे निश्चयः सोऽपि निश्चयः प्रमाणं कार्यम् । भो लोकाः । इह आत्मनि छद्मस्थतायां सत्याम् अपरेण आल-मिथ्याकोलाहलेन[2] वृथा किम् । वदत । भो भव्याः भो समयपथस्वानुभूतिप्रबुद्धाः

हेयस्वरूपसे निर्दिष्ट किया गया है ॥ विशेषार्थ – मतिज्ञानके निमित्तसे जो ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं । इस श्रुतके मूलमें दो भेद हैं– अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य । इनमें अंगप्रविष्टके निम्न बारह भेद हैं– १ आचारांग २ सूत्रकृतांग ३ स्थानांग ४ समवायांग ५ व्याख्याप्रज्ञप्त्यंग ६ ज्ञातृधर्मकथांग ७ उपासका-ध्ययनांग ८ अन्तकृद्दशांग ९ अनुत्तरौपपादिकदशांग १० प्रश्नव्याकरणांग ११ विपाकसूत्रांग और १२ दृष्टि-वादांग । इनमें दृष्टिवाद भी पांच प्रकारका है– १ परिकर्म २ सूत्र ३ प्रथमानुयोग ४ पूर्वगत और ५ चूलिका । इनमें पूर्वगतके भी निम्न चौदह भेद हैं– १ उत्पादपूर्व २ अग्रायणीपूर्व ३ वीर्यानुप्रवाद ४ अस्तिनास्तिप्रवाद ५ ज्ञानप्रवाद ६ सत्यप्रवाद ७ आत्मप्रवाद ८ कर्मप्रवाद ९ प्रत्याख्याननामधेय १० विद्यानुप्रवाद ११ कल्याणनामधेय १२ प्राणावाय १३ क्रियाविशाल और १४ लोकबिन्दुसार । अंगबाह्य दशवैकालिक और उत्तराध्ययन आदिके भेदसे अनेक प्रकारका है । फिर भी उसके मुख्यतासे निम्न चौदह भेद बतलाये गये हैं– १ सामायिक २ चतुर्विंशतिस्तव ३ वन्दना ४ प्रतिक्रमण ५ वैनयिक ६ कृतिकर्म ७ दशवैकालिक ८ उत्तराध्ययन ९ कल्पव्यवहार १० कल्प्याकल्प्य ११ महाकल्प्य १२ पुण्डरीक १३ महापुण्डरीक और १४ निषिद्धिका (विशेष जिज्ञासाके लिये षट्खंडागम – कृतिअनुयोगद्वार (पु. ९) पृ. १८७–२२४ देखिये) । इस समस्त ही श्रुतमें एक मात्र आत्माको उपादेय बतलाकर अन्य सभी पदार्थोंको हेय बतलाया गया है । श्रुतके अभ्यासका प्रयोजन भी यही है, अन्यथा ग्यारह अंग और नौ पूर्वोंका अभ्यास करके भी द्रव्यलिंगी मुनि संसारमें ही परिभ्रमण किया करते हैं ॥ १२६ ॥ वर्तमान कालमें मनुष्योंकी आयु अल्प और बुद्धि अतिशय मन्द हो गई है । इसीलिये उनमें उपर्युक्त समस्त श्रुतके पाठकी शक्ति नहीं रही है । इस कारण उन्हें यहां उतने ही श्रुतका प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करना चाहिये जो मुक्तिके प्रति बीजभूत होकर आत्माका हित करनेवाला है ॥ १२७ ॥ हे भव्य जीवो ! आपको जिनेन्द्र देवके विषयमें निश्चय करना चाहिये और उसके अनुपम वचनोंके विषयभूत परोक्ष पदार्थके विषयमें उसीको प्रमाण मानना चाहिये । दूसरे व्यर्थके कोलाहलसे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा, यह आप ही बतलावें । अतएव छद्मस्थ (अल्पज्ञ) अवस्थाके विद्यमान

१ अ श किमपरैरालकोलाहलेन, ब किमपरैलकोलाहलेन । २ अ श अपरैः आलकोलाहलेन ।

सत्यां छद्मस्थतायामिह समयपथस्वानुभूतिप्रबुद्धा
भो भो भव्या यतध्वं दृगवगमनिधावात्मनि प्रीतिभाजः ॥ १२८ ॥

129) तद्ध्यायत तात्पर्याज्ज्योतिः सच्चिन्मयं विना यस्मात् ।
सदपि न सत् सति यस्मिन् निश्चितमाभासते विश्वम् ॥ १२९ ॥

130) अज्ञो यद्भवकोटिभिः क्षपयति स्वं कर्म तस्माद्बहु
स्वीकुर्वन् कृतसंवरः स्थिरमना ज्ञानी तु तत्तत्क्षणात् ।
तीक्ष्णक्लेशहयाश्रितोऽपि हि पदं नेष्टं तपःस्यन्दनो
नेयं तन्नयति प्रभुं स्फुटतरज्ञानैकसूतोज्झितः ॥ १३० ॥

सिद्धान्तपथानुभूतिजागरिताः । आत्मनि यतध्वम् । किंलक्षणा भव्याः । दृगवगमनिधौ रत्नत्रये । प्रीतिभाजः रत्नत्रयम् आश्रिताः ॥१२८॥ तात्पर्यात् निश्चयेन । तत् चिन्मयं ज्योतिः ध्यायत । किंलक्षणं ज्योतिः । सत् विद्यमानम् । निश्चितम् । यस्मात् ज्योतिषः विना । विश्वं समस्तलोकम् । सत् अपि न सत् विद्यमानम् अपि अविद्यमानम् । यस्मिन् ज्योतिःप्रकाशे सति । विश्वं समस्तम् । आभासते प्रकाशते ॥१२९॥ अज्ञः मूर्खः । यत् स्वं कर्म । भवकोटिभिः पर्यायकोटिभिः कृत्वा क्षपयति । तस्मात् कर्मणः । बहु कर्म स्वीकुर्वन् अङ्गीकरोति । तु पुनः । कृतसंवरः स्थिरमनाः ज्ञानी पुमान् । तत् कर्म । तत्क्षणात् क्षपयति । दृष्टान्तमाह । हि यतः । तपःस्यन्दनः तपोरथः । नेयं राजानम् आत्मानं प्रभुम् । इष्टं पदं मोक्षपदम् । न नयति । किंलक्षणः तपोरथः । स्फुटतरज्ञानैकसूतोज्झितः प्रकटज्ञानसारथिरहितः । पुनः किंलक्षणः तपोरथः । तीक्ष्णक्लेशहयाश्रितः अपि तीक्ष्णक्लेशघोटकसहितोऽपि ॥ १३० ॥

रहनेपर सिद्धान्तके मार्गसे प्राप्त हुए आत्मानुभवनसे प्रबोधको प्राप्त होकर आप सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी निधिस्वरूप आत्माके विषयमें प्रीतियुक्त होकर प्रयत्न कीजिये – उसकी ही आराधना कीजिये ॥ विशेषार्थ– अल्पज्ञताके कारण हम लोग जिन परोक्ष पदार्थोंके विषयमें कुछ भी निश्चय नहीं कर सकते हैं उनके विषयमें हमें जिनेन्द्र देवको, जो कि राग-द्वेषसे रहित होकर सर्वज्ञ भी हैं, प्रमाण मानना चाहिये । यद्यपि वर्तमानमें वह यहां विद्यमान नहीं है तथापि परम्पराप्राप्त उसके वचन (जिनागम) तो विद्यमान है ही । उसके द्वारा प्रबोधको प्राप्त होकर भव्य जीव आत्मकल्याण करनेमें प्रयत्नशील हो सकते हैं ॥ १२८ ॥ चैतन्यमय उस उत्कृष्ट ज्योतिका तत्परतासे ध्यान कीजिये, जिसके विना विद्यमान भी विश्व अविद्यमानके समान प्रतिभासित होता है तथा जिसके उपस्थित होनेपर वह विश्व निश्चित ही यथार्थस्वरूपमें प्रतिभासित होता है ॥ १२९ ॥ अज्ञानी जीव अपने जिस कर्मको करोड़ों जन्मोंमें नष्ट करता है तथा उससे बहुत अधिक ग्रहण करता है उसे ज्ञानी जीव स्थिरचित्त होकर संवरको प्राप्त होता हुआ तत्क्षण अर्थात् क्षणभरमें नष्ट कर देता है । ठीक है– तीक्ष्ण क्लेशरूपी घोड़ोंके आश्रित होकर भी तपरूपी रथ यदि अतिशय निर्मल ज्ञानरूपी अद्वितीय सारथिसे रहित है तो वह अपने ले जानेके योग्य प्रभु (आत्मा और राजा) को अभीष्ट स्थानमें नहीं प्राप्त करा सकता है ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार अनुभवी सारथी (चालक) के विना शीघ्रगामी घोड़ोंके द्वारा खींचा जानेवाला भी रथ उसमें बैठे हुए राजा आदिको अपने अभीष्ट स्थानमें नहीं पहुंचा सकता है उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानके विना किया जानेवाला तप दुःसह कायक्लेशोंसे संयुक्त होकर भी आत्माको मोक्षपदमें नहीं पहुंचा सकता है । यही कारण है कि जिन कर्मोंको अज्ञानी जीव करोड़ों भवोंमें भी नष्ट नहीं कर पाता है उनको सम्यग्ज्ञानी जीव क्षणभरमें ही नष्ट कर देता है । इसका भी कारण यह है कि अज्ञानी प्राणीके निर्जराके साथ साथ नवीन कर्मोंका आस्रव भी होता रहता है, अतः वह कर्मसे रहित नहीं हो पाता है । किन्तु इसके विपरीत ज्ञानी जीवके जहां नवीन कर्मोंका आस्रव रुक जाता है वहां पूर्वसंचित कर्मकी निर्जरा भी होती है । अतएव

131) **कर्माब्धौ तद्विचित्रोदयलहरिभरव्याकुले व्यापदुग्र-**
भ्राम्यन्नक्रादिकीर्णे मृतिजननलसद्वाडवावर्तगर्ते ।
मुक्तः शक्त्या हताङ्गः प्रतिगति स पुमान् मज्जनोन्मज्जनाभ्या-
मप्राप्य ज्ञानपोतं तदनुगतजडः पारगामी कथं स्यात् ॥ १३१

132) **शश्वन्मोहमहान्धकारकलिते त्रैलोक्यसद्मन्यसौ**
जैनी वागमलप्रदीपकलिका न स्याद्यदि द्योतिका ।
भावानामुपलब्धिरेव न भवेत् सम्यक्तदिष्टेतर-
प्राप्तित्यागकृते पुनस्तनुभृतां दूरे मतिस्तादृशी ॥ १३२ ॥

133) **शान्ते कर्मण्युचितसकलक्षेत्रकालादिहेतौ**
लब्ध्वा स्वास्थ्यं कथमपि लसद्योगमुद्राविशेषम्[1] ।

स पुमान् । कर्माब्धौ कर्मसमुद्रे । ज्ञानपोतम् अप्राप्य पारगामी कथं स्यात् भवेत् । किंलक्षणः पुमान् । तदनुगतः तस्य संसारसमुद्रस्य अनुगतः सहगामी। पुनः जडः मूर्खः । पुनः किंलक्षणः जीवः । शक्त्या मुक्तः रहितः । प्रतिगति गतिं गतिं प्रति । मज्जनं ब्रुडनम् उन्मज्जनम् उच्छलनं द्वाभ्याम् । हताङ्गः विकलाङ्गः पीडितशरीरः । किंलक्षणे कर्मसमुद्रे। तद्विचित्रोदयलहरिभरव्याकुले तस्य कर्मणः विचित्रोदयलहरिभरेण व्याकुले । पुनः किंलक्षणे कर्मसमुद्रे । व्यापदुग्रभ्राम्यन्नक्रादिकीर्णे सघन-उग्रभ्रमन्नक्रदुष्टजलचरजीवभृते । पुनः किंलक्षणे कर्मसमुद्रे । मृतिजननलसद्वाडवावर्तगर्ते जन्मजरामृत्युवाडवाग्निभृते ॥ १३१ ॥ यदि चेत् । त्रैलोक्यसद्मनि त्रैलोक्यगृहे । असौ जैनी वाक् अमलप्रदीपकलिका । द्योतिका प्रकाशनशीला । न स्यात् न भवेत् । किंलक्षणे त्रैलोक्यसद्मनि । शश्वन्मोहमहान्धकारकलिते अनवरतमोहान्धकारभरिते । संसारे यदि जैनी वाक्दीपिका न स्यात् तदा । तनुभृतां जीवानाम् । भावानां सम्यक् उपलब्धिरेव न भवेत्[2] । पुनस्तत्-इष्टेतरप्राप्तित्यागकृते उपादेयहेयवस्तुप्राप्तित्यागकृते कारणाय । तनुभृतां तादृशी मतिः दूरे तिष्ठति[3] ॥ १३२ ॥ यत् यस्मात् । अयम् आत्मा धर्मः । आत्मना । स्वम् आत्मानम् । असुखस्फीतसंसारगर्तात् उद्धृत्य सुखमयपदे। धारयति स्थापयति। कर्मणि शान्ते सति। उचितयोग्यसकलक्षेत्रकालादिपञ्चसामग्रीहेतौ सत्यां (?) वर्तमानायाम् ।

वह शीघ्र ही कर्मोंसे रहित हो जाता है ॥ १३० ॥ जो कर्मरूपी समुद्र अपने विविध प्रकारके उदयरूपी लहरोंके भारसे व्याप्त है, आपत्तियोंरूप इधर उधर घूमनेवाले महान् मगर आदि जलजन्तुओंसे परिपूर्ण है, तथा मृत्यु व जन्मरूपी वड़वाग्नि और भंवरोंके गड्ढेके समान है; उसमें पड़ा हुआ वह अज्ञानी मनुष्य — जिसका शरीर प्रत्येक गतिमें (पग-पगपर) बार बार डूबने और ऊपर आनेके कारण पीड़ित हो रहा है तथा जो पार करानेरूप शक्तिसे रहित है — ज्ञानरूपी जहाजको प्राप्त किये विना कैसे पारगामी हो सकता है ? अर्थात् जब तक उसे ज्ञानरूपी जहाज प्राप्त नहीं होता है तब तक वह कर्मरूपी समुद्रके पार किसी प्रकार भी नहीं पहुंच सकता है ॥ १३१ ॥ जो तीनों लोकोंरूप भवन सर्वदा मोहरूप सघन अन्धकारसे व्याप्त हो रहा है उसको प्रकाशित करनेवाली यदि जिनवाणीरूपी निर्मल दीपककी लौ न हो तो पदार्थोंका भले प्रकारसे जब ज्ञान ही नहीं हो सकता है तब ऐसी अवस्थामें इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टके परित्यागके लिये प्राणियोंके उस प्रकारकी बुद्धि कैसे हो सकती है ? नहीं हो सकती है ॥ १३२ ॥ कर्मके उपशान्त होनेके साथ योग्य समस्त क्षेत्र-कालादिरूप सामग्रीके प्राप्त हो जानेपर केवल ध्यानमुद्रासे संयुक्त स्वास्थ्य (आत्मस्वरूपस्थता) को जिस किसी प्रकारसे प्राप्त करके चूंकि यह आत्मा दुःखोंसे परिपूर्ण संसाररूप गड्ढेसे अपनेको निकालकर अपने आप ही सुखमय पद अर्थात् मोक्षमें धारण कराता है अतएव वह आत्मा ही धर्म कहा जाता है ॥ विशेषार्थ— 'इष्टस्थाने धरति इति धर्मः' इस निरुक्तिके अनुसार जो जीवको संसारदुखसे निकालकर अभीष्ट पद

१ ब मुद्राविशेषम् । २ अ श उपलब्धिः कथं स्यात् प्राप्तिः कथं भवेत् । ३ अ श तिष्ठति इत्येतत्पदं नास्ति ।

आत्मा धर्मो यदयमसुखस्फीतसंसारगर्ता-
दुद्धृत्य स्वं सुखमयपदे धारयत्यात्मनैव ॥ १३३ ॥
134) **नो शून्यो न जडो न भूतजनितो नो कर्तृभावं गतो**
नैको न क्षणिको न विश्वविततो नित्यो न चैकान्ततः ।

कथमपि स्वास्थ्यं लब्ध्वा प्राप्य । लसद्योगमुद्रावशेषं ध्यानमुद्रारहस्ययुक्तम् ॥ १३३ ॥ आत्मा एकान्ततः शून्यो न जडो न भूतजनितः पृथिव्यादिजनितो न[1] कर्तृभावं गतः न । आत्मा एकान्ततः एको न । आत्मा क्षणिको न । आत्मा विश्वविततो न । आत्मा नित्यो न । व्यवहारेण आत्मा कायमितैः कायप्रमाणैः । सम्यक् चिदेकनिलयः । च पुनः । कर्ता स्वयं भोक्ता ।

(मोक्ष) में प्राप्त कराता है उसे धर्म कहा जाता है । कर्मोंके उपशान्त होनेसे प्राप्त हुई द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप सामग्रीके द्वारा अनन्तचतुष्टयस्वरूप स्वास्थ्यका लाभ होता है । इस अवस्थामें एक मात्र ध्यानमुद्रा ही शेष रहती है, शेष सब संकल्प-विकल्प छूट जाते हैं । अब यह आत्मा अपने आपको अपने द्वारा ही संसाररूप गड्ढेसे निकालकर मोक्षमें पहुंचा देता है । इसीलिये उपर्युक्त निरुक्तिके अनुसार वास्तवमें आत्माका नाम ही धर्म है–उसे छोड़कर अन्य कोई धर्म नहीं हो सकता है ॥ १३३ ॥ यह आत्मा एकान्तरूपसे न तो शून्य है, न जड़ है, न पृथिव्यादि भूतोंसे उत्पन्न हुआ है, न कर्ता है, न एक है, न क्षणिक है, न विश्वव्यापक है, और न नित्य ही है । किन्तु चैतन्य गुणका आश्रयभूत वह आत्मा प्राप्त हुए शरीरके प्रमाण होता हुआ स्वयं ही कर्ता और भोक्ता भी है । वह आत्मा प्रत्येक क्षणमें स्थिरता (ध्रौव्य), विनाश (व्यय) और जनन (उत्पाद) से संयुक्त रहता है ॥ विशेषार्थ– भिन्न भिन्न प्रवादियोंके द्वारा आत्माके स्वरूपकी जो विविध प्रकारसे कल्पना की गई है उसका यहां निराकरण किया गया है । यथा – शून्यैकान्तवादी (माध्यमिक) केवल आत्माको ही नहीं, बल्कि समस्त विश्वको ही शून्य मानते हैं । उनके मतका निराकरण करनेके लिये यहां 'एकान्ततः नो शून्यः' अर्थात् आत्मा सर्वथा शून्य नहीं है, ऐसा कहा गया है । वैशेषिक मुक्ति अवस्थामें बुद्ध्यादि नौ विशेष गुणोंका उच्छेद मानकर उसे जड जैसा मानते हैं । संसार अवस्थामें भी वे उसे स्वयं चेतन नहीं मानते, किन्तु चेतन ज्ञानके समवायसे उसे चेतन स्वीकार करते हैं जो औपचारिक है । ऐसी अवस्थामें वह स्वरूपसे जड ही कहा जावेगा । उनके इस अभिप्रायका निराकरण करनेके लिये यहां 'न जडः' अर्थात् वह जड नहीं है, ऐसा निर्देश किया गया है । चार्वाकमतानुयायी आत्माको पृथिवी आदि पांच भूतोंसे उत्पन्न हुआ मानते हैं । उनके अभिप्रायानुसार उसका अस्तित्व गर्भसे मरण पर्यन्त ही रहता है– गर्भके पहिले और मरणके पश्चात् उसका अस्तित्व नहीं रहता । उनके इस अभिप्रायको दूषित बतलाते हुए यहां 'न भूतजनितः' अर्थात् वह पंच भूतोंसे उत्पन्न नहीं हुआ है, एसा कहा गया है । नैयायिक आत्माको सर्वथा कर्ता मानते हैं । उनके अभिप्रायको लक्ष्य करके यहां 'नो कर्तृभावं गतः' अर्थात् वह सर्वथा कर्तृत्व अवस्थाको नहीं प्राप्त है, ऐसा कहा गया है । पुरुषाद्वैतवादी केवल परब्रह्मको ही स्वीकार करके उसके अतिरिक्त समस्त पदार्थोंका निषेध करते हैं । लोकमें जो विविध प्रकारके पदार्थ देखनेमें आते हैं उसका कारण अविद्याजनित संस्कार है । इनके उपर्युक्त मतका निराकरण करते हुए यहां 'नैकः' अर्थात् आत्मा एक ही नहीं है, ऐसा निर्देश किया गया है । बौद्ध (सौत्रान्तिक) उसे सर्वथा क्षणिक मानते हैं । उनके अभिप्रायको सदोष बतलाते हुए यहां

१ क भूतजनितो न । २ अ श कायमितिः । ३ अ श कायप्रमाणम् ।

आत्मा कायमितश्चिदेकनिलयः कर्ता च भोक्ता स्वयं
संयुक्तः स्थिरताविनाशजननैः प्रत्येकमेकक्षणे ॥ १३४ ॥

135) क्वात्मा तिष्ठति कीदृशः स कलितः केनात्र यस्येदृशी
भ्रान्तिस्तत्र विकल्पसंभृतमना यः को ऽपि स ज्ञायताम् ।
किंचान्यस्य कुतो मतिः परमियं भ्रान्ताशुभात्कर्मणो
नीत्वा नाशमुपायतस्तदखिलं जानाति ज्ञाता प्रभुः ॥ १३५ ॥

प्रत्येकं षड्द्रव्यम् । स्थिरताविनाशजननैः संयुक्तः । एकक्षणे क्षणं समयं समयं प्रति ॥ १३४ ॥ आत्मा क्व तिष्ठति । आत्मा कीदृशः । स आत्मा अत्र संसारे केन कलितः ज्ञातः । यस्य ईदृशी भ्रान्तिः । तत्र आत्मनि । विकल्पसंभृतमनाः स कोऽपि आत्मा ज्ञायताम् । किं च । अन्यस्य पदार्थस्य । इयं मतिः कुतः । परं केवलम् अशुभात्कर्मणः भ्रान्तौ । तत् भ्रमम् ।

'न क्षणिकः' अर्थात् आत्मा सर्वथा क्षणक्षयी नहीं है, ऐसा कहा है । वैशेषिक आदि आत्माको विश्वव्यापक मानते हैं । उनके मतको दोषपूर्ण बतलाते हुए यहां 'न विश्ववितत:' अर्थात् वह समस्त लोकमें व्याप्त नहीं है, ऐसा निर्दिष्ट किया है । सांख्यमतानुयायी आत्माको सर्वथा नित्य स्वीकार करते हैं । उनके इस अभिमतको दूषित ठहराते हुए यहां 'न नित्यः' अर्थात् वह सर्वथा नित्य नहीं है, ऐसा निर्देश किया गया है । यहां 'एकान्ततः' इस पदका सम्बन्ध सर्वत्र समझना चाहिये । यथा–'एकान्ततः नो शून्यः, एकान्ततः न जडः' इत्यादि । जैनमतानुसार आत्माका स्वरूप कैसा है, इसका निर्देश करते हुए आगे यह बतलाया है कि नयविवक्षाके अनुसार वह आत्मा प्राप्त शरीरके बराबर और चेतन है । वह व्यवहारसे स्वयं कर्मोंका कर्ता और उनके फलका भोक्ता भी है । प्रकृति कर्त्री और पुरुष भोक्ता है, इस सांख्यसिद्धान्तके अनुसार कर्ता एक (प्रकृति) और फलका भोक्ता दूसरा (पुरुष) हो; ऐसा सम्भव नहीं है । जीवादि छह द्रव्योंमेंसे प्रत्येक प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्यसे संयुक्त रहता है । कोई भी द्रव्य सर्वथा क्षणिक अथवा नित्य नहीं है ॥ १३४ ॥ आत्मा कहां रहता है, वह कैसा है, तथा वह यहां किसके द्वारा जाना गया है; इस प्रकारकी जिसके भ्रान्ति हो रही है वहां उपर्युक्त विकल्पोंसे परिपूर्ण चित्तवाला जो कोई भी है उसे आत्मा जानना चाहिये । कारण कि इस प्रकारकी बुद्धि अन्य (जड) के नहीं हो सकती है । विशेषता केवल इतनी है कि आत्माके उत्पन्न हुआ उपर्युक्त विचार अशुभ कर्मके उदयसे भ्रान्तिसे युक्त है । इस भ्रान्तिको प्रयत्न-पूर्वक नष्ट करके ज्ञाता आत्मा समस्त विश्वको जानता है ॥ विशेषार्थ–आत्मा अतीन्द्रिय है । इसीलिये उसे अल्पज्ञानी इन चर्मचक्षुओंसे नहीं देख सकते । अदृश्य होनेसे ही अनेक प्राणियोंको 'आत्मा कहां रहता है, कैसा है और किसके द्वारा देखा गया है' इत्यादि प्रकारका सन्देह प्रायः आत्माके विषयमें हुआ करता है । इस सन्देहको दूर करते हुए यहां यह बतलाया है कि जिस किसीके भी उपर्युक्त सन्देह होता है वास्तवमें वही आत्मा है, क्योंकि ऐसा विकल्प शरीर आदि जड पदार्थके नहीं हो सकता । वह तो 'अहम् अहम्' अर्थात् मैं जानता हूं, मैं अमुक कार्य करता हूं; इस प्रकार 'मैं मैं' इस उल्लेखसे प्रतीयमान चेतन आत्माके ही हो सकता है । इतना अवश्य है कि जब तक मिथ्यात्व आदि अशुभ कर्मोंका उदय रहता है तब तक जीवके उपर्युक्त भ्रान्ति रह सकती है । तत्पश्चात् वह तपश्चरणादिके द्वारा ज्ञानावरणा-

---

१ अ श कायमिति । २ श भ्रान्तोऽशुभात् । ३ श भ्रान्तः ।

136) आत्मा मूर्तिविवर्जितो ऽपि वपुषि स्थित्वापि दुर्लक्षतां
प्राप्तो ऽपि स्फुरति स्फुटं यदहमित्युल्लेखतः संततम् ।
तत्किं मुह्यत शासनादपि गुरोर्भ्रान्तिः समुत्सृज्यता-
मन्तः पश्यत निश्चलेन मनसा तं तन्मुखाक्षव्रजाः ॥ १३६ ॥

137) व्यापी नैव शरीर एव यदसावात्मा स्फुरत्यन्वहं
भूतानन्वयतो[1] न भूतजनितो ज्ञानी प्रकृत्या यतः ।

उपायतः नाशं नीत्वा । प्रभु अखिलं जानाति ज्ञाता आत्मा ॥ १३५ ॥ यद्यस्मात्कारणात् । आत्मा मूर्तिविवर्जितोऽपि वपुषि स्थित्वापि दुर्लक्षतां प्राप्नोति । सन्ततं निरन्तरम् । स्फुटं व्यक्तं प्रकटम् । स्फुरति । अहम् इति उल्लेखतः अहम् इति स्मरणमात्रतः । गुरोः शासनात् अपि गुरूपदेशादपि । तत्किं मुह्यत । भो लोकाः गुरूपदेशाद् भ्रान्तिः समुत्सृज्यतां त्यज्यताम् । निश्चलेन मनसा । तम् आत्मानम् । अन्तःकरणे पश्यत । भो लोकाः भो भव्याः । तस्मिन् आत्मनि मुखे सन्मुखे अक्षव्रजः इन्द्रियपरिणतिसमूहः येषां ते तन्मुखाक्षव्रजाः ॥ १३६ ॥ असौ आत्मा । अन्वहम् अनवरतम् । व्यापी नैव । यः शरीरे एव स्फुरति । अन्वयतः निश्चयतः । आत्मा भूतो न इन्द्रियरूपो न । पृथ्व्यादिजनितो न भूतजनितो न । यतः प्रकृत्या ज्ञानी । वा नित्ये अथवा क्षणिके । कथमपि अर्थक्रिया न युज्यते उत्पादव्ययध्रौव्यत्रयात्मिका क्रिया न युज्यते । अपि तु सर्वेषु द्रव्येषु ध्रौव्यव्ययोत्पाद-

दिकोंको नष्ट करके अपने स्वभावानुसार अखिल पदार्थोंका ज्ञाता (सर्वज्ञ) बन जाता है ॥ १३५ ॥ आत्मा मूर्ति (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श) से रहित होता हुआ भी, शरीरमें स्थित होकर भी, तथा अदृश्य अवस्थाको प्राप्त होता हुआ भी निरन्तर 'अहम्' अर्थात् 'मैं' इस उल्लेखसे स्पष्टतया प्रतीत होता है । ऐसी अवस्थामें हे भव्य जीवो ! तुम आत्मोन्मुख इन्द्रियसमूहसे संयुक्त होकर क्यों मोहको प्राप्त होते हो ? गुरुकी आज्ञासे भी भ्रमको छोड़ो और अभ्यन्तरमें निश्चल मनसे उस आत्माका अवलोकन करो ॥ १३६ ॥ आत्मा व्यापी नहीं ही है, क्योंकि, वह निरन्तर शरीरमें ही प्रतिभासित होता है । वह भूतोंसे उत्पन्न भी नहीं है, क्योंकि, उसके साथ भूतोंका अन्वय नहीं देखा जाता है तथा वह स्वभावसे ज्ञाता भी है । उसको सर्वथा नित्य अथवा क्षणिक स्वीकार करनेपर उसमें किसी प्रकारसे अर्थक्रिया नहीं बन सकती है । उसमें एकत्व भी नहीं है, क्योंकि, वह प्रमाणसे दृढ़ताको प्राप्त हुई भेदप्रतीति द्वारा बाधित है ॥ विशेषार्थ— जो वैशेषिक आदि आत्माको व्यापी स्वीकार करते हैं उनको लक्ष्य करके यहां यह कहा गया है कि 'आत्मा व्यापी नहीं है' क्योंकि, वह शरीरमें ही प्रतिभासित होता है । यदि आत्मा व्यापी होता तो उसकी प्रतीति केवल शरीरमें ही क्यों होती ? अन्यत्र भी होनी चाहिये थी । परन्तु शरीरको छोड़कर अन्यत्र कहींपर भी उसकी प्रतीति नहीं होती । अतएव निश्चित है कि आत्मा शरीर प्रमाण ही है, न कि सर्वव्यापी । 'आत्मा पांच भूतोंसे उत्पन्न हुआ है' इस चार्वाकमतको दूषित बतलाते हुए यहां यह कहा है कि आत्मा चूंकि स्वभावसे ही ज्ञाता द्रष्टा है, अतएव वह भूतजनित नहीं है । यदि वैसा होता तो आत्मामें स्वभावतः चैतन्य गुण नहीं पाया जाना चाहिये था । इसका भी कारण यह है कि कार्य प्रायः अपने उपादान कारणके अनुसार ही उत्पन्न होता है, जैसे मिट्टीसे उत्पन्न होनेवाले घटमें मिट्टीके ही गुण (मूर्तिमत्व एवं अचेनत्व आदि) पाये जाते हैं । उसी प्रकार यदि आत्मा भूतोंसे उत्पन्न होता तो उसमें भूतोंके गुण अचेतनत्व आदि ही पाये जाने चाहिये थे, न कि स्वाभाविक चेतनत्व आदि । परन्तु चूंकि उसमें अचेतनत्वके विरुद्ध चेतनत्व ही पाया जाता है, अतएव सिद्ध है कि वह आत्मा पृथिव्यादि भूतोंसे नहीं उत्पन्न हुआ है । आत्माको सर्वथा नित्य अथवा क्षणिक माननेपर उसमें घटकी जलधारण आदि अर्थक्रियाके

१ ब प्रतिपाठोऽयम्, अ क श भूतो नान्वयतो । ब भूतेनान्वयतो । २ क निश्चयेन ।

नित्ये वा क्षणिके ऽथवा न कथमप्यर्थक्रिया युज्यते
तत्रैकत्वमपि प्रमाणदृढया भेदप्रतीत्याहतम् ॥ १३७ ॥

138) कुर्यात्कर्म शुभाशुभं स्वयमसौ भुङ्क्ते स्वयं तत्फलं
सातासातगतानुभूतिकलनादात्मा न चान्यादृशः ।

क्रिया युज्यते (?)। तत्र नित्यानित्ययोर्द्वयोर्मध्ये। प्रमाणदृढया भेदप्रतीत्या कृत्वा। एकत्वम् आह्तम्। निश्चयेन अभेदं भेदरहितम्। व्यवहारेण भेदयुक्तं तत्त्वम् ॥१३७॥ असौ आत्मा स्वयं शुभाशुभं कर्म कुर्यात्। च पुनः। स्वयम्। तत्फलं पुण्यपापफलम्। भुङ्क्ते। सातासातगतानुभूतिकलनात् पुण्यपापानुभवनात्। आत्मा अन्यादृशः जडः न। अयम् आत्मा चिद्रूपः। अयम् आत्मा

समान कुछ भी अर्थाक्रिया न हो सकेगी। जैसे—यदि आत्माको कूटस्थ नित्य (तीनों कालोंमें एक ही स्वरूपसे रहनेवाला) स्वीकार किया जाता है तो उसमें कोई भी क्रिया (परिणाम या परिस्पंदरूप) न हो सकेगी। ऐसी अवस्थामें कार्यकी उत्पत्तिके पहिले कारणका अभाव कैसे कहा जा सकेगा? कारण कि जब आत्मामें कभी किसी प्रकारका विकार सम्भव ही नहीं है तब वह आत्मा जैसा भोगरूप कार्यके करते समय था वैसा ही वह उसके पहिले भी था। फिर क्या कारण है जो पहिले भी भोगरूप कार्य नहीं होता? कारणके होनेपर वह होना ही चाहिये था। और यदि वह पहिले नहीं होता है तो फिर पीछे भी नहीं उत्पन्न होना चाहिये, क्योंकि, भोगरूप क्रियाका कर्ता आत्मा सदा एक रूप ही रहता है। अन्यथा उसकी कूटस्थनित्यताका विघात अवश्यम्भावी है। कारण कि पहिले जो उसकी अकारकत्व अवस्था थी उसका विनाश होकर कारकत्वरूप नयी अवस्थाका उत्पाद हुआ है। यही कूटस्थनित्यताका विघात है। इसी प्रकार यदि आत्माको सर्वथा क्षणिक ही माना जाता है तो भी उसमें किसी प्रकारकी अर्थक्रिया न हो सकेगी। कारण कि किसी भी कार्यके करनेके लिये स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं इच्छा आदिका रहना आवश्यक होता है। सो यह क्षणिक एकान्त पक्षमें सम्भव नहीं है। इसका भी कारण यह है कि जिसने पहिले किसी पदार्थका प्रत्यक्ष कर लिया है उसे ही तत्पश्चात् उसका स्मरण हुआ करता है और फिर तत्पश्चात् उसीके उक्त अनुभूत पदार्थका स्मरणपूर्वक पुनः प्रत्यक्ष होनेपर प्रत्यभिज्ञान भी होता है। परन्तु जब आत्मा सर्वथा क्षणिक ही है तब जिस चित्तक्षणको प्रत्यक्ष हुआ था वह तो उसी क्षणमें नष्ट हो चुका है। ऐसी अवस्थामें उसके स्मरण और प्रत्यभिज्ञानकी सम्भावना कैसे की जा सकती है? तथा उक्त स्मरण और प्रत्यभिज्ञानके विना किसी भी कार्यका करना असम्भव है। इस प्रकारसे क्षणिक एकान्त पक्षमें बन्ध-मोक्षादि की भी व्यवस्था नहीं बन सकती है। इसलिये आत्मा आदिको सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा क्षणिक न मानकर कथंचित् (द्रव्यदृष्टिसे) नित्य और कथंचित् (पर्यायदृष्टिसे) अनित्य स्वीकार करना चाहिये। जो पुरुषाद्वैतवादी आत्माको परब्रह्मस्वरूपमें सर्वथा एक स्वीकार करके विभिन्न आत्माओं एवं अन्य सब पदार्थोंका निषेध करते हैं उनके मतका निराकरण करते हुए यहां यह बतलाया है कि सर्वथा एकत्वकी कल्पना प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित है। जब विविध प्राणियों एवं घट-पदादि पदार्थोंकी पृथक् पृथक् सत्ता प्रत्यक्षसे ही स्पष्टतया देखी जा रही है तब उपर्युक्त सर्वथा एकत्वकी कल्पना भला कैसे योग्य कही जा सकती है? कदापि नहीं। इसी प्रकार शब्दाद्वैत, विज्ञानाद्वैत और चित्राद्वैत आदिकी कल्पना भी प्रत्यक्षादि-से बाधित होनेके कारण ग्राह्य नहीं है; ऐसा निश्चय करना चाहिये ॥ १३७ ॥ वह आत्मा स्वयं शुभ और अशुभ कार्यको करता है तथा स्वयं उसके फलको भी भोगता है, क्योंकि, शुभाशुभ कर्मके फलस्वरूप सुख-

चिद्रूपः स्थितिजन्मभङ्गकलितः कर्मावृतः संसृतौ
मुक्तौ ज्ञानदृगेकमूर्तिरमलस्त्रैलोक्यचूडामणिः ॥ १३८ ॥

139) आत्मानमेवमधिगम्य नयप्रमाणनिक्षेपकादिभिरभिश्रयतैकचित्ताः ।
भव्या यदीच्छत भवार्णवमुत्तरीतुमुत्तुङ्गमोहमकरोग्रतरं गभीरम् ॥ १३९ ॥

स्थितिजन्मभङ्गकलितः ध्रौव्यव्ययउत्पादयुक्तः । संसृतौ संसारे । कर्मावृतः आत्मा । मुक्तौ मोक्षे । ज्ञानदृगेकमूर्तिः ज्ञानदर्शनैकमूर्तिः । आत्मा अमलः त्रैलोक्यचूडामणिः ॥१३८॥ भो भव्याः । यदि भवार्णवं संसारसमुद्रम् । उत्तरीतुम् इच्छत । किंलक्षणं संसारसमुद्रम् । उत्तुङ्गमोहमकरोग्रतरम् उत्तुङ्गमोहमत्स्यभृतम् । पुनः गभीरम् । भो एकचित्ताः स्वस्थचित्ताः । आत्मानम् एवम् अभिश्रयत ।

दुःखका अनुभव भी उसे ही होता है। इससे भिन्न दूसरा स्वरूप आत्माका हो ही नहीं सकता। स्थिति (ध्रौव्य), जन्म (उत्पाद) और भंग (व्यय) से सहित जो चेतन आत्मा संसार अवस्थामें कर्मोंके आवरणसे सहित होता है वही मुक्ति अवस्थामें कर्ममलसे रहित होकर ज्ञान-दर्शनरूप अद्वितीय शरीरसे संयुक्त होता हुआ तीनों लोकोंमें चूडामणि रत्नके समान श्रेष्ठ हो जाता है॥ विशेषार्थ—सांख्य प्रकृतिको कर्त्री और पुरुषको भोक्ता स्वीकार करते हैं। इसी अभिप्रायको लक्ष्यमें रखकर यहां यह बतलाया है कि जो आत्मा कर्मोंका कर्ता है वही उनके फलका भोक्ता भी होता है। कर्ता एक और फलका भोक्ता अन्य ही हो, यह कल्पना युक्तिसंगत नहीं है। इसके अतिरिक्त यहां जो दो वार 'स्वयम्' पद प्रयुक्त हुआ है उससे यह भी ज्ञात होता है कि जिस प्रकार ईश्वरकर्तृत्ववादियोंके यहां कर्मोंका करना और उनके फलका भोगना ईश्वरकी प्रेरणासे होता है वैसा जैन सिद्धान्तके अनुसार सम्भव नहीं है। जैनमतानुसार आत्मा स्वयं कर्ता और स्वयं ही उनके फलका भोक्ता भी है। तथा वही पुरुषार्थको प्रगट करके कर्ममलसे रहित होता हुआ स्वयं परमात्मा भी बन जाता है। यहांपर सर्वथा नित्यत्व अथवा अनित्यत्वकी कल्पनाको दोषयुक्त प्रगट करते हुए यह भी बतलाया है कि आत्मा आदि प्रत्येक पदार्थ सदा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे संयुक्त रहता है। यथा—मिट्टीसे उत्पन्न होनेवाले घटमें मृत्तिकारूप पूर्व पर्यायका व्यय, घटरूप नवीन पर्यायका उत्पाद तथा पुद्गल द्रव्य उक्त दोनों ही अवस्थाओंमें ध्रुवस्वरूपसे स्थित रहता है॥ १३८॥ इस प्रकार नय, प्रमाण एवं निक्षेप आदिके द्वारा आत्माके स्वरूपको जानकर हे भव्य जीवो! यदि तुम उन्नत मोहरूपी मगरोंसे अतिशय भयानक व गम्भीर इस संसाररूप समुद्रसे पार होनेकी इच्छा करते हो तो फिर एकाग्रमन होकर उपर्युक्त आत्माका आश्रयण करो॥ विशेषार्थ—ज्ञाताके अभिप्रायको नय कहते हैं। तात्पर्य यह कि प्रमाणके द्वारा ग्रहण की गई वस्तुके एकदेश (द्रव्य अथवा पर्याय आदि) में वस्तुका निश्चय करनेको नय कहा जाता है। वह द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयके भेदसे दो प्रकारका है। जो द्रव्यकी मुख्यतासे वस्तुको ग्रहण करता है वह द्रव्यार्थिक तथा जो पर्यायकी प्रधानतासे वस्तुको ग्रहण करता है वह पर्यायार्थिक नय कहा जाता है। इनमें द्रव्यार्थिक नयके तीन भेद हैं—नैगम, संग्रह और व्यवहार। जो पर्यायकलंकसे रहित सत्ता आदि सामान्यकी विवक्षासे सबमें अभेद (एकत्व) को ग्रहण करता है वह शुद्ध द्रव्यार्थिक संग्रहनय कहलाता है। इसके विपरीत जो पर्यायकी प्रधानतासे दो आदि अनन्त भेदरूप वस्तुको ग्रहण करता है उसे अशुद्ध द्रव्यार्थिक व्यवहारनय कहा जाता है। जो संग्रह और व्यवहार इन दोनों ही नयोंके परस्पर भिन्न दोनों (अभेद व भेद) विषयोंको ग्रहण करता है उसका नाम नैगम नय है। पर्यायार्थिक नय चार प्रकारका है—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवम्भूत। इनमें

किं कृत्वा । नयप्रमाणनिक्षेपकादिभिः । अधिगम्य ज्ञात्वा ॥ १३९ ॥ भो आत्मन् । इह जगति संसारे । भवरिपुः संसारशत्रुः ।

जो तीन कालविषयक पर्यायोंको छोड़कर केवल वर्तमान कालविषयक पर्यायको ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्रनय है । जो लिंग, संख्या (वचन), काल, कारक और पुरुष (उत्तमादि) आदिके व्यभिचारको दूर करके वस्तुको ग्रहण करता है उसे शब्दनय कहते हैं । लिंगव्यभिचार–जैसे स्त्रीलिंगमें पुल्लिंगका प्रयोग करना । यथा–तारकाके लिये स्वाति शब्दका प्रयोग करना । इत्यादि व्यभिचार शब्दनयकी दृष्टिमें अग्राह्य नहीं है । जो एक ही अर्थको शब्दभेदसे अनेक रूपमें ग्रहण करता है उसे शब्दनय कहते हैं । जैसे एक ही इन्द्र व्यक्ति इन्दन (शासन) क्रियाके निमित्तसे इन्द्र, शकन (सामर्थ्यरूप) क्रियासे शक्र, तथा पुरोंके विदारण करनेसे पुरन्दर कहा जाता है । इस नयकी दृष्टिमें पर्यायशब्दोंका प्रयोग अग्राह्य है, क्योंकि, एक अर्थका बोधक एक ही शब्द होता है–समानार्थक अन्य शब्द उसका बोध नहीं करा सकता है । पदार्थ जिस क्षणमें जिस क्रियामें परिणत हो उसको जो उसी क्षणमें उसी स्वरूपसे ग्रहण करता है उसे एवम्भूतनय कहते हैं । इस नयकी अपेक्षा इन्द्र जब शासन क्रियामें परिणत रहेगा तब ही वह इन्द्र शब्दका वाच्य होगा, न कि अन्य समयमें भी । प्रमाण सम्यग्ज्ञानको कहा जाता है । वह प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो प्रकारका है । जो ज्ञान इन्द्रिय, मन एवं प्रकाश और उपदेश आदि बाह्य निमित्तकी अपेक्षासे उत्पन्न होता है वह परोक्ष कहा जाता है । उसके दो भेद हैं–मतिज्ञान और श्रुतज्ञान । जो ज्ञान इन्द्रियों और मनकी सहायतासे उत्पन्न होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं । इस मतिज्ञानसे जानी हुई वस्तुके विषयमें जो विशेष विचार उत्पन्न होता है वह श्रुतज्ञान कहलाता है । प्रत्यक्ष प्रमाण तीन प्रकारका है–अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान । इनमें जो इन्द्रिय आदिकी अपेक्षा न करके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादा लिये हुए रूपी (पुद्गल और उससे सम्बद्ध संसारी प्राणी) पदार्थको ग्रहण करता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं । जो जीवोंके मनोगत पदार्थको जानता है वह मनःपर्ययज्ञान कहलाता है । समस्त विश्वको युगपत् ग्रहण करनेवाला ज्ञान केवलज्ञान कहा जाता है । ये तीनों ही ज्ञान अतीन्द्रिय हैं । निक्षेप शब्दका अर्थ रखना है । प्रत्येक शब्दका प्रयोग अनेक अर्थोंमें हुआ करता है । उनमेंसे किस समय कौन-सा अर्थ अभीष्ट है, यह बतलाना निक्षेप विधिका कार्य है । वह निक्षेप नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे चार प्रकारका है । वस्तुमें विवक्षित गुण एवं क्रिया आदिके न होनेपर भी केवल लोकव्यवहारके लिये वैसा नाम रख देनेको नामनिक्षेप कहा जाता है–जैसे किसी व्यक्तिका नाम लोकव्यवहारके लिये देवदत्त (देवके द्वारा न दिये जानेपर भी) रख देना । काष्ठकर्म, पुस्तकर्म, चित्रकर्म और पांसोंके निक्षेप आदिमें 'वह यह है' इस प्रकारकी जो कल्पना की जाती है उसे स्थापनानिक्षेप कहते हैं । वह दो प्रकारका है–सद्भावस्थापनानिक्षेप और असद्भावस्थापनानिक्षेप । स्थाप्यमान वस्तुके आकारवाली किसी अन्य वस्तुमें जो उसकी स्थापना की जाती है इसे सद्भावस्थापनानिक्षेप कहा जाता है–जैसे ऋषभ जिनेन्द्रके आकारभूत पाषाणमें ऋषभ जिनेन्द्रकी स्थापना करना । जो वस्तु स्थाप्यमान पदार्थके आकारकी नहीं है फिर भी उसमें उस वस्तुकी कल्पना करनेको असद्भावस्थापनानिक्षेप कहा जाता है– जैसे सतरंजकी गोटोंमें हाथी-घोड़े आदिकी कल्पना करना । भविष्यमें होनेवाली पर्यायकी प्रधानतासे वस्तुका कथन करना द्रव्यनिक्षेप कहलाता है । वर्तमान पर्यायसे उपलक्षित वस्तुके कथनको भावनिक्षेप कहा जाता है । इस प्रकार इन

140) भवरिपुरिह तावद्दुःखदो यावदात्मन्
तव विनिहितधामा कर्मसंश्लेषदोषः ।
स भवति किल रागद्वेषहेतोस्तदादौ
झटिति शिवसुखार्थी यत्नतस्तौ जहीहि ॥ १४० ॥

141) लोकस्य त्वं न कश्चिन्न स तव यदिह स्वार्जितं भुज्यते कः
संबन्धस्तेन सार्धं तदसति सति वा तत्र कौ रोषतोषौ ।
काये ऽप्येवं जडत्वात्तदनुगतसुखादावपि ध्वंसभावा-
देवं निश्चित्य हंस स्वबलमनुसर स्थायि मा पश्य पार्श्वम् ॥ १४१ ॥

142) आस्तामन्यगतौ प्रतिक्षणलसद्दुःखाश्रितायामहो
देवत्वे ऽपि न शान्तिरस्ति भवतो रम्ये ऽणिमादिश्रिया ।

तावत्कालम् दुःखदः वर्तते यावत्कालं कर्मसंश्लेपदोष अस्ति । किंलक्षणः कर्मसंश्लेषदोषः । तव विनिहितधामा आच्छादिततेजाः । किल इति सत्ये । स कर्मसंश्लेषदोषः रागद्वेषहेतोः सकाशात् भवति । तस्मात् आदौ प्रथमतः । झटिति शीघ्रेण । यत्नतः शिवसुखार्थी । तौ रागद्वेषौ । जहीहि त्यज ॥ १४० ॥ भो हंस भो आत्मन् । एवं निश्चित्य । स्वबलम् अनुसर आत्मबलं स्मर । पार्श्वं संसारनिकटम् । स्थायि स्थिरम् । मा पश्य । एवं कथम् । लोकस्य त्वं कश्चित् न । तव स लोकः कश्चिन्न । यत् यस्मात् । इह संसारे । स्वार्जितं भुज्यते स्वकर्म भुज्यते । तेन लोकेन । सार्धं कः संबन्धः । तत् तस्मात् कारणात् । असति सति वा असाधौ साधौ वा । तत्र लोके । रोषतोषौ कौ हर्षविषादौ कौ । काये शरीरे ऽपि । एवम् अमुना प्रकारेण । जडत्वात् । तदनुगतसुखादौ तस्य शरीरस्य संलग्नइन्द्रियसुखादौ । अपि रोषतोषौ कौ । कस्मात् । ध्वंसभावात् विनाशभावात् ॥ १४१ ॥ रे जीव भो आत्मन् । तत्तस्मात्कारणात् । नित्यपदं प्रति मोक्षपदं प्रति ।

निक्षेपोंके विधानसे अप्रकृतका निराकरण ओर प्रकृतका ग्रहण होता है ॥ १३९ ॥ हे आत्मन् ! यहां संसाररूप शत्रु तब तक ही दुःख दे सकता है जब तक तेरे भीतर ज्ञानरूप ज्योतिको नष्ट करनेवाला कर्मबन्धरूप दोष स्थान प्राप्त किये है। वह कर्मबन्धरूप दोष निश्चयतः राग और द्वेषके निमित्तसे होता है। इसलिये मोक्ष-सुखका अभिलाषी होकर तू सर्वप्रथम शीघ्रतासे प्रयत्नपूर्वक उन दोनोंको छोड़ दे ॥ १४० ॥ हे आत्मन् ! न तो तुम लोक (कुटुम्बी जन आदि) के कोई हो और न वह भी तुम्हारा कोई हो सकता है। यहां तुमने जो कुछ कमाया है वही भोगना पड़ता है। तुम्हारा उस लोकके साथ भला क्या सम्बन्ध है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है। फिर उस लोकके न होनेपर विषाद और उसके विद्यमान होनेपर हर्ष क्यों करते हो ? इसी प्रकार शरीरमें राग-द्वेष नहीं करना चाहिये, क्योंकि, वह जड़ (अचेतन) है। तथा शरीरसे सम्बद्ध इन्द्रियविषयभोग जनित सुखादिकमें भी तुम्हें रागद्वेष करना उचित नहीं है, क्योंकि, वह विनश्वर है। इस प्रकार निश्चय करके तुम अपनी स्थिर आत्मशक्तिका अनुसरण करो, उस निकटवर्ती लोकको स्थायी मत समझो ॥ विशेषार्थ-- कुटुम्ब एवं धन-धानादि बाह्य सब पदार्थोंका आत्मासे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। वे प्रत्यक्षमें ही अपनेसे पृथक् दिखते हैं। अतएव उनके संयोगमें हर्षित और वियोगमें खेदखिन्न होना उचित नहीं है। और तो क्या कहा जाय, जो शरीर सदा आत्माके साथ ही रहता है उसका भी सम्बन्ध आत्मासे कुछ भी नहीं है; कारण कि आत्मा चेतन है और शरीर अचेतन है। स्पर्शनादि इन्द्रियोंका सम्बन्ध भी उसी शरीरसे है, न कि उस चेतन आत्मासे। इन्द्रियविषयभोगोंसे उत्पन्न होनेवाला सुख विनश्वर है -- स्थायी नहीं है। इसलिये हे आत्मन् ! शरीर एवं उससे सम्बद्ध सुख-दुःखादिमें राग-द्वेष न करके अपने स्थायी आत्मरूपका अवलोकन कर ॥ १४१ ॥ हे आत्मन् ! क्षण-क्षणमें होनेवाले दुःखकी स्थानभूत अन्य

१ अ ब झगिति । २ श प्रथमः ।

यत्तस्मादपि मृत्युकालकलयाधस्ताद्धठात्पात्यसे
तत्तन्नित्यपदं प्रति प्रतिदिनं रे जीव यत्नं कुरु ॥ १४२ ॥

143) यद् दृष्टं बहिरङ्गनादिषु चिरं तत्रानुरागो ऽभवत्
भ्रान्त्या भूरि तथापि ताम्यसि ततो मुक्त्वा तदन्तर्विश ।
चेतस्तत्र गुरोः प्रबोधवसतेः किंचित्तदाकर्ण्यते
प्राप्ते यत्र समस्तदुःखविरमाल्लभ्येत नित्यं सुखम् ॥ १४३ ॥

144) किमालकोलाहलैरमलबोधसंपन्निधेः
समस्ति यदि कौतुकं किल तवात्मनो दर्शने ।
निरुद्धसकलेन्द्रियो रहसि मुक्तसंगग्रहः
कियन्त्यपि दिनान्यतः स्थिरमना भवान् पश्यतु ॥ १४४ ॥

145) हे चेतः किमु जीव तिष्ठसि कथं चिन्तास्थितं सा कुतो
रागद्वेषवशात्तयोः परिचयः कस्माच्च जातस्तव ।

प्रतिदिनं दिनं दिनं प्रति । यत्नं कुरु । अहो अन्यगतौ दूरे आस्ताम् । किंलक्षणायाम् अन्यगतौ । प्रतिक्षणं समयं समयं प्रति । लसत्-प्रादुर्भूतदुःखेन युक्तायाम् । देवत्वे ऽपि देवपदे ऽपि । भवतः तत्र शान्तिः न अस्ति । किंलक्षणे देवपदे । अणिमामहिमा-आदिअष्टऋद्धिश्रिया कृत्वा । रम्येऽपि मनोहरे ऽपि । भो आत्मन् । यत्तस्मादपि स्वर्गादपि । मृत्युकालकलया हठात् अधस्तात पात्यसे । ततः मुक्तौ यत्नं कुरु ॥ १४२ ॥ हे चेतः भो मनः । यत् बहिः अङ्गनादिषु । चिरं चिरकालम् । दृष्टम् । तत्र अङ्गनादिषु भ्रान्त्या अनुरागः अभवत् । तथापि ततः तस्मात्कारणात् । भूरि बहुलं ताम्यसि खेदं यासि । तत् वृथैव खेदं यासि । तत् अनुरागं प्रेम मुक्त्वा । अन्तःकरणे विश प्रवेशं कुरु । तत्र अन्तःकरणे । गुरोः प्रबोधवसतेः तत् किंचित् आकर्ण्यते । यत्र गुरुवचने प्राप्ते सति । समस्तदुःखविरमात् दुःखनाशात् नित्यं सुखं लभ्येत ॥ १४३ ॥ आलकोलाहलैः किम् । यदि चेत् । किल इति सत्ये । तवात्मनः दर्शने । कौतुकम् अस्ति कौतुकं वर्तते । किंलक्षणस्य आत्मनः । अमलबोधसंपन्निधेः निर्मलज्ञाननिधेः । भवान् अन्तःकरणात् कियन्ति अपि दिनानि । रहसि एकान्ते पश्यतु । किंलक्षणः भवान् । निरुद्धसकलेन्द्रियः संकोचितेन्द्रियः । पुनः किंलक्षणः भवान् । मुक्तसंगग्रहः रहितपरिग्रहः । पुनः किंलक्षणः भवान् । स्थिरमनाः ॥१४४॥ हे चेतः । किमु जीव । कथं तिष्ठसि । चिन्तास्थितं चिन्तास्थानं तिष्ठामि । जीवः ब्रवीति । रे मनः सा चिन्ता कुतः तिष्ठति वा सा चिन्ता कुतः कस्माज्जाता । रागद्वेषवशात् जाता । च पुनः । तयोः रागद्वेषयोः परिचयः तव कस्मादभूत् । स परिचयः इष्टानिष्टसमागमाज्जातः । इति अमुना

नरक, तिर्यंच और मनुष्य गति तो दूर रहे; किन्तु आश्चर्य तो यह है कि आणिमा आदिरूप लक्ष्मीसे रमणीय देवगतिमें भी तुझे शान्ति नहीं है। कारण कि वहांसे भी तू मृत्यु कालके द्वारा जबरन् नीचे गिराया जाता है। इसलिये तू प्रतिदिन उस नित्य पद अर्थात् अविनश्वर मोक्षके प्रति प्रयत्न कर ॥ १४२ ॥ हे चित्त! तूने बाह्य स्त्री आदि पदार्थोंमें जो सुख देखा है उसमें तुझे भ्रान्तिसे चिरकाल तक अनुराग हुआ है। फिर भी तू उससे अधिक सन्तप्त हो रहा है। इसलिये उसको छोड़कर अपने अन्तरात्मामें प्रवेश कर। उसके विषयमें सम्यग्ज्ञानके आधारभूत गुरुसे ऐसा कुछ सुना जाता है कि जिसके प्राप्त होनेपर समस्त दुःखोंसे छुटकारा पाकर अविनश्वर (मोक्ष) सुख प्राप्त किया जा सकता है ॥ १४३ ॥ हे जीव! तेरे लिये यदि निर्मल ज्ञानरूप सम्पत्तिके आश्रयभूत आत्माके दर्शनमें कौतूहल है तो व्यर्थके कोलाहल (बकवाद) से क्या? अपनी समस्त इन्द्रियोंका निरोध करके तू परिग्रह-पिशाच को छोड़ दे। इससे स्थिर-चित्त होकर तू कुछ दिनमें एकान्तमें उस अन्तरात्माका अवलोकन कर सकेगा ॥ १४४ ॥ यहां जीव अपने चित्तसे कुछ प्रश्न करता है और तदनुसार चित्त उनका उत्तर देता है—हे चित्त! ऐसा संबोधन करनेपर चित्त कहेता है कि हे जीव क्या है। इसपर जीव उससे पूछता है कि तुम कैसे स्थित हो? मैं चिन्तामें स्थित रहता हूं। वह चिन्ता किससे उत्पन्न हुई ह? वह राग-द्वेषके वशसे उत्पन्न हुई है। उन राग-द्वेषका

इष्टानिष्टसमागमादिति यदि श्वभ्रं तदावां गतौ
नोचेन्मुञ्च समस्तमेतदचिरादिष्टादिसंकल्पनम् ॥ १४५ ॥

146) ज्ञानज्योतिरुदेति मोहतमसो भेदः समुत्पद्यते
सानन्दा कृतकृत्यता च सहसा स्वान्ते समुन्मीलति ।
यस्यैकस्मृतिमात्रतो ऽपि भगवानत्रैव देहान्तरे
देवस्तिष्ठति मृग्यतां सरभसादन्यत्र किं धावत ॥ १४६ ॥

147) जीवाजीवविचित्रवस्तुविविधाकारर्द्धिरूपादयो
रागद्वेषकृतो ऽत्र मोहवशतो दृष्टाः श्रुताः सेविताः ।
जातास्ते दृढबन्धनं चिरमतो दुःखं तवात्मन्निदं
नूनं जानत एव किं बहिरसावद्यापि धीर्धावति ॥ १४७ ॥

148) भिन्नो ऽहं वपुषो बहिर्मलकृतान्नानाविकल्पौघतः
शब्दादेश्च चिदेकमूर्तिरमलः शान्तः सदानन्दभाक् ।

प्रकारेण यदि परिचयः जातः उत्पन्नः । भो मनः । तदावां द्वावपि । श्वभ्रं नरकम् । गतौ । नो चेत् । एतत्समस्तम् । इष्टादिसंकल्पनम् । मुञ्च त्यज ॥१४५॥ देवः आत्मा । अत्रैव देहान्तरे तिष्ठति । स एव भगवान् परमेश्वरः । अन्यत्र किं धावत । भो लोकाः । स एव भगवान् परमेश्वरः । मृग्यताम् अवलोक्यताम् । यस्य एकभगवतः । स्मृतिमात्रतो ऽपि ज्ञानज्योतिः उदेति प्रकटीभवति । यस्य आत्मनः स्मरणमात्रतः । मोहतमसः मिथ्यात्वान्धकारस्य । भेदः समुत्पद्यते । यस्य आत्मनः स्मरणमात्रतः । सानन्दा आनन्दयुक्ता । कृतकृत्यता विहितकार्यता । सहसा शीघ्रेण । स्वान्ते अन्तःकरणे । समुन्मीलति विकसति ॥ १४६ ॥ भो आत्मन् । अत्र संसारे । जीव-अजीव विचित्रवस्तुविविध-आकार-ऋद्धिरूपादयः मोहवशतः । चिरं दीर्घकालम् । दृष्टाः श्रुताः सेविताः । किंलक्षणा रूपादयः। रागद्वेषकृताः ते रूपादयः विषयाः दृढबन्धनं जाताः । अतः कारणात् । नूनं निश्चितम् । तव इदं दुःखं जातम् । उत्पन्नम् । जानतः तव असौ धीः एव अद्यापि । बहिः बाह्ये । किं धावति । वृथैव ॥ १४७ ॥ अहम् । वपुषः शरीरात् । भिन्नः । च पुनः । किंलक्षणात् वपुषः । बहिः बाह्ये । मलकृतात् मलकारिणः । अहम् आत्मा । नानाविकल्पौघतः शब्दादेश्च भिन्नः । किंलक्षणः आत्मा चिदेकमूर्तिः । पुनः अमलः । पुनः शान्तः । पुनः सदानन्दभाक् आनन्दमयः । इति आस्था स्थिर-

परिचय तेरे किस कारणसे हुआ ? उनके साथ मेरा परिचय इष्ट और अनिष्ट वस्तुओंके समागमसे हुआ । अन्तमें जीव कहता है कि हे चित्त ! यदि ऐसा है तो हम दोनों ही नरकको प्राप्त करनेवाले हैं । वह यदि तुझे अभीष्ट नहीं है तो इस समस्त ही इष्ट-अनिष्टकी कल्पनाको शीघ्रतासे छोड़ दे ॥१४५॥ जिस भगवान् आत्माके केवल स्मरण मात्रसे भी ज्ञानरूपी तेज प्रगट होता है, अज्ञानरूप अन्धकारका विनाश होता है, तथा कृतकृत्यता अकस्मात् ही आनन्दपूर्वक अपने मनमें प्रगट हो जाती है; वह भगवान् आत्मा इसी शरीरके भीतर विराजमान है । उसका शीघ्रतासे अन्वेषण करो । दूसरी जगह (बाह्य पदार्थोंकी ओर) क्यों दौड़ रहे हो ? ॥ १४६ ॥ हे आत्मन् यहां जो जीव और अजीवरूप विचित्र वस्तुएँ, अनेक प्रकारके आकार, ऋद्धियां एवं रूप आदि राग-द्वेषको उत्पन्न करनेवाले ह उनको तूने मोहके वश होकर देखा है, सुना है, तथा सेवन भी किया है । इसीलिये वे तेरेलिये चिर कालसे दृढ़ बन्धन बने हुए हैं, जिससे कि तुझे दुःख भोगना पड़ रहा है । इस सबको जानते हुए भी तेरी वह बुद्धि आज भी क्यों बाह्य पदार्थोंकी ओर दौड़ रही है ? ॥ १४७ ॥ मैं बाह्य मल (रज-वीर्य) से उत्पन्न हुए इस शरीरसे, अनेक प्रकारके विकल्पोंके समुदायसे, तथा शब्दादिकसे भी भिन्न हूं । स्वभावसे मैं चैतन्यरूप अद्वितीय शरीरसे सम्पन्न, कर्म-मलसे रहित, शान्त एवं सदा आनन्दका उपभोक्ता हूं । इस प्रकारके श्रद्धानसे जिसका चित्त स्थिरताको प्राप्त हो

१ क विहिता सहसा ।

इत्यास्था स्थिरचेतसो दृढतरं साम्यादनारम्भिणः
संसाराद्भयमस्ति किं यदि तदप्यन्यत्र कः प्रत्ययः ॥ १४८ ॥

149) किं लोकेन किमाश्रयेण किमथ द्रव्येण कायेन किं
किं वाग्भिः किमुतेन्द्रियैः किमसुभिः किं तैर्विकल्पैरपि ।
सर्वे पुद्गलपर्यया बत परे त्वत्तः प्रमत्तो भवन्-
नात्मन्नेभिरभिश्रयस्यति तरामालेन किं बन्धनम् ॥ १४९ ॥

150) सतताभ्यस्तभोगानामप्यसत्सुखमात्मजम् ।
अप्यपूर्वं सदित्यास्था चित्ते यस्य स तत्त्ववित् ॥ १५० ॥

151) प्रतिक्षणमयं जनो नियतमुग्रदुःखातुरः
क्षुधादिभिरभिश्रयंस्तदुपशान्तये ऽन्नादिकम् ।
तदेव मनुते सुखं भ्रमवशाद्यदेवासुखं
समुल्लसति कच्छुकारुजि यथा शिखिस्वेदनम् ॥ १५१ ॥

चेतसः जीवस्य । साम्यात् । अनारम्भिणः आरम्भरहितस्य । संसाराद् दृढतरं भयं किमस्ति । यदि तत् तव अन्यत्र परवस्तुनि । कः प्रत्ययः कः विश्वासः ॥ १४८ ॥ बत इति खेदे । भो आत्मन् । लोकेन किं प्रयोजनम् । भो आत्मन् । आश्रयेण किं प्रयोजनम् । भो आत्मन् द्रव्येण अथवा कायेन किं प्रयोजनम् । भो हंस । वाग्भिः वचनैः किं प्रयोजनम् । उत अहो । इन्द्रियैः किं प्रयोजनम् । भो आत्मन् असुभिः प्राणैः किं प्रयोजनम् । भो आत्मन् तैर्विकल्पैरपि किं प्रयोजनम् । अपि सर्वे पुद्गलपर्यायाः । भो आत्मन् त्वत्तः सकाशात् । परे सर्वे पदार्थाः भिन्नाः । भो आत्मन् त्वं प्रमत्तः भवन् सन् । एभिः पूर्वोक्तैः विकल्पैः कृत्वा । अतितराम् अतिशयेन । आलेन वृथैव । बन्धनं किम् अभिश्रयसि आश्रयसि ॥ १४९ ॥ संततं[1] निरन्तम् । अभ्यस्तभोगानां सुखम् अपि । असत् अविद्यमानम् । आत्मजं सुखम् अपूर्वं सत् विद्यमानम् । यस्य चित्ते इति आस्था स्थितिः अस्ति । स पुमान् । तत्त्ववित् तत्त्ववेत्ता स्यात् ॥ १५० ॥ नियतं निश्चितम् । अयं जनः लोकः । प्रतिक्षणं समयं समयं प्रति । क्षुधादिभिः उग्रदुःखातुरः । तदुपशान्तये क्षुत्-उपशान्तये । अन्नादिकं अभिश्रयन् । तदेव सुखं मनुते । कस्मात् । भ्रमवशात् । यदेव असुखं तदेव सुखं मनुते । यथा कच्छुकारुजि समुल्लसति सति शिखिस्वेदनं सुखं मनुते ॥ १५१ ॥ परं मुनिः इति चिन्तयति । आत्मा

गया है तथा जो समताभावको धारण करके आरम्भसे रहित हो चुका है उसे संसारसे क्या भय है ? कुछ भी नहीं । और यदि उपर्युक्त दृढ़ श्रद्धानके होते हुए भी संसारसे भय है तो फिर और कहां विश्वास किया जा सकता है ? कहीं नहीं ॥ १४८ ॥ हे आत्मन् ! तुझे लोकसे क्या प्रयोजन है, आश्रयसे क्या प्रयोजन है, द्रव्यसे क्या प्रयोजन है, शरीरसे क्या प्रयोजन है, वचनोंसे क्या प्रयोजन है, इन्द्रियोंसे क्या प्रयोजन है, प्राणोंसे क्या प्रयोजन है, तथा उन विकल्पोंसे भी तुझे क्या प्रयोजन है ? अर्थात् इन सबसे तुझे कुछ भी प्रयोजन नहीं है, क्योंकि, वे सब पुद्गलकी पर्यायें हैं और इसीलिये तुझसे भिन्न हैं । तू प्रमादको प्राप्त होकर व्यर्थ ही इन विकल्पोंके द्वारा क्यों अतिशय बन्धनका आश्रयण करता है ? ॥ १४९ ॥ जिन जीवोंने निरन्तर भोगोंका अनुभव किया है उनका उन भोगोंसे उत्पन्न हुआ सुख अवास्तविक (कल्पित) है, किन्तु आत्मासे उत्पन्न सुख अपूर्व और समीचीन है; ऐसा जिसके हृदयमें दृढ़ विश्वास हो गया है वह तत्त्वज्ञ है ॥ १५० ॥ यह प्राणी प्रतिसमय क्षुधा-तृषा आदिके द्वारा अत्यन्त तीव्र दुःखसे व्याकुल होकर उनको शान्त करनेके लिये अन्न एवं पानी आदिका आश्रय लेता है और उसे ही भ्रमवश सुख मानता है । परन्तु वास्तवमें वह दुःख ही है । यह सुखकी कल्पना इस प्रकार है जैसे कि खुजलीके रोगमें अग्निके सेकसे होनेवाला सुख ॥ १५१ ॥ यदि

[1] श सततेति श्लोकस्य टीका नास्ति ।

152) आत्मा स्वं परमीक्षते यदि समं तेनैव संचेष्टते
तस्मायेव हितस्ततो ऽपि च सुखी तस्यैव संबन्धभाक् ।
तस्मिन्नेव गतो भवत्यविरतानन्दामृताम्भोनिधिः
किंचान्यत्सकलोपदेशनिवहस्यैतद्रहस्यं परम् ॥ १५२ ॥

153) परमानन्दाब्जरसं सकलविकल्पान्यसुमनसस्त्यक्त्वा ।
योगी स यस्य भजते स्तिमितान्तःकरणषट्चरणः ॥ १५३ ॥

154) जायन्ते विरसा रसा विघटते गोष्ठीकथाकौतुकं
शीर्यन्ते विषयास्तथा विरमति प्रीतिः शरीरे ऽपि च ।
जोषं वागपि धारयत्यविरतानन्दात्मशुद्धात्मनः
चिन्तायामपि यातुमिच्छति समं दोषैर्मनः पञ्चताम् ॥ १५४ ॥

155) आत्मैकः सोपयोगो मम किमपि ततो नान्यदस्तीति चिन्ता-
भ्यासात्ताशेषवस्तोः स्थितपरममुदा यद्गतिर्नो विकल्पे ।

परं स्वम् आत्मानम् ईक्षते । यदि चेत् । तेनैव आत्मनैव । समं चेष्टते दीव्यति आत्मा । तस्मै आत्मने हितः । ततः आत्मनः सकाशात् । आत्मा सुखी । आत्मा तस्य आत्मनः संबन्धभाक् सेवकः[1] आत्मा तस्मिन् आत्मनि । गतः प्राप्तः । अविरत-आनन्द-अमृत-अम्भोनिधिः भवति । अन्यत् किम् । सकलोपदेशनिवहस्य एतत्परं रहस्यम् ॥ १५२ ॥ स योगी । यस्य मुनेः । स्तिमितान्तःकरणषट्चरणः निश्चलान्तःकरणभ्रमरः । परमानन्दाब्जरसम् आनन्दकमलरसम् । भजते । किं कृत्वा । सकलविकल्प-अन्यसुमनसः पुष्पाणि त्यक्त्वा ॥ १५३ ॥ अविरतं[2]-आनन्दशुद्धात्मनः चिन्तायां सत्यां विचारणे । रसाः विरसाः जायन्ते । गोष्ठीकथाकौतुकं विघटते । तथा विषयाः शीर्यन्ते शटन्ति । च पुनः । शरीरेऽपि प्रीतिः विरमति । वागपि जोषं धारयति वचनं मौनं धारयति । मनः दोषैः । समं सार्धम् । पञ्चतां मृत्युताम् । यातुम् इच्छति ॥ १५४ ॥ श्रुतविशदमतेः भावश्रुतनिर्मलमतेः यतेः । सा साक्षात् आराधना कथिता । अन्यत् समस्तम् । बाह्यं भिन्नम् । यत् स्थितपरममुदा हर्षेण । विकल्पे नो गतिः यस्य मुनेर्विकल्पं[ल्पो] न । ग्रामे वा कानने वा वने वा । निःसुखे सुखरहिते प्रदेशे । वा जनजनितसुखे लोकहर्षितप्रदेशे । इति चिन्ता-

आत्मा अपने आपको उत्कृष्ट देखता है, उसीके साथ क्रीड़ा करता है, उसीके लिये हित स्वरूप है, उसीसे वह सुखी होता है, उसके ही सम्बन्धको प्राप्त होनेवाला है, और उसीमें स्थित होता है; तो वह आनन्दरूप अमृतका समुद्र बन जाता है। अधिक क्या कहा जाय? समस्त उपदेशसमूहका केवल यही रहस्य है॥ विशेषार्थ — इसका अभिप्राय यह है कि बाह्य सब पदार्थोंसे ममत्वबुद्धिको छोड़कर एक मात्र अपनी आत्मामें लीन होनेसे अपूर्व सुख प्राप्त होता है। उस अवस्थामें कर्ता कर्म आदि कारकोंका कुछ भी भेद नहीं रहता — वही आत्मा कर्ता और वही कर्म आदि स्वरूप भी होता है। यही कारण है जो ग्रन्थकर्ताने इस श्लोकमें क्रमशः उसके लिये सातों विभक्तियों (आत्मा, स्वम्, तेन, तस्मै, ततः, तस्य, तस्मिन्) का उपयोग किया है ॥ १५२ ॥ जिसका शान्त अन्तःकरणरूपी भ्रमर समस्त विकल्पोंरूप अन्य पुष्पोंको छोड़कर केवल उत्कृष्ट आनन्दरूप कमलके रसका सेवन करता है वह योगी कहा जाता है ॥ १५३ ॥ नित्य आनन्दस्वरूप शुद्ध आत्माका विचार करनेपर रस नीरस हो जाते हैं, परस्परके संलापरूप कथाका कौतूहल नष्ट हो जाता है, विषय नष्ट हो जाते हैं, शरीरके विषयमें भी प्रेम नहीं रहता, वचन भी मौनको धारण कर लेता है, तथा मन दोषोंके साथ मृत्युको प्राप्त करना चाहता है ॥ १५४ ॥ उपयोग (ज्ञान-दर्शन) युक्त एक आत्मा ही मेरा है, उसको छोड़कर अन्य कुछ भी मेरा नहीं है; इस प्रकारके विचारके अभ्याससे समस्त बाह्य पदार्थोंकी ओरसे जिसका मोह हट चुका है तथा जिसकी बुद्धि आगमके अभ्याससे निर्मल हो गई है ऐसे साधु पुरुषके

१ अ क सेवकः संबन्धभाक् । २ क अविरतं ।

ग्रामे वा कानने वा जनजनितसुखे निःसुखे वा प्रदेशे
साक्षादाराधना सा श्रुतविशदमतेर्बाह्यमन्यत्समस्तम् ॥ १५५ ॥

156) यद्यन्तर्निहितानि खानि तपसा बाह्येन किं फल्गुना
नैवान्तर्निहितानि खानि तपसा बाह्येन किं फल्गुना ।
यद्यन्तर्बहिरन्यवस्तु तपसा बाह्येन किं फल्गुना
नैवान्तर्बहिरन्यवस्तु तपसा बाह्येन किं फल्गुना ॥ १५६ ॥

157) शुद्धं वागतिवर्तितत्त्वमितरद्वाच्यं च तद्वाचकं
शुद्धादेश इति प्रभेदजनकं शुद्धेतरत्कल्पितम् ।

अभ्यास-अस्त-अशेष-वस्तोः मुनेः इति चिन्तनम् । एकः आत्मा । मम सोपयोग आदेयः । ततः आत्मनः सकाशात् । अन्यत् किमपि मम न अस्ति ॥ १५५ ॥ यदि चेत् । खानि इन्द्रियाणि । अन्तः मध्ये निहितानि अन्तःकरणे आरोपितानि । तदा बाह्येन तपसा किम् । न किमपि । फल्गुना वृथैव । यदि खानि इन्द्रियाणि अन्तःकरणे नैव निहितानि तदा बाह्येन तपसा किम् । फल्गुना वृथैव । यदि चेत् अन्तर्बहिः अन्यवस्तु मिथ्यात्वादि अस्ति । तदा बाह्येन तपसा किम् । फल्गुना वृथैव । यदि चेत् । अन्तर्बहिः अन्यवस्तु नैव मिथ्यात्वादि नैव । आत्मविचारोऽस्ति । तदा बाह्येन तपसा किम् । फल्गुना वृथैव ॥ १५६ ॥ शुद्धं तत्त्वं वागतिवर्ति वचनरहितम् । इतरत् अशुद्धतत्त्वम् । वाच्यं कथनीयम् । च पुनः । शुद्धादेशः तद्वाचकं भवति[1] । इति प्रभेदजनकं शुद्धे-

मनकी प्रवृत्ति विकल्पोंमें नहीं होती । वह ग्राम और वनमें तथा प्राणीके लिये सुख उत्पन्न करनेवाले स्थानमें और उस सुखसे रहित स्थानमें भी समबुद्धि रहता है अर्थात् ग्राम और सुख युक्त स्थानमें वह हर्षित नहीं होता है तथा इनके विपरीत वन और दुःख युक्त स्थानमें वह खेदको भी प्राप्त नहीं होता । इसीको साक्षात् आराधना कहा जाता है, अन्य सब बाह्य है ॥ १५५ ॥ यदि इन्द्रियाँ अन्तरात्माके उन्मुख हैं तो फिर व्यर्थके बाह्य तपसे कुछ भी प्रयोजन नहीं है । और यदि वे इन्द्रियां अन्तरात्माके उन्मुख नहीं हैं तो भी बाह्य तपका करना व्यर्थ ही है — उससे कुछ भी प्रयोजन सिद्ध होनेवाला नहीं है । यदि अन्तरंग और बाह्यमें अन्य वस्तुसे अनुराग है तो बाह्य तपसे क्या प्रयोजन है ? वह व्यर्थ ही है । इसके विपरीत यदि अन्तरंग और बाह्यमें भी अन्य वस्तुसे अनुराग नहीं है तो भी व्यर्थ बाह्य तपसे क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥ विशेषार्थ — अभिप्राय यह है कि यदि इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति आत्मोन्मुख है तो अभीष्ट प्रयोजन इतने मात्रसे ही सिद्ध हो जाता है, फिर उसके लिये बाह्य तपश्चरणकी कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती । किन्तु उक्त इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति आत्मोन्मुख न होकर यदि बाह्य पदार्थोंकी ओर हो रही है तो बाह्य तपके करनेपर भी यथार्थ सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती । इसलिये इस अवस्थामें भी बाह्य तप व्यर्थ ही ठहरता है । इसी प्रकार यदि अन्तरंगमें और बाह्यमें परवस्तुसे अनुराग नहीं रहा है तो बाह्य तपका प्रयोजन इस समताभावसे ही प्राप्त हो जाता ह, अतः उसकी आवश्यकता नहीं रहती । और यदि अन्तरंग व बाह्यमें परपदार्थोंसे अनुराग नहीं हटा है तो चित्तके राग-द्वेषसे दूषित रहनेके कारण बाह्य तपका आचरण करनेपर भी उससे कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा । अतः इस अवस्थामें भी बाह्य तपकी आवश्यकता नहीं रहती । तात्पर्य यह है कि बाह्य तपश्चरणके पूर्वमें इन्द्रियदमन, राग-द्वेषका शमन और मन वचन एवं कायकी सरल प्रवृत्तिका होना अत्यावश्यक है । इनके होनेपर ही वह बाह्य तपश्चरण सार्थक हो सकेगा, अन्यथा उसकी निरर्थकता अनिवार्य है ॥ १५६ ॥ शुद्ध तत्त्व वचनके अगोचर है, इसके विपरीत अशुद्ध तत्त्व वचनके गोचर है अर्थात् शब्दके द्वारा कहा जा सकता है । शुद्ध तत्त्वको जो ग्रहण करनेवाला

१ श क शुद्धादेशः यदावाचकं भवति ।

तत्राद्यं श्रयणीयमेव सुदृशा शेषद्वयोपायतः
सापेक्षा नयसंहतिः फलवती संजायते नान्यथा ॥ १५७ ॥

158) ज्ञानं दर्शनमप्यशेषविषयं जीवस्य नार्थान्तरं
शुद्धादेशविवक्षया स हि ततश्चिद्रूप इत्युच्यते ।
पर्यायैश्च गुणैश्च साधु विदिते तस्मिन् गिरा सद्गुरो-
र्ज्ञातं किं न विलोकितं न किमथ प्राप्तं न किं योगिभिः ॥ १५८ ॥

159) यन्नान्तर्न बहिः स्थितं न च दिशि स्थूलं न सूक्ष्मं पुमान्
नैव स्त्री न नपुंसकं न गुरुतां प्राप्तं न यल्लाघवम् ।
कर्मस्पर्शशरीरगन्धगणनाव्याहारवर्णोज्झितं
स्वच्छं ज्ञानदृगेकमूर्ति तदहं ज्योतिः परं नापरम् ॥ १५९ ॥

160) जानन्ति स्वयमेव यद्विमनसश्चिद्रूपमानन्दवत्
प्रोच्छिन्ने यदनाद्यमन्दमसकृन्मोहान्धकारे हठात् ।

तरत्कल्पितं भवति। तत्र शुद्ध-अशुद्धयोर्द्वयोर्मध्ये[2]। सुदृशा सुदृष्टिना भव्यपुरुषेण। आद्यं तत्त्वम्। आश्रयणीयम्। कुतः। अशेषद्वयोपायतः व्यवहार-उपायतः। नयसंहतिः नयसमूहः। सापेक्षा। फलवती सफला। जायते। अन्यथा निश्चयतः न सफला ॥१५७॥ अशेषविषयम् अशेषगोचरम्। ज्ञानं दर्शनमपि अशेषगोचरं द्वयम्। जीवस्य अर्थान्तरं स्पष्टं न। ततः कारणात्। स जीवैः शुद्धादेशविवक्षया शुद्धादेश वक्तुम् इच्छया कृत्वा। चिद्रूपः इति उच्यते। तस्मिन्नात्मनि। सद्गुरोः गिरा वाण्या। पर्यायैश्च गुणैश्च कृत्वा। साधु समीचीनम्। विदिते सति ज्ञाते सति। योगिभिः मुनीश्वरैः। किं न ज्ञातम्। किं न विलोकितम्। अथ योगिभिः तस्मिन्नात्मनि प्राप्ते सति किं न प्राप्तम् ॥ १५८ ॥ मुनिः अन्तर्ज्ञानं चिन्तयति। तत्परंज्योतिः अहम् आत्मा। अपरं न। यज्ज्योतिः अन्तःस्थितं न। बहिः बाह्ये स्थितं न। यत् चैतन्यं। च पुनः। दिशि स्थितं न। यज्ज्योतिः स्थूलं न। यत् ज्योतिः सूक्ष्मं न। यत् ज्योतिः पुमान् न स्त्री न नपुंसकं न। यज्ज्योतिः गुरुतां न प्राप्तम्। यज्ज्योतिः लाघवं न प्राप्तम्। यत् ज्योतिः कर्मस्पर्शशरीरगन्धगणनाव्याहारवर्णोज्झितं कर्मशरीर-उद्भवगन्धादिशब्दादिविषयं तैः विषयैः उज्झितम्। यत् ज्योतिः वर्णैः रहितम्। पुनः स्वच्छम्। यत् ज्योतिः ज्ञानदर्शनमूर्ति[4]। तत् अहम्। अपरं न ॥ १५९ ॥ तदहं शब्दाभिधेयं महः सोहम् इति वाच्यं।

है वह शुद्धादेश कहा जाता है तथा जो भेदको प्रगट करनेवाला है वह शुद्धसे इतर अर्थात् अशुद्ध नय कल्पित किया गया है। सम्यग्दृष्टिके लिये शेष दो उपायोंसे प्रथम शुद्ध तत्त्वका आश्रय लेना चाहिये। ठीक है—नयोंका समुदाय परस्पर सापेक्ष होकर ही प्रयोजनीभूत होता है। परस्परकी अपेक्षा न करनेपर वह निष्फल ही रहता है ॥ १५७ ॥ शुद्ध नयकी अपेक्षा समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाला ज्ञान और दर्शन ही जीवका स्वरूप है जो उस जीवसे पृथक् नहीं है। इससे भिन्न दूसरा कोई जीवका स्वरूप नहीं हो सकता है। अतएव वह 'चिद्रूप' अर्थात् चेतनस्वरूप ऐसा कहा जाता है। उत्तम गुरुके उपदेशसे अपने गुणों और पर्यायोंके साथ उस ज्ञान-दर्शन स्वरूप जीवके भले प्रकार जान लेनेपर योगियोंने क्या नहीं जाना, क्या नहीं देखा, और क्या नहीं प्राप्त किया? अर्थात् उपर्युक्त जीवके स्वरूपको जान लेनेपर अन्य सब कुछ जान लिया, देख लिया और प्राप्त कर लिया है; ऐसा समझना चाहिये ॥ १५८ ॥ मैं उस उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप हूं जो न भीतर स्थित है, न बाहिर स्थित है, न दिशामें स्थित है, न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न पुरुष है, न स्त्री है, न नपुंसक है, न गुरु है, न लघु है; तथा जो कर्म, स्पर्श, शरीर, गन्ध, गणना, शब्द एवं वर्णसे रहित होकर निर्मल एवं ज्ञान-दर्शनरूप अद्वितीय शरीरको धारण करती है। इससे भिन्न और कोई मेरा स्वरूप नहीं है ॥ १५९ ॥ जिसे अनादिकालीन प्रचुर मोहरूप अन्धकारके बलात् नष्ट हो जानेपर मनसे

१ च विदुषा। २ श शुद्धाशुद्धयोर्मध्ये। ३ क कारणात् जीव। ४ क मूर्तिः।

सूर्याचन्द्रमसावतीत्य यदहो विश्वप्रकाशात्मकं
तज्जीयात्सहजं सुनिष्कलमहं शब्दाभिधेयं महः ॥ १६० ॥

161) यज्जायते किमपि कर्मवशादसातं सातं च यत्तदनुयायि विकल्पजालम् ।
जातं मनागपि न यत्र पदं तदेव देवेन्द्रवन्दितमहं शरणं गतोऽस्मि ॥ १६१ ॥

162) धिक्कान्तास्तनमण्डलं धिगमलप्रालेयरोचिः करान्
धिक्कर्पूरविमिश्रचन्दनरसं धिक् ताञ्जलादीनपि[1] ।
यत्प्राप्तं न कदाचिदत्र तदिदं संसारसंतापहृत्
लग्नं चेदतिशीतलं गुरुवचोदिव्यामृतं मे हृदि ॥ १६२ ॥

163) जित्वा मोहमहाभटं भवपथे दत्तोग्रदुःखश्रमे
विश्रान्ता विजनेषु योगिपथिका दीर्घे चरन्तः क्रमात् ।

महः जीयात् । किंलक्षणं महः । सहजम् । पुनः सुनिष्कलं[2] शरीररहितम् । यत् महः । विमनसः सर्वज्ञाः । स्वयं जानन्ति । यत् चिद्रूपम् आनन्दसहितं वीतरागा जानन्ति । क्व सति । हठात् मोहान्धकारे प्रोच्छिन्ने सति । किंलक्षणं महः । असकृत् निरन्तरम् । अनादि । अमन्दम् उल्लसायमानम् । अहो यत् ज्योतिः । सूर्याचन्द्रमसौ अतीत्य उल्लङ्घ्य अतिक्रम्य विश्वप्रकाशात्मकं वर्तते ॥१६०॥ अहं तदेव पदम् । शरणं गतोऽस्मि प्राप्तो भवामि । किंलक्षणं पदम् । देवेन्द्रवन्दितम् । यत्किमपि कर्मवशात् । असातं दुःखम् । च पुनः । सातं सुखम् । जायते उत्पद्यते । यत्तदनुयायिविकल्पजालं तयोः सुखदुःखयोः अनुयायि विकल्पजालम् । यत्र मोक्षपदे । मनागपि न जातं मुक्तौ सुखदुःखविकल्पादि न वर्तते ॥ १६१ ॥ यदि चेत् । तत् इदं गुरुवचः दिव्यामृतं मे हृदि लग्नम् अस्ति तदा मया सर्वं प्राप्तम् । किंलक्षणं वचोमृतम् । संसार[3]संतापहृत् संसारकष्टनाशनम् । पुनः अतिशीतलम् । यस्य गुरोः वचः । अत्र संसारे । कदाचिन्न प्राप्तम् । यदा गुरुवचः प्राप्तं तदा । कान्तास्तनमण्डलं धिक् । अमलप्रालेयरोचिःकरान् चन्द्रकरान् धिक् । कर्पूरविमिश्रितचन्दनरसं[4] धिक् । तां जलार्द्रां जलार्द्रवस्त्रं धिक्[5] । एवं गुरुवचः अमृतम् अस्ति ॥ १६२ ॥ तेभ्यो मुनिभ्यो नमः ।

रहित हुए सर्वज्ञ स्वयं ही जानते हैं, जो चेतनस्वरूप है, आनन्दसे संयुक्त है, अनादि है, तीव्र है, निरन्तर रहनेवाला है, तथा जो आश्चर्य है कि सूर्य व चन्द्रमाको भी तिरस्कृत करके समस्त जगत्‌को प्रकाशित करनेवाला है; वह 'अहम्' शब्दसे कहा जानेवाला शरीर रहित स्वाभाविक तेज जयवन्त हो ॥ १६० ॥ कर्मके उदयसे जो कुछ भी दुःख और सुख होता है तथा उनका अनुसरण करनेवाला जो विकल्पसमूह भी होता है वह जिस पदमें थोड़ा-सा भी नहीं रहता, मैं देवेन्द्रोंसे वन्दित उसी (मोक्ष) पदकी शरणमें जाता हूं ॥ १६१ ॥ जो पूर्वमें कभी नहीं प्राप्त हुआ है ऐसा संसारके संतापको नष्ट करनेवाला अत्यन्त शीतल गुरुका उपदेशरूप दिव्य अमृत यदि मेरे हृदयमें संलग्न है तो फिर पत्नीके स्तनमण्डलको धिक्कार है, निर्मल चन्द्रमाकी किरणोंको धिक्कार है, कपूरसे मिले हुए चन्दनके रसको धिक्कार है, तथा अन्य जल आदि शीतल वस्तुओंको भी धिक्कार है ॥ विशेषार्थ– स्त्रीका स्तनमण्डल, चन्द्रकिरण, कपूरसे मिला हुआ चन्दनरस तथा और भी जो जल आदि शीतल पदार्थ लोकमें देखे जाते हैं वे सब प्राणीके बाह्य शारीरिक सन्तापको ही कुछ समयके लिये दूर सकते हैं, न कि अभ्यन्तर संसारसन्तापको। उस संसारसन्तापको यदि कोई दूर कर सकता है तो वह सद्गुरुका वचन ही दूर सकता है। अमृतके समान अतिशय शीतलताको उत्पन्न करनेवाला यदि वह गुरुका दिव्य उपदेश प्राणीको प्राप्त हो गया है तो फिर लोकमें शीतल समझे जानेवाले उन स्त्रीके स्तनमण्डल आदिको धिक्कार है। [का]रण यह कि ये सब पदार्थ उस सन्तापके नष्ट करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं ॥ १६२ ॥ अत्यन्त तीव्र दुःख

१ च-प्रतिपाठोऽयम्, अ क ब श धिक् तां जलाद्रामपि । २ क निष्कलं । ३ अ श किंलक्षणं वचः संसार । ४ क विमिश्र-चन्दनरसं । ५ अ श जलार्द्रां द्विपटिकां जलार्द्रवस्त्रं धिक् ।

प्राप्ता ज्ञानधनाश्चिरादभिमतस्वात्मोपलम्भालयं
नित्यानन्दकलत्रसंगसुखिनो ये तत्र तेभ्यो नमः ॥ १६३ ॥

164) इत्यादिर्धर्म एषः क्षितिपसुरसुखानर्घ्यमाणिक्यकोशः
पाथो दुःखानलानां परमपदलसत्सौधसोपानराजिः ।
एतन्माहात्म्यमीशः कथयति जगतां केवली साध्वधीता
सर्वस्मिन् वाङ्मये ऽथ स्मरति परमहो मादृशस्तस्य नाम ॥ १६४ ॥

165) शश्वज्जन्मजरान्तकालविलसद्दुःखौघसारीभवत्-
संसारोग्रमहारुजोपहृतये ऽनन्तप्रमोदाय च ।
एतद्धर्मरसायनं ननु बुधाः कर्तुं मतिश्चेत्तदा
मिथ्यात्वाविरतिप्रमादनिकरक्रोधादि संत्यज्यताम् ॥ १६५ ॥

166) नष्टं रत्नमिवाम्बुधौ निधिरिव प्रभ्रष्टदृष्टेर्यथा
योगो यूपशलाकयोश्च गतयोः पूर्वापरौ तोयधी ।

ये योगिपथिकाः मुनयः । मोहमहाभटं जित्वा । भवपथे संसारपथे । चरन्तः गच्छन्तः । विजनेषु स्थानेषु विश्रान्ता जाताः । किंलक्षणे भवपथे । दत्तोग्रदुःखश्रमे दुःखप्रदे । पुनः किंलक्षणे भवपथे । दीर्घे गरिष्ठे । ये मुनयः । क्रमात् क्रमेण । चिरात् दीर्घकालात् । अभिमतं श्रेष्ठम् । स्वात्मोपलम्भालयम् आत्मगृहम् । प्राप्ताः । पुनः किंलक्षणा मुनयः । ज्ञानधनाः । ये मुनयः । तत्र स्वात्मोपलम्भगृहे । नित्यानन्दकलत्रसंगसुखिनः वर्तन्ते । तेभ्यो नमः नमस्कारोऽस्तु ॥ १६३ ॥ इत्यादिः एषः धर्मः । किंलक्षणः धर्मः । [2]क्षितिप-राजा-सुर-देवसुख-अनर्घ्यमाणिक्यकोशः सुखभाण्डारः । पुनः किंलक्षणः धर्मः । दुःखानलानां दुःखाग्नीनाम् । पाथः जलम् । पुनः किंलक्षणो धर्मः । परमपदलसत्सौधसोपानराजिः मोक्षगृहसोपानपङ्क्तिः । एतस्य धर्मस्य माहात्म्यं जगताम् ईशः केवली कथयति । किंलक्षणः केवली । अथ सर्वस्मिन् वाङ्मये । साधु अधीता वक्ता द्वादशाङ्गवक्ता । अहो इति संबोधने । मादृशः जनः । तस्य धर्मस्य नाम स्मरति ॥ १६४ ॥ ननु इति वितर्के । भो बुधाः । एतद्धर्मरसायनं कर्तुं यदि चेन्मतिः अस्ति । च पुनः । अनन्तसुखाय अनन्तसुखहेतवे अनन्तसुखं भोक्तुं मतिः अस्ति । च पुनः । शश्वत् अनवरतम् । जन्मसंसारजरा-अन्तकालविलसद्दुःखौघसबलसंसार-उग्रमहारुजः रोगस्य अपहृतये नाशाय दूरीकर्तुं मतिः अस्ति । तदा मिथ्यात्व-अविरतिप्रमादकषायसमूह[3]क्रोधादि संत्यज्यताम् । भो भव्याः संत्यज्यताम् ॥ १६५ ॥ अत्र संसारे । नरत्वं मनुष्यपदं तथा दुर्लभम् । तथा कथम् । यथा अम्बुधौ समुद्रे नष्टं रत्नं दुर्लभं पुनः कठिनेन (?) प्राप्यते । पुनः मनुष्यपदं तथा दुर्लभं यथा

एवं परिश्रमको उत्पन्न करनेवाले लंबे संसारके मार्गमें क्रमशः गमन करनेवाले जो योगीरूप पथिक मोहरूपी महान् योद्धाको जीतकर एकान्त स्थानमें विश्रामको प्राप्त होते हैं, तत्पश्चात् जो ज्ञानरूपी धनसे सम्पन्न होते हुए स्वात्मोपलब्धिके स्थानभूत अपने अभीष्ट स्थान (मोक्ष) को प्राप्त होकर वहांपर अविनश्वर सुख (मुक्ति) रूपी स्त्रीकी संगतिसे सुखी हो जाते हैं उनके लिये नमस्कार हो ॥ १६३ ॥ इत्यादि (उपर्युक्त) यह धर्म राजा एवं देवोंके सुखरूप अमूल्य रत्नोंका खजाना है, दुःखरूप अग्निको शान्त करनेके लिये जलके समान है, तथा उत्तम पद अर्थात् मोक्षरूप प्रासादकी सीढ़ियोंकी पंक्तिके सदृश है । उसकी महिमाका वर्णन वह केवली ही कर सकता है जो तीनों लोकोंका अधिपति होकर समस्त आगममें निष्णात है । मुझ जैसा अल्पज्ञ मनुष्य तो केवल उसके नामका स्मरण करता है ॥ १६४ ॥ हे विद्वानो ! निरन्तर जन्म, जरा एवं मरण रूप दुःखोंके समूहमें सारभूत ऐसे संसाररूप तीव्र महारोगको दूर करके अनन्त सुखको प्राप्त करनेके लिये यदि आपकी इस धर्मरूपी रसायनको प्राप्त करनेकी इच्छा है तो मिथ्यात्व, अविरति एवं प्रमादके समूहका तथा क्रोधादि कषायोंका परित्याग कीजिये ॥ १६५ ॥ जैसे समुद्रमें विलीन हुए रत्नका पुनः

१ क निकरः । २ श पुस्तके एवंविधः पाठः— क्षितिपो भूपतिः सुष्ठु राति करं ददाति इति सुरः इन्द्रस्तयोः सुखं क्षितिस्वर्गपालनजन्यः आनन्दः स एवानर्घ्यमाणिक्यानि अमूल्यपद्मरागरत्नानि तेषां कोशः आश्रयगृहं निधानगृहम् । ३ क समूहः ।

संसारे ऽत्र तथा नरत्वमसकृद्दुःखप्रदे दुर्लभं
लब्धे तत्र च जन्म निर्मलकुले तत्रापि धर्मे मतिः ॥ १६६ ॥

167) न्यायादन्धकवर्तकीयकजनाख्यानस्य संसारिणां
प्राप्तं वा बहुकल्पकोटिभिरिदं कृच्छ्रान्नरत्वं यदि ।
मिथ्यादेवगुरूपदेशविषयव्यामोहनीचान्वय-
प्रायैः प्राणभृतां तदेव सहसा वैफल्यमागच्छति ॥ १६७ ॥

168) लब्धे कथं कथमपीह मनुष्यजन्मन्यङ्ग प्रसंगवशतो हि कुरु स्वकार्यम् ।
प्राप्तं तु कामपि गतिं कुमते तिरश्चां कस्त्वां भविष्यति विबोधयितुं समर्थः ॥ १६८ ॥

169) जन्म प्राप्य नरेषु निर्मलकुले क्लेशान्मतेः पाटवं
भक्तिं जैनमते कथं कथमपि प्रागर्जितश्रेयसः ।

प्रभ्रष्टदृष्टेः अन्धस्य निधिरिव अन्धस्य लक्ष्मीः दुर्लभा । यथा पूर्वापरौ तोयधी पूर्वपश्चिमसमुद्रौ । च पुनः । गतयोः यूपशलाकयोः यूपशमिलयोः । योगः एकत्र मिलनं कठिनं तथा मनुष्यपदं कठिनम् । किंलक्षणे संसारे । असकृद्दुःखप्रदे । तत्र तस्मिन् । नरत्वे लब्धे सति । च पुनः । निर्मलकुले जन्म दुर्लभम् । तत्र तस्मिन् निर्मलकुले प्राप्ते सति अपि धर्मे मतिः दुर्लभा ॥ १६६ ॥ यदि चेत् । संसारिणां जीवानाम् । संसारिजीवैः । इदं नरत्वं कृच्छ्रात् । लब्धं प्राप्तम् । वा बहुकल्पकोटिभिः प्राप्तम् । अन्धकवर्तकीयकजनाख्यानस्य न्यायात् इव–अन्धकस्य हस्तयोः मध्ये यथा बटेरिपक्षिणः आगमनं दुर्लभं तथा नरत्वं प्राणभृतां जीवानाम् । तदेव नरत्वम् । सहसा । वैफल्यं निष्फलम् । आगच्छति । कैः । मिथ्यादेवगुरूपदेशविषयव्यामोहप्रेमनीचअन्वयप्रायैः नीचकार्यैः कृत्वा नरत्वं विफलं याति ॥ १६७ ॥ अङ्ग इति संबोधने । हे कुमते । इह मनुष्यजन्मनि । प्रसङ्गवशतः पुण्यवशतः । कथमपि[1] लब्धे सति । हि यतः । तदा स्वकार्यं कुरु । यदा तिरश्चां कामपि गतिं प्राप्तम् । तदा त्वां विबोधयितुं कः समर्थः भविष्यति । अपि तु न कोऽपि ॥१६८॥ ये पुमांसः । निर्मलकुले नरेषु जन्म प्राप्य क्लेशात् मतेः पाटवं दक्षत्वं प्राप्य । कथं कथमपि कष्टेन प्राप्य । प्राक् अर्जितश्रेयसः पुण्यात् । जैनमते भक्तिं प्राप्य । संसारसमुद्रतारकं सुखकरं धर्मं न कुर्वते । ते मूढाः दुर्बुद्धयः

प्राप्त करना दुर्लभ है, अन्धेको निधिका मिलना दुर्लभ है, तथा पृथक् पृथक् पूर्व और पश्चिम समुद्रको प्राप्त हुई यूप (जुआं अथवा यज्ञमें पशुके बांधनेका काष्ठ) और शलाका (जुएंमें लगाई जानेवाली खूंटी) का फिरसे संयोग होना दुर्लभ है; वैसे ही निरन्तर दुःखको देनेवाले इस संसारमें मनुष्य पर्यायको प्राप्त करना भी अतिशय दुर्लभ है। यदि कदाचित् वह मनुष्य पर्याय प्राप्त भी हो जावे तो भी निर्मल कुलमें जन्म लेना और वहांपर भी धर्ममें बुद्धिका लगना, यह बहुत ही दुर्लभ है ॥ १६६ ॥ संसारी प्राणियोंको यह मनुष्य पर्याय 'अन्धकवर्तकीयक' रूप जनाख्यानके न्यायसे करोड़ों कल्पकालोंमें बड़े कष्टसे प्राप्त हुई है, अर्थात् जिस प्रकार अन्धे मनुष्यके हाथोंमें वटेर पक्षीका आना दुर्लभ है उसी प्रकार इस मनुष्य पर्यायका प्राप्त होना भी अत्यन्त दुर्लभ है। फिर यदि वह करोड़ों कल्प कालोंमें किसी प्रकारसे प्राप्त भी हो गई तो वह मिथ्या देव एवं मिथ्या गुरुके उपदेश, विषयानुराग और नीच कुलमें उत्पत्ति आदिके द्वारा सहसा विफलताको प्राप्त हो जाती है ॥ १६७ ॥ हे दुर्बुद्धि प्राणी! यदि यहां जिस किसी भी प्रकारसे तुझे मनुष्य-जन्म प्राप्त हो गया है तो फिर प्रसंग पाकर अपना कार्य (आत्महित) कर ले। अन्यथा यदि तू मरकर किसी तिर्यंच पर्यायको प्राप्त हुआ तो फिर तुझे समझानेके लिये कौन समर्थ होगा? अर्थात् कोई नहीं समर्थ हो सकेगा ॥ १६८ ॥ जो लोग मनुष्य पर्यायके भीतर उत्तम कुलमें जन्म लेकर कष्टपूर्वक बुद्धिकी चतुरताको प्राप्त हुए हैं तथा जिन्होंने पूर्वोपार्जित पुण्य कर्मके उदयसे जिस किसी भी प्रकारसे जैन मतमें

१ श प्रसंगवशतः कथमपि ।

संसारार्णवतारकं सुखकरं धर्मं न ये कुर्वते
हस्तप्राप्तमनर्घ्यरत्नमपि ते मुञ्चन्ति दुर्बुद्धयः ॥ १६९ ॥

170) तिष्ठत्यायुरतीव दीर्घमखिलान्यङ्गानि दूरं दृढा-
न्येषा श्रीरपि मे वशं गतवती किं व्याकुलत्वं मुधा ।
आयत्यां निरवग्रहो गतवया धर्मं करिष्ये भरा-
दित्येवं बत चिन्तयन्नपि जडो यात्यन्तकग्रासताम् ॥ १७० ॥

171) पलितैकदर्शनादपि सरति सतश्चित्तमाशु वैराग्यम् ।
प्रतिदिनमितरस्य पुनः सह जरया वर्धते तृष्णा ॥ १७१ ॥

172) आजातेर्नस्त्वमसि दयिता नित्यमासन्नगासि
प्रौढास्याशे किमथ बहुना स्त्रीत्वमालम्बितासि ।
अस्मत्केशग्रहणमकरोदग्रतस्ते जरेयं
मर्षस्येतन्मम च हतके स्नेहलाद्यापि चित्रम् ॥ १७२ ॥

अनर्घ्यरत्नमपि हस्तप्राप्तम् । मुञ्चन्ति त्यजन्ति ॥१६९॥ बत इति खेदे । जडः मूर्खः । एवम् इति । चिन्तयन् अपि । अन्तकग्रासतां याति यमवदनं याति । किं चिन्तयति । आयुः अतीव दीर्घं तिष्ठति । अखिलानि अङ्गानि । दूरम् अतिशयेन दृढानि सन्ति । एषा श्रीः लक्ष्मीः । मे मम वशं गतवती वर्तते । मुधा व्याकुलत्वं कथम् । आयत्याम् उत्तरकाले वृद्धकाले । निरवग्रहः स्वच्छन्दः । गतवया गतयौवनभरात् । धर्मं करिष्ये । भरात् अतिशयेन । चिन्तयन् मूढः मरणं याति ॥१७०॥ सतः साधोः । चित्तं मनः । पलितैकदर्शनात् अपि श्वेतकेशदर्शनात् । आशु शीघ्रेण । प्रतिदिनं वैराग्यं सरति गच्छति । पुनः इतरस्य असाधोः नीचपुरुषस्य । श्वेतकेशदर्शनात् जरया सह तृष्णा वर्धते ॥ १७१ ॥ हे आशे हे तृष्णे । त्वम् । आजातेः जन्म आ मर्यादीकृत्य[1] । नः अस्माकम् । दयिता स्त्री । असि भवसि । नित्यं सदैव । आसन्नगा निकटस्था असि । प्रौढा असि । अथ बहुना किम् । स्त्रीत्वम्[2] आलम्बिता असि स्त्रीत्वं गता असि । इयं जरा । ते तव सपत्नी । ते तव अग्रतः । अस्मत्केशग्रहणम् अस्माकं केशग्रहणम् । अकरोत् । हे हतके

भक्ति भी प्राप्त कर ली है, फिर यदि वे संसार-समुद्रसे पार कराकर सुखको उत्पन्न करनेवाले धर्मको नहीं करते हैं तो समझना चाहिये कि वे दुर्बुद्धि जन हाथमें प्राप्त हुए भी अमूल्य रत्नको छोड़ देते हैं ॥ १६९॥ मेरी आयु बहुत लंबी है, हाथ-पांव आदि सभी अंग अतिशय दृढ़ हैं, तथा यह लक्ष्मी भी मेरे वशमें है फिर मैं व्यर्थमें व्याकुल क्यों होऊं ? उत्तर कालमें जब वृद्धावस्था प्राप्त होगी तब मैं निश्चिन्त होकर अतिशय धर्म करूंगा। खेद है कि इस प्रकार विचार करते करते यह मूर्ख प्राणी कालका ग्रास बन जाता है ॥ १७० ॥ साधु पुरुषका चित्त एक पके हुए (श्वेत) बालके देखनेसे ही शीघ्र वैराग्यको प्राप्त हो जाता है । किन्तु इसके विपरीत अविवेकी जनकी तृष्णा प्रतिदिन वृद्धत्वके साथ बढ़ती जाती है, अर्थात् जैसे जैसे उसकी वृद्ध अवस्था बढ़ती जाती है वैसे वैसे ही उत्तरोत्तर उसकी तृष्णा भी बढ़ती जाती है ॥ १७१ ॥ हे तृष्णे ! तुम हमें जन्मसे लेकर प्यारी रही हो, सदा पासमें रहनेवाली हो और वृद्धिको प्राप्त हो । बहुत क्या कहा जाय ? तुम हमारी पत्नी अवस्थाको प्राप्त हुई हो । यह जरा (बुढ़ापा) रूप अन्य स्त्री तुम्हारे सामने ही हमारे बालोंको ग्रहण कर चुकी है । हे घातक तृष्णे ! तुम मेरे इस बालग्रहण रूप अपमानको सहते हुए आज भी स्नेह करनेवाली बनी हो, यह आश्चर्यकी बात है ॥ विशेषार्थ – लोकमें देखा जाता है कि यदि कोई पुरुष किसी अन्य स्त्रीसे प्रेम करता है तो चिरकालसे स्नेह करनेवाली भी उसकी स्त्री उसकी ओरसे विरक्त हो जाती है – उसे छोड़ देती है । परन्तु खेद है कि वह तृष्णारूप स्त्री अपने प्रियतमको अन्य जरारूप नारीमें आसक्त देख कर भी उसे नहीं छोड़ती है और उससे अनुराग ही करती है । तात्पर्य

१ क अमर्यादीकृत्य । २ श बहुना स्त्रीत्वं ।

173) रङ्कायते परिवृढो ऽपि दृढो ऽपि मृत्युमभ्येति दैववशतः क्षणतो ऽत्र लोके।
तत्कः करोति मदमम्बुजपत्रवारिबिन्दूपमैर्धनकलेवरजीविताद्यैः॥ १७३॥

174) प्रातर्दर्भदलाग्रकोटिघटितावश्यायबिन्दूत्कर-
प्रायाः प्राणधनाङ्गजप्रणयिनीमित्रादयो देहिनाम्।
अक्षाणां सुखमेतदुग्रविषवद्धर्मं विहाय स्फुटं
सर्वं भङ्गुरमत्र दुःखदमहो मोहः करोत्यन्यथा॥ १७४॥

175) तावद्वल्गति वैरिणां प्रति चमूस्तावत्परं पौरुषं
तीक्ष्णस्तावदसिर्भुजौ दृढतरौ तावच्च कोपोद्गमः।
भूपस्यापि यमो न यावददयः क्षुत्पीडितः सन्मुखं
धावत्यन्तरिदं विचिन्त्य विदुषा तद्रोधको मृग्यते॥ १७५॥

हे तृष्णे। एतत्केशग्रहणापमानम्[1]। त्वं मर्षसि सहसे। च पुनः। मम त्वं अद्यापि। स्नेहला स्नेहकारिणी असि। एतच्चित्रम् आश्चर्यम्॥ १७२॥ अत्र लोके संसारे। परिवृढोऽपि राजा अपि। रङ्कायते। दृढोऽपि कठिनोऽपि। दैववशतः कर्मयोगात्। क्षणतः। मृत्युम् अभ्येति मरणं याति। ततस्मात्कारणात। अम्बुजपत्रवारिबिन्दूपमैः कमलपत्रोपरिजलबिन्दुसमानैः। धनकलेवर–शरीरजीविताद्यैः कृत्वा। मदं गर्वम्। कः करोति। भव्यः गर्वं न करोति॥ १७३॥ देहिनां प्राणिनाम्। प्राण-धनाङ्गजपुत्रप्रणयिनीस्त्रीमित्रादयः प्रातःकालीनदर्भअग्रकोटिस्थित–अवश्यायबिन्दु-उत्करसमूहसदृशाः सन्ति। एतत् अक्षाणां सुखम् उग्रविषवत् जानीहि। अत्र संसारे। स्फुटं प्रकटम्। धर्मं विहाय सर्वम्। भङ्गुरं विनश्वरम्। विद्धि। पुनः सर्वं दुःखदं विद्धि। अहो मोहः अन्यथा करोति॥ १७४॥ यावत्। अदयः क्षुत्पीडितः सन् यमः[2] सन्मुखं न धावति। तावद्भूपस्य राज्ञः। चमूः सेना। वैरिणां प्रति वल्गति। भूपस्य अपि परं पौरुषं तावत्। भूपस्य असिः तीक्ष्णः तावत्। भूपस्य दृढतरौ भुजौ तावत्। च पुनः। कोपोद्गमः क्रोधोत्पत्तिः तावत्। यावत् यमः सन्मुखं न धावति। अन्तःकरणे इदं विचिन्त्य। विदुषा भव्यजीवेन।

यह है कि वृद्धावस्थाके प्राप्त होनेपर पुरुषका शरीर शिथिल हो जाता है व स्मृति भी क्षीण हो जाती है। फिर भी वह विषयतृष्णाको छोड़ कर आत्महितमें प्रवृत्त नहीं होता, यह कितने खेदकी बात है॥ १७२॥ यहां संसारमें राजा भी दैवके वश होकर रंक जैसा बन जाता है तथा पुष्ट शरीरवाला भी मनुष्य कर्मोदयसे क्षणभरमें ही मृत्युको प्राप्त हो जाता है। ऐसी अवस्थामें कौन-सा बुद्धिमान् पुरुष कमलपत्रपर स्थित जलबिन्दुके समान विनाशको प्राप्त होनेवाले धन, शरीर एवं जीवित आदिके विषयमें अभिमान करता है? अर्थात् क्षणमें क्षीण होनेवाले इन पदार्थोंके विषयमें विवेकी जन कभी अभिमान नहीं करते॥ १७३॥ प्राणियोंके प्राण, धन, पुत्र, स्त्री और मित्र आदि प्रातःकालमें डाभ (कांस) के पत्रके अग्र भागमें स्थित ओसकी बूंदोंके समूहके समान अस्थिर हैं। यह इन्द्रियजन्य सुख तीक्ष्ण विषके समान परिणाममें दुःखदायी है। इसीलिये यह स्पष्ट है कि यहां धर्मको छोड़ कर अन्य सब पदार्थ विनश्वर व कष्टदायक हैं। परन्तु आश्चर्य है कि यह संसारी प्राणी मोहके वश होकर इन विनश्वर पदार्थोंको स्थिर मान उनमें अनुराग करता है और स्थायी धर्मको भूल जाता है॥ १७४॥ जब तक क्षुधासे पीड़ित हुआ निर्दय यमराज (मृत्यु) सामने नहीं आता है तभी तक राजाकी भी सेना शत्रुओंके ऊपर आक्रमण करनेके लिये प्रस्थान करती है, तभी तक उत्कृष्ट पुरुषार्थ भी रहता है, तभी तक तीक्ष्ण तलवार भी स्थित रहती है, तभी तक उभय बाहु भी अतिशय दृढ़ रहते हैं, और तभी तक क्रोध भी उदित होता है। इस

१ श ग्रहणं अपमानं। २ श क्षुत्पीडितः यमः।

176) रतिजलरममाणो मृत्युकैवर्तहस्तप्रसृतघनजरोरुप्रोल्लसज्जालमध्ये ।
निकटमपि न पश्यत्यापदां चक्रमुग्रं भवसरसि वराको लोकमीनौघ एषः ॥ १७६ ॥

177) क्षुद्भुक्तेस्तृडपीह शीतलजलाद्भूतादिका मन्त्रतः
सामादेररिहितो गदाद्गदगणः शान्तिं नृभिर्नीयते ।
नो मृत्युस्तु सुरैरपीति हि मृते मित्रे ऽपि पुत्रे ऽपि वा
शोको न क्रियते बुधैः परमहो धर्मस्ततस्तज्जयः ॥ १७७ ॥

178) त्यक्त्वा दूरं विधुरपयसो दुर्गतिक्लिष्टकृच्छ्रान्
लब्ध्वानन्दं सुचिरममरश्रीसरस्यां रमन्ते ।
पत्यैतस्या नृपपदसरस्यक्षयं धर्मपक्षा
यान्त्येतस्मादपि शिवपदं मानसं भव्यहंसाः ॥ १७८ ॥

तद्रोधकः तस्य यमस्य रोधकः निषेधकारी मोक्षस्थानकः । मृग्यते विचार्यते ॥ १७५ ॥ एषः वराकः । लोकमीनौघः लोकमीन-समूहः । भवसरसि संसारसरोवरे । रतिजले । रममाणः क्रीडमाणः । उग्रम् आपदां चक्रं निकटम् अपि न पश्यति । किंलक्षणे भवसरसि । मृत्युकैवर्तहस्तेन यमधीवरहस्तेन प्रसृतं प्रसारितं घन-निबिड-जरा-उरु-प्रोल्लसज्जालमध्ये यस्य स तस्मिन् ॥ १७६ ॥ इह संसारे । नृभिः मनुष्यैः कृत्वा । क्षुधा । भुक्तेर्भोजनात् । शान्तिं नीयते । नृभिस्तृट् तृषा अपि शीतलजलात् शान्तिं नीयते । नृभिर्भूतादिका मन्त्रतः शान्तिं नीयन्ते । नृभिररिहितः शत्रुः सामादेः कोमलवचनात् शान्तिं नीयते । नृभिः गदगणः रोगसमूहः । गदगणात् औषधसमूहात् । शान्तिं नीयते । तु पुनः । मृत्युः । सुरैः अपि देवैः अपि । शान्तिं नो नीयते । हि यतः । इति हेतोः । मित्रे वा पुत्रे मृते सति बुधैः शोको न क्रियते । अहो इति संबोधने । परं धर्मः क्रियते । ततः तज्जयः धर्मः मृत्यु-विनाशकारी ॥ १७७ ॥ भव्यहंसाः । दुर्गतिक्लिष्टकृच्छ्रान् दुर्गतिक्लेशदुःखशालिक्षेत्रविशेषान् । दूरं त्यक्त्वा । अमरश्रीः देवश्रीः । सरस्यां स्वर्गश्रीसरोवरे । लब्ध्वानन्दम् । सुचिरं चिरकालम् । रमन्ते क्रीडन्ति । किंलक्षणान् क्षेत्रान् । विधुरपयसः विधुरं कष्टं तदेव पयः पानीयं यत्र तान् । धर्मपक्षाः भव्यहंसाः । एतस्याः देवश्रीसरस्याः सकाशात् । एत्य आगत्य । नृपपदसरसि राजपद-सरोवरे रमन्ते । पुनः भव्यहंसाः । एतस्मात् नृपपदसरोवरात् । शिवपदं मानससरोवरम् । यान्ति । किंलक्षणं शिवपदम् ।

प्रकारसे विचार करके विद्वान् पुरुष उक्त यमराजका निग्रह करनेवाले तप आदिकी खोज करता है ॥ १७५ ॥ जिसके मध्यमें मृत्युरूपी मल्लाहने अपने हाथोंसे सघन जरारूपी विस्तृत जालको फैला दिया है ऐसे संसाररूपी सरोवरके भीतर रागरूपी जलमें रमण करनेवाला यह बेचारा जनरूपी मीनोंका समुदाय समीपमें आई हुई महान् आपत्तियोंके समूहको नहीं देखता है ॥ १७६ ॥ संसारमें मनुष्य भोजनसे क्षुधाको, शीतल जलसे प्यासको, मंत्रसे भूत-पिशाचादिको, साम दान दण्ड व भेदसे शत्रुको, तथा औषधसे रोगसमूहको शान्त किया करते हैं । परन्तु मृत्युको देव भी शान्त नहीं कर पाते । इस प्रकार विचार करके विद्वज्जन मित्र अथवा पुत्रके भी मरनेपर शोक नहीं करते, किन्तु एक मात्र धर्मका ही आचरण करते हैं और उसीसे वे मृत्युके ऊपर विजय प्राप्त करते हैं ॥ १७७ ॥ धर्मरूपी पंखोंको धारण करनेवाले भव्य जीवरूप हंस नरकादिक दुर्गतियोंके क्लेशयुक्त दुःखोंरूप जलहीन जलाशयोंको दूरसे ही छोड़कर आनन्दपूर्वक देवोंकी लक्ष्मीरूप सरोवरमें चिर काल तक रमण करते हैं । वहांसे आ करके वे राज्यपदरूप सरोवरमें रमण करते हैं । अन्तमें वे वहांसे भी निकल करके अविनश्वर मोक्षपदरूपी मानस सरोवरको प्राप्त करते हैं ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार उत्तम पुष्ट पंखोंसे संयुक्त हंस पक्षी जलसे रिक्त हुए जलाशयोंको छोड़कर किसी अन्य सरोवरमें चले जाते हैं और फिर अन्तमें उसको भी छोड़कर मानस सरोवरमें जा पहुंचते हैं उसी प्रकार धर्मात्मा भव्य जीव उस धर्मके प्रभावसे नरकादिक दुर्गतियोंके कष्टसे बचकर क्रमशः देवपद

179) जायन्ते जिनचक्रवर्तिबलभृद्भोगीन्द्रकृष्णादयो
धर्मादेव दिगङ्गनाङ्गविलसच्छश्वद्यशश्चन्दनाः।
तद्धीना नरकादियोनिषु नरा दुःखं सहन्ते ध्रुवं
पापेनेति विजानता किमिति नो धर्मः सता सेव्यते ॥ १७९ ॥

180) स स्वर्गः सुखरामणीयकपदं ते ते प्रदेशाः पराः
सारा सा च विमानराजिरतुलप्रेङ्खत्पताकापटा[1]।
ते देवाश्च पदातयः परिलसन्नन्दनं ताः स्त्रियः
शक्रत्वं तदनिन्द्यमेतदखिलं धर्मस्य विस्फूर्जितम् ॥ १८० ॥

181) यत्षट्खण्डमही नवोरुनिधयो द्विःसप्तरत्नानि यत्
तुङ्गा यद्द्विरदा रथाश्च चतुराशीतिश्च लक्षाणि यत्।
यच्चाष्टादशकोटयश्च तुरगा योषित्सहस्राणि यत्
षड्युक्ता नवतिर्यदेकविभुता तद्धाम धर्मप्रभोः ॥ १८१ ॥

182) धर्मो रक्षति रक्षितो ननु हतो हन्ति ध्रुवं देहिनां
हन्तव्यो न ततः स एव शरणं संसारिणां सर्वथा।

अक्षयं शाश्वतम् ॥ १७८ ॥ अत्र संसारे। धर्मादेव जिनचक्रवर्तिबलभद्रभोगीन्द्र–धरणेन्द्रकृष्णादयः। जायन्ते उत्पद्यन्ते। किंलक्षणाः जिनचक्रवर्तिबलभद्रादयः। दिगङ्गनाङ्गविलसच्छश्वद्यशश्चन्दनाः। पुनः तद्धीना नराः तेन धर्मेण हीनाः रहिताः नराः। पापेन ध्रुवं नरकादिषु योनिषु। दुःखं सहन्ते दुःखं प्राप्नुवन्ति। इति विजानता सता सत्पुरुषेण। इति हेतोः। धर्मः किं न सेव्यते[2] ॥ १७९ ॥ एतत्। अखिलं समस्तम्। धर्मस्य। विस्फूर्जितं माहात्म्यम्। तदेव दर्शयति। स स्वर्गः। किंलक्षणः स्वर्गः। सुखरामणीयकपदम्। ते ते प्रदेशाः। पराः उत्कृष्टाः सन्ति। च पुनः। सा विमानराजिः। सारा समीचीना वर्तते। किंलक्षणा विमानराजिः। अतुलप्रेङ्खत्पताकापटा। ते[3] देवाः ते अश्वरूपा देवाः[4]। ते पदातयः। तत् परिलसन्नन्दनं वनम्। ताः सुराङ्गनाः स्त्रियः। तत् अनिन्द्यं शक्रत्वम् इन्द्रपदम्। एतत् अखिलं धर्मस्य माहात्म्यं विद्धि ॥ १८० ॥ भो भव्याः। तत् धर्मप्रभोः धर्मराज्ञः (?)। धाम तेजः। तत्किम्। यत् षट्खण्डमहीराज्यम्। यत् नव-उरु-गरिष्ठनिधयः। यत् द्विःसप्तरत्नानि। यत् तुङ्गा द्विरदा हस्तिनः। च पुनः। रथाः चतुरशीतिलक्षाणि। च पुनः। यत् अष्टादशकोटयः तुरगाः। यत् षड्युक्ता नवतिः योषित्सहस्राणि। यत् भूमण्डले। एकविभुता एकच्छत्रराज्यम्। तद्धर्ममहात्म्यम् ॥ १८१ ॥ ननु इति वितर्के। धर्मः

और राजपदके सुखको भोगते हुए अन्तमें मोक्षपदको भी पालेते हैं ॥ १७८ ॥ जिनका यशरूपी चन्दन सदा दिशाओंरूप स्त्रियोंके शरीरमें सुशोभित होता है अर्थात् जिनकी कीर्ति समस्त दिशाओंमें फैली हुई है ऐसे तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, नागेन्द्र और कृष्ण (नारायण) आदि पद धर्मसे ही प्राप्त होते हैं। धर्मसे रहित मनुष्य निश्चयतः पापके प्रभावसे नरकादिक दुर्गतियोंमें दुखको सहते हैं। इस बातको जानता हुआ सज्जन पुरुष धर्मकी आराधना क्यों नहीं करता? ॥ १७९ ॥ सुखके द्वारा रमणीयताको प्राप्त हुआ वह स्वर्ग पद, वे वे उत्कृष्ट स्थान, फहराते हुए अनुपम ध्वजवस्त्रोंसे सुशोभित वह श्रेष्ठ विमानपंक्ति, वे देव, वे पादचारी सैनिक, शोभायमान वह नन्दन कानन, वे स्त्रियां, तथा वह अनिन्द्य इन्द्र पद; यह सब धर्मके प्रकाशमें प्राप्त होता है ॥ १८० ॥ छह खण्ड (पूरा भरत, ऐरावत या कच्छा आदि क्षेत्र) रूप पृथिवीका उपभोग; महान् नौ निधियां, दो वार सात (७×२) अर्थात् चौदह रत्न, उन्नत चौरासी लाख हाथी और उतने ही रथ, अठारह करोड़ घोड़े, छह युक्त नब्बै अर्थात् छयानबे हजार स्त्रियां, तथा एक छत्र राज्य; यह जो चक्रवर्तित्वकी सम्पत्ति प्राप्त होती है वह सब धर्मप्रभुके ही प्रतापसे प्राप्त होती है ॥ १८१ ॥ यदि धर्मकी रक्षा की जाती है तो वह भी धर्मात्मा प्राणीकी नरकादिसे रक्षा करता है। इसके विपरीत यदि

१ क पटः। २ क अतोऽग्रे 'अपि तु सेव्यते' इत्यधिकः पाठः। ३ क प्रेंखत्पताका पटाः ते, श प्रेंखत्पताका पदातयः ते। ४ श अस्वरूपदेवाः।

धर्मः प्रापयतीह तत्पदमपि ध्यायन्ति यद्योगिनो
नो धर्मात्सुहृदस्ति नैव च सुखी नो पण्डितो धार्मिकात् ॥ १८२ ॥

183) नानायोनिजलौघलङ्घितदिशि क्लेशोर्मिजालाकुले
प्रोद्भूताद्भुतभूरिकर्ममकरग्रासीकृतप्राणिनि ।
दुःपर्यन्तगभीरभीषणतरे जन्माम्बुधौ मज्जतां
नो धर्मादपरो ऽस्ति तारक इहाश्रान्तं यतध्वं बुधाः ॥ १८३ ॥

184) जन्मोच्चैःकुल एव संपदधिके लावण्यवारांनिधि-
र्नीरोगं वपुरादिरायुरखिलं धर्माद्ध्रुवं जायते ।
सा न श्रीरथवा जगत्सु न सुखं तत्ते न शुभ्रा गुणाः
यैरुत्कण्ठितमानसैरिव नरो नाश्रीयते धार्मिकः ॥ १८४ ॥

रक्षितः । ध्रुवं देहिनां जीवानां रक्षति । धर्मः हतो जीवानां हन्ति । ततः कारणात् । धर्मः हन्तव्यः न । स एव धर्मः संसारिणां जीवानाम् । सर्वथा शरणम् । इह जगति संसारे । धर्मः तत्पदं प्रापयति अपि । यत्पदम् । योगिनो ध्यायन्ति । मोक्षपदं प्रापयति । धर्मात्सुहृत् मित्रम् अपरः न । च पुनः । धार्मिकात् पुरुषात् अपरः सुखी न । सधर्मा (?) पुरुषात् अपरः पण्डितः न । सर्वथा धर्मः शरणं जीवानाम् ॥ १८२ ॥ जन्माम्बुधौ संसारसमुद्रे । मज्जतां ब्रुडताम् । प्राणिनां जीवानाम् । धर्मात् अपरः तारकः न अस्ति । किंलक्षणे संसारसमुद्रे । नानायोनिजलौघलङ्घितदिशि । पुनः किंलक्षणे संसारसमुद्रे । क्लेशोर्मिजालाकुले । पुनः किंलक्षणे संसारसमुद्रे । प्रोद्भूत-उत्पन्न अद्भुतभूरि-बहुल-कर्ममकर—मत्स्यैः ग्रासीकृताः प्राणिनः यत्र स तस्मिन् । पुनः किंलक्षणे संसारसमुद्रे । दुःपर्यन्तगभीरभीषणतरे । भो बुधाः भोः भव्याः । इह धर्मे अश्रान्तं निरन्तरम् । यतध्वं यत्नं कुरुध्वम् ॥ १८३ ॥ भो भव्याः श्रूयताम् । धर्मात् ध्रुवम् उच्चैः कुले जन्म । एव निश्चयेन । संजायते । किंलक्षणे कुले । सम्पदधिके लक्ष्मीयुक्ते । धर्मात् । लावण्यवारांनिधिः लावण्यसमुद्रनिधिः (?) । वपुः शरीरम् । नीरोगं जायते । धर्मात् अखिलं पूर्णम् । आयुः संजायते । अथवा जगत्सु सा श्रीः न जगत्सु तत्सुखं न जगत्सु ते शुभ्रा गुणाः न । यैः पूर्वोक्तैः सुखगुणैः धार्मिकः पुमान् नरः । न आश्रीयते । किंलक्षणैः गुणैः । धार्मिकं पुरुषं प्रति उत्कण्ठितमानसैरिव ॥ १८४ ॥

उस धर्मका घात किया जाता है तो वह भी निश्चयसे प्राणियोंका घात करता है अर्थात् उन्हें नरकादिक योनियोंमें पहुंचाता है । इसलिये धर्मका घात नहीं करना चाहिये, क्योंकि, संसारी प्राणियोंकी सब प्रकारसे रक्षा करनेवाला वही है । धर्म यहां उस (मोक्ष) पदको भी प्राप्त कराता है जिसका कि ध्यान योगी जन किया करते हैं । धर्मको छोड़कर दूसरा कोई मित्र (हितैषी) नहीं है तथा धार्मिक पुरुषकी अपेक्षा दूसरा कोई न तो सुखी हो सकता है और न पण्डित भी ॥ १८२ ॥ जिसने अनेक योनिरूप जलके समूहसे दिशाओंका अतिक्रमण कर दिया है, जो क्लेशरूपी लहरोंके समूहसे व्याप्त हो रहा है, जहांपर प्राणी प्रगट हुए आश्चर्यजनक बहुत-से कर्मरूपी मगरोंके ग्रास बनते हैं, जिसका पार बहुत कठिनतासे प्राप्त किया जा सकता है, तथा जो गम्भीर एवं अतिशय भयानक है; ऐसे जन्मरूपी समुद्रमें डूबते हुए प्राणियोंका उद्धार करनेवाला धर्मको छोड़कर और कोई दूसरा नहीं है । इसलिये हे विद्वज्जन ! आप निरन्तर धर्मके विषयमें प्रयत्न करें ॥ १८३ ॥ निश्चयतः धर्मके प्रभावसे अधिक सम्पत्तिशाली उच्च कुलमें ही जन्म होता है, सौन्दर्यरूपी समुद्र प्राप्त होता है, नीरोग शरीर आदि प्राप्त होते हैं तथा आयु परिपूर्ण होती है अर्थात् अकालमरण नहीं होता । अथवा संसारमें ऐसी कोई लक्ष्मी नहीं है, ऐसा कोई सुख नहीं है, और ऐसे कोई निर्मल गुण नहीं हैं; जो कि उत्कण्ठितमन होकर धार्मिक पुरुषका आश्रय न लेते हों । अभिप्राय यह कि उपर्युक्त समस्त सुखकी सामग्री चूंकि एक मात्र धर्मसे ही प्राप्त होती है अत एव विवेकी जनको सदा ही उस धर्मका आचरण

१ श मत्स्यैकग्रासीताः ।

185) भृङ्गाः पुष्पितकेतकीमिव मृगा वन्यामिव स्वस्थलीं
नद्यः सिन्धुमिवाम्बुजाकरमिव श्वेतच्छदाः पक्षिणः ।
शौर्यत्यागविवेकविक्रमयशःसंपत्सहायादयः
सर्वे धार्मिकमाश्रयन्ति न हितं धर्मं विना किंचन ॥ १८५ ॥

186) सौभागीयसि कामिनीयसि सुतश्रेणीयसि श्रीयसि
प्रासादीयसि यत्सुखीयसि सदा रूपीयसि प्रीयसि ।
यद्वानन्तसुखामृताम्बुधिपरस्थानीयसीह ध्रुवं
निर्धूताखिलदुःखदापदि सुहृद्धर्मे मतिर्धार्यताम् ॥ १८६ ॥

187) संछन्नं कमलैर्मरावपि सरः सौधं वने ऽप्युन्नतं
कामिन्यो गिरिमस्तके ऽपि सरसाः साराणि रत्नानि च ।
जायन्ते ऽपि च लेप[प्य]काष्ठघटिताः सिद्धिप्रदा देवताः
धर्मश्चेदिह वाञ्छितं तनुभृतां किं किं न संपद्यते ॥ १८७ ॥

भो भव्याः श्रूयताम् । प्राणिनां धर्मं विना किंचन हितं सुखकरं न । शौर्यसुभटतात्यागविवेकविक्रमयशःसंपत्सहायादयः सर्वे गुणाः । धार्मिकं नरम् आश्रयन्ति । तत्रोत्प्रेक्षते । कां के इव । पुष्पितकेतकीं भृङ्गा इव । वन्यां वनोद्भवा वन्या ताम् । स्वस्थलीं मृगा इव । यथा सिन्धुं समुद्रं नद्य इव । यथा अम्बुजाकरं सरोवरं श्वेतच्छदाः पक्षिणः हंसा इव । तथा धार्मिकं नरं गुणाः आश्रयन्ति ॥ १८५ ॥ भो सुहृत् । इह संसारे । ध्रुवं धर्मे मतिः । धार्यतां क्रियताम् । किंलक्षणे धर्मे । निर्धूताखिल-दुःखदापदि स्फेटितं-आपद्दुःखे चेत् । सौभागीयसि सौभाग्यं वाञ्छसि । चेत् यदि । कामिनीयसि कामिनीं स्त्रीं वाञ्छसि । चेत् यदि । सुतश्रेणीयसि पुत्रसमूहं वाञ्छसि । यदि चेत् । श्रीयसि लक्ष्मीं वाञ्छसि । यदि चेत् । प्रासादीयसि मन्दिरं वाञ्छसि । यदि चेत् । सुखीयसि सुखं वाञ्छसि । यदि सदा रूपीयसि रूपं वाञ्छसि । यदि प्रीयसि सर्वजनप्रियो भवितुमिच्छसि[2] । यदा[3] अनन्तसुख-अमृत-अम्बुधि-समुद्रे । परं केवलं स्थानीयसि स्थातुं वाञ्छसि । तदा धर्मं कुरु ॥ १८६ ॥ इह संसारे । तनुभृतां जीवानाम् । चेत् यदि धर्मः अस्ति । तदा किं किं वाञ्छितं न संपद्यते । अपि तु सर्वं प्राप्यते । पुण्येन मरौ मरुस्थले अपि । कमलैः संछन्नम् आच्छादितम् । सरः संपद्यते । पुण्येन वने अपि उन्नतं सौधं मन्दिरम् । संपद्यते । पुण्येन गिरिमस्तके अपि कामिन्यः स्त्रियः संपद्यन्ते । किंलक्षणाः स्त्रियः । सरसाः रसयुक्ताः । च पुनः । पुण्येन साराणि

करना चाहिये ॥ १८४ ॥ जिस प्रकार भ्रमर फूले हुए केतकी वृक्षका आश्रय लेते हैं, मृग जिस प्रकार अपने जंगली स्थानका आश्रय लेते हैं, नदियां जिस प्रकार समुद्रका सहारा लेती हैं, तथा जिस प्रकार हंस पक्षी सरोवरका आलम्बन लेते हैं; उसी प्रकार वीरता, त्याग, विवेक, पराक्रम, कीर्ति, सम्पत्ति एवं सहायक आदि सब धार्मिक पुरुषका आश्रय लेते हैं। ठीक है– धर्मको छोड़कर और दूसरा कोई प्राणीके लिये हितकारक नहीं है ॥ १८५ ॥ हे मित्र ! यदि तुम यहां सौभाग्यकी इच्छा करते हो, सुन्दर स्त्रीकी इच्छा करते हो, सुतसमूहकी इच्छा करते हो, लक्ष्मीकी इच्छा करते हो, महलकी इच्छा करते हो, सुखकी इच्छा करते हो, सुन्दर रूपकी इच्छा करते हो, प्रीतिकी इच्छा करते हो, अथवा यदि अनन्त सुखरूप अमृतके समुद्र जैसे उत्तम स्थान (मोक्ष) की इच्छा करते हो तो निश्चयसे समस्त दुखदायक आपत्तियोंको नष्ट करनेवाले धर्ममें अपनी बुद्धिको लगाओ ॥ १८६ ॥ धर्मके प्रभावसे मरुभूमिमें भी कमलोंसे व्याप्त सरोवर प्राप्त हो जाता है, जंगलमें भी उन्नत प्रासाद बन जाता है, पर्वतके शिखरपर भी आनन्दोत्पादक वल्लभायें तथा श्रेष्ठ रत्न भी प्राप्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त उक्त धर्मके ही प्रभावसे भित्तिके ऊपर अथवा काष्ठसे निर्मित देवता भी सिद्धि-दायक होते हैं। ठीक है– धर्म यहां प्राणियोंके लिये क्या क्या अभीष्ट पदार्थ नहीं प्राप्त कराता है ? सब कुछ

१ श स्फोटित । २ क प्रियो भवसि । ३ श यद्वा ।

188) दूरादभीष्टमभिगच्छति पुण्ययोगात्
पुण्याद्विना करतलस्थमपि प्रयाति ।
अन्यत्परं प्रभवतीह निमित्तमात्रं
पात्रं बुधा भवत निर्मलपुण्यराशेः ॥ १८८ ॥

189) कोप्यन्धो ऽपि सुलोचनो ऽपि जरसा ग्रस्तो ऽपि लावण्यवान्
निःप्राणो ऽपि हरिर्विरूपतनुरप्याघुष्यते[1] मन्मथः ।
उद्योगोज्झितचेष्टितो ऽपि नितरामालिङ्ग्यते च श्रिया
पुण्यादन्यमपि प्रशस्तमखिलं जायेत यद्दुर्घटम् ॥ १८९ ॥

190) बन्धस्कन्धसमाश्रितां सृणिभृतामारोहकाणामलं
पृष्ठे भारसमर्पणं कृतवतां संचालनं ताडनम् ।
दुर्वाचं वदतामपि प्रतिदिनं सर्वं सहन्ते गजा
निःस्थाम्नां बलिनो ऽपि यत्तदखिलं दुष्टो विधिश्चेष्टते ॥ १९० ॥

रत्नानि जायन्ते । पुण्येन लेपकाष्ठघटिता देवताः सिद्धिप्रदा जायन्ते । धर्मेण सर्वं प्राप्यते ॥ १८७ ॥ भो बुधाः भो भव्याः । निर्मलपुण्यराशेः पात्रं भवत । इह संसारे । पुण्ययोगात् । अभीष्टं वाञ्छितम् । दूरात् अभिगच्छति आगच्छति । पुण्याद्विना करतलस्थमपि प्रयाति । अन्यत् कश्चित् । परं निमित्तमात्रम् । प्रभवति ॥ १८८ ॥ भो भव्याः । श्रूयतां पुण्यमाहात्म्यम् । पुण्यात् कोऽपि अन्धः सुलोचनो भवति । कश्चित् जरसा ग्रस्तोऽपि पुण्याल्लावण्यवान् भवति । कश्चित् निःप्राणोऽपि बलरहितोऽपि । पुण्यात् हरिः सिंहः भवति । कश्चित् विरूपतनुः निन्द्यशरीरः अपि पुण्यात् मन्मथः आघुष्यते[1] । च पुनः । उद्योगोज्झितचेष्टितोऽपि उद्यमरहितोऽपि । नितराम् अतिशयेन । पुण्यात् श्रिया आलिङ्ग्यते । यद्दुर्घटं वस्तु तत् पुण्यात् प्राप्यते ॥ १८९ ॥ भो भव्याः श्रूयतां पापफलम् । गजा हस्तिनः । बलिनः अपि बलिष्ठा अपि । यत् निःस्थाम्नां बलरहितानाम् । आरोहकाणां गजरक्षकाणाम् । सर्वम् उपद्रवं सहन्ते । तदखिलम् । दुष्टो विधिश्चेष्टते पापकर्म-उदयं[2] जानीहि । तत् उपद्रवं किम् । बन्धस्कन्धसमाश्रितां स्कन्धे प्राप्तानाम् । सृणिभृताम् अङ्कुशधारकाणाम् । षष्ठीयोगे तृतीया (?) । तैः अङ्कुशधारकैः कृत्वा । अलम् अतिशयेन । पृष्ठे भारसमर्पणम् । किंलक्षणानाम् अङ्कुशधारकाणाम् । प्रतिदिनं संचालनं कृतवताम् । पुन दिनं दिनं प्रति ताडनं दुर्वाचं वदताम् । गजाः सहन्ते ॥ १९० ॥ भो भव्याः श्रूयतां पुण्यप्रभावम् । यस्य नरस्य । धर्मः अस्ति । तस्य धर्मिणः । सर्पः हारलता भवति । तस्य धर्मिणः । असिलता खड्गलता । सत्पुष्पदामायते । सधर्मिणः पुरुषस्य विषमपि

प्राप्त कराता है ॥ १८७ ॥ पुण्यके योगसे यहां दूरवर्ती भी अभीष्ट पदार्थ प्राप्त हो जाता है और पुण्यके विना हाथमें स्थित पदार्थ भी चला जाता है । दूसरे पदार्थ तो केवल निमित्त मात्र होते हैं । इसलिये हे पण्डित जन ! निर्मल पुण्य राशिके भाजन होओ, अर्थात् पुण्यका उपार्जन करो ॥ १८८ ॥ पुण्यके प्रभावसे कोई अन्धा भी प्राणी निर्मल नेत्रोंका धारक हो जाता है, वृद्धावस्थासे संयुक्त मनुष्य भी लावण्ययुक्त (सुन्दर) हो जाता है, निर्बल प्राणी भी सिंह जैसा बलिष्ठ बन जाता है, विकृत शरीरवाला भी कामदेवके समान सुन्दर घोषित किया जाता है, तथा उद्योगसे हीन चेष्टावाला भी जीव लक्ष्मीके द्वारा गाढ़ आलिंगित होता है अर्थात् उद्योगसे रहित मनुष्य भी अत्यन्त सम्पत्तिशाली हो जाता है । जो भी प्रशंसनीय अन्य समस्त पदार्थ यहां दुर्लभ प्रतीत होते हैं वे भी सब पुण्यके उदयसे प्राप्त हो जाते हैं ॥ १८९ ॥ जो महावत हाथीको बांधकर उसके कंधेपर आरूढ़ होते हैं, अंकुशको धारण करते हैं, पीठपर भारी बोझा लादते हैं, संचालन व ताड़न करते हैं; तथा दुष्ट वचन भी बोलते हैं, ऐसे उन पराक्रमहीन भी महावतोंके समस्त दुर्व्यवहारको जो बलवान् होते हुए भी हाथी प्रतिदिन सहन करते हैं यह सब दुर्दैवकी लीला है, अर्थात् इसे पापकर्मका ही फल समझना चाहिये ॥ १९० ॥ धर्मात्मा प्राणीके लिये विषैला सर्प हार बन जाता है,

१ ब-प्रतिपाठोऽयम्, अ क ब श आयुष्यते । २ श पापकर्मोदयं ।

191) सर्पो हारलता भवत्यसिलता सत्पुष्पदामायते
संपद्येत रसायनं विषमपि प्रीतिं विधत्ते रिपुः ।
देवा यान्ति वशं प्रसन्नमनसः किं वा बहु ब्रूमहे
धर्मो यस्य नभो ऽपि तस्य सततं रत्नैः परैर्वर्षति ॥ १९१ ॥

192) उग्रग्रीष्मरविप्रतापदहनज्वालाभितप्तश्चिरं
यः पित्तप्रकृतिर्मरौ मृदुतरः पान्थः पथा पीडितः ।
तद् द्राग्लब्धहिमाद्रिकुञ्जरचितप्रोद्दामयन्त्रोल्लसद्-
धारावेश्मसमो हि संसृतिपथे धर्मो भवेद्देहिनः ॥ १९२ ॥

193) संहारोग्रसमीरसंहतिहतप्रोद्भूतनीरोल्लसत्-
तुङ्गोर्मिभ्रमितोरुनक्रमकरग्राहादिभिर्भीषणे ।
अम्भोधौ विधुतोग्रवाडवशिखिज्वालाकराले पत-
ज्जन्तोः खे ऽपि विमानमाशु कुरुते धर्मः समालम्बनम् ॥ १९३ ॥

194) उह्यन्ते ते शिरोभिः सुरपतिभिरपि स्तूयमानाः सुरौघै-
र्गीयन्ते किन्नरीभिर्ललितपदलसद्गीतिभिर्भक्तिरागात् ।

रसायनम् अमृतं संपद्यते जायते । सधर्मिणो नरस्य । रिपुः प्रीतिं विधत्ते । धर्मयुक्तपुरुषस्य प्रसन्नमनसः देवाः वशं यान्ति । वा अथवा । बहु किं ब्रूमहे वारं वारं किं कथ्यते । नभः आकाशः सततं परैः रत्नैः वर्षति ॥ १९१ ॥ यः कश्चिद्भव्यः पान्थः । मृदुतरः कोमलः । उग्रग्रीष्मरविप्रतापदहनज्वालाभितप्तः ज्येष्ठाषाढसूर्येण पीडितः । पित्तप्रकृतिः । मरौ मरुस्थले । चलन् गच्छन् । पथा मार्गेण । पीडितः । तस्य पथिकस्य । देहिनः जीवस्य । संसृतिपथे संसारमार्गे । धर्मः द्राक् शीघ्रम् । लब्धहिमाद्रि-हिमाचलकुञ्ज-रचितप्रोद्दामयन्त्रोल्लसद्धारावेश्मसमो भवेत् ॥ १९२ ॥ भो भव्याः श्रूयतां पुण्यमाहात्म्यम् । धर्मः अम्भोधौ समुद्रे । पतत्जन्तोः जीवस्य । आशु शीघ्रेण । खे आकाशे अपि । समालम्बनं विमानम् । कुरुते । किंलक्षणे समुद्रे । संहारः प्रलयकालः तस्य प्रलयस्य उग्रसमीरसंहतिः पवनसमूहः तेन समूहेन हतप्रोद्भूतपीडित-ऊर्ध्वीकृतं नीरं जलं तस्य जलस्य ये उल्लसत्तुङ्गाः ऊर्मयः तैः ऊर्मिभिः भ्रामिताः उरुनक्रमकरग्राहादयः तैः जलचरजीवैः भीषणे भयानके । पुनः किंलक्षणे समुद्रे । विधुत-कम्पित-[उग्र]उच्छलितवाडवशिखाज्वाला तया कराले रुद्रे ॥ १९३ ॥ ये मनुजा नराः । सदा एकं धर्मम् । विदधति कुर्वन्ति । ते सधर्मिणः । सुरपतिभिः शिरोभिः मस्तकैः । उह्यन्ते धार्यन्ते । ते सधर्मिणः । सुरौघैः देवसमूहैः स्तूयमानाः अपि

तलवार सुन्दर फूलोंकी माला हो जाती है, विष भी उत्तम औषधि बन जाता है, शत्रु प्रेम करने लगता है, तथा देव प्रसन्नचित्त होकर आज्ञाकारी हो जाते हैं । बहुत क्या कहा जाय? जिसके पास धर्म है उसके ऊपर आकाश भी निरन्तर रत्नोंकी वर्षा करता है ॥ १९१ ॥ मरुभूमि (रेतीली पृथिवी–मारवाड़) में चलनेवाला जो पित्तप्रकृतिवाला सुकुमार पथिक ग्रीष्म ऋतुके तीक्ष्य सूर्यके प्रकृष्ट तापरूप अग्निकी ज्वालासे संतप्त होकर चिरकालसे मार्गके श्रमसे पीड़ाको प्राप्त हुआ है उसको जैसे शीघ्र ही हिमालयकी लताओंसे निर्मित एवं उत्कृष्ट यंत्रों (फुब्बारों) से शोभायमान धारागृहके प्राप्त होनेपर अपूर्व सुखका अनुभव होता है वैसे ही संसारमार्गमें चलते हुए प्राणीके लिये धर्मसे अभूतपूर्व सुखका अनुभव होता है ॥ १९२ ॥ जो समुद्र घातक तीक्ष्ण वायु (प्रलयपवन) के समूहसे ताड़ित हुए जलमें उठनेवाली उन्नत लहरोंसे इधर उधर उछलते हुए नक्र, मगर एवं ग्राह आदि हिंसक जलजन्तुओंसे भयको उत्पन्न करनेवाला है तथा कम्पित तीक्ष्ण वाडवाग्निकी ज्वालासे भयानक है ऐसे उस समुद्रमें गिरनेवाले जन्तुके लिये धर्म शीघ्रतापूर्वक आकाशमें भी आलम्बनभूत विमानको कर देता है ॥ १९३ ॥ जो मनुष्य सदा अद्वितीय धर्मका आश्रय करते हैं उन्हें इन्द्र भी शिरसे धारण करते हैं, देवोंके समूह उनकी स्तुति करते हैं, किन्नरियां ललित पदोंसे शोभायमान

बम्भ्रम्यन्ते च तेषां दिशि दिशि विशदाः कीर्तयः का न वा स्यात्
लक्ष्मीस्तेषु प्रशस्ता विदधति मनुजा ये सदा धर्ममेकम् ॥ १९४ ॥

195) धर्मः श्रीवशमन्त्र एष परमो धर्मश्च कल्पद्रुमो
धर्मः कामगवीप्सितप्रदमणिर्धर्मः परं दैवतम् ।
धर्मः सौख्यपरंपरामृतनदीसंभूतिसत्पर्वतो
धर्मो भ्रातरुपास्यतां किमपरैः क्षुद्रैरसत्कल्पनैः ॥ १९५ ॥

196) आस्तामस्य विधानतः पथि गतिर्धर्मस्य वार्तापि यैः
श्रुत्वा चेतसि धार्यते त्रिभुवने तेषां न काः संपदः ।
दूरे सज्जलपानमज्जनसुखं शीतैः सरोमारुतैः
प्राप्तं पद्मरजः सुगन्धिभिरपि श्रान्तं जनं मोदयेत् ॥ १९६ ॥

किन्नरीभिः भक्तिरागात् ललितपदलसद्गीतिभिः गीयन्ते । पुनः तेषां सधर्मिणाम् । विशदाः कीर्तयः । दिशि दिशि बंभ्रम्यन्ते । तेषु सधर्मिषु[1] । वा अथवा । का लक्ष्मीः न स्यात् न भवेत् । अत एव धर्मः कर्तव्यः ॥ १९४ ॥ भो भ्रातः । धर्मः उपास्यतां सेव्यताम् । अपरैः क्षुद्रैः । असत्कल्पनैः मिथ्यावादिभिः किम् । एष धर्मः श्रीवशीकरणमन्त्रः । च पुनः । एषः परमधर्मः कल्पद्रुमः । एषः धर्मः कामगवीप्सितप्रदमणिः कामधेनुः चिन्तामणिः । एषः धर्मः परं दैवतम् । एषः धर्मः सौख्यपरम्परामृत-नदीसंभूति-उत्पत्तिसत्पर्वतः । अतः हेतोः धर्मः सेव्यताम् ॥ १९५ ॥ अस्य धर्मस्य । पथि मार्गे । विधानतः कर्तव्यतः युक्तितः । गतिः आस्तां दूरे तिष्ठतु । यैः नरैः तस्य धर्मस्य । वार्ता अपि श्रुत्वा चेतसि धार्यते । तेषां नराणां त्रिभुवने[2] काः सम्पदः न भवन्ति । दृष्टान्तमाह । सज्जलपानमज्जनसुखं दूरे तिष्ठतु । शीतैः सरोमारुतैः प्राप्तं सुखम् । जनं मोदयेत् । किंलक्षणैः पवनैः । पद्मरजसा सुगन्धिभिः । किंलक्षणं जनम् । श्रान्तं खिन्नम् ॥ १९६ ॥ स मुनिः वीरनन्दी गुरुः[3] श्रीमहावीरः । मे मह्यं मुनिपद्मनन्दिने[4] । मोक्षं दिशतु ददातु । यत्पादपङ्कजरजोभिः यस्य महावीरस्य चरणरजोभिः कृत्वा । भव्यात्मनां जीवानाम् ।

गीतोंके द्वारा उनका भक्तिपूर्वक गुणगान करती हैं, तथा उनका यश प्रत्येक दिशामें वार वार भ्रमण करता है अर्थात् उनकी कीर्ति सब ही दिशाओंमें फैल जाती है । अथवा उनके लिये कौन-सी प्रशस्त लक्ष्मी नहीं प्राप्त होती है ? अर्थात् उन्हें सब प्रकारकी ही श्रेष्ठ लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है ॥ १९४ ॥ यह उत्कृष्ट धर्म लक्ष्मीको वशमें करनेके लिये वशीकरण मंत्रके समान है, यह धर्म कल्पवृक्षके समान इच्छित पदार्थको देनेवाला है, वह कामधेनु अथवा चिन्तामणिके समान अभीष्ट वस्तुओंको प्रदान करनेवाला है, वह धर्म उत्तम देवता-के समान है, तथा वह धर्म सुखपरम्परारूप अमृतकी नदीको उत्पन्न करनेवाले उत्तम पर्वतके समान है । इसलिये हे भ्रातः ! तुम अन्य क्षुद्र मिथ्या कल्पनाओंको छोड़कर उस धर्मकी आराधना करो ॥ १९५ ॥ इस धर्मके अनुष्ठानसे जो मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति होती है वह तो दूर रहे, किन्तु जो मनुष्य उस धर्मकी बातको भी सुनकर चित्तमें धारण करते हैं उन्हें तीन लोकमें कौ–नसी सम्पदायें नहीं प्राप्त होतीं ? ठीक है– उत्तम जलके पीने और उसमें स्नान करनेसे प्राप्त होनेवाला सुख तो दूर रहे, किन्तु तालाबकी शीतल एवं सुगन्धित वायुके द्वारा प्राप्त हुई कमलकी धूलि भी थके हुए मनुष्यको आनन्दित कर देती है ॥ १९६ ॥ नमस्कार करते समय शिरमें लगी हुई जिनके चरण-कमलोंकी धूलिसे भव्य जीवोंको तत्काल ही निर्मल सम्यग्ज्ञानरूप कलाकी

१ क सधर्मेषु । २ श भुवने । ३ क वीरनन्दिगुरुः । ४ श पद्मनन्द्ये ।

197) यत्पादपङ्कजरजोभिरपि प्रणामात्
लग्नैः शिरस्यमलबोधकलावतारः ।
भव्यात्मनां भवति तत्क्षणमेव मोक्षं
स श्रीगुरुर्दिशतु मे मुनिवीरनन्दी[1] ॥ १९७ ॥

198) दत्तानन्दमपारसंसृतिपथश्रान्तश्रमच्छेदकृत्
प्रायो दुर्लभमत्र कर्णपुटकैर्भव्यात्मभिः पीयताम् ।
निर्यातं मुनिपद्मनन्दिवदनप्रालेयरश्मेः परं
स्तोकं यद्यपि सारताधिकमिदं धर्मोपदेशामृतम् ॥ १९८ ॥

इति धर्मोपदेशामृतं समाप्तम् ॥ १ ॥

तत्क्षणमेव अमलबोधकलावतारः भवति । किंलक्षणैः रजोभिः । प्रणामात् शिरसि लग्नैः ॥ १९७ ॥ भो भव्याः । इदं धर्मोपदेशामृतं भव्यात्मभिः कर्णपुटकैः कर्णाञ्जलिभिः पीयताम् । किंलक्षणम् अमृतम् । दत्तानन्दम् । पुनः किंलक्षणम् अमृतम् । अपारसंसृति-संसारपथश्रान्तश्रमच्छेदकृत् संसारपथमार्गस्थश्रमविनाशकम् । पुनः किंलक्षणम् अमृतम् । धर्मोपदेशामृतम् । प्रायः बाहुल्येन । अत्र संसारे दुर्लभम् । पुनः किं लक्षणं धर्मोपदेशामृतम् । मुनिपद्मनन्दिवदनप्रालेयरश्मेः मुनिपद्मनन्दिवदन-चन्द्रमसः । निर्यातम् उत्पन्नम् । पुनः किंलक्षणम् । परम् उत्कृष्टम् । यद्यपि स्तोकं तथापि सारताधिकं समीचीनम् ॥ १९८ ॥

इति धर्मोपदेशामृतं समाप्तम् ॥ १ ॥

प्राप्ति होती है वे श्रीमुनि वीरनन्दी गुरु मेरे लिये मोक्ष प्रदान करें ॥ १९७ ॥ जो धर्मोपदेशरूप अमृत आनन्दको देनेवाला है, अपार संसारके मार्गमें थके हुए पथिकके परिश्रमको दूर करनेवाला है, तथा बहुत दुर्लभ है, उसे भव्य जीव कानोंरूप अंजुलियोंसे पीवें अर्थात् कानोंके द्वारा उसका श्रवण करें। मुनि पद्मनन्दीके मुखरूप चन्द्रमासे निकला हुआ यह उपदेशामृत यद्यपि अल्प है तथापि श्रेष्ठताकी अपेक्षा बहु अधिक है ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार अमृतका पान करनेसे पथिकके मार्गकी थकावट दूर हो जाती है और उसे अतिशय आनन्द प्राप्त होता है उसी प्रकार इस धर्मोपदेशके सुननेसे भव्य जीवोंके संसारपरिभ्रमणका दुख दूर हो जाता है तथा उन्हें अनन्तसुखका लाभ होता है, जैसे दुर्लभ अमृत है वैसे ही यह उपदेश भी दुर्लभ है, अमृत यदि चन्द्रमासे उत्पन्न होता है तो यह उपदेश उस चन्द्रमाके समान मुनि पद्मनन्दीके मुखसे प्रादुर्भूत हुआ है, तथा जिस प्रकार अमृत थोड़ा-सा भी हो तो भी वह लाभकारी अधिक होता है उसी प्रकार ग्रन्थप्रमाणकी अपेक्षा यह उपदेश यद्यपि थोड़ा है फिर भी वह लाभप्रद अधिक है। इस प्रकार इस उपदेशको अमृतके समान हितकारी जानकर भव्य जीवोंको उसका निरन्तरमनन करना चाहिये ॥ १९८ ॥

इस प्रकार धर्मोपदेशामृत समाप्त हुआ ॥ १ ॥

१ क वीरनन्दिः ।

[२. दानोपदेशनम्]

199) **जीयाज्जिनो जगति नाभिनरेन्द्रसूनुः श्रेयो नृपश्च कुरुगोत्रगृहप्रदीपः ।**
याभ्यां बभूवतुरिह व्रतदानतीर्थे सारक्रमे परमधर्मरथस्य चक्रे ॥ १ ॥

200) **श्रेयोभिधस्य नृपतेः शरदभ्रशुभ्रभ्राम्यद्यशोभृतजगत्त्रितयस्य तस्य ।**
किं वर्णयामि ननु सद्मनि यस्य भुक्तं त्रैलोक्यवन्दितपदेन जिनेश्वरेण ॥ २ ॥

201) **श्रेयान् नृपो जयति यस्य गृहे तदा स्वादेकाद्यवन्द्यमुनिपुंगवपारणायाम् ।**
सा रत्नवृष्टिरभवज्जगदेकचित्रहेतुर्यया वसुमतीत्वमिता धरित्री ॥ ३ ॥

जिनः सर्वज्ञः जगति जीयात् । किंलक्षणः जिनः । नाभिनरेन्द्रसूनुः नाभिराजपुत्रः । च पुनः । श्रेयोनृपः जीयात् । किंलक्षणः श्रेयोनृपः । कुरुगोत्रगृहे प्रदीपः कुरुगोत्रगृहप्रकाशने दीपः । याभ्यां द्वाभ्यां श्रीनाभिसूनुश्रेयोनृपाभ्याम् । इह भरतक्षेत्रे । व्रतदानतीर्थे बभूवतुः । किंलक्षणे व्रतदानतीर्थे द्वे । सारक्रमे । पुनः किंलक्षणे व्रतदानतीर्थे । परमधर्म–आत्मीकधर्म–दानधर्मरथस्य चक्रे ॥ १ ॥ ननु इति वितर्के । तस्य श्रेयोभिधस्य नाम्नः नृपतेः अहं किं वर्णयामि । किंलक्षणस्य श्रेयोभिधस्य । शरत्कालीन–अभ्र–मेघ–सदृश-शुभ्र–उज्ज्वलभ्राम्ययशःभृत–पूरितजगत्त्रितयस्य । यस्य सद्मनि श्रेयसः गृहे । जिनेश्वरेण ऋषभदेवेन । भुक्तं भोजनं कृतम् । किंलक्षणेन देवेन । त्रैलोक्यवन्दितपदेन इन्द्रधरणेन्द्रचक्रवर्तिवन्दितचरणेन ॥ २ ॥ श्रेयान् नृपः जयति । यस्य श्रेयसः गृहे । तदा ।

जिनके द्वारा उत्तम रीतिसे चलनेवाले श्रेष्ठ धर्मरूपी रथके चाकके समान व्रत और दान रूप दो तीर्थ यहां आविर्भूत हुए हैं वे नाभिराजके पुत्र आदि जिनेन्द्र तथा कुरुवंशरूप गृहके दीपकके समान राजा श्रेयान् भी जयवन्त होवें ॥ विशेषार्थ– इस भरत क्षेत्रमें प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय कालोंमें भोगभूमिकी अवस्था रही है । उस समय आर्य कहे जानेवाले पुरुषों और स्त्रियोंमें न तो विवाहादि संस्कार ही थे और न व्रतादिक भी । वे दस प्रकारके कल्पवृक्षोंसे प्राप्त हुई सामग्रीके द्वारा यथेच्छ भोग भोगते हुए कालयापन करते थे । कालक्रमसे जब तृतीय कालमें पल्यका आठवां भाग ($\frac{1}{8}$) शेष रहा तब उन कल्पवृक्षोंकी दानशक्ति क्रमशः क्षीण होने लगी थी । इससे जो समय समयपर उन आर्योंको कष्टका अनुभव हुआ उसे यथाक्रमसे उत्पन्न होनेवाले प्रतिश्रुति आदि चौदह कुलकरोंने दूर किया था । उनमें अन्तिम कुलकर नाभिराज थे । प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ इन्हींके पुत्र थे । अभी तक जो व्रतोंका प्रचार नहीं था उसे भगवान् आदिनाथने स्वयं ही पांच महाव्रतोंको ग्रहण करके प्रचलित किया । इसी प्रकार अभी तक किसीको दानविधिका भी परिज्ञान नहीं था । इसी कारण छह मासके उपवासको परिपूर्ण करके भगवान् आदि जिनेन्द्रको पारणाके निमित्त और भी छह मास पर्यंत घूमना पड़ा । अन्तमें राजा श्रेयान्को जातिस्मरणके द्वारा आहारदानकी विधिका परिज्ञान हुआ । तदनुसार तब उसने भक्तिपूर्वक भगवान् आदिनाथको इक्षुरसका आहार दिया । बस यहांसे आहारादि दानोंकी विधिका भी प्रचार प्रारम्भ हो गया । इस प्रकार भगवान् आदिनाथने व्रतोंका प्रचार करके तथा राजा श्रेयान्ने दानविधिका प्रचार करके जगत्का कल्याण किया है । इसीलिये ग्रन्थकार श्री मुनि पद्मनन्दीने यहां व्रततीर्थके प्रवर्तक स्वरूपसे भगवान् आदि जिनेन्द्रका तथा दानतीर्थके प्रवर्तक स्वरूपसे राजा श्रेयान्का भी स्मरण किया है ॥ १ ॥ जिस श्रेयान् राजाके गृहपर तीनों लोकोंसे वन्दित चरणोंवाले भगवान् ऋषभ जिनेन्द्रने आहार ग्रहण किया और इसलिये जिसका शरत्कालीन मेघोंके समान धवल यश तीनों लोकोंमें फैला, उस श्रेयान् राजाका कितना वर्णन किया जाय ? ॥ २ ॥ जिस श्रेयान् राजाके घरपर

१ श भ्राम्यद्यशःपूरित ।

202) प्राप्ते ऽपि दुर्लभतरे ऽपि मनुष्यभावे स्वप्नेन्द्रजालसदृशे ऽपि हि जीवितादौ ।
ये लोभकूपकुहरे पतिताः प्रवक्ष्ये कारुण्यतः खलु तदुद्धरणाय किंचित् ॥ ४ ॥

203) कान्तात्मजद्रविणमुख्यपदार्थसार्थप्रोत्थातिघोरघनमोहमहासमुद्रे ।
पोतायते गृहिणि सर्वगुणाधिकत्वाद्दानं परं परमसात्त्विकभावयुक्तम् ॥ ५ ॥

204) नानाजनाश्रितपरिग्रहसंभृतायाः सत्पात्रदानविधिरेव गृहस्थतायाः ।
हेतुः परः शुभगतेर्विषमे भवे ऽस्मिन् नावः समुद्र इव कर्मठकर्णधारः[2] ॥ ६ ॥

खात् आकाशात् । एका अद्वितीया । आद्यवन्द्यमुनिपुंगवपारणायां श्रीवृषभदेवभोजनसमये । सा रत्नवृष्टिः अभवत् । -यों जगदेकचित्र-आश्चर्यहेतुः । यया रत्नवृष्ट्या । धरित्री भूमिः । वसुमतीत्वम् इता प्राप्ता वसुमतीनाम प्राप्ता ॥ ३ ॥ ये लोकाः । लोभकूपकुहरे बिले । पतिताः । क सति । दुर्लभतरे मनुष्यभावे प्राप्ते सति । हि यतः । स्वप्नेन्द्रजालसदृशे जीवितादौ प्राप्ते सति । ये लोभबिले पतिताः । खलु निश्चितम् । तदुद्धरणाय तेषां जीवानाम् उद्धरणाय । कारुण्यतः दयातः । [किंचित्] प्रवक्ष्ये किंचि-[1] दानोपदेशं कथयिष्यामि ॥ ४ ॥ भो भव्याः श्रूयतां दानफलम् । गृहिणि गृहस्थे । परं केवलम् । दानं पोतायते पोत-प्रोहण इव आचरति पोतायते । कस्मात् । सर्वगुणाधिकत्वात् । सर्वगुणानां मध्ये दानगुणं प्रधानम् अधिकं तस्मात्सर्वगुणाधिकत्वात् । किंलक्षणं दानम् । परमसात्त्विकभावयुक्तम् औदार्यगुणयुक्तम् । किंलक्षणे गृहस्थपदे । कान्ता-स्त्री-आत्मज-पुत्र-द्रविण-द्रव्य-मुख्य-पदार्थसमूहः तेभ्यः पदार्थसमूहेभ्यः । प्रोत्थम् उत्पन्नम् । घोरघनमोहमहासमुद्रप्राये समुद्रसदृशे । गृहपदे दानं प्रधानम् ॥ ५ ॥ अस्मिन् विषमे भवे संसारे । गृहस्थतायाः गृहस्थपदस्य । शुभगतेः शुभपदस्य । परः उत्कृष्टः । हेतुः सत्पात्रदानविधिः अस्ति । एव निश्चयेन । किंलक्षणायाः गृहस्थतायाः । नानाजनाश्रितपरिग्रहसंभृतायाः नानाविधकुटुम्ब-नानाविधपरिग्रहयुक्तायाः । यथा समुद्रे कर्मठकर्णधारः चतुरखेटः । नावः प्रवहणस्य । शुभगतेः कारणम् अस्ति पारंगतकरणे समर्थः । तथा धर्मः संसारतारणे समर्थः ॥ ६ ॥

इन्द्रादिकोंसे वन्दनीय एक प्रथम मुनिपुंगव (तीर्थंकर) के पारणा करनेपर उस समय लोकको अभूतपूर्व आश्चर्यमें डालनेवाली आकाशसे वह रत्नवृष्टि हुई कि जिसके द्वारा यह पृथिवी 'वसुमती (धनवाली)' इस सार्थक संज्ञाको प्राप्त हुई थी; वह राजा श्रेयान् जयन्त होवे ॥ विशेषार्थ– यह आगममें भली भांति प्रसिद्ध है कि जिसके गृहपर किसी तीर्थंकरकी प्रथम पारणा होती है उसके यहां ये पंचाश्चर्य होते हैं– (१) रत्नवर्षा (२) दुंदुभीवादन (३) जय जय शब्दका प्रसार (४) सुगन्धित वायुका संचार और (५) पुष्पोंकी वर्षा (देखिये ति. प. गाथा ४, ६७१ से ६७४)। तदनुसार भगवान् आदिनाथने जब राजा श्रेयान्के गृहपर प्रथम पारणा की थी तब उसके घरपर भी रत्नोंकी वर्षा हुई थी। उसीका निर्देश यहां श्री मुनि पद्मनन्दीने किया है ॥ ३ ॥ जो मनुष्य पर्याय अतिशय दुर्लभ है उसके प्राप्त हो जानेपर भी तथा जीवित आदिके स्वप्न और इन्द्रजालके सदृश विनश्वर होनेपर भी जो प्राणी लोभरूप अन्धकारयुक्त कुएंमें पड़े हुए हैं उनके उद्धारके लिये दयालु बुद्धिसे यहां कुछ दानका वर्णन किया जाता है ॥ ४ ॥ जो गृहस्थ जीवन स्त्री, पुत्र एवं धन आदि पदार्थोंके समूहसे उत्पन्न हुए अत्यन्त भयानक व विस्तृत मोहके विशाल समुद्रके समान है उस गृहस्थ जीवनमें उत्तम सात्त्विक भावसे दिया गया उत्कृष्ट दान समस्त गुणोंमें श्रेष्ठ होनेसे नौकाका काम करता है ॥ विशेषार्थ– इस गृहस्थ जीवनमें प्राणीको स्त्री, पुत्र एवं धन आदिसे सदा मोह बना रहता है; जिससे कि वह अनेक प्रकारके आरम्भोंमें प्रवृत्त होकर पापका संचय करता रहता है। इस पापको नष्ट करनेका यदि उसके पास कोई उपाय है तो वह दान ही है। यह दान संसाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिये जहाजके समान है ॥ ५ ॥ इस विषम संसारमें नाना कुटुम्बी आदि जनोंके आश्रित परिग्रहसे परिपूर्ण ऐसी गृहस्थ अवस्थाके शुभ प्रवर्तनका उत्कृष्ट कारण एक मात्र सत्पात्रदानकी

१ क किंच । २ क कर्मधारः । ३ अ श 'या' नास्ति ।

205) आयासकोटिभिरुपार्जितमङ्गजेभ्यो यज्जीवितादपि निजाद्दयितं जनानाम् ।
विक्तस्य तस्य सुगतिः खलु दानमेकमन्या विपत्तय इति प्रवदन्ति सन्तः ॥ ७ ॥

206) भुक्त्यादिभिः प्रतिदिनं गृहिणो न सम्यङ्नष्टा रमापि पुनरेति कदाचिदत्र ।
सत्पात्रदानविधिना तु गताप्युदेति क्षेत्रस्थ[1]बीजमिव कोटिगुणं वटस्य ॥ ८ ॥

207) यो दत्तवानिह मुमुक्षुजनाय भुक्तिं भक्त्याश्रितः शिवपथे न धृतः स एव ।
आत्मापि तेन बिदधत्सुरसद्म नूनमुच्चैः पदं व्रजति तत्सहितो ऽपि शिल्पी ॥ ९ ॥

खलु इति निश्चितम् । तस्य वित्तस्य सुगतिः एकं दानम् । यत् द्रव्यम् आयासकोटिभिः उपार्जितम् । जनानां लोकानाम् । अङ्गजेभ्यः पुत्रेभ्यः अपि । निजात् जीवितात् अपि । दयितं वल्लभम् । तस्य द्रव्यस्य । अन्या गतिः विपत्तयेः[2] । सन्तः साधवः । इति प्रवदन्ति कथयन्ति ॥ ७ ॥ अत्र संसारे । गृहिणः गृहस्थस्य । रमा लक्ष्मीः । प्रतिदिनं भुक्त्यादिभिः सम्यक् नष्टा । पुनरपि कदाचित् न एति नागच्छति । तु पुनः । सत्पात्रदानविधिना गता लक्ष्मीः । उदेति आगच्छति । यथा वटस्य क्षेत्रस्थं[3] बीजं कोटिगुणम् उदेति ॥ ८ ॥ इह संसारे । यः गृहस्थः । भक्त्याश्रितः । मुमुक्षुजनाय मुनये । भुक्तिम् आहारम् । दत्तवान् । तेन

विधि ही है, जैसे कि समुद्रसे पार होनेके लिये चतुर खेवट (मल्लाह) से संचालित नाव कारण है ॥ विशेषार्थ—जो दान देनेके योग्य है उसे पात्र कहा जाता है । वह उत्तम, मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन प्रकारका है । इनमें सकल चारित्र (महाव्रत) को धारण करनेवाले मुनिको उत्तम पात्र, विकल चारित्र (देशव्रत) को धारण करनेवाले श्रावकको मध्यम पात्र, तथा व्रतरहित सम्यग्दृष्टिको जघन्य पात्र समझना चाहिये । इन पात्रोंको यदि मिथ्यादृष्टि जीव आहार आदि प्रदान करता है तो वह यथाक्रमसे (उत्तम पात्र आदिके अनुसार) उत्तम, मध्यम एवं जघन्य भोगभूमिके सुखको भोगकर तत्पश्चात् यथासम्भव देव पर्यायको प्राप्त करता है । किन्तु यदि उपर्युक्त पात्रोंको ही सम्यग्दृष्टि जीव आहार आदि प्रदान करता है तो वह नियमतः उत्तम देवोंमें ही उत्पन्न होता है । कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि जीवके एक मात्र देवायुका ही बन्ध होता है । इनके अतिरिक्त जो जीव सम्यग्दर्शनसे रहित होकर भी व्रतोंका परिपालन करते हैं वे कुपात्र कहलाते हैं । कुपात्रदानके प्रभावसे प्राणी कुभोगभूमियों (अन्तरद्वीपों) में कुमानुष उत्पन्न होता है । जो प्राणी न तो सम्यग्दृष्टि है और न व्रतोंका भी पालन करता है वह अपात्र कहा जाता है और ऐसे अपात्रके लिये दिया गया दान व्यर्थ होता है—उसका कोई फल प्राप्त नहीं होता, जैसे कि ऊसर भूमिमें बोया गया बीज । इतना अवश्य है कि अपात्र होकर भी जो प्राणी विकलांग (लंगडे व अन्धे आदि) अथवा असहाय हैं उनके लिये दयापूर्वक दिया गया दान (दयादत्ति) व्यर्थ नहीं होता । किन्तु उससे भी यथायोग्य पुण्य कर्मका बन्ध अवश्य होता है ॥ ६ ॥ करोड़ों परिश्रमोंसे संचित किया हुआ जो धन प्राणियोंको पुत्रों और अपने प्राणोंसे भी अधिक प्रिय प्रतीत होता है उसका सदुपयोग केवल दान देनेमें ही होता है, इसके विरुद्ध दुर्व्यसनादिमें उसका उपयोग करनेसे प्राणीको अनेक कष्ट ही भोगने पडते हैं; ऐसा साधु जनोंका कहना है ॥ ७ ॥ लोकमें प्रतिदिन भोजन आदिके द्वारा नाशको प्राप्त हुई गृहस्थकी लक्ष्मी (सम्पत्ति) यहां फिरसे कभी भी प्राप्त नहीं होती । किन्तु उत्तम पात्रोंके लिये दिये गये दानकी विधिसे व्ययको प्राप्त हुई वही सम्पत्ति फिरसे भी प्राप्त हो जाती है । जैसे कि उत्तम भूमिमें बोया हुआ वट वृक्षका बीज करोड़गुणा फल देता है ॥ ८ ॥ जिस श्रावकने यहां मोक्षाभिलाषी मुनिके लिये भक्तिपूर्वक आहार दिया है उसने केवल उस मुनिके लिये ही मोक्षमार्गमें प्रवृत्त नहीं किया है, बल्कि

१ क श क्षेत्रस्य । २ क विपत्तये । ३ क क्षेत्रस्य ।

208) यः शाकपिण्डमपि भक्तिरसानुविद्धबुद्धिः प्रयच्छति जनो मुनिपुंगवाय ।
स स्यादनन्तफलभागथ बीजमुप्तं क्षेत्रे न किं भवति भूरि कृषीवलस्य ॥ १० ॥

209) साक्षान्मनोवचनकायविशुद्धिशुद्धः पात्राय यच्छति जनो ननु भुक्तिमात्रम् ।
यस्तस्य संसृतिसमुत्तरणैकबीजे पुण्ये हरिर्भवति सो ऽपि कृताभिलाषः ॥ ११ ॥

210) मोक्षस्य कारणमभिष्टुतमत्र लोके तद्धार्यते मुनिभिरङ्गबलात्तदन्नात् ।
तद्दीयते च गृहिणा गुरुभक्तिभाजा तस्माद्धृतो गृहिजनेन विमुक्तिमार्गः ॥ १२ ॥

211) नानागृहव्यतिकरार्जितपापपुञ्जैः खञ्जीकृतानि गृहिणो न तथा व्रतानि ।
उच्चैः फलं विदधतीह यथैकदापि प्रीत्यातिशुद्धमनसा कृतपात्रदानम् ॥ १३ ॥

गृहस्थेन । स मुमुक्षुजनः मुनिः । शिवपथे । एव निश्चयेन । न धृतः अपि । तु मुनिः मुक्तिपथे धृतः(?)। नूनं निश्चितम् । यथा शिल्पी गृहकारः । सुरसद्म विदधत् । तत्सुरसद्मसहितः अपि उच्चैः पदं व्रजति गच्छति ॥ ९ ॥ यः श्रावकजनः । मुनिपुंगवाय । शाकपिण्डमपि वनोद्भवम् अन्नम् । प्रयच्छति ददाति । किंलक्षणः जनः । भक्तिरसानुविद्धबुद्धिः भक्तेः रसेन अनुविद्धा खचिता बुद्धिर्यस्य स भक्तिरसानुविद्धबुद्धिः । स दाता अनन्तफलभाक् स्यात् स दाता अनन्तफलभोक्ता स्यात् भवेत् । अथ कृषीवलस्य बीजं क्षेत्रे उप्तम् । भूरि बहुलम् । किं न भवति । अपि तु भवत्येव ॥ १० ॥ ननु इति वितर्के । यः जनः । पात्राय मुनये । भुक्तिमात्रं यच्छति ददाति । किंलक्षणो जनः । साक्षान्मनोवचनकायविशुद्धिशुद्धः मनोवचनकायानां शुद्धिः तया शुद्धः । तस्य जनस्य पुण्ये । सोऽपि हरिः इन्द्रः । कृताभिलाषः भवति । किंलक्षणे पुण्ये । संसृतिसमुत्तरणैकबीजे संसारतरणैकबीजे कारणे ॥ ११ ॥ अत्र पद्मनन्दिग्रन्थे । मया पद्मनन्दिमुनिना । मोक्षस्य कारणं पूर्वम् अभिष्टुतं कथितम् । लोके संसारे । तन्मोक्षस्य कारणं रत्नत्रयम् । मुनिभिः धार्यते । कस्मात् । अङ्गबलात् शरीरबलात् । तत् अङ्गं कस्मात् धार्यते । अन्नात् । तत् अन्नं केन दीयते । च पुनः । गुरुभक्तिभाजा गुरुभक्तियुक्तेन गृहिणा दीयते । तस्मात् कारणात् । गृहिजनेन मोक्षमार्गः धृतः ॥ १२ ॥ इह संसारे । गृहिणः गृहस्थस्य । एकदा अपि एकवारमपि[1] । प्रीत्या अतिशुद्धमनसा कृतपात्रदानम् । यथा उच्चैः फलं श्रेष्ठफलं करोति । तथा गृहिणः गृहस्थस्य । व्रतानि उच्चैःफलम् । न विदधति न कुर्वन्ति । किंलक्षणानि व्रतानि । नानागृहव्यतिकरेण

अपने आपको भी उसने मोक्षमार्गमें लगा दिया है । ठीक ही है– देवालयको बनानेवाला कारीगर भी निश्चयसे उस देवालयके साथ ही ऊंचे स्थानको चला जाता है ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार देवालयको बनानेवाला कारीगर जैसे जैसे देवालय ऊंचा होता जाता है वैसे वैसे वह भी ऊंचे स्थानपर चढ़ता जाता है । ठीक उसी प्रकारसे मुनिके लिये भक्तिपूर्वक आहार देनेवाला गृहस्थ भी उक्त मुनिके साथ ही मोक्ष-मार्गमें प्रवृत्त हो जाता है ॥ ९ ॥ भक्तिरससे अनुरंजित बुद्धिवाला जो गृहस्थ श्रेष्ठ मुनिके लिये शाकके आहारको भी देता है वह अनन्त फलको भोगनेवाला होता है । ठीक है– उत्तम खेतमें बोया गया बीज क्या किसानके लिये बहुत फलको नहीं देता है ? अवश्य देता है ॥ १० ॥ मन, वचन और कायकी शुद्धिसे विशुद्ध हुआ जो मनुष्य साक्षात् पात्र (मुनि आदि) के लिये केवल आहारको ही देता है उसके संसारसे पार उतारनेमें अद्वितीय कारणस्वरूप पुण्यके विषयमें वह इन्द्र भी अभिलाषा युक्त होता है । अभिप्राय यह है कि इससे जो उसको पुण्यकी प्राप्ति होनेवाली है उसको इन्द्र भी चाहता है ॥ ११ ॥ लोकमें मोक्षके कारणीभूत जिस रत्नत्रयकी स्तुति की जाती है वह मुनियोंके द्वारा शरीरकी शक्तिसे धारण किया जाता है, वह शरीरकी शक्ति भोजनसे प्राप्त होती है, और वह भोजन अतिशय भक्तिसे संयुक्त गृहस्थके द्वारा दिया जाता है । इसी कारण वास्तवमें उस मोक्षमार्गको गृहस्थजनोंने ही धारण किया है ॥ १२ ॥ लोकमें अत्यन्त विशुद्ध मनवाले गृहस्थके द्वारा प्रीतिपूर्वक पात्रके लिये एक वार भी किया गया दान जैसे उन्नत फलको करता है वैसे फलको गृहकी अनेक झंझटोंसे उत्पन्न हुए पापसमूहोंके द्वारा कुबडे

१ क एकवारमपि अति- ।

212) मूले तनुस्तदनु धावति वर्धमाना यावच्छिवं सरिदिवानिशमासमुद्रम् ।
लक्ष्मीः सदृष्टिपुरुषस्य यतीन्द्रदानपुण्यात्पुरः सह यशोभिरतीद्धफेनैः ॥ १४ ॥

213) प्रायः कुतो गृहगते परमात्मबोधः शुद्धात्मनो भुवि यतः पुरुषार्थसिद्धिः ।
दानात्पुनर्ननु चतुर्विधतः करस्था सा लीलयैव कृतपात्रजनानुषंगात् ॥ १५ ॥

214) नामापि यः स्मरति मोक्षपथस्य साधोराशु क्षयं व्रजति तद्दुरितं समस्तम् ।
यो भक्तभेषजमठादिकृतोपकारः संसारमुत्तरति सो ऽत्र नरो न चित्रम् ॥ १६ ॥

215) किं ते गृहाः किमिह ते गृहिणो नु येषामन्तर्मनस्सु मुनयो न हि संचरन्ति ।
साक्षादथ स्मृतिवशाच्चरणोदकेन नित्यं पवित्रितधराग्रशिरःप्रदेशाः ॥ १७ ॥

गृहव्यापारेण । अर्जितानि पापानि तेषां पापानां पुञ्जैः । खञ्जीकृतानि कुब्जीकृतानि ॥ १३ ॥ लक्ष्मीः मूले तनुः स्तोका । तदनु पश्चात् । यशोभिः सह अनिशं वर्धमाना । सदृष्टिपुरुषस्य भव्यजीवस्य । पुरः अग्रे । शिवं यावत् मोक्षपर्यन्तम् । धावति गच्छति । कस्मात् । यतीन्द्रदानपुण्यात् । सा लक्ष्मीः । केव । सरिदिव नदी इव । किंलक्षणा सरित् । मूले तनुः लघ्वी । तदनु पश्चात् । अतीद्धफेनैः सह अनिशं वर्धमाना । यावत् आ समुद्रं धावति समुद्रपर्यन्तं गच्छति ॥ १४ ॥ भुवि पृथिव्याम् । गृहगते गृहस्थजने[3] । प्रायः बाहुल्येन । परमात्मबोधः परमात्मज्ञानम् । कुतः । यतः पुरुषार्थसिद्धिः । शुद्धात्मनः मुनेः भवति । ननु इति वितर्के । पुनः चतुर्विधतः दानात् । सा पुरुषार्थसिद्धिः । लीलया एव करस्था हस्तगता भवति । किंलक्षणात् दानात् । कृतपात्रजनानुषङ्गात्[1] कृतः पात्रजनस्य अनुषङ्गः[4] संगतिः येन दानेन तत्तस्मात् ॥ १५ ॥ यः भव्यः श्रावकः । मोक्षपथस्य साधोः मोक्षपथस्थितस्य मुनीश्वरस्य[5] । नामापि स्मरति । तस्य श्रावकस्य । समस्तं दुरितं पापम् । आशु शीघ्रेण । क्षयं व्रजति । यः श्रावकः । भक्त[2]भेषज-मठादिकृतोपकारः भक्त-भोजन-भेषज-ओषध-मठ-स्थानादिकृत-उपकारसंयुक्तः श्रावकः नरः । संसारम् उत्तरति । अत्र संसारोत्तरणे । चित्रं न आश्चर्यं न ॥ १६ ॥ ननु इति वितर्के । ते किं गृहाः । इह नरलोके । ते किं गृहिणः गृहस्थाः । येषां गृहाणाम् ।

अर्थात् शक्तिहीन किये गये गृहस्थके व्रत नहीं करते हैं ॥ १३ ॥ सम्यग्दृष्टि पुरुषकी लक्ष्मी मूलमें अल्प होकर भी तत्पश्चात् मुनिराजको दिये गये दानसे उत्पन्न हुए पुण्यके प्रभावसे कीर्तिके साथ निरन्तर उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होती हुई मोक्षपर्यन्त जाती है । जैसे—नदी मूलमें कृश होकर भी अतिशय दीप्त फेनके साथ उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होकर समुद्र पर्यन्त जाती है ॥ विशेषार्थ—जिस प्रकार नदीके उद्गमस्थानमें उसका विस्तार यद्यपि बहुत ही थोड़ा रहता है, फिर भी वह समुद्रपर्यन्त पहुंचने तक उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है । इसके साथ साथ नदीका फेन भी उसी क्रमसे बढ़ता जाता है । उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुषकी धन-सम्पत्ति भी यद्यपि मूलमें बहुत थोड़ी रहती है तो भी वह आगे भक्तिपूर्वक किये गये पात्रदानसे जो पुण्यबन्ध होता है उसके प्रभावसे मुक्ति प्राप्त होने तक उत्तरोत्तर वृद्धिंगत ही होती जाती है । उसके साथ ही उक्त दाता श्रावककी कीर्तिका प्रसार भी बढ़ता जाता है ॥ १४ ॥ जगत्में जिस उत्कृष्ट आत्मस्वरूपके ज्ञानसे शुद्ध आत्माके पुरुषार्थकी सिद्धि होती है वह आत्मज्ञान गृहमें स्थित मनुष्यके प्रायः कहांसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता । किन्तु वह पुरुषार्थकी सिद्धि पात्र जनोंमें किये गये चार प्रकारके दानसे अनायास ही हस्तगत हो जाती है ॥ १५ ॥ जो मनुष्य मोक्ष मार्गमें स्थित साधुके केवल नामका भी स्मरण करता है उसका समस्त पाप शीघ्र ही नाशको प्राप्त हो जाता है । फिर जो मनुष्य उक्त साधुका भोजन, औषधि और मठ (उपाश्रय) आदिके द्वारा उपकार करता है वह यदि संसारसे पार हो जाता है तो इसमें भला आश्चर्य ही क्या है ? कुछ भी नहीं ॥ १६ ॥ जो मुनिजन साक्षात् अपने पादोदकसे गृहगत पृथिवीके अग्रभागको सदा पवित्र किया करते हैं ऐसे मुनिजन जिन गृहोंके भीतर

१ श जनानुसङ्गात् । २ क श भुक्त । ३ अ श गृहस्थजने । ४ श अनुसङ्गः । ५ श पथस्थितमुनीश्वरस्य ।

216) देवः स किं भवति यत्र विकारभावो धर्मः स किं न करुणाङ्गिषु यत्र मुख्या ।
तत् किं तपो गुरुरथास्ति न यत्र बोधः सा किं विभूतिरिह यत्र न पात्रदानम् ॥ १८ ॥

217) किं ते गुणाः किमिह तत्सुखमस्ति लोके सा किं विभूतिरथ या न वशं प्रयाति ।
दानव्रतादिजनितो यदि मानवस्य धर्मो जगत्त्रयवशीकरणैकमन्त्रः ॥ १९ ॥

218) सत्पात्रदानजनितोन्नतपुण्यराशिरेकत्र वा परजने नरनाथलक्ष्मीः ।
आद्यात्परस्तदपि दुर्गत एव यस्मादागामिकालफलदायि न तस्य किंचित् ॥ २० ॥

अन्तः मध्ये । येषां गृहिणां गृहस्थानां मनस्सु मुनयः । हि यतः । न संचरन्ति प्रवेशं न कुर्वन्ति । किंलक्षणाः गृहाः[1]। साक्षाच्चरणोदकेन चरणजलेन । नित्यं पवित्रितं धराग्रप्रदेशं येषां ते पवित्रितधराग्रप्रदेशाः । अथ किंलक्षणाः गृहस्थाः । मुनेः स्मृतिवशात् स्मरणवशात् नित्यं पवित्रितशिरःप्रदेशाः ॥ १७ ॥ यत्र यस्मिन् देवे । विकारभावः अस्ति स किं देवः । अपि तु देवः न । यत्र धर्मे । अङ्गिषु दया न प्राणिषु करुणा मुख्या न । स किं धर्मः । अपि तु धर्मः न । तत्किं तपः स किं गुरुः । यत्र तपसि यत्र गुरौ बोधः ज्ञानं न । अथ सा किं विभूतिः । यत्र विभूत्यां पात्रदानं न ॥ १८ ॥ यदि चेत् । मानवस्य नरस्य । धर्मः अस्ति । किंलक्षणः धर्मः । दानव्रतादिजनितः दानेन व्रतेन उत्पादितः । पुनः किंलक्षणः धर्मः । जगत्त्रयवशीकरणैकमन्त्रः । इह लोके ते गुणाः किं ये गुणाः धर्मयुक्तस्य नरस्य वशं न आयान्ति । इह लोके तत्सुखं किं यत्सुखं धर्मयुक्तस्य नरस्य नास्ति[2] । इह लोके सा विभूतिः किम् । अथ या विभूतिः धर्मयुक्तस्य पुरुषस्य वशं न प्रयाति ॥ १९ ॥ एकत्र एकस्मिन् जने । सत्पात्रदानेन जनिता उत्पादिता या पुण्यराशिः सा पुण्यराशिः एकजने वर्तते । वा अथवा । परजने द्वितीयजने । नरनाथलक्ष्मीः वर्तते । तदपि आद्यात् पुण्यराशिसहितजनात् । परः द्वितीयः नरनाथलक्ष्मीवान् । दुर्गतः दरिद्री । एव निश्चयेन । यद्यस्मात्कारणात् । तस्य

साक्षात् संचार नहीं करते हैं वे गृह क्या हैं? अर्थात् ऐसे गृहोंका कुछ भी महत्त्व नहीं है । इसी प्रकार स्मरणके वशसे अपने चरणजलके द्वारा श्रावकोंके शिरके प्रदेशोंको पवित्र करनेवाले वे मुनिजन जिन श्रावकोंके मनमें संचार नहीं करते हैं वे श्रावक भी क्या हैं? अर्थात् उनका भी कुछ महत्त्व नहीं है ॥ विशेषार्थ– अभिप्राय यह है कि जिन घरोंमें आहारादिके निमित्त मुनियोंका आवागमन होता रहता है वे ही घर वास्तवमें सफल हैं । इसी प्रकार जो गृहस्थ उन मुनियोंका मनसे चिन्तन करते हैं तथा उनको आहार आदिके देनेमें सदा उत्सुख रहते हैं वे ही गृहस्थ प्रशंसाके योग्य हैं ॥ १७ ॥ जिसके क्रोधादि विकारभाव विद्यमान हैं वह क्या देव हो सकता है? अर्थात् वह कदापि देव नहीं हो सकता । जहां प्राणियोंके विषयमें मुख्य दया नहीं है वह क्या धर्म कहा जा सकता है? नहीं कहा जा सकता । जिसमें सम्यग्ज्ञान नहीं है वह क्या तप और गुरु हो सकता है? नहीं हो सकता । जिस सम्पत्तिमेंसे पात्रोंके लिये दान नहीं दिया जाता है वह सम्पत्ति क्या सफल हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती ॥ १८ ॥ यदि मनुष्यके पास तीनों लोकोंको वशीभूत करनेके लिये अद्वितीय वशीकरणमंत्रके समान दान एवं व्रत आदिसे उत्पन्न हुआ धर्म विद्यमान है तो ऐसे कौन-से गुण है जो उसके वशमें न हो सकें, वह कौन-सा सुख है जो उसको प्राप्त न हो सके, तथा वह कौन-सी विभूति है जो उसके अधीन न होती हो? अर्थात् धर्मात्मा मनुष्यके लिये सब प्रकारके गुण, उत्तम सुख और अनुपम विभूति भी स्वयमेव प्राप्त हो जाती है ॥ १९ ॥ एक मनुष्यके पास उत्तम पात्रके लिये दिये गये दानसे उत्पन्न हुए उन्नत पुण्यका समुदाय है, तथा दूसरे मनुष्यके पास राज्यलक्ष्मी विद्यमान है । फिर भी प्रथम मनुष्यकी अपेक्षा द्वितीय मनुष्य दरिद्र ही है, क्योंकि, उसके पास आगामी कालमें फल देनेवाला कुछ भी शेष नहीं है ॥ विशेषार्थ–अभिप्राय यह कि सुखका कारण एक मात्र पुण्यका संचय ही होता है । यही कारण है कि जिस व्यक्तिने पात्रदानादिके द्वारा

---

१ क्ष क गृहस्थाः । २ श क अस्ति ।

219) दानाय यस्य न धनं न वपुर्व्रताय नैवं श्रुतं च परमोपशमाय नित्यम् ।
तज्जन्म केवलमलं मरणाय भूरिसंसारदुःखमृतिजातिनिबन्धनाय ॥ २१ ॥

220) प्राप्ते नृजन्मनि तपः परमस्तु जन्तोः संसारसागरसमुत्तरणैकसेतुः ।
मा भूद्विभूतिरिह बन्धनहेतुरेव देवे गुरौ शमिनि पूजनदानहीना ॥ २२ ॥

221) भिक्षा वरं परिहृताखिलपापकारिकार्यानुबन्धविधुराश्रितचित्तवृत्तिः ।
सत्पात्रदानरहिता विततोग्रदुःखदुर्लङ्घ्यदुर्गतिकरी न पुनर्विभूतिः ॥ २३ ॥

222) पूजा न चेज्जिनपतेः पदपङ्कजेषु दानं न संयतजनाय च भक्तिपूर्वम् ।
नो दीयते किमु ततः सदनस्थितायाः शीघ्रं जलाञ्जलिरगाधजले प्रविश्य ॥ २४ ॥

223) कार्यं तपः परमिह भ्रमता भवाब्धौ मानुष्यजन्मनि चिरादतिदुःखलब्धे ।
संपद्यते न तदणुव्रतिनापि भाव्यं जायेत चेदहरहः किल पात्रदानम् ॥ २५ ॥

लक्ष्म्याश्रितस्य । आगामिकालफलदायि किंचित् न । अतः कारणात् पुण्यराशियुक्तः नरः श्रेष्ठः ॥ २० ॥ यस्य श्रावकस्य । धनं दानाय न । यस्य श्रावकस्य वा मुनेः[1] । वपुः शरीरं व्रताय न । एवम् अमुना प्रकारेण । यस्य श्रावकस्य । श्रुतं शास्त्रश्रवणम् । नित्यम् । उपशमाय उपशमनिमित्तं न । च पुनः । तस्य नरस्य जन्म मनुष्यपर्यायः । केवलम् अलम् अत्यर्थम् । मरणाय भवति । भूरि-बहुल-संसारदुःखमृति-मरण-जाति-निबन्धनाय कारणाय भवति ॥ २१ ॥ इह संसारे । जन्तोः जीवस्य । नृजन्मनि प्राप्ते सति । परं तपः अस्तु । किंलक्षणं तपः । संसारसागरसमुत्तरणैकसेतुः संसारतरणे प्रोहणम् । पुनः देवे गुरौ । शमिनि मुनौ । पूजनदानहीना विभूतिः मा भूत् । किंलक्षणा विभूतिः । बन्धनहेतुः कर्मबन्धनकारिणी ॥ २२ ॥ भिक्षा । वरं श्रेष्ठम् । पुनः सत्पात्रदानरहिता विभूतिः न वरा न श्रेष्ठा । किं लक्षणा भिक्षा । परिहृता-त्यक्ता-अखिलपापकारिकार्यानुबन्धे[2]-विधुराश्रितचित्तवृत्तिः यया सा । किंलक्षणा[3] विभूतिः । वितता विस्तीर्णा[4] । उग्रदुःखदुर्लङ्घ्यदुर्गतिकरी पुनः विभूतिः न कार्या ॥ २३ ॥ चेत् जिनपतेः पदपङ्कजेषु पूजा न क्रियते । च पुनः । संयतजनाय मुनये । दानं भक्तिपूर्वं न दीयते । ततः कारणात् । सदनस्थितायाः गृहस्थतायाः । शीघ्रं जलाञ्जलिः किमु नो दीयते । अपि तु दीयते । किं कृत्वा । अगाधजले प्रविश्य ॥ २४ ॥ इह जगति । भवाब्धौ संसारसमुद्रे ।

ऐसे पुण्यका संचय कर लिया है वह आगामी कालमें सुखी रहेगा । किन्तु जिस व्यक्तिने वैसे पुण्यका संचय नहीं किया है वह वर्तमानमें राज्यलक्ष्मीसे सम्पन्न होकर भी भविष्यमें दुःखी ही रहेगा ॥ २० ॥ जिसका धन दानके लिये नहीं है, शरीर व्रतके लिये नहीं है, इसी प्रकार शास्त्राभ्यास कषायोंके उत्कृष्ट उपशमके लिये नहीं है; उसका जन्म केवल सांसारिक दुःख, मरण एवं जन्मके कारणभूत मरणके लिये ही होता है ॥ विशेषार्थ– जो मनुष्य अपने धनका सदुपयोग दानमें नहीं करता, शरीरका सदुपयोग व्रतधारणमें नहीं करता, तथा आगममें निपुण होकर भी कषायोंका दमन नहीं करता है वह वार वार जन्म-मरणको धारण करता हुआ सांसारिक दुःखको ही सहता रहता है ॥ २१ ॥ मनुष्यजन्मके प्राप्त हो जानेपर जीवको उत्तम तप ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि, वह संसाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिये अपूर्व पुलके समान है । उसके पास देव, गुरु एवं मुनिकी पूजा और दानसे रहित वैभव नहीं होना चाहिये; क्योंकि, ऐसा वैभव एक मात्र बन्धका ही कारण होता है ॥ २२ ॥ पापोत्पादक समस्त कार्योंके सम्बन्धसे रहित ऐसी चित्तवृत्तिका आश्रय करनेवाली भिक्षा कहीं श्रेष्ठ है, किन्तु सत्पात्रदानसे रहित होकर विपुल एवं तीव्र दुखोंसे परिपूर्ण दुर्लंघ्य नरकादिरूप दुर्गतिको करनेवाली विभूति श्रेष्ठ नहीं है ॥ २३ ॥ जिस गृहस्थ अवस्थामें जिनेन्द्र-भगवान्‌के चरण-कमलोंकी पूजा नहीं की जाती है तथा भक्तिपूर्वक संयमी जनके लिये दान नहीं दिया जाता है उस गृहस्थ अवस्थाके लिये अगाध जलमें प्रविष्ट होकर क्या शीघ्र ही जलांजलि नहीं देना चाहिये ? अर्थात् अवश्य देना चाहिये ॥ २४ ॥ यहां संसाररूप समुद्रमें परिभ्रमण करते हुए यदि चिर

१ श क यतेः । २ क बन्धि । ३ श सा कार्याः किंलक्षणा । ४ ज विततविस्तीर्णाः, श विततविस्तीर्णे ।

224) ग्रामान्तरं व्रजति यः स्वगृहाद्गृहीत्वा पाथेयमुन्नततरं स सुखी मनुष्यः ।
जन्मान्तरं प्रविशतो[1]ऽस्य तथा व्रतेन दानेन चार्जितशुभं सुखहेतुरेकम् ॥ २६ ॥

225) यत्नः कृतोऽपि मदनार्थयशोनिमित्तं दैवादिह व्रजति निष्फलतां कदाचित् ।
संकल्पमात्रमपि दानविधौ तु पुण्यं कुर्यादसत्यपि हि पात्रजने प्रमोदात् ॥ २७ ॥

226) सद्मागते किल विपक्षजनेऽपि सन्तः कुर्वन्ति मानमतुलं वचनासनाद्यैः ।
यत्तत्र चारुगुणरत्ननिधानभूते पात्रे मुदा महति किं क्रियते न शिष्टैः ॥ २८ ॥

227) सूनोर्मृतेरपि दिनं न सतस्तथा स्याद् बाधाकरं बत यथा मुनिदानशून्यम् ।
दुर्वारदुष्टविधिना न कृते ह्यकार्ये पुंसा कृते तु मनुते मतिमाननिष्टम् ॥ २९ ॥

भ्रमता जीवेन । चिरात् चिरकालम् । अतिदुःखेन लब्धे मानुष्यजन्मनि प्राप्ते सति । परं श्रेष्ठम् । तपः कार्यं कर्तव्यम् । चेद्यदि । तत्तपः न संपद्यते । तदा । किल इति सत्ये । पात्रदानं[2] जायेत भवेत् । तत्पात्रदानम् । अणुव्रतिना । अहः अहः दिनं दिनं प्रति । भाव्यं करणीयम् ॥ २५ ॥ यः कश्चित् । स्वगृहात् । उन्नततरम् । पाथेयं संबलम् । गृहीत्वा ग्रामान्तरं व्रजति । स मनुष्यः सुखी भवति । तथा जन्मान्तरं प्रवसितः(?) अस्य जीवस्य चलितस्य अस्य प्राणिनः । व्रतेन । च पुनः । दानेन अर्जितं शुभं पुण्यं संबलम् । एकं सुखहेतुर्भवति ॥ २६ ॥ इह नरलोके । मदनार्थयशोनिमित्तं यत्नः कृतोऽपि । दैवात् कर्मयोगात् । कदाचिन्निष्फलतां व्रजति । तु पुनः । हि यतः । दानविधौ । प्रमोदात् हर्षात् । संकल्पमात्रमपि विकल्पम् । पुण्यं कुर्यात् । क्व सति । अविद्यमानेऽपि दाने । असत्यपि[3] हि पात्रजने । प्रमोदात्[4] हर्षात् । संकल्पमात्रं कुर्यात् ॥ २७ ॥ किल इति सत्ये । यदि विपक्षजने शत्रुजने । सद्मागते गृहागते सति । अपि । सन्तः साधवः । वचन-आसनाद्यैः अतुलं मानं कुर्वन्ति । तत्र गृहे । महति गरिष्ठे । पात्रे आगते सति । शिष्टैः सज्जनैः । मुदा हर्षेण । अतुलं मानं किं न क्रियते । अपि तु क्रियते । किं लक्षणे पात्रे । चारुगुणरत्ननिधानभूते रत्नत्रयमण्डिते ॥ २८ ॥ बत इति खेदे । सतः सत्पुरुषस्य । सूनोः पुत्रस्य । मृतेः अपि दिनं मरणस्य दिनम् । तथा बाधाकरं न स्यात् न भवेत् । यथा मुनिदानशून्यं दिनं मुनिदानरहितं दिनम् । सत्पुरुषस्य बाधाकरं भवेत् । हि यतः । मतिमान् नरः । दुर्वारदुष्टविधिना कर्मणा । कृते अकार्ये । अनिष्टं दुःखं । न मनुते । तु पुनः । पुंसा पुरुषेण । कृते अकार्ये ।

कालमें बड़े दुःखसे मनुष्य पर्याय प्राप्त हो गई है तो उसे पाकर उत्कृष्ट तप करना चाहिये । यदि कदाचित् वह तप नहीं किया जा सकता है तो अणुव्रती ही हो जाना चाहिये, जिससे कि प्रतिदिन पात्रदान हो सके ॥ २५ ॥ जो मनुष्य अपने गृहसे बहुत-सा नाश्ता (मार्गमें खानेके योग्य पक्वान्न आदि) ग्रहण करके दूसरे किसी गांवको जाता है वह जिस प्रकार सुखी रहता है उसी प्रकार दूसरे जन्ममें प्रवेश करनेके लिये प्रवास करनेवाले इस प्राणीके लिये व्रत एवं दानसे कमाया हुआ एक मात्र पुण्य ही सुखका कारण होता है ॥ २६ ॥ यहां काम, अर्थ और यशके लिये किया गया प्रयत्न भाग्यवश कदाचित् निष्फल भी हो जाता है । किन्तु पात्र जनके अभावमें भी हर्षपूर्वक दानके अनुष्ठानमें किया गया केवल संकल्प भी पुण्यको करता है ॥ २७ ॥ अपने मकानमें शत्रु जनके भी आनेपर सज्जन मनुष्य वचन एवं आसनप्रदानादिके द्वारा उसका अनुपम आदार-सत्कार करते हैं । फिर भला उत्तम गुणोंरूप रत्नोंके आश्रयभूत उत्कृष्ट पात्रके वहां पहुंचनेपर सज्जन हर्षसे क्या आदर-सत्कार नहीं करते हैं ? अर्थात् अवश्य ही वे दानादिके द्वारा उसका यथायोग्य सम्मान करते हैं ॥ २८ ॥ सज्जन पुरुषके लिये अपने पुत्रकी मृत्युका भी दिन उतना बाधक नहीं होता जितना कि मुनिदानसे रहित दिन उसके लिये बाधक होता है । ठीक है– दुर्निवार दुष्ट दैवके द्वारा कुत्सित कार्यके किये जानेपर बुद्धिमान् मनुष्य उसे अनिष्ट नहीं मानता, किन्तु पुरुषके द्वारा ऐसे किसी कार्यके किये जानेपर विवेकी प्राणी उसे अनिष्ट मानता है ॥ विशेषार्थ– यदि किसी विवेकी मनुष्यके घरपर

१ ब-प्रतिपाठोऽयम् । अ क श प्रवसितो । २ क पात्रे दानं । ३ क क्व सति असत्यपि । ४ क 'प्रमोदात्...' इत्यादिपाठोऽत्र नास्ति ।

228) ये धर्मकारणसमुल्लसिता विकल्पास्त्यागेन ते धनयुतस्य भवन्ति सत्याः ।
स्पृष्टाः शशाङ्ककिरणैरमृतं क्षरन्तश्चन्द्रोपलाः किल लभन्त इह प्रतिष्ठाम् ॥ ३० ॥

229) मन्दायते य इह दानविधौ धने ऽपि सत्यात्मनो वदति धार्मिकतां च यत्तत् ।
माया हृदि स्फुरति सा मनुजस्य तस्य या जायते तडिदमुत्र सुखाचलेषु ॥ ३१ ॥

230) ग्रासस्तदर्धमपि देयमथार्धमेव तस्यापि संततमणुव्रतिना यथर्द्धि[1] ।
इच्छानुरूपमिह कस्य कदात्र लोके द्रव्यं भविष्यति सदुत्तमदानहेतुः ॥ ३२ ॥

अनिष्टं मनुते । सत्यम् ॥ २९ ॥ धनयुतस्य[2] धनवतः पुरुषस्य । ये विकल्पाः । धर्मकारणे समुल्लसिताः उत्पन्नाः । ते विकल्पाः । त्यागेन दानेन । सत्याः सफलाः भवन्ति । किल इति सत्ये । यथा चन्द्रोपलाः चन्द्रकान्तमणयः । शशाङ्ककिरणैः चन्द्रकिरणैः स्पृष्टाः स्पर्शिताः । अमृतं क्षरन्तः । इह जगति । प्रतिष्ठां शोभाम् । लभन्ते ॥ ३० ॥ यः नरः । इह जगति संसारे । दानविधौ । मन्दायते निरुद्यमो भवति । क सति । धनेऽपि सति धने विद्यमाने सति । यत् आत्मनः धार्मिकतां वदति अहं धर्मवान् इति कथयति । तत्तस्य मनुजस्य नरस्य । हृदि सा माया स्फुरति । या माया । अमुत्र सुखाचलेषु परलोकसुखपर्वतेषु । तडिद् विद्युत् । जायते उत्पद्यते ॥ ३१ ॥ इह संसारे । अणुव्रतिना गृहस्थेन ग्रासः देयः । कस्मै । पात्राय । तस्य ग्रासस्य अर्धं देयम् । यथाशक्ति । तस्य ग्रासार्धस्यापि अर्धं यथर्द्धि यथाशक्ति[3] देयम् । अत्र लोके इच्छानुरूपं द्रव्यं कस्य कदा

पुत्रका मरण हो जाता है तो वह शोकाकुल नहीं होता है । कारण कि वह जानता है कि यह पुत्रवियोग अपने पूर्वोपार्जित कर्मके उदयसे हुआ है जो कि किसी भी प्रकारसे टाला नहीं जा सकता था । परन्तु उसके यहां यदि किसी दिन साधु जनको आहारादि नहीं दिया जाता है तो वह इसके लिये पश्चात्ताप करता है । इसका कारण यह है कि वह उसकी असावधानीसे हुआ है, इसमें दैव कुछ बाधक नहीं हुआ है । यदि वह सावधान रहकर द्वारापेक्षण आदि करता तो मुनिदानका सुयोग उसे प्राप्त हो सकता था ॥ २९ ॥ धर्मके साधनार्थ जो विकल्प उत्पन्न होते हैं वे धनवान् मनुष्यके दानके द्वारा सत्य होते हैं । ठीक है– चन्द्रकान्त मणि चन्द्रकिरणोंसे स्पर्शित होकर अमृतको बहाते हुए ही यहां प्रतिष्ठाको प्राप्त होते हैं ॥ विशेषार्थ– अभिप्राय यह है कि पात्रके लिये दान देनेवाला श्रावक इस भवमें उक्त दानके द्वारा लोकमें प्रतिष्ठाको प्राप्त करता है । जैसे– चन्द्रकान्त मणिसे निर्मित भवनको देखते हुए भी साधारण मनुष्य उक्त चन्द्रकान्त मणिका परिचय नहीं पाता है । किन्तु चन्द्रमाका उदय होनेपर जब उक्त भवनसे पानीका प्रवाह बहने लगता है तब साधारणसे साधारण मनुष्य भी यह समझ लेता है कि उक्त भवन चन्द्रकान्त मणियोंसे निर्मित है । इसीलिये वह उनकी प्रशंसा करता है । ठीक इसी प्रकारसे विवेकी दाता जिनमन्दिर आदिका निर्माण कराकर अपनी सम्पत्तिका सदुपयोग करता है । वह यद्यपि स्वयं अपनी प्रतिष्ठा नहीं चाहता है फिर भी उक्त जिन-मन्दिर आदिका अवलोकन करनेवाले अन्य मनुष्य उसकी प्रशंसा करते ही हैं । यह तो हुई इस जन्मकी बात । इसके साथ ही पात्रदानादि धर्मकार्योंके द्वारा जो उसको पुण्यलाभ होता है उससे वह पर जन्ममें भी सम्पन्न व सुखी होता है ॥ ३० ॥ जो मनुष्य धनके रहनेपर भी दान देनेमें उत्सुक तो नहीं होता, परन्तु अपनी धार्मिकताको प्रगट करता है उसके हृदयमें जो कुटिलता रहती है वह परलोकमें उसके सुखरूपी पर्वतोंके विनाशके लिये बिजलीका काम करती है ॥ ३१ ॥ अणुव्रती श्रावकको निरन्तर अपनी सम्पत्तिके अनुसार एक ग्रास, आधा ग्रास अथवा उसके भी आधे भाग अर्थात् ग्रासके चतुर्थांशको भी देना चाहिये । कारण यह कि यहां लोकमें अपनी इच्छानुसार द्रव्य किसके किस समय होगा जो कि उत्तम पात्रदानका कारण

१ क यथार्धम् । २ श धनयुक्तस्य । ३ क तस्य अर्धग्रासस्य अपि अर्धं यथाशक्ति ।

231) मिथ्यादृशो ऽपि रुचिरेव मुनीन्द्रदाने दद्यात् पशोरपि हि जन्म सुभोगभूमौ ।
कल्पाङ्घ्रिपा ददति यत्र सदेप्सितानि सर्वाणि तत्र विदधाति न किं सुदृष्टेः ॥ ३३ ॥

232) दानाय यस्य न समुत्सहते मनीषा तद्योग्यसंपदि गृहाभिमुखे च पात्रे ।
प्राप्तं खनावतिमहार्घ्यतरं विहाय रत्नं करोति विमतिस्तलभूमिभेदम् ॥ ३४ ॥

233) नष्टा मणीरिव चिराज्जलधौ भवे ऽस्मिन्नासाद्य चारुनरतार्थजिनेश्वराज्ञाः ।
दानं न यस्य स जडः प्रविशेत् समुद्रं सच्छिद्रनावमधिरुह्य गृहीतरत्नः ॥ ३५ ॥

भविष्यति । [इति] को जानाति । सदुत्तमदानहेतुः उत्तमदानयोग्यं द्रव्यं कदा भविष्यति ॥ ३२ ॥ हि यतः । मिथ्यादृशः पशोः अपि मुनीन्द्रदाने रुचिः । एव निश्चयेन । सुभोगभूमौ । जन्म उत्पत्तिः । दद्यात् कुर्यात् । अपि । यत्र भोगभूमौ । कल्पाङ्घ्रिपाः कल्पवृक्षाः । सदा सर्वदा । सर्वाणि । ईप्सितानि वाञ्छितानि फलानि । ददति प्रयच्छन्ति । तत्र भोगभूमौ । सुदृष्टेः भव्यजीवस्य । सर्वं वाञ्छितफलम् । किं न विदधाति न करोति । अपि तु विदधाति ॥ ३३ ॥ यस्य नरस्य श्रावकस्य । मनीषा बुद्धिः । दानाय । न समुत्सहते उत्साहं न करोति । क्व सत्याम् । तद्योग्यसंपदि सत्यां तस्य दानस्य योग्या या संपत् सा तस्यां तद्योग्यसंपदि । क्व सति । च पुनः । पात्रे उत्तमपात्रे । गृहाभिमुखे सति गृहेसन्मुखे आगते सति । यो दानं[4] न ददाति । स विमतिः मूढः । खनौ आकरे । अतिमहार्घ्यतरं बहुमूल्यम् । रत्नं प्राप्तम् । विहाय त्यक्त्वा । तलभूमिभेदं करोति ॥ ३४ ॥ अस्मिन् भवे संसारे । चारु-मनोज्ञा-नरता-मनुष्यपद-अर्थ-द्रव्य-जिनेश्वरआज्ञाम्[5] आसाद्य प्राप्य । चिरात् । जलधौ समुद्रे । नष्टा मणीः इव यथा दुर्लभा तथा नरत्वं दुर्लभम् । यस्य दानं न स जडः गृहीतरत्नः । सच्छिद्रनावम्

हो सके, यह कुछ कहा नहीं जा सकता है ॥ विशेषार्थ— जिनके पास अधिक द्रव्य नहीं रहता वे प्रायः विचार किया करते हैं कि जब उपयुक्त धन प्राप्त होगा तब हम दान करेंगे । ऐसे ही मनुष्योंको लक्ष्य करके यहां यह कहा गया है कि प्रायः इच्छानुसार द्रव्य कभी किसीको भी प्राप्त नहीं होता है । अत एव अपने पास जितना भी द्रव्य है तदनुसार प्रत्येक मनुष्यको प्रतिदिन थोड़ा-बहुत दान देना ही चाहिये ॥ ३२ ॥ मिथ्यादृष्टि पशुकी भी मुनिराजके लिये दान देनेमें जो केवल रुचि होती है उससे ही वह उस उत्तम भोगभूमिमें जन्म लेता है जहांपर कि कल्पवृक्ष सदा उसे सभी प्रकारके अभीष्ट पदार्थोंको देते हैं । फिर भला यदि सम्यग्दृष्टि उस पात्रदानमें रुचि रक्खे तो उसे क्या नहीं प्राप्त होता है ? अर्थात् उसे तो निश्चित ही वांछित फल प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥ दानके योग्य सम्पत्तिके होनेपर तथा पात्रके भी अपने गृहके समीप आ जानेपर जिस मनुष्यकी बुद्धि दानके लिये उत्साहको प्राप्त नहीं होती है वह दुर्बुद्धि खानमें प्राप्त हुए अतिशय मूल्यवान् रत्नको छोड़कर पृथिवीके तलभागको व्यर्थ खोदता है ॥ ३४ ॥ चिर कालसे समुद्रमें नष्ट हुए मणिके समान इस भवमें उत्तम मनुष्य पर्याय, धन और जिनवाणीको पाकर जो दान नहीं करता वह मूर्ख रत्नोंको ग्रहण करके छेदवाली नावमें चढ़कर समुद्रमें प्रवेश करता है ॥ विशेषार्थ— जिस प्रकार समुद्रमें गये हुए मणिका फिरसे प्राप्त होना अतिशय कठिन है उसी प्रकार मनुष्य पर्याय आदिका भी पुनः प्राप्त होना अतिशय कठिन है । वह यदि भाग्यवश किसीको प्राप्त हो जाती है, और फिर भी यदि वह दानादि शुभ कार्योंमें प्रवृत्त नहीं होता है तो समझना चाहिये कि जिस प्रकार कोई मनुष्य बहुमूल्य रत्नोंको साथमें लेकर सच्छिद्र नावमें सवार होता है और इसीलिये वह उन रत्नोंके साथ स्वयं भी समुद्रमें डूब जाता है, इसी प्रकारकी अवस्था उक्त मनुष्यकी भी होती है । कारण कि भविष्यमें सुखी होनेका साधन जो दानादि कार्योंसे उत्पन्न होनेवाला पुण्य था उसे

---

१ च-प्रतिपाठोऽयम् । अ क श खनावपि महार्घ्यतरं । २ च-प्रतिपाठोऽयम् । क जिनेश्वराज्ञा, अ श जिनेश्वराज्ञां । ३ क गृहे । ४ क यद्दानं । ५ अ जिनेश्वरआज्ञा, क जिनेश्वराज्ञा ।

234) **यस्यास्ति नो धनवतः किल पात्रदानमस्मिन् परत्र च भवे यशसे सुखाय ।**
अन्येन केनचिदनूनसुपुण्यभाजा क्षिप्तः स सेवकनरो धनरक्षणाय ॥ ३६ ॥

235) **चैत्यालये च जिनसूरिबुधार्चने च दाने च संयतजनस्य सुदुःखिते च ।**
यच्चात्मनि स्वमुपयोगि तदेव नूनमात्मीयमन्यदिह कस्यचिदन्यपुंसः ॥ ३७ ॥

236) **पुण्यक्षयात्क्षयमुपैति न दीयमाना लक्ष्मीरतः कुरुत संततपात्रदानम् ।**
कूपे न पश्यत जलं गृहिणः समन्तादाकृष्यमाणमपि वर्धत एव नित्यम् ॥ ३८ ॥

237) **सर्वान् गुणानिह परत्र च हन्ति लोभः सर्वस्य पूज्यजनपूजनहानिहेतुः ।**
अन्यत्र तत्र विहिते ऽपि हि दोषमात्रमेकत्र जन्मनि परं प्रथयन्ति लोकाः ॥ ३९ ॥

अधिरुह्य आरुह्य चटित्वा । समुद्रं प्रविशेत् ॥ ३५ ॥ किल इति शास्त्रोक्तौ लोकोक्तौ श्रूयते । यस्य धनवतः पुरुषस्य । पात्रदानं न अस्ति । यत्पात्रदानम् । अस्मिन् भवे पर्याये । यशसे यशोनिमित्तं भवति । परत्र अन्यभवे सुखाय भवति । स अदत्तः । अन्येन केनचित् । अनूनसुपुण्यभाजा पूर्णपुण्ययुक्तेन । धनरक्षणाय अदत्तः सेवकनरः । क्षिप्तः स्थापितः ॥३६॥ इह लोके यत् स्वं द्रव्यम् । चैत्यालये चैत्यालयनिमित्तं भवति । च पुनः । यद्द्रव्यं जिनसूरिबुधार्चने देवगुरुशास्त्रार्चने पूजानिमित्तं भवति । च पुनः । संयतजनस्य दाने[1] दाननिमित्तं भवति । च पुनः । सुदुःखिते जने । यद्द्रव्यम् । आत्मनि आत्मनिमित्ते उपयोगि । दुःखितजनाय दीयते आत्मनिमित्तं भवति । नूनं तदेव द्रव्यम् आत्मीयम् । यत् अन्यत् द्रव्यम् । दानाय न भुक्तये न तद्द्रव्यम् । कस्यचित् अन्यपुंसः अन्यपुरुषस्य विद्धि ॥ ३७ ॥ भो गृहिणः भो गृहस्थाः । लक्ष्मीः पुण्यक्षयात् पुण्यविनाशात् । क्षयं नाशम् । उपैति । लक्ष्मीः दीयमाना विनाशम् । न उपैति न गच्छति । अतः कारणात् । संततं निरन्तरम् । पात्रदानं कुरुत । भो लोकाः । कूपे कूपविषये । जलं न पश्यत समन्तात् आकृष्यमाणम् अपि । नित्यं सदैव । वर्धते । एव निश्चयेन ॥ ३८ ॥ भो लोकाः श्रूयताम् । इह जन्मनि । च पुनः । परत्र

उसने मनुष्य पर्यायके साथ उसके योग्य सम्पत्तिको पाकर भी किया ही नहीं है ॥ ३५ ॥ जो पात्रदान इस भवमें यशका कारण तथा परभवमें सुखका कारण है उसे जो धनवान् मनुष्य नहीं करता है वह मनुष्य मानो किसी दूसरे अतिशय पुण्यशाली मनुष्यके द्वारा धनकी रक्षाके लिये सेवकके रूपमें ही रखा गया है ॥ **विशेषार्थ**— यदि भाग्यवश धन-सम्पत्तिकी प्राप्ति हुई तो उसका सदुपयोग अपनी योग्य आवश्यकताकी पूर्ति करते हुए पात्रदानमें करना चाहिये । परन्तु जो मनुष्य प्राप्त सम्पत्तिका न तो स्वयं उपभोग करता है और न पात्रदान भी करता है वह मनुष्य अन्य धनवान् मनुष्यके द्वारा अपने धनकी रक्षार्थ रखे गये दासके ही समान है । कारण कि जिस प्रकार धनके रक्षणार्थ रखा गया दास (मुनीम आदि) स्वयं उस धनका उपयोग नहीं कर सकता, किन्तु केवल उसका रक्षण ही करता है; ठीक इसी प्रकार वह धनवान् मनुष्य भी जब उस धनको न अपने उपभोगमें खर्च करता है और न पात्रदानादि भी करता है तब भला उक्त दासकी अपेक्षा इसमें क्या विशेषता रहती है ? कुछ भी नहीं ॥ ३६ ॥ लोकमें जो धन जिनालयके निर्माण करानेमें; जिनदेव, आचार्य और पण्डित अर्थात् उपाध्यायकी पूजामें; संयमी जनोंको दान करनेमें, अतिशय दुःखी प्राणियोंको भी दयापूर्वक दान करनेमें, तथा अपने उपभोगमें भी काम आता है; उसे ही निश्चयसे अपना धन समझना चाहिये । इसके विपरीत जो धन इन उपर्युक्त कामोंमें खर्च नहीं किया जाता है उसे किसी दूसरे ही मनुष्यका धन समझना चाहिये ॥ ३७ ॥ सम्पत्ति पुण्यके क्षयसे क्षयको प्राप्त होती है, न कि दान करनेसे । अत एव हे श्रावको ! आप निरन्तर पात्रदान करें । क्या आप यह नहीं देखते कि कुएंसे सब ओरसे निकाला जानेवाला भी जल नित्य बढ़ता ही रहता है ॥ ३८ ॥ पूज्य जनोंकी पूजामें बाधा पहुंचानेवाला लोभ इस लोकमें और परलोकमें भी सबके सभी

१ श संयतजनस्य च दाने ।

238) जातो ऽप्यजात इव स श्रियमाश्रितो ऽपि रङ्कः कलङ्करहितो ऽप्यगृहीतनामा ।
कम्बोरिवाश्रितमृतेरपि यस्य पुंसः शब्दः समुच्चलति नो जगति प्रकामम् ॥ ४० ॥

239) श्वापि क्षितेरपि विभुर्जठरं स्वकीयं कर्मोपनीतविधिना विदधाति पूर्णम् ।
किंतु प्रशस्यनृभवार्थविवेकितानामेतत्फलं यदिह संततपात्रदानम् ॥ ४१ ॥

240) आयासकोटिभिरुपार्जितमङ्गजेभ्यो यज्जीवितादपि निजाद्दयितं जनानाम् ।
वित्तस्य तस्य नियतं प्रविहाय दानमन्या विपत्तय इति प्रवदन्ति सन्तः ॥ ४२ ॥

परजन्मनि। लोभः। सर्वस्य यतेः वा सर्वस्य जनस्य। सर्वान् गुणान् हन्ति स्फेटयति । किंलक्षणः लोभः। पूज्यजनपूजनहानिहेतुः[१] उत्तमजनपूजनहानिहेतुः। अन्यत्र धर्मे (?)। तत्र तस्मिन् लोभे । बिहितेऽपि कृतेऽपि। भो लोकाः। परं केवलम्। एकत्र जन्मनि दोषमात्रम्। प्रथयन्ति विस्तारयन्ति ॥३९॥ स पुमान् जातः उत्पन्नः। अपि। अजातः अनुत्पन्नः। स पुमान् श्रियम् आश्रितोऽपि रङ्कः। स पुमान् कलङ्करहितोऽपि अगृहीतनामा निर्नामा । स कः। यस्य पुंसः पुरुषस्य शब्दः जगति विषये। प्रकामम् अत्यर्थम्। नो समुच्चलति । कस्य इव । कम्बोः इव शङ्खस्य इव । किंलक्षणस्य शङ्खस्य । आश्रितमृतेः जीवरहितस्य ॥ ४० ॥ श्वा अपि कुर्कुरः[२] अपि । कर्मोपनीतविधिना कर्मनिर्मितविधानेन । स्वकीयं [जठरं] उदरम्। पूर्णं करोति। क्षितेः भुवः। विभुः अपि राजा। स्वकीयं जठरं कर्मोपनीतविधिना स्वार्जितकर्मणा। पूर्णम्। विदधाति करोति। किंतु इह जगति विषये। प्रशस्यनृभव-श्रेष्ठ-मनुष्यपद-अर्थ-द्रव्य-विवेकितानां विवेकादीनाम्। एतत्फलम्। यत्। संततं निरन्तरम्। पात्रदानं क्रियते ॥ ४१ ॥ भो भव्याः। तस्य उपार्जितवित्तस्य[३]। नियतं निश्चितम्। दानम्। प्रविहाय त्यक्त्वा। अन्या विपत्तयः। सन्तः साधवः। इति। प्रवदन्ति कथयन्ति। यत् द्रव्यम् आयास-प्रयासकोटिभिः[४] उपार्जितम्। यत् द्रव्यम्। जनानां लोकानाम्। अङ्गजेभ्यः पुत्रेभ्यः

गुणोंको नष्ट कर देता है। वह लोभ यदि गृह-सम्बन्धी किन्हीं विवाहादि कार्योंमें किया जाता है तो लोग केवल एक जन्ममें ही उसके दोषमात्रको प्रसिद्ध करते हैं ॥ विशेषार्थ—यदि कोई मनुष्य जिनपूजन और पात्रदानादिके विषयमें लोभ करता है तो इससे उसे इस जन्ममें कीर्ति आदिका लाभ नहीं होता, तथा भवान्तरमें पूजन-दानादिसे उत्पन्न होनेवाले पुण्यसे रहित होनेके कारण सुख भी नहीं प्राप्त होता है। इस प्रकार जो व्यक्ति धार्मिक-कार्योंमें लोभ करता है वह दोनों ही लोकोंमें अपना अहित करता है। इसके विपरीत जो मनुष्य केवल विवाहादिरूप गार्हस्थिक कार्योंमें लोभ करता है उसका मनुष्य कृपण आदि शब्दोंके द्वारा केवल इस जन्ममें ही तिरस्कार कर सकते हैं, किन्तु परलोक उसका सुखमय ही वीतता है। अत एव गार्हस्थिक कामोंमें किया जानेवाला लोभ उतना निन्द्य नहीं है जितना कि धार्मिक कामोंमें किया जानेवाला लोभ निन्दनीय है ॥ ३९ ॥ मृत्युको प्राप्त होनेपर शंखके समान जिस पुरुषका नाम संसारमें अतिशय प्रचलित नहीं होता वह मनुष्य जन्म लेकर भी अजन्माके समान होता है अर्थात् उसका मनुष्य-जन्म लेना ही व्यर्थ होता है। कारण कि वह लक्ष्मीको प्राप्त करके भी दरिद्र जैसा रहता है, तथा दोषोंसे रहित होकर भी यशस्वी नहीं हो पाता ॥ ४० ॥ अपने कर्मके अनुसार कुत्ता भी अपने उदरको पूर्ण करता है और राजा भी अपने उदरको पूर्ण करता है। किन्तु प्रशंसनीय मनुष्यभव, धन एवं विवेकबुद्धिको प्राप्त करनेका यहां यही प्रयोजन है कि निरन्तर पात्रदान दिया जावे ॥४१॥ करोड़ों परिश्रमोंके द्वारा कमाया हुआ जो धन पुत्रों और अपने जीवनसे भी लोगोंको अधिक प्रिय होता है निश्चयसे उस धनके लिये दानको छोड़ कर अन्य सब विपत्तियां ही हैं, ऐसा साधुजन कहते हैं। विशेषार्थ— मनुष्य धनको बहुत कठोर परिश्रमके द्वारा प्राप्त करते हैं। इसीलिये वह उन्हें अपने प्राणोंसे भी अधिक प्रिय प्रतीत होता है। यदि वे उसका सदुपयोग

---

१ श पूज्येत्यस्य टीका नास्ति। २ श कुर्कुरः। ३ क तस्य वित्तस्य। ४ क आयासकोटिभिः।

241) नार्थः पदात्पदमपि व्रजति त्वदीयो व्यावर्तते पितृवनाद्ननु बन्धुवर्गः ।
दीर्घे पथि प्रवसतो भवतः सखैकं पुण्यं भविष्यति ततः क्रियतां तदेव ॥ ४३ ॥

242) सौभाग्यशौर्यसुखरूपविवेकिताद्या विद्यावपुर्धनगृहाणि कुले च जन्म ।
संपद्यते ऽखिलमिदं किल पात्रदानात् तस्मात् किमत्र सततं क्रियते न यत्नः ॥ ४४ ॥

243) न्यासश्च सद्म च करग्रहणं च सूनोरर्थेन तावदिह कारयितव्यमास्ते ।
धर्माय दानमधिकाग्रतया करिष्ये संचिन्तयन्नपि गृही मृतिमेति मूढः ॥ ४५ ॥

244) किं जीवितेन कृपणस्य नरस्य लोके निर्भोगदानधनबन्धनबद्धमूर्तेः ।
तस्माद्वरं बलिभुगुन्नतभूरिवाग्भिर्व्याहूतकाककुल एव बलिं स भुङ्क्ते ॥ ४६ ॥

सकाशात् । दयितं वल्लभम् । निजात् जीवितात् अपि । दयितं वल्लभम् । तस्य द्रव्यस्य दानं फलं श्रेष्ठम् ॥ ४२ ॥ ननु अहो । त्वदीयः तावकः । अर्थः पदात्पदमपि न व्रजति । त्वदीयः बन्धुवर्गः पितृवनात् व्यावर्तते । भवतः तव । एकं पुण्यं सखा[3] भविष्यति । किंलक्षणस्य भवतः । दीर्घे । पथि मार्गे । प्रवसतः अन्यगतिमार्गे चलितस्य पुण्यं मित्रं भविष्यति । ततः तदेव पुण्यं क्रियताम् ॥ ४३ ॥ किल इति सत्ये । इदम् अखिलं पात्रदानात् । संपद्यते उत्पद्यते । इदं किम् । सौभाग्यशौर्य-बल-सुखरूपविवेकिताद्या विद्यावपुर्धनगृहाणि । च पुनः । कुले जन्म इत्यादि । तस्मात् । अत्र पात्रदाने । सततं निरन्तरम् । यत्नः किं न क्रियते[4] ॥ ४४ ॥ इह संसारे । मूढः गृही । इति संचिन्तयन् मृतिं[5] मरणम् । एति गच्छति । इति किम् । तावत् प्रथमतः । एतेन अर्थेन । न्यासः निक्षेपः । एतेन अर्थेन सद्म गृहम् । च पुनः । एतेन अर्थेन सूनोः करग्रहणं पुत्रविवाहं[6] कारितव्यम् आस्ते । अधिकाग्रतया धर्माय दानं करिष्ये इति चिन्तयन् मरणम् एति गच्छति[7] ॥ ४५ ॥ इह लोके संसारे । कृपणस्य नरस्य जीवितेन किम् । न किमपि । किंलक्षणस्य कृपणस्य । निर्भोगदान-भोगरहित-दानरहित-धन-बन्धनबद्धमूर्तेः अदत्तमूर्तेः । तस्मात् । कृपणनरात् । बलिभुक् काकपक्षी । वरं श्रेष्ठम् [श्रेष्ठः] । स काकः उन्नतभूरिवाग्भिः भूरिवचनैः । व्याहूतकाककुलः आहूतकाक-

पात्रदानादिमें करते हैं तब तो वह उन्हें फिरसे भी प्राप्त हो जाता है । किन्तु इसके विपरीत यदि उसका दुरुपयोग दुर्व्यसनादिमें किया जाता है, अथवा दान और भोगसे रहित केवल उसका संचय ही किया जाता है, तो वह मनुष्योंको विपत्तिजनक ही होता है । इसका कारण यह है कि सुखका कारण जो पुण्य है उसका संचय उन्होंने पात्रदानादिरूप सत्कार्योंके द्वारा कभी किया ही नहीं है ॥ ४२ ॥ तुम्हारा धन अपने स्थानसे एक कदम भी नहीं जाता, इसी प्रकार तुम्हारे बन्धुजन श्मशान तक तुम्हारे साथ जाकर वहांसे वापिस आ जाते हैं । लंबे मार्गमें प्रवास करते हुए तुम्हारे लिये एक पुण्य ही मित्र होगा । इसलिये हे भव्य जीव ! तुम उसी पुण्यका उपार्जन करो ॥ ४३ ॥ सौभाग्य, शूरवीरता, सुख, सुन्दरता, विवेकबुद्धि आदि, विद्या, शरीर, धन और महल तथा उत्तम कुलमें जन्म होना; यह सब निश्चयसे पात्रदानके द्वारा ही प्राप्त होता है । फिर हे भव्य जन ! तुम उस पात्रदानके विषयमें निरन्तर प्रयत्न क्यों नहीं करते हो ? ॥४४॥ प्रथमतः यहां धनसे कुछ निक्षेप, (भूमिमें रखना), भवनका निर्माण और पुत्रका विवाह करना है; तत्पश्चात् यदि अधिक धन हुआ तो धर्मके निमित्त दान करूंगा । इस प्रकार विचार करता हुआ ही यह मूर्ख गृहस्थ मरणको प्राप्त हो जाता है ॥ ४५ ॥ लोकमें जिस कंजूस मनुष्यका शरीर भोग और दानसे रहित ऐसे धनरूपी बन्धनसे बंधा हुआ है उसके जीनेका क्या प्रयोजन है ? अर्थात् उसके जीनेसे कुछ भी लाभ नहीं है । उसकी अपेक्षा तो वह कौवा ही अच्छा है जो उन्नत बहुत वचनों (कांव कांव) के द्वारा

१ श अधिकाय तया । २ क चिन्तयन् मृतिं । ३ श एकं सखा । ४ क 'अपि तु क्रियते' इत्यधिकः पाठः । ५ श संचिन्तयन् सन् मृतिं । ६ श करग्रहणं करिष्ये पुत्र- । ७ क मरणं गच्छति । ८ क आह्वानित ।

245) **औदार्ययुक्तजनहस्तपरम्परासव्यावर्तनप्रसृतखेदभरातिखिन्नाः ।**
अर्था गताः कृपणगेहमनन्तसौख्यपूर्णा इवानिशमबाधमतिस्वपन्ति ॥ ४७ ॥

246) **उत्कृष्टपात्रमनगारमणुव्रताढ्यं मध्यं व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यम् ।**
निर्दर्शनं व्रतनिकाययुतं कुपात्रं युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदं च विद्धि ॥ ४८ ॥

247) **तेभ्यः प्रदत्तमिह दानफलं जनानामेतद्विशेषणविशिष्टमदुष्टभावात् ।**
अन्यादृशे ऽथ हृदये तदपि स्वभावादुच्चावचं भवति किं बहुभिर्वचोभिः ॥ ४९ ॥

248) **चत्वारि यान्यभयभेषजभुक्तिशास्त्रदानानि तानि कथितानि महाफलानि ।**
नान्यानि गोकनकभूमिरथाङ्गनादिदानानि निश्चितमवद्यकराणि यस्मात् ॥ ५० ॥

समूहः । बलिं भुङ्क्ते बलिभोजनं[१] करोति ॥ ४६ ॥ अर्थाः कृपणगेहं गताः । किंलक्षणा अर्थाः । औदार्ययुक्तजनहस्तपरम्पराप्राप्त-आयम-व्यावर्तन-व्यावृत्तनप्रसृतखेदभरेण अतिखिन्नाः । कृपणगेहम् । अबाधं बाधारहितम् । अनिशं स्वपन्ति । अनन्तसौख्यपूर्णा इव ॥ ४७ ॥ इदम् अनगारम् उत्कृष्टपात्रं विद्धि मुनीश्वरं उत्कृष्टपात्रं विद्धि । अणुव्रतेन आढ्यं भृतं मध्यमपात्रं जानीहि । व्रतेन रहितं [सुदृशं] दर्शनयुक्तं जघन्यपात्रं जानीहि । निर्दर्शनं दर्शनरहितम् । व्रतनिकाययुतं व्रतसमूहसहितम् । कुपात्रं जानीहि । युग्मोज्झितं नरं दर्शनैरहितं व्रतरहितम् । अपात्रं विद्धि जानीहि ॥ ४८ ॥ इह जगति संसारे । तेभ्यः पूर्वोक्तपात्रेभ्यः । प्रदत्तम् अन्नम् । जनानां लोकानाम् । दानफलं भवति । एतद्विशेषणविशिष्टम् अदुष्टभावात्प्रदत्तम् । उत्कृष्टपात्रात् उत्कृष्टफलम् । मध्यम-पात्रात् मध्यमफलम् । जघन्यपात्राज्जघन्यफलम् । कुपात्रात् कुत्सितफलम् । अपात्रात् अफलम् । अथ अन्यादृशे हृदये । स्वभावात् स्वस्य आत्मनो भावः स्वभावः तस्मात् स्वभावात् । तदपि दानम् । उच्चावचम् अनेकप्रकारम् । भवति । वा[४] अनेक-प्रकारं फलं भवति । बहुभिः वचोभिः किम् ॥ ४९ ॥ यानि चत्वारि अभयभेषजभुक्तिशास्त्रदानानि तानि महाफलानि कथितानि । निश्चितम् अन्यानि गोकनक-स्वर्ण-भूमि-रथ-अङ्गना-स्त्री-आदि-दानानि महाफलदायकानि न भवन्ति । यस्मात् । अवद्यकराणि

अन्य कौवोंके समूहको बुलाकर ही बलि (श्राद्धमें अर्पित द्रव्य) को खाता है ॥ ४६ ॥ दानी पुरुषोंके हाथों द्वारा परम्परासे प्राप्त हुए जाने-आनेके विपुल खेदके भारसे मानो अत्यन्त व्याकुल होकर ही वह धन कंजूस मनुष्यके घरको पाकर अनन्त-सुखसे परिपूर्ण होता हुआ निरन्तर निर्बाधस्वरूपसे सोता है ॥ विशेषार्थ– दानी जन प्राप्त धनका उपयोग पात्रदानमें किया करते हैं । इसीलिये पात्रदानजनित पुण्यके निमित्तसे वह उन्हें बार बार प्राप्त होता रहता है । इसके विपरीत कंजूस मनुष्य पूर्व पुण्यसे प्राप्त हुए उस धनका उपयोग न तो पात्रदानमें करता है और न निजके उपभोगमें भी, वह केवल उसका संरक्षण ही करता है । इसपर ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि वह धन यह सोच करके ही मानो कि 'मुझे दानी जनोंके यहां बार बार जाने-आनेका असीम कष्ट सहना पड़ता है' कंजूस मनुष्यके घरमें आ गया है । यहां आकर वह बार बार होनेवाले गमनागमनके कष्टसे बचकर निश्चिन्त सोता है ॥ ४७ ॥ गृहसे रहित मुनिको उत्तम पात्र, अणुव्रतोंसे युक्त श्रावकको मध्यम पात्र, अविरत सम्यग्दृष्टिको जघन्य पात्र, सम्यग्दर्शनसे रहित होकर व्रतसमूहका पालन करनेवाले मनुष्यको कुपात्र, तथा दोनों (सम्यग्दर्शन और व्रत) से रहित मनुष्यको अपात्र समझो ॥ ४८ ॥ उन उपर्युक्त पात्रोंके लिये दिये गये दानका फल मनुष्योंको इन्हीं (उत्तम, मध्यम, जघन्य, कुत्सित और अपात्र) विशेषणोंसे विशिष्ट प्राप्त होता है (देखिये पीछे श्लोक २०४ का विशेषार्थ) । अथवा बहुत कहनेसे क्या ? अन्य प्रकारके अर्थात् दूषित हृदयमें भी वह दानका फल स्वभावसे अनेक प्रकारका प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥ अभयदान, औषधदान, आहारदान और शास्त्र (ज्ञान) दान ये जो चार दान कहे गये हैं वे महान् फलको देनेवाले हैं । इनसे भिन्न गाय, सुवर्ण,

---

१ क युङ्क्ते योजनं । २ श निर्दर्शनं व्रत । ३ क युग्मेज्झितं दर्शनं । ४ श किंवा ।

249) यद्दीयते जिनगृहाय धरादि किंचित् तत्तत्र संस्कृतिनिमित्तमिह प्ररूढम् ।
आस्ते ततस्तदतिदीर्घतरं हि कालं जैनं च शासनमतः कृतमस्ति दातुः ॥ ५१ ॥

250) दानप्रकाशनमशोभनकर्मकार्यकार्पण्यपूर्णहृदयाय न रोचते ऽदः ।
दोषोज्झितं सकललोकसुखप्रदायि तेजो रवेरिव सदा हतकौशिकाय ॥ ५२ ॥

251) दानोपदेशनमिदं कुरुते प्रमोदमासन्नभव्यपुरुषस्य न चेतरस्य ।
जातिः समुल्लसति दारु न भृङ्गसंगादिन्दीवरं हसति चन्द्रकरैर्न चाश्मा ॥ ५३ ॥

252) रत्नत्रयाभरणवीरमुनीन्द्रपादपद्मद्वयस्मरणसंजनितप्रभावः ।
श्रीपद्मनन्दिमुनिराश्रितयुग्मदानपञ्चाशतं ललितवर्णचयं चकार ॥ ५४ ॥

पापकारकाणि ॥ ५० ॥ यत् किंचित् धरादिः । जिनगृहाय चैत्यालयनिमित्तम् । दीयते । तद्धरादिकम् । तत्र चैत्यालये[1] । संस्कृतनिमित्तम् उपकरणादिनिमित्तम् (?) । तत् उपकरणादिकम् । इह जगति । प्ररूढं प्रादुर्भूतं प्रकटम् । आस्ते तिष्ठति । ततः चैत्यालयात् । हि यतः । जैनं शासनम् । अतिदीर्घतरं कालम् । आस्ते वर्तते । अतः कारणात् । तत् जैनं शासनं दातुः कृतम् अस्ति । जैनं शासनं दात्रा निर्मापितं वर्तते ॥ ५१ ॥ अदः दानप्रकाशनम् । अशोभनकर्मकार्यं पापकर्मकार्यं कार्पण्यं च ताभ्यां पूर्णं हृदयं यस्य सः तस्मै अशोभनकर्मकार्यकार्पण्यपूर्णहृदयाय अदत्ताय । न रोचते कृपणस्य नरस्य न रोचत इत्यर्थः । किंलक्षणं दानप्रकाशनम् । दोषेण उज्झितं रहितम् । पुनः किंलक्षणं दानप्रकाशनम् । सकललोकसुखप्रदायि । यथा सदा हतकौशिकाय निन्द्योलूकाय । रवेः सूर्यस्य तेज इव न रोचते । तथा कृपणस्य दानं न रोचते ॥ ५२ ॥ इदं दानोपदेशनम् आसन्नभव्यपुरुषस्य । प्रमोदम् आनन्दम् । कुरुते । च पुनः । इतरस्य दूरभव्यस्य । प्रमोदं न कुरुते । यथा भृङ्गसंगात् । जातिः जातिपुष्पम् । समुल्लसति । दारु काष्ठम् । न समुल्लसति । यथा चन्द्रकरैः चन्द्रकिरणैः । इन्दीवरं कुमुदम् । हसति । न चाश्मा पाषाणः न हसति ॥ ५३ ॥ श्रीपद्मनन्दिमुनिः आश्रितयुग्मदानपञ्चाशतं चकार । श्लोकद्वयाधिकपञ्चाशतं दानप्रकरणं चकार अकरोत् । किंलक्षणः मुनिः । रत्नत्रयाभरणयुक्तवीरमुनीन्द्रः तस्य वीरमुनीन्द्रस्य पादपद्मद्वयस्मरणेन संजनितप्रभावो यस्मिन् सः । किंलक्षणं दानपञ्चाशतम् । ललितवर्णचयं ललित–अक्षरयुक्तम् ॥ ५४ ॥ इति श्रीदानपञ्चाशत् समाप्तम् ॥

पृथिवी, रथ और स्त्री आदिके दान महान् फलको देनेवाले नहीं हैं; क्योंकि, वे निश्चयसे पापोत्पादक हैं ॥ ५० ॥ जिनालयके निमित्त जो कुछ पृथिवी आदिका दान किया जाता है वह यहां धार्मिक संस्कृतिका कारण होकर अंकुरित होता हुआ अतिशय दीर्घ काल तक रहता है । इसलिये उस दाताके द्वारा जैनशासन ही किया गया है ॥ ५१ ॥ जो निर्दोष दानका प्रकाश समस्त लोगोंको सुख देनेवाला है वह पाप कर्मकी कार्यभूत कृपणता (कंजूसी) से परिपूर्ण हृदयवाले प्राणी (कंजूस मनुष्य) के लिये कभी नहीं रुचता है । जिस प्रकार कि दोषा अर्थात् रात्रिके संसर्गसे रहित होकर सम्पूर्ण प्राणियोंको सुख देनेवाला सूर्यका तेज निन्दनीय उल्लूके लिये रुचिकर प्रतीत नहीं होता ॥ ५२ ॥ यह दानका उपदेश आसन्नभव्य पुरुषके लिये आनन्दको करनेवाला है, न कि अन्य (दूरभव्य और अभव्य) पुरुषके लिये । ठीक है– भ्रमरोंके संसर्गसे मालतीपुष्प शोभाको प्राप्त होता है, किन्तु उनके संसर्गसे काष्ठ शोभाको नहीं प्राप्त होता । इसी प्रकार चन्द्रकिरणोंके द्वारा श्वेत कमल प्रफुल्लित होता है, किन्तु पत्थर नहीं प्रफुलित होता ॥ ५३ ॥ रत्नत्रयरूप आभरणसे विभूषित श्री वीरनन्दी मुनिराजके उभय चरण-कमलोंके स्मरणसे उत्पन्न हुए प्रभावको धारण करनेवाले श्री पद्मनन्दी मुनिने ललित वर्णोंके समूहसे संयुक्त इस दो अधिक दानपंचाशत् अर्थात् बावन पद्योंवाले दानप्रकरणको किया है ॥ ५४ ॥ इस प्रकार दानपंचाशत् प्रकरण समाप्त हुआ ॥

---

१ अ क श संस्कृत० ।

[३. अनित्यपञ्चाशत्]

253) जयति जिनो धृतिधनुषामिषुमाला भवति योगियोधानाम् ।
यद्वाक्करुणामय्यपि मोहरिपुप्रहतये तीक्ष्णा ॥ १ ॥

254) यद्येकत्र दिने विभुक्तिरथ वा निद्रा न रात्रौ भवेत्
विद्रात्यम्बुजपत्रवद्दहनतो ऽभ्यासस्थितायद्ध्रुवम् ।
अस्त्रव्याधिजलादितो ऽपि सहसा यच्च क्षयं गच्छति
भ्रातः कात्र शरीरके स्थितिमतिर्नाशे ऽस्य को विस्मयः ॥ २ ॥

255) दुर्गन्धाशुचिधातुभित्तिकलितं संछादितं चर्मणा
विण्मूत्रादिभृतं क्षुधादिविलसद्दुःखाखुभिश्छिद्रितम् ।
क्लिष्टं कायकुटीरकं स्वयमपि प्राप्तं जरावह्निना
चेदेतत्तदपि स्थिरं शुचितरं मूढो जनो मन्यते ॥ ३ ॥

256) अम्भोबुद्बुदसंनिभा तनुरियं श्रीरिन्द्रजालोपमा
दुर्वाताहतवारिवाहसदृशाः कान्तार्थपुत्रादयः ।

जिनः जयति । यद्वाक् यस्य जिनस्य वाक् वाणी । धृतिधनुषां धैर्यधनुषयुक्तानाम्[1] । योगियोधानां योगिसुभटानाम् । इषुमाला भवति बाणपङ्क्तिर्भवति । किंलक्षणा वाणी । करुणामयी दयायुक्ता अपि । मोहरिपुप्रहतये तीक्ष्णा ॥१॥ यत् यस्मात् । एकत्र दिने । विभुक्तिः न कृता भोजनं न कृतम् । तदा रात्रौ निद्रा न भवेत् निद्रा न आगच्छति । यत् शरीरं ध्रुवं विद्राति म्लानं गच्छति । किंवत् । दहनतः अभ्यासस्थितात् समीपस्थितात् अग्नितः अम्बुजपत्रवत्[2] । अग्नितः कमलवत् । चपुनः । यत् शरीरम् । अस्त्र[3]-व्याधिजलसंयोगतः अपि सहसा । क्षयं विनाशम् । गच्छति । भो भ्रातः अत्र शरीरे । स्थितिमतिः शाश्वती बुद्धिः का । न कापि । अथ अस्य शरीरस्य नाशे सति । कः विस्मयः क आश्चर्यः [किमाश्चर्यम्] ॥२॥ चेत् यदि । एतत्कायकुटीरकम् । किंलक्षणं कायकुटीरकम् । दुर्गन्धाशुचिधातुभित्तिकलितं व्याप्तम् । पुनः किंलक्षणं कायकुटीरकम् । चर्मणा संछादितम् । पुनः विट्विष्ठामूत्रादिसृतम्[4] । पुनः किंलक्षणं कायकुटीरकम् । क्षुत् क्षुधा आदिदुःखानि तान्येव मूषकाः तैः क्षुधादुःखमूषकैः । छिद्रितम् । पुनः किंलक्षणं कायकुटीरकम् । स्वयमपि जरावह्निना । क्लिष्टं भस्मीभावं प्राप्तम् । तदपि मूढजनः स्थिरं शुचितरं शरीरं मन्यते ॥३॥ इयं तनुः अम्भोबुद्बुद-

---

जिस जिन भगवान्‌की वाणी धीरतारूपी धनुषको धारण करनेवाले योगिजनरूपी योद्धाओंके लिये बाणपंक्तिके समान होती है, तथा जिसकी वह वाणी दयामयी होकर भी मोहरूपी शत्रुका घात करनेके लिये तीक्ष्ण तलवारका काम करती है वह जिन भगवान् जयवंत होवे ॥ १ ॥ यदि किसी एक दिन भोजन प्राप्त नहीं होता या रात्रिमें निद्रा नहीं आती है तो जो शरीर निश्चयसे निकटवर्ती अग्निसे सन्तप्त हुए कमलपत्रके समान म्लानताको प्राप्त हो जाता है तथा जो अस्त्र, रोग और जल आदिके द्वारा अकस्मात् नाशको प्राप्त होता है; हे भ्रातः! उस शरीरके विषयमें स्थिरताकी बुद्धि कहांसे हो सकती है, तथा उसके नष्ट हो जानेपर आश्चर्य ही क्या है? अर्थात् उसे न तो स्थिर समझना चाहिये और न उसके नष्ट होनेपर कुछ आश्चर्य भी होना चाहिये ॥२॥ जो शरीररूपी झोंपड़ी दुर्गन्धयुक्त अपवित्र धातुओंरूप भित्तियों (दीवालों) से सहित है, चमड़ेसे ढकी हुई है, विष्ठा एवं मूत्र आदिसे परिपूर्ण है, तथा भूख-प्यास आदिके दुःखोंरूप चूहोंके द्वारा किये गये छिद्रोंसे (बिलोंसे) संयुक्त है; वह क्लेश युक्त शरीररूपी झोंपड़ी जब स्वयं ही वृद्धत्व (बुढापा) रूप अग्निसे आक्रान्त हो जाती है तब भी यह मूर्ख प्राणी उसे स्थिर और अतिशय पवित्र मानता है ॥ ३ ॥ यह शरीर जलबुद्बुदके समान क्षणक्षयी है, लक्ष्मी इन्द्रजालके सदृश विनश्वर है; स्त्री, धन एवं पुत्र आदि

---

१ क धनुषयुक्तानाम् । २ श अग्नितः यथा अम्बुज। ३ श शस्त्र । ४ श विटमूत्रादिभृतम् ।

सौख्यं वैषयिकं सदैव तरलं मत्ताङ्गनापाङ्गवत्
तस्मादेतदुपप्लवाप्तिविषये शोकेन किं किं मुदा ॥ ४ ॥

257) दुःखे वा समुपस्थिते ऽथ मरणे शोको न कार्यो बुधैः
संबन्धो यदि विग्रहेण यदयं संभूतिधात्र्येतयोः।
तस्मात्तत्परिचिन्तनीयमनिशं संसारदुःखप्रदो
येनास्य प्रभवः पुरः पुनरपि प्रायो न संभाव्यते ॥ ५ ॥

258) दुर्वारार्जितकर्मकारणवशादिष्टे प्रणष्टे नरे
यच्छोकं कुरुते तदत्र नितरामुन्मत्तलीलायितम्।
यस्मात्तत्र कृते न सिध्यति किमप्येतत्परं जायते
नश्यन्त्येव नरस्य मूढमनसो धर्मार्थकामादयः ॥ ६ ॥

259) उदेति पाताय रविर्यथा तथा शरीरमेतन्ननु सर्वदेहिनाम्।
स्वकालमासाद्य निजे ऽपि संस्थिते करोति कः शोकमतः प्रबुद्धधीः ॥ ७ ॥

संनिभा जलबुद्बुदसदृशा। इयं श्रीः इन्द्रजालोपमा। अत्र संसारे श्रीः लक्ष्मीः इन्द्रजालसदृशा। अत्र संसारे कान्तार्थपुत्रादयः। कीदृशाः। दुर्वाताहतवारिवाह–मेघपटलसदृशाः। अत्र संसारे सौख्यं वैषयिकं सदैव। तरलं चञ्चलम्। किंवत् मत्ताङ्गनापाङ्गवत् मत्तस्त्रीकटाक्षवत् चञ्चलम्[1]। तस्मात्कारणात्। एतस्मिन्पूर्वोक्तसुखे। उपप्लवे सति विनाशे सति। शोकेन किम्। न किमपि। एतस्मिन्सुखे आप्तिविषये प्राप्ते सति। मुदा हर्षेण गर्वेण किम्। न किमपि इत्यर्थः ॥४॥ यदि चेत्। विग्रहेण शरीरेण सह। संबन्धः अस्ति। वा दुःखे। समुपस्थिते प्राप्ते सति। अथ मरणे प्राप्ते सति। बुधैः चतुरैः। शोकः न कार्यः न कर्तव्यः। यत् यस्मात्कारणात्। अयं विग्रहः शरीरः। एतयोः दुःखशोकयोः द्वयोः। संभूतिधात्री जन्मभूमिः। तस्मात्कारणात्। अनिशम्। तत् आत्मस्वरूपम्। परिचिन्तनीयं विचारणीयम्। येन विचारेण आत्मचिन्तनेन। पुरः अग्रे। पुनरपि अस्य शरीरस्य। प्रभवः उत्पत्तिः। प्रायः बाहुल्येन। न संभाव्यते न संप्राप्यते। किंलक्षणः प्रभवः। संसारदुःखप्रदः ॥ ५ ॥ दुर्वार–दुर्निवार–अर्जित–उपार्जित-कर्मकारणवशादिष्टे नरे। प्रणष्टे सति विनाशे सति। अत्र संसारे। नितराम् अतिशयेन। यद्यस्मात्। नरः शोकं कुरुते। तत् उन्मत्तलीलायितं वातूलचेष्टितमस्ति। यस्मात्कारणात्। तत्र तस्मिन् शोके कृते सति। किं सिध्यति किमपि न। परं केवलम्। एतत् जायते। एतत्किम्। मूढमनसः नरस्य। धर्म–अर्थकामादयः नश्यन्ति। एव निश्चयेन ॥ ६ ॥ ननु इति वितर्के। यथा रविः।

दुष्ट वायुसे ताड़ित मेघोंके सदृश देखते देखते ही विलीन होनेवाले हैं; तथा इन्द्रियविषयजन्य सुख सदा ही कामोन्मत्त स्त्रीके कटाक्षोंके समान चंचल है। इस कारण इन सबके नाशमें शोकसे तथा उनकी प्राप्तिके विषयमें हर्षसे क्या प्रयोजन है? कुछ भी नहीं। अभिप्राय यह है कि जब शरीर, धन-सम्पत्ति, स्त्री एवं पुत्र आदि समस्त चेतन-अचेतन पदार्थ स्वभावसे ही अस्थिर हैं तब विवेकी जनको उनके संयोगमें हर्ष और वियोगमें शोक नहीं करना चाहिये ॥ ४ ॥ यदि शरीरके साथ सम्बन्ध है तो दुःखके अथवा मरणके उपस्थित होनेपर विद्वान् पुरुषोंको शोक नहीं करना चाहिये। कारण यह कि वह शरीर इन दोनों (दुःख और मरण) की जन्मभूमि है, अर्थात् इन दोनोंका शरीरके साथ अविनाभाव है। अत एव निरन्तर उस आत्मस्वरूपका विचार करना चाहिये जिसके द्वारा आगे प्रायः संसारके दुःखको देनेवाली इस शरीरकी उत्पत्तिकी फिरसे सम्भावना ही न रहे ॥ ५ ॥ पूर्वोपार्जित दुर्निवार कर्मके उदयवश किसी इष्ट मनुष्यका मरण होनेपर जो यहां शोक किया जाता है वह अतिशय पागल मनुष्यकी चेष्टाके समान है। कारण कि उस शोकके करनेपर कुछ भी सिद्ध नहीं होता, बल्कि उससे केवल यह होता है कि उस मूढबुद्धि मनुष्यके धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ आदि ही नष्ट होते हैं ॥ ६ ॥ जिस प्रकार सूर्यका उदय अस्त

१ क मत्ताङ्गनास्त्रीअपाङ्गवत् कटाक्षवत् नेत्रवत् चञ्चलम्।

260) भवन्ति वृक्षेषु पतन्ति नूनं पत्राणि पुष्पाणि फलानि यद्वत् ।
कुलेषु तद्वत्पुरुषाः किमत्र हर्षेण शोकेन च सन्मतीनाम् ॥ ८ ॥

261) दुर्लङ्घ्याद्भवितव्यताव्यतिकरान्नष्टे प्रिये मानुषे
यच्छोकः क्रियते तदत्र तमसि प्रारभ्यते नर्तनम् ।
सर्वं नश्वरमेव वस्तु भुवने मत्वा महत्या धिया
निर्धूताखिलदुःखसंततिरहो धर्मः सदा सेव्यताम् ॥ ९ ॥

262) पूर्वोपार्जितकर्मणा विलिखितं यस्यावसानं यदा
तज्जायेत तदैव तस्य भविनो ज्ञात्वा तदेतद्ध्रुवम् ।
शोकं मुञ्च मृते प्रियेऽपि सुखदं धर्मं कुरुष्वादरात्
सर्पे दूरमुपागते किमिति भोस्तद्घृष्टिराहन्यते ॥ १० ॥

पाताय पतनार्थम् । उदेति उदयं करोति । तथा सर्वदेहिनाम् एतत् शरीरं पाताय पतनार्थम् । उदेति उदयं करोति । अतः कारणात् । स्वकालम् । आसाद्य प्राप्य । निजे स्वकीये मित्रादौ गोत्रजने वा । संस्थिते मृते सति । कः प्रबुद्धधीः शोकं करोति । न कोऽपि ॥ ७ ॥ यद्वत् यथा । वृक्षेषु पत्राणि पुष्पाणि फलानि भवन्ति नूनम् । पुनः स्वकालं प्राप्य पतन्ति । तद्वत्तथा । कुलेषु पुरुषाः संभवन्ति । च पुनः पतन्ति । अत्र लोके । सन्मतीनां भव्यानाम् । हर्षेण किम् । च पुनः । शोकेन किम् । न किमपि ॥ ८ ॥ अत्र संसारे । दुर्लङ्घ्यात् दुर्निवारात् भवितव्यतास्वरूपात् । प्रिये मानुषे नष्टे सति । यत् शोकः क्रियते तत् । तमसि अन्धकारे । नर्तनं प्रारभ्यते । अहो इति संबोधने । भो भव्याः । भुवने संसारे । सर्वं वस्तु । नश्वरं विनश्वरम् । मत्वा ज्ञात्वा । महत्या धिया गरिष्ठबुद्धया । सदा धर्मः सेव्यताम् । किंलक्षणो धर्मः । निर्धूता स्फेटिता अखिलदुःखसंततिः येन सः ॥ ९ ॥ यस्य भविनः जीवस्य । पूर्वोपार्जितकर्मणा । यदा यस्मिन्समये । अवसानम् अन्तः नाशः । विलिखितम् । तस्य भविनः जीवस्य ।

होनेके लिये होता है उसी प्रकार निश्चयसे समस्त प्राणियोंका यह शरीर भी नष्ट होनेके लिये उत्पन्न होता है । फिर कालको पाकर अपने किसी बन्धु आदिका भी मरण होनेपर कौन-सा बुद्धिमान् पुरुष उसके लिये शोक करता है ? अर्थात् उसके लिये कोई भी बुद्धिमान् शोक नहीं करता ॥ विशेषार्थ–जिस प्रकार सूर्यका उदय अस्तका अविनाभावी है उसी प्रकार शरीरकी उत्पत्ति भी विनाशकी अविनाभाविनी है । ऐसी स्थितिमें उस विनश्वर शरीरके नष्ट होनेपर उसके विषयमें शोक करना विवेकहीनताका द्योतक है ॥ ७ ॥ जिस प्रकार वृक्षोंमें पत्र, पुष्प एवं फल उत्पन्न होते हैं और वे समयानुसार निश्चयसे गिरते भी हैं, उसी प्रकार कुलों (कुटुम्ब) में जो पुरुष उत्पन्न होते हैं वे मरते भी हैं । फिर बुद्धिमान् मनुष्योंको उनके उत्पन्न होनेपर हर्ष और मरनेपर शोक क्यों होना चाहिये ? नहीं होना चाहिये ॥ ८ ॥ दुर्निवार दैवके प्रभावसे किसी प्रिय मनुष्यका मरण हो जानेपर जो यहां शोक किया जाता है वह अंधेरेमें नृत्य प्रारम्भ करनेके समान है । संसारमें सभी वस्तुएं नष्ट होनेवाली हैं, ऐसा उत्तम बुद्धिके द्वारा जानकर समस्त दुःखोंकी परम्पराको नष्ट करनेवाले धर्मका सदा आराधन करो ॥ विशेषार्थ–जिस प्रकार अन्धकारमें नृत्यका प्रारम्भ करना निष्फल है उसी प्रकार किसी प्रियजनका वियोग हो जानेपर उसके लिये शोक करना भी निष्फल ही है । कारण कि संसारके सब ही पदार्थ स्वभावसे नष्ट होनेवाले हैं, ऐसा विवेकबुद्धिसे निश्चित है । अत एव जो धर्म समस्त दुःखोंको नष्ट करके अनन्त सुख (मोक्ष) को प्राप्त करानेवाला है उसीका आराधन करना चाहिये ॥ ९ ॥ पूर्वमें कमाये गये कर्मके द्वारा जिस प्राणीका अन्त जिस समय लिखा गया है उसका उसी समयमें अन्त होता है, यह निश्चित जानकर किसी प्रिय मनुष्यका मरण हो जानेपर भी शोकको छोड़ो और विनयपूर्वक सुखदायक धर्मका आराधन करो । ठीक है– जब सर्प दूर चला जाता है

263) ये मूर्खा भुवि ते ऽपि दुःखहतये व्यापारमातन्वते
सा माभूदथवा स्वकर्मवशतस्तस्मान्न ते तादृशाः ।
मूर्खान् मूर्खशिरोमणीन् ननु वयं तानेव मन्यामहे
ये कुर्वन्ति शुचं मृते सति निजे पापाय दुःखाय च ॥ ११ ॥

264) किं जानासि न किं शृणोषि न न किं प्रत्यक्षमेवेक्षसे
निःशेषं जगदिन्द्रजालसदृशं रम्भेव सारोज्झितम् ।
किं शोकं कुरुषे ऽत्र मानुषपशो लोकान्तरस्थे निजे
तत्किंचित्कुरु येन नित्यपरमानन्दास्पदं गच्छसि ॥ १२ ॥

तत् अवसानं विनाशः । तदा तस्मिन्समये । जायते उत्पद्यते । तदेतद्ध्रुवं निश्चितम् । ज्ञात्वा । प्रियेऽपि मृते । शोकम् । मुञ्च त्यज । आदरात् सुखदं धर्मं कुरुष्व । भो भव्याः । सर्पे । दूरम् उपागते सति । तस्य सर्पस्य । घृष्टिः लीहा । आहन्यते यष्टिभिः पीड्यते । इति किम् । इति मूर्खत्वम् ॥१०॥ भुवि भूमण्डले । ते[1] अपि मूर्खाः । ये शठाः दुःखहतये दुःखविनाशाय । व्यापारम् आतन्वते विस्तारयन्ति । तस्मात्स्वकर्मवशतः । सा दुःखहतिः । मा अभूत् । अथवा ते मूर्खाः तादृशाः । ननु इति वितर्के । वयं तान् एव मूर्खान् मूर्खशिरोमणीन् मन्यामहे ये शुचं शोकं कुर्वन्ति । क्व सति । निजे इष्टे । मृते सति । तत् शोकं पापाय । च पुनः । दुःखाय भवति ॥ ११ ॥ भो मानुषपशो । निःशेषं जगत् इन्द्रजालसदृशम् । रम्भा इव कदलीगर्भवत् । सारोज्झितम् । किं न जानासि । किं न शृणोषि । प्रत्यक्षं किं न ईक्षसे । अत्र संसारे । निजे इष्टे । लोकान्तरस्थे मृते सति ।

तब उसकी रेखाको कौन-सा बुद्धिमान् पुरुष लाठी आदिके द्वारा ताड़न करता है ? अर्थात् कोई भी बुद्धिमान् वैसा नहीं करता है ॥१०॥ इस पृथिवीपर जो मूर्ख जन हैं वे भी दुःखको नष्ट करनेके लिये प्रयत्न करते हैं। फिर यदि अपने कर्मके प्रभावसे वह दुःखका विनाश न भी हो तो भी वे वैसे मूर्ख नहीं हैं । हम तो उन्हीं मूर्खोंको मूर्खोंमें श्रेष्ठ अर्थात् अतिशय मूर्ख मानते हैं जो किसी इष्ट जनका मरण होनेपर पाप और दुःखके निमित्तभूत शोकको करते हैं ॥ विशेषार्थ– लोकमें जो प्राणी मूर्ख समझे जाते हैं वे भी दुःखको दूर करनेका प्रयत्न करते हैं । यदि कदाचित् दैववशात् उन्हें अपने इस प्रयत्नमें सफलता न भी मिले तो भी उन्हें इतना अधिक जड़ नहीं समझा जाता । किन्तु जो पुरुष किसी इष्ट जनका वियोग हो जानेपर शोक करते हैं उन्हें मूर्ख ही नहीं बल्कि मूर्खशिरोमणि (अतिशय जड़) समझा जाता है । कारण यह कि मूर्ख समझे जानेवाले वे प्राणी तो आये हुए दुःखको दूर करनेके लिये ही कुछ न कुछ प्रयत्न करते हैं, किन्तु ये मूर्खशिरोमणि इष्टवियोगमें शोकाकुल होकर और नवीन दुःखको भी उत्पन्न करनेका प्रयत्न करते हैं । इसका भी कारण यह है कि उस शोकसे "दुःख-शोक-तापाक्रन्दन-वध-परिदेवनान्यात्म-परोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य" इस सूत्र (त. सू. ६–११) के अनुसार असातावेदनीय कर्मका ही बन्ध होता है, जिससे कि भविष्यमें भी उन्हें उस दुःखकी प्राप्ति अनिवार्य हो जाती है ॥ ११ ॥ हे अज्ञानी मनुष्य ! यह समस्त जगत् इन्द्रजालके सदृश विनश्वर और केलेके स्तम्भके समान निस्सार है; इस बातको तुम क्या नहीं जानते हो, क्या आगममें नहीं सुनते हो, और क्या प्रत्यक्षमें ही नहीं देखते हो ? अर्थात् अवश्य ही तुम इसे जानते हो, सुनते हो और प्रत्यक्षमें भी देखते हो । फिर भला यहां अपने किसी सम्बन्धी जनके मरणको प्राप्त होनेपर क्यों शोक करते हो ? अर्थात् शोकको छोड़कर ऐसा कुछ प्रयत्न करो जिससे कि शाश्वतिक उत्तम सुखके स्थानभूत मोक्षको प्राप्त हो सको ॥ १२ ॥

---

१ श भूमण्डले अपि ।

265) जातो जनो म्रियत एव दिने च मृत्योः प्राप्ते पुनस्त्रिभुवने ऽपि न रक्षको ऽस्ति ।
तद्यो मृते सति निजे ऽपि शुचं करोति पूत्कृत्य रोदिति वने विजने स मूढः ॥ १३ ॥

266) इष्टक्षयो यदिह ते यदनिष्टयोगः पापेन तद्भवति जीव पुराकृतेन ।
शोकं करोषि किमु तस्य कुरु प्रणाशं पापस्य तौ न भवतः पुरतो ऽपि येन ॥ १४ ॥

267) नष्टे वस्तुनि शोभने ऽपि हि तदा शोकः समारभ्यते
तल्लाभो ऽथ यशो ऽथ सौख्यमथ वा धर्मो ऽथ वा स्याद्यदि ।
यद्येको ऽपि न जायते कथमपि स्फारैः प्रयत्नैरपि
प्रायस्तत्र सुधीर्मुधा भवति कः शोकोग्ररक्षोवशः ॥ १५ ॥

268) एकद्रुमे निशि वसन्ति यथा शकुन्ताः प्रातः प्रयान्ति सहसा सकलासु दिक्षु ।
स्थित्वा कुले बत तथान्यकुलानि मृत्वा लोकाः श्रयन्ति विदुषा खलु शोच्यते कः ॥१६॥

शोकं किं कुरुषे । तत्किंचित्स्वकार्यं कुरु । येन कार्येण । नित्यपरमानन्द-आस्पदं स्थानं गच्छसि ॥ १२ ॥ जातः उत्पन्नः । जनः नरः । च पुनः । मृत्योः दिने प्राप्ते सति । म्रियते । एव निश्चयेन । पुनः त्रिभुवने कोऽपि रक्षकः न अस्ति । तत्तस्मात्कारणात् यः जनः । निजेऽपि इष्टे मृते सति । शुचं करोति शोकं करोति । स मूढः । विजने जनरहिते । वने पूत्कृत्य रोदिति ॥ १३ ॥ भो जीव । इह संसारे । यत् अनिष्टयोगः अनिष्टसंगः । यत् इष्टक्षयः इष्टविनाशः । तत्पापेन भवति पुराकृतेन पापेन भवति । भो जीव । शोकं किमु करोषि । तस्य पापस्य प्रणाशं कुरु । येन पापप्रणाशेन । पुरतः अग्रतः । तौ द्वौ अनिष्टसंयोग-इष्टवियोगौ । न भवतः ॥ १४ ॥ हि यतः । शोभने अपि वस्तुनि नष्टे सति तदा शोकः समारभ्यते । यदि चेत् । तल्लाभः तस्य वस्तुनः लाभः भवेत् । अथ यशः भवेत् । अथवा सौख्यं भवेत् । अथवा धर्मः भवेत् । यदि तत्र चतुर्णां मध्ये एकः अपि कथमपि । स्फारैः विस्तीर्णैः । प्रयत्नैः कृत्वा । प्रायः बाहुल्येन । न जायते एकः अपि न उत्पद्यते । तदा कः सुधीः ज्ञानवान् । मुधा शोकराक्षसवशः भवति । अपि तु न भवति ॥ १५ ॥ यथा शकुन्ताः पक्षिणः । निशि रात्रौ । एकद्रुमे वसन्ति । प्रातः सुप्रभाते । सहसा सकलासु दिक्षु । प्रयान्ति गच्छन्ति । बत इति खेदे । तथा लोकाः । अन्यकुले स्थित्वा । मृत्वा अन्यकुलानि

जो जन उत्पन्न हुआ है वह मृत्युके दिनके प्राप्त होनेपर मरता ही है, उस समय उसकी रक्षा करनेवाला तीनों लोकोंमें कोई भी नहीं है । इस कारण जो अपने किसी इष्ट जनके मरणको प्राप्त होनेपर शोक करता है वह मूर्ख निर्जन वनमें चिल्ला करके रोता है । अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार जनशून्य वनमें रुदन करनेवालेके रोनेसे कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है उसी प्रकार किसी इष्ट-जनके मरणको प्राप्त होनेपर उसके लिये शोक करनेवालेके भी कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, बल्कि उससे दुःखदायक नवीन कर्मोंका ही बन्ध होता है ॥१३॥ हे जीव ! यहां जो तेरे लिये इष्टका वियोग और अनिष्टका संयोग होता है वह तेरे पूर्वकृत पापके उदयसे होता है । इसलिये तू शोक क्यों करता है ? उस पापके ही नाश करनेका प्रयत्न कर जिससे कि आगे भी वे दोनों (इष्टवियोग और अनिष्टसंयोग) न हो सकें ॥१४॥ मनोहर वस्तुके नष्ट हो जानेपर यदि शोक करनेसे उसका लाभ होता हो, कीर्ति होती हो, सुख होता हो, अथवा धर्म होता हो; तब तो शोकका प्रारम्भ करना ठीक है । परन्तु जब अनेक प्रयत्नोंके द्वारा भी उन चारोंमेंसे प्रायः कोई एक भी नहीं उत्पन्न होता है तब भला कौन-सा बुद्धिमान् मनुष्य व्यर्थमें उस शोकरूपी महाराक्षसके अधीन होगा ? अर्थात् कोई नहीं ॥ १५ ॥ जिस प्रकार पक्षी रात्रिमें किसी एक वृक्षके ऊपर निवास करते हैं और फिर सबेरा हो जानेपर वे सहसा सब दिशाओंमें चले जाते हैं खेद है कि उसी प्रकार मनुष्य भी किसी एक कुलमें स्थित रहकर पश्चात् मृत्युको प्राप्त होते हुए अन्य कुलोंका आश्रय करते हैं । इसीलिये

१ श स्थित्वा अन्यकुलानि ।

269) दुःखव्यालसमाकुलं भववनं जाड्यान्धकाराश्रितं
तस्मिन् दुर्गतिपल्लिपातिकुपथैर्भ्राम्यन्ति सर्वे ऽङ्गिनः ।
तन्मध्ये गुरुवाक्प्रदीपममलं ज्ञानप्रभाभासुरं
प्राप्यालोक्य च सत्पथं सुखपदं याति प्रबुद्धो ध्रुवम् ॥ १७ ॥

270) यैव स्वकर्मकृतकालकलात्र जन्तुस्तत्रैव याति मरणं न पुरो न पश्चात् ।
मूढास्तथापि हि मृते स्वजने विधाय शोकं परं प्रचुरदुःखभुजो भवन्ति ॥ १८ ॥

271) वृक्षाद्वृक्षमिवाण्डजा मधुलिहः पुष्पाच्च पुष्पं यथा
जीवा यान्ति भवाद्भवान्तरमिहाश्रान्तं तथा संसृतौ ।
तज्जाते ऽथ मृते ऽथ वा न हि मुदं शोकं न कस्मिन्नपि
प्रायः प्रारभते ऽधिगम्य मतिमानस्थैर्यमित्यङ्गिनाम् ॥ १९ ॥

आश्रयन्ति । खलु निश्चितम् । विदुषा पण्डितेन । कस्य कृते कारणाय शोच्यते । अपि तु न शोच्यते ॥ १६ ॥ भववनं संसारवनम् । दुःखव्याला हस्तिनः तैः समाकुलं भरितम् । पुनः किंलक्षणं भववनम् । जाड्यान्धकार–मूर्खतान्धकार–आश्रितम् । तस्मिन्भववने संसारवने । दुर्गतिपल्लिपातिकुपथैः दुर्गतिभिल्लवसतिकागमनशीलकुमार्गैः । सर्वे अङ्गिनः जीवाः । भ्राम्यन्ति । तन्मध्ये संसारवनमध्ये । गुरुवाक् गुरुवचनैप्रदीपं प्राप्य । च पुनः । सत्पथम् । आलोक्य दृष्ट्वा । प्रबुद्धः ज्ञानवान् । सुखपदं मोक्षपदम् । याति गच्छति । किंलक्षणं गुरुवचनम् । अमलं निर्मलम् । ज्ञानप्रभाभासुरं प्रकाशमानम् ॥ १७ ॥ अत्र संसारे । या स्वकर्मकृतकालकला स्वकर्मोपार्जितकालकला मरणवेला । अस्ति । तत्रैव वेलायाम् । जन्तुः जीवः । मरणं याति गच्छति । न पुरो न अग्रे । न पश्चात् । हि यतः । मूढाः जनाः । तथापि स्वजने इष्टे । मृते सति । परं केवलम् । शोकं विधाय कृत्वा । प्रचुरदुःखभोक्तारः भवन्ति ॥ १८ ॥ इह संसारे । जीवाः यथा[3] । अश्रान्तं निरन्तरम् । भवात् भवान्तरं यान्ति । पर्यायात् पर्यायान्तरं गच्छन्ति । तत्र दृष्टान्तमाह । यथा अण्डजाः पक्षिणः । वृक्षाद्वृक्षं यान्ति । यथा मधुलिहः भृङ्गाः । पुष्पात् अन्यत्पुष्पं

विद्वान् मनुष्य इसके लिये कुछ भी शोक नहीं करता ॥१६॥ जो संसाररूपी वन दुःखोंरूप सर्पोंसे व्याप्त एवं अज्ञानरूपी अन्धकारसे परिपूर्ण है उसमें सब प्राणी दुर्गतिरूप भीलोंकी वस्तीकी ओर जानेवाले खोटे मार्गोंसे परिभ्रमण करते हैं । उस (संसार-वन) के बीचमें विवेकी पुरुष ज्ञानरूपी ज्योतिसे देदीप्यमान निर्मल गुरुके वचन (उपदेश) रूप दीपकको पाकर और उससे समीचीन मार्गको देखकर निश्चयसे सुखके स्थानभूत मोक्षको प्राप्त कर लेता है ॥ विशेषार्थ–जिस प्रकार कोई पथिक सर्पोंसे भरे हुए अन्धकारयुक्त वनमें भूलकर खोटे मार्गसे भीलोंकी वस्तीमें जा पहुंचता है और कष्ट सहता है । यदि उसे उक्त वनमें किसी प्रकारसे दीपक प्राप्त हो जाता है तो वह उसके सहारेसे योग्य मार्गको खोजकर उसके द्वारा अभीष्ट स्थानमें पहुंच जाता है । ठीक उसी प्रकारसे यह संसारी प्राणी भी दुःखोंसे परिपूर्ण इस अज्ञानमय संसारमें मिथ्यादर्शनादिके वशीभूत होकर नरकादि दुर्गतियोंमें पहुंचता है और वहां अनेक प्रकारके कष्टोंको सहता है । उसे जब निर्मल सद्गुरुका उपदेश प्राप्त होता है तब वह उससे प्रबुद्ध होकर मोक्षमार्गका आश्रय लेता है और उसके द्वारा मुक्तिपुरीमें जा पहुंचता है ॥ १७ ॥ इस संसारमें अपने कर्मके द्वारा जो मरणका समय नियमित किया गया है उसी समयमें ही प्राणी मरणको प्राप्त होता है, वह उससे न तो पहिले मरता है और न पीछे भी । फिर भी मूर्खजन अपने किसी सम्बन्धीके मरणको प्राप्त होनेपर अतिशय शोक करके बहुत दुःखके भोगनेवाले होते हैं ॥ १८ ॥ जिस प्रकार पक्षी एक वृक्षसे दूसरे वृक्षके ऊपर तथा भ्रमर एक पुष्पसे दूसरे पुष्पके ऊपर जाते हैं उसी प्रकारसे यहां संसारमें जीव निरन्तर एक पर्यायसे दूसरी पर्यायमें

१ क भववने दुर्गति । २ क गुरुवचनं । ३ क तथा ।

272) भ्राम्यन् कालमनन्तमत्र जनने प्राप्नोति जीवो न वा
मानुष्यं यदि दुष्कुले तदघतः प्राप्तं पुनर्नश्यति ।
सज्जातावथ तत्र याति विलयं गर्भे ऽपि जन्मन्यपि
द्राग्बाल्ये[1] ऽपि ततो ऽपि नो वृष इति प्राप्ते प्रयत्नो वरः ॥ २० ॥

273) स्थिरं सदपि सर्वदा भृशमुदेत्यवस्थान्तरैः
प्रतिक्षणमिदं जगज्जलदकूटवन्नश्यति ।
तदत्र भवमाश्रिते मृतिमुपागते वा जने
प्रिये ऽपि किमहो मुदा किमु शुचा प्रबुद्धात्मनः ॥ २१ ॥

274) लङ्घ्यन्ते जलराशयः शिखरिणो देशास्तटिन्यो जनैः
सा वेला तु मृतेर्नृपक्ष्मचलनस्तोकापि देवैरपि ।
तत्कस्मिन्नपि संस्थिते सुखकरं श्रेयो विहाय ध्रुवं
कः सर्वत्र दुरन्तदुःखजनकं शोकं विदध्यात् सुधीः ॥ २२ ॥

यान्ति । तथा जीवा इत्यर्थः । तत्तस्मात्कारणात् । मतिमान् ज्ञानवान् भव्यः । इति अमुना प्रकारेण । अङ्गिनां जीवानाम् । अस्थैर्यं विनश्वरत्वम् । अधिगम्य ज्ञात्वा । कस्मिन् इष्टे । जाते सति उत्पन्ने सति । मुदं न प्रारभते हर्षं न कुरुते । अथवा कस्मिन्निष्टे । मृते सति । शोकं न प्रारभते । प्रायः बाहुल्येन । शोकं न कुरुते ॥ १९ ॥ अत्र जनने संसारे । अनन्तकालं भ्राम्यन् जीवः । मानुष्यं मनुष्यपदम् । प्राप्नोति वा न प्राप्नोति । यदि चेत् । दुष्कुले निन्द्यकुले । तत् नरत्वं प्राप्तम् । अघतः पापतः । पुनः तन्नरत्वम् । नश्यति । अथ । सज्जातौ समीचीनकुले प्राप्तेऽपि । तत्र सत्कुले । विलयं विनाशम् । याति । ततः कारणात् । वृषे धर्मे प्राप्ते सति । इति । वरः श्रेष्ठः । प्रयत्नः नो क्रियते । अपि धर्मे यत्नः क्रियते ॥ २० ॥ इदं जगत् । सर्वदा काले । स्थिरं शाश्वतम् । सत् सत्तारूपम् । ध्रौव्यम् । अपि । प्रतिक्षणं समयं समयं प्रति । अवस्थान्तरैः पर्यायान्तरैः । भृशम् अत्यर्थम् । उदेति । पुनः नश्यति । किंवत् । जलदकूटवत् मेघपटलवत् । तत्तस्मात्कारणात् । अत्र संसारे । प्रिये इष्टे जने । भवम् आश्रिते जन्म प्राप्ते सति । प्रबुद्धात्मनः । मुदा हर्षेण किम् । न किमपि । वा प्रिये इष्टे जने । मृतिं मरणम् । उपागते सति । अहो इति संबोधने । प्रबुद्धात्मनः ज्ञानयुक्तपुरुषस्य । शुचा किमु । शोकेन किम् । न किमपि ॥ २१ ॥ जनैः लोकैः । जलराशयः समुद्राः । लङ्घ्यन्ते । शिखरिणः पर्वताः । लङ्घ्यन्ते । जनैः देशाः लङ्घ्यन्ते । जनैः तटिन्यः नद्यः लङ्घ्यन्ते । तु पुनः ।

जाते हैं । इसीलिये बुद्धिमान् मनुष्य उपर्युक्त प्रकारसे प्राणियोंकी अस्थिरताको जानकर प्रायः करके किसी इष्ट सम्बन्धीके जन्म लेनेपर हर्षको प्राप्त नहीं होता तथा उसके मरनेपर शोकको भी नहीं प्राप्त होता है ॥ १९ ॥ इस जन्म-मरणरूप संसारमें अनन्त कालसे परिभ्रमण करनेवाला जीव मनुष्य पर्यायको प्राप्त करता है अथवा नहीं भी, अर्थात् उसे वह मनुष्य पर्याय बड़ी कठिनतासे प्राप्त होती है । यदि कदाचित् वह मनुष्यभवको प्राप्त भी कर लेता है तो भी नीच कुलमें उत्पन्न होनेसे उसका वह मनुष्यभव पापाचरणपूर्वक ही नष्ट हो जाता है । यदि किसी प्रकारसे उत्तम कुलमें भी उत्पन्न हुआ तो भी वहां वह या तो गर्भमें ही मर जाता है या जन्म लेते समय मर जाता है, अथवा बाल्यावस्थामें भी शीघ्र मरणको प्राप्त हो जाता है । इसलिये भी धर्मकी प्राप्ति नहीं हो पाती । फिर यदि आयुष्यकी अधिकतामें वह धर्म प्राप्त हो जाता है तो उसके विषयमें उत्कृष्ट प्रयत्न करना चाहिये ॥ २० ॥ यह जगत् द्रव्यकी अपेक्षा स्थिर (ध्रुव) होकर भी पर्यायकी अपेक्षा प्रत्येक क्षणमें मेघपटलके समान अन्यान्य अवस्थाओंसे उत्पन्न भी होता है और नष्ट भी अवश्य होता है । इस कारण यहां ज्ञानी जनको किसी प्रिय जनके उत्पन्न होनेपर हर्ष और उसके मरणको प्राप्त होनेपर शोक क्यों होना चाहिये ? । अर्थात् नहीं होना चाहिये ॥ २१ ॥ मनुष्य समुद्रों, पर्वतों, देशों और नदियोंको लांघ सकते हैं; किन्तु मृत्युके निश्चित समयको देव भी निमेष

१ क प्राग्बाल्ये । २ श ज्ञात्वा इष्टे ।

275) आक्रन्दं कुरुते यदत्र जनता नष्टे निजे मानुषे
जाते यच्च मुदं तदुन्नतधियो जल्पन्ति वातूलताम् ।
यज्जाड्यात्कृतदुष्टचेष्टितभवत्कर्मप्रबन्धोदयात्
मृत्यूत्पत्तिपरम्परामयमिदं सर्वं जगत्सर्वदा ॥ २३ ॥

276) गुर्वी भ्रान्तिरियं जडत्वमथ वा लोकस्य यस्माद्वसन्
संसारे बहुदुःखजालजटिले शोकीभवत्यापदि ।
भूतप्रेतपिशाचफेरवचितापूर्णे श्मशाने गृहं
कः कृत्वा भयदादमङ्गलकृते भावाद्भवेच्छङ्कितः ॥ २४ ॥

277) भ्रमति नभसि चन्द्रः संसृतौ शश्वदङ्गी लभत उदयमस्तं पूर्णतां हीनतां च ।
कलुषितहृदयः सन् याति राशिं च राशेस्तनुमिह तनुतस्तत्कात्र मुत्कश्च शोकः ॥२५॥

मृतेः मरणस्य । सा वेला देवैरपि । नृपक्ष्मचलनस्तोका अपि मनुष्यनेत्रपलकसदृशापि । न लङ्घ्यते । तत्तस्मात्कारणात् । कस्मिन् इष्टे । संस्थिते सति मृते सति । सुखकरम् । श्रेयः पुण्यम् । विहाय त्यक्त्वा । कः सुधीः ज्ञानवान् । शोकं विदध्यात् शोकं कुर्यात् । किंलक्षणं शोकम् । सर्वत्र सदैव दुरन्तदुःखजनकम् उत्पादकम् ॥ २२ ॥ अत्र संसारे । जनता जनसमूहः । निजे मानुषे नष्टे सति मृते सति यत् आक्रन्दं रोदनम्[1] । कुरुते । च पुनः । निजे इष्टे जाते सति उत्पन्ने सति । मुदं हर्षम् । कुरुते । तत् । उन्नतधियः गणधरदेवाः । वातूलताम् । जल्पन्ति कथयन्ति । यत् यतः । इदं सर्वं जगत् । सर्वदा सदैव । जाड्यात्कृतदुष्टचेष्टितभवत्कर्मप्रबन्धोदयात् उपार्जितकर्मविपाकात् । मृत्यूत्पत्तिपरम्परामयं सर्वं जगत् इत्यर्थः[2] ॥ २३ ॥ लोकस्य इयं गुर्वी भ्रान्तिः गुरुतरभ्रमः । अथवा जडत्वं यस्मात् संसारे । वसन् तिष्ठन् सन् । आपदि सत्याम् । शोकीभवति शोकं करोति । किंलक्षणे संसारे । बहुदुःखजालजटिले बहुलदुःखपूर्णे । श्मशाने गृहं कृत्वा । भयदात् भावात् पदार्थात् । कः पुमान् शङ्कितः भवेत् । किंलक्षणे श्मशाने । भूतप्रेतपिशाचफेरवफेत्कारशब्दचितापूर्णे । पुनः किंलक्षणे श्मशाने । अमङ्गल-कृते अमङ्गलस्वरूपे ॥ २४ ॥ यथा चन्द्रः शश्वत् । नभसि आकाशे । भ्रमति । तथा संसृतौ संसारे । अङ्गी जीवः । भ्रमति । च

(पलककी टिमकार) के बराबर थोड़ा-सा भी नहीं लांघ सकते । इस कारण किसी भी इष्ट जनके मरणको प्राप्त होनेपर कौन-सा बुद्धिमान् मनुष्य सुखदायक कल्याणमार्गको छोड़कर सर्वत्र अपार दुःखको उत्पन्न करनेवाले शोकको करता है ? अर्थात् कोई भी बुद्धिमान् शोकको नहीं करता ॥ २२ ॥ संसारमें जनसमुदाय अपने किसी सम्बन्धी मनुष्यके मरणको प्राप्त होनेपर जो विलापपूर्वक चिल्लाकर रुदन करता है तथा उसके उत्पन्न होनेपर जो हर्ष करता है उसे उन्नत बुद्धिके धारक गणधर आदि पागलपन बतलाते हैं । कारण कि मूर्खतावश जो दुष्प्रवृत्तियां की गई हैं उनसे होनेवाले कर्मके प्रकृष्ट बन्ध व उसके उदयसे सदा यह सब जगत् मृत्यु और उत्पत्तिकी परम्परास्वरूप है ॥ २३ ॥ बहुत दुःखोंके समूहसे परिपूर्ण ऐसे संसारमें रहनेवाला मनुष्य आपत्तिके आनेपर जो शोकाकुल होता है यह उसकी बड़ी भारी भ्रान्ति अथवा अज्ञानता है । ठीक है—जो व्यक्ति भूत, प्रेत, पिशाच, शृगाल और चिताओंसे भरे हुए ऐसे अमंगलकारक श्मशानमें मकानको बनाकर रहता है वह क्या भयको उत्पन्न करनेवाले पदार्थ से कभी शंकित होगा ? अर्थात् नहीं होगा ॥ विशेषार्थ—जिस प्रकार भूत-प्रेतादिसे व्याप्त श्मशानमें घर बनाकर रहनेवाला व्यक्ति कभी अन्य पदार्थसे भयभीत नहीं होता, उसी प्रकार अनेक दुःखोंसे परिपूर्ण इस जन्म-मरणरूप संसारमें परिभ्रमण करनेवाले जीवको भी किसी इष्टवियोगादिरूप आपत्तिके प्राप्त होनेपर व्याकुल नहीं होना चाहिये । फिर यदि ऐसी आपत्तियोंके आनेपर प्राणी शोकादिसे संतप्त होता है तो इसमें उसकी अज्ञानता ही कारण है, क्योंकि, जब संसार स्वभावसे ही दुःखमय है तब आपत्तियोंका आना जाना तो रहेगा ही । फिर उसमें रहते हुए भला हर्ष और विषाद करनेसे कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा ? ॥ २४ ॥ जिस प्रकार चन्द्रमा

१ श क रुदनं । २ क 'इत्यर्थः' नास्ति ।

278) तडिदिव चलमेतत्पुत्रदारादि सर्वं किमिति तदभिघाते खिद्यते बुद्धिमद्भिः ।
स्थितिजननविनाशं नोष्णतेवानलस्य व्यभिचरति कदाचित्सर्वभावेषु नूनम् ॥ २६ ॥

279) प्रियजनमृतिशोकः सेव्यमानो ऽतिमात्रं जनयति तदसातं कर्म यच्चाग्रतो ऽपि ।
प्रसरति शतशाखं देहिनि क्षेत्र उप्तं वट इव तनुबीजं त्यज्यतां स प्रयत्नात् ॥ २७ ॥

280) आयुःक्षतिः प्रतिक्षणमेतन्मुखमन्तकस्य तत्र गताः ।
सर्वे जनाः किमेकः शोचयत्यन्यं मृतं मूढः ॥ २८ ॥

पुनः । यथा चन्द्रः उदयम् अस्तं पूर्णतां हीनतां लभते । तथा प्राणी उदयम् अस्तं पूर्णतां हीनतां लभते । च पुनः । यथा चन्द्रः कलुषितहृदयः सन् । राशेः सकाशात् राशिं याति । इह संसारे । तथा प्राणी । तनुतः शरीरात् । तनुं शरीरम् । याति । तत्तस्मात् । अत्र संसारे । मुत् का हर्षः कः । च पुनः । शोकः कः । न च शोको न च हर्षः ॥ २५ ॥ भो भव्याः । एतत्पुत्र-दारादि सर्वम् । तडिदिव चलं विद्युत् इव चपलम् । इति ज्ञात्वा । तदभिघाते तत्पुत्रादिकं अभिघाते सति मृते सति । बुद्धिमद्भिः किं खिद्यते । अपि तु न खिद्यते । नूनं निश्चितम् । सर्वभावेषु पदार्थेषु षट्द्रव्येषु । स्थितिजननविनाशं कदाचित् नो व्यभिचरति । यथा अनलस्य अग्नेः । उष्णता न व्यभिचरति अग्नेः उष्णता न दूरीभवति ॥ २६ ॥ प्रियजनमृतिशोकः । अतिमात्रम् अतिशयेन । सेव्यमानः । तत् अत्र असातं कर्म जनयति पापकर्म उत्पादयति । च पुनः । यत्कर्म । अग्रतः अग्रे । देहिनि जीवे । शतशाखं प्रसरति । यथा वटबीजं तनुरपि लघुरपि बीजम् । क्षेत्रे उप्तं वपितम् । शतशाखं प्रसरति । इति मत्वा स शोकः । प्रयत्नात् त्यज्यताम् ॥ २७ ॥ आयुःक्षतिः आयुर्विनाशः । प्रतिक्षणं समयं समयं प्रति । एतत् अन्तकस्य यमस्य मुखम् ।

आकाशमें निरन्तर चक्कर लगाता रहता है उसी प्रकार यह प्राणी सदा संसारमें परिभ्रमण करता रहता है; जिस प्रकार चन्द्रमा उदय, अस्त एवं कलाओंकी हानि-वृद्धिको प्राप्त हुआ करता है उसी प्रकार संसारी प्राणी भी जन्म, मरण एवं सम्पत्तिकी हानि-वृद्धिको प्राप्त हुआ करता है; जिस प्रकार चन्द्रमा तथा मध्यमें कलुषित (काला) रहता है उसी प्रकार संसारी प्राणीका हृदय भी पापसे कलुषित रहता है, तथा जिस प्रकार चन्द्रमा एक राशि (मीन-मेष आदि) से दूसरी राशिको प्राप्त होता है उसी प्रकार संसारी प्राणी भी एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरको ग्रहण किया करता है। ऐसी अवस्थाके होनेपर सम्पत्ति और विपत्तिकी प्राप्तिमें प्राणीको हर्ष और विषाद क्यों होना चाहिये? अर्थात् नहीं होना चाहिये ॥२५॥ ये सब पुत्र एवं स्त्री आदि पदार्थ जब बिजलीके समान चंचल अर्थात् क्षणिक हैं तब फिर उनका विनाश होनेपर बुद्धिमान् मनुष्य खेदखिन्न क्यों होते हैं? अर्थात् उनके नश्वर स्वभावको जानकर उन्हें खेदखिन्न नहीं होना चाहिये। जिस प्रकार उष्णता अग्निका व्यभिचार नहीं करती, अर्थात् वह सदा अग्निके होनेपर रहती है और उसके अभावमें कभी भी नहीं रहती है; ठीक उसी प्रकारसे स्थिति (ध्रौव्य), उत्पाद और व्यय भी निश्चयसे पदार्थोंके होनेपर अवश्य होते हैं और उनके अभावमें कभी भी नहीं होते हैं ॥ २६ ॥ प्रियजनके मरनेपर जो शोक किया जाता है वह तीव्र असातावेदनीय कर्मको उत्पन्न करता है जो आगे (भविष्यमें) भी विस्तारको प्राप्त होकर प्राणीके लिये सैकड़ों प्रकारसे दुःख देता है। जैसे—योग्य भूमिमें बोया गया छोटा-सा भी वटका बीज सैकड़ों शाखाओंसे संयुक्त वटवृक्षके रूपमें विस्तारको प्राप्त होता है। अत एव ऐसे अहितकर उस शोकको प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिये ॥२७॥ प्रत्येक क्षणमें जो आयुकी हानि हो रही है, यह यमराजका मुख है। उसमें (यमराजके मुखमें) सब ही प्राणी पहुंचते हैं, अर्थात् सभी प्राणियोंका मरण अनिवार्य है। फिर एक प्राणी दूसरे प्राणीके मरनेपर शोक क्यों करता है? अर्थात् जब सभी संसारी प्राणियोंका मरण

281) **यो नात्र गोचरं मृत्योर्गतो याति न यास्यति ।**
स हि शोकं मृते कुर्वन् शोभते नेतरः पुमान् ॥ २९ ॥

282) **प्रथममुदयमुच्चैर्दूरमारोहलक्ष्मीमनुभवति च पातं सो ऽपि देवो दिनेशः ।**
यदि किल दिनमध्ये तत्र केषां नराणां वसति हृदि विषादः सत्स्ववस्थान्तरेषु ॥ ३० ॥

283) **आकाश एव शशिसूर्यमरुत्खगाद्याः भूपृष्ठ एव शकटप्रमुखाश्चरन्ति ।**
मीनादयश्च जल एव यमस्तु याति सर्वत्र कुत्र भविनां भवति प्रयत्नः ॥ ३१ ॥

284) **किं देवः किमु देवता किमगदो विद्यास्ति किं किं मणिः**
किं मन्त्रं किमुताश्रयः किमु सुहृत् किं वा स गन्धो ऽस्ति सः ।

तत्र यममुखे । सर्वे जना गताः । एकः मूढः अन्यमृतं किं शोचयति ॥२८॥ अत्र संसारे । यः नरः । मृत्योः यमस्य । गोचरं न गतः । यः पुमान्मृत्योः गोचरं न याति । यः पुमान्मृत्योः गोचरं न यास्यति । हि यतः । स पुमान् । मृते सति । शोकं कुर्वन् सन् शोभते । इतरः यमाधीनः । पुमान् । शोकं कुर्वन् न शोभते ॥२९॥ यत्र संसारे । सोऽपि देवः । दिनेशः सूर्यः । यदि चेत् । किल इति सत्ये । दिनमध्ये एकदिनमध्ये । प्रथमम् । उच्चैः अतिशयेन । उदयम् आरोहलक्ष्मीम् । अनुभवति प्राप्नोति । च पुनः । पातं पतनम् अनुभवति । तत्र संसारे । अवस्थान्तरेषु सत्सु मृतेषु सत्सु । केषां नराणां हृदि विषादः वसति । अपि तु न वसति ॥३०॥ शशिसूर्यमरुत्खगाद्याः । एव निश्चयेन । आकाशे । चरन्ति गच्छन्ति । शकटप्रमुखाः भूपृष्ठे । चरन्ति गच्छन्ति । च पुनः मीनादयः मत्स्यादयः जले चरन्ति गच्छन्ति[1] । तु पुनः । यमः सर्वत्र याति । भविनां जीवानाम् । प्रयत्नः कुत्र भवति । मुक्तिं विना न कुत्रापि ॥३१॥ देवः किम् अस्ति । देवता किमु अस्ति । अगदः वैद्यः ओषधं[2] वा किम् अस्ति । सा विद्या किम् अस्ति । स मणिः किम् अस्ति । स किं मन्त्रम् अस्ति । उत अहो । स आश्रयः किम् अस्ति । स सुहृत् किम् अस्ति । वा स गन्धः किम् अस्ति ।

अवश्यम्भावी है तब एक दूसरेके मरनेपर शोक करना उचित नहीं है ॥ २८ ॥ जो मनुष्य यहां मृत्युकी विषयताको न तो भूतकालमें प्राप्त हुआ है, न वर्तमानमें प्राप्त होता है, और न भविष्यमें भी प्राप्त होगा; अर्थात् जिसका मरण तीनों ही कालोंमें सम्भव नहीं है वह यदि किसी प्रिय जनके मरनेपर शोक करता है तो इसमें उसकी शोभा है। किन्तु जो मनुष्य समयानुसार स्वयं ही मरणको प्राप्त होता है उसका दूसरे किसी प्राणीके मरनेपर शोकाकुल होना अशोभनीय है । अभिप्राय यह कि जब सभी संसारी प्राणी समयानुसार मृत्युको प्राप्त होनेवाले हैं तब एकको दूसरेके मरनेपर शोक करना उचित नहीं है ॥ २९ ॥ जो सूर्यदेव एक ही दिनके भीतर प्रातःकालमें उदयका अनुभव करता है और तत्पश्चात् मध्याह्नमें अतिशय ऊपर चढ़कर लक्ष्मीका अनुभव करता है वह भी जब सायंकालमें निश्चयसे अस्तको प्राप्त होता है तब जन्ममरणादिस्वरूप भिन्न भिन्न अवस्थाओंके होनेपर किन मनुष्योंके हृदयमें विषाद रहता है? अर्थात् ऐसी अवस्थामें किसीको भी विषाद नहीं करना चाहिये ॥ ३० ॥ चन्द्र, सूर्य, वायु और पक्षी आदि आकाशमें ही गमन करते हैं; गाड़ी आदिकोंका आवागमन पृथिवीके ऊपर ही होता है; तथा मत्स्यादिक जलमें ही संचार करते हैं। परन्तु यम (मृत्यु) आकाश, पृथिवी और जलमें सभी स्थानोंपर पहुंचता है । इसीलिये संसारी प्राणियोंका प्रयत्न कहांपर हो सकता है? अर्थात् काल जब सभी संसारी प्राणियोंको कवलित करता है तब उससे बचनेके लिये किया जानेवाला किसी भी प्राणीका प्रयत्न सफल नहीं हो सकता है ॥ ३१ ॥ यहां तीनों लोकोंमें क्या देव, क्या देवता, क्या औषधि, क्या विद्या, क्या मणि, क्या मंत्र, क्या आश्रय, क्या मित्र, क्या वह सुगन्ध, अथवा क्या अन्य राजा आदि भी ऐसे शक्तिशाली हैं जो सब ही अपने

१ श गच्छन्ति चरन्ति तु । २ श औषधं ।

अन्ये वा किमु भूपतिप्रभृतयः सन्त्यत्र लोकत्रये
यैः सर्वैरपि देहिनः स्वसमये कर्मोदितं वार्यते ॥ ३२ ॥

285) गीर्वाणा अणिमादिस्वस्थमनसः शक्ताः किमत्रोच्यते
ध्वस्तास्ते ऽपि परम्परेण स परस्तेभ्यः कियान् राक्षसः ।
रामाख्येन च मानुषेण निहतः प्रोल्लङ्घ्य सो ऽप्यम्बुधिं
रामो ऽप्यन्तकगोचरः समभवत् को ऽन्यो बलीयान् विधेः ॥ ३३ ॥

286) सर्वत्रोद्गतशोकदावदहनव्याप्तं जगत्काननं
मुग्धास्तत्र वधूमृगीगतधियस्तिष्ठन्ति लोकैणकाः ।
कालव्याध इमान् निहन्ति पुरतः प्राप्तान् सदा निर्दयः
तस्माज्जीवति नो शिशुर्न च युवा वृद्धो ऽपि नो कश्चन ॥ ३४ ॥

287) संपच्चारुलतः प्रियापरिलसद्वल्लीभिरालिङ्गितः
पुत्रादिप्रियपल्लवो रतिसुखप्रायैः फलैराश्रितः ।

वा अन्ये भूपतिप्रभृतयः किमु सन्ति । अत्र लोके यैः सर्वैरपि । देहिनः जीवस्य । स्वसमये कर्मोदितं वार्यते निवार्यते ॥३२॥ भो भव्याः । गीर्वाणाः देवाः । शक्ताः समर्थाः सन्ति । अत्र लोके । तेषां देवानां किं बलम् उच्यते । किं कथ्यते । किंलक्षणाः देवाः । अणिमादिस्वस्थमनसः अणिमादिऋद्धियुक्ताः । तेऽपि देवाः । परं केवलम् । परेण शत्रुणा रावणेन । ध्वस्ताः पीडिताः । तेभ्यः देवेभ्यः । स राक्षसः रावणः । कियान् कियन्मात्रम् । स परः रावणः । च पुनः । अम्बुधिं समुद्रं प्रोल्लङ्घ्य रामाख्येन मानुषेण । निहतः मारितः । रामः अपि अन्तकगोचरः यमगोचरः समभवत् संजातः । विधेः कर्मणः सकाशात् अन्यः कः बलीयान् बलिष्ठः । न कोऽपि ॥ ३३ ॥ जगत्काननं संसारवनम् । सर्वत्र उद्गतशोक–उत्पन्नशोक–दावदहनेन व्याप्तम् । तत्र संसारवने । मुग्धाः मूर्खाः । लोकैणकाः लोकमृगाः । वधूमृगीगतधियः स्त्रीमृगीविषये प्राप्तबुद्धयः । कालव्याधः यमव्याधः[2] । यदा इमान् लोकमृगान् । निहन्ति मारयति । किंलक्षणान् लोकमृगान् । पुरतः अग्रे । प्राप्तान् । किंलक्षणः कालव्याधः । सदा निर्दयः दयारहितः । तस्मात् कालव्याधात् । शिशुः बालः । नो जीवति । च पुनः । युवा न जीवति । कश्चन वृद्धोऽपि न जीवति ॥३४॥ संसृतिकानने संसारवने । जनतरुः लोकवृक्षः । जातः उत्पन्नः । किंलक्षणः जनतरुः । संपच्चारुलतः । विभूतिलतायुक्तः । लोके डालिः । पुनः किंलक्षणः जनतरुः । प्रिया–स्त्रीभिः आलिङ्गितः । पुनः किंलक्षणः जनतरुः । पुत्रादिप्रिय-

समयमें उदयको प्राप्त हुए कर्मको रोक सकें ? अर्थात् उदयमें आये हुए कर्मका निवारण करनेके लिये उपर्युक्त देवादिकोंमेंसे कोई भी समर्थ नहीं है ॥ ३२ ॥ यहां अधिक क्या कहा जाय ? अणिमा-महिमा आदि ऋद्धियोंसे स्वस्थ मनवाले जो शक्तिशाली इन्द्रादि देव थे वे भी केवल एक शत्रुके द्वारा नाशको प्राप्त हुए हैं। वह शत्रु भी रावण राक्षस था जो उन इन्द्रादिकी अपेक्षा कुछ भी नहीं था। फिर वह रावण राक्षस भी राम नामक मनुष्यके द्वारा समुद्रको लांघकर मारा गया। अन्तमें वह राम भी यमराजका विषय हो गया अर्थात् उसे भी मृत्युने नहीं छोड़ा। ठीक है– दैवसे अधिक बलशाली और कौन है ? अर्थात् कोई भी नहीं है ॥ ३३ ॥ यह संसाररूपी वन सर्वत्र उत्पन्न हुए शोकरूपी दावानल (जंगलकी आग) से व्याप्त है। उसमें मूढ़ जनरूपी हिरण स्त्रीरूपी हिरणीमें आसक्त होकर रहते हैं। निर्दय काल (मृत्यु) रूपी व्याध (शिकारी) सामने आये हुए इन जनरूपी हिरणोंको सदा ही नष्ट किया करता है। उससे न कोई बालक बचता है, न कोई युवक बचता है और न कोई वृद्ध भी जीवित बचता है ॥ ३४ ॥ संसाररूपी वनमें उत्पन्न हुआ जो मनुष्यरूपी वृक्ष सम्पत्तिरूपी सुन्दर-लतासे सहित स्त्रीरूपी शोभायमान वेलोंसे वेष्टित,

१ श क ब सुख । २ क यमव्याधः इमान् ।

जातः संसृतिकानने जनतरुः कालोग्रदावानल-
व्याप्तश्चेन्न भवेत्तदा[१] बत बुधैरन्यत्किमालोक्यते ॥ ३५ ॥

288) वाञ्छन्त्येव सुखं तदत्र विधिना दत्तं परं प्राप्यते
नूनं मृत्युमुपाश्रयन्ति मनुजास्तत्राप्यतो बिभ्यति ।
इत्थं कामभयप्रसक्तहृदया मोहान्मुधैव ध्रुवं
दुःखोर्मिप्रचुरे पतन्ति कुधियः संसारघोरार्णवे ॥ ३६ ॥

289) स्वसुखपयसि दीव्यन्मृत्युकैवर्तहस्तप्रसृतघनजरोरुप्रोल्लसज्जालमध्ये ।
निकटमपि न पश्यत्यापदां चक्रमुग्रं भवसरसि वराको लोकमीनौघ एषः ॥ ३७ ॥

290) शृण्वन्नन्तकगोचरं गतवतः पश्यन्बहून् गच्छतो
मोहादेव जनस्तथापि मनुते स्थैर्यं परं ह्यात्मनः ।

पल्लवः । पुनः किंलक्षणः । रतिसुखप्रायैः बहुलैः फलैः आश्रितः । ईदृग्विधः जनतरुः । चेत् । कालोग्रदावानलव्याप्तः न भवेत् तदा । बत इति खेदे । बुधैः पण्डितैः । अन्यत् किम् आलोक्यते । न किमपि ॥३५॥ अत्र संसारे । मनुष्याः सुखं वाञ्छन्ति । तत्सुखम् । परं केवलम् । विधिना कर्मणा । दत्तं प्राप्यते । तत्र संसारे । नूनं निश्चितम् । मृत्युम् उपाश्रयन्ति प्राप्नुवन्ति । अतः मृत्योः सकाशात् । लोकाः बिभ्यति भयं कुर्वन्ति । इत्थम् अमुना प्रकारेण । कामभयप्रसक्त–आसक्तहृदयाः लोकाः । कुधियः निन्द्यबुद्धयः । मोहात् । मुधैव वृथैव । ध्रुवं संसारघोरार्णवे समुद्रे पतन्ति । किंलक्षणे संसारसमुद्रे । दुःखोर्मिप्रचुरे दुःखलहरीभृते ॥३६॥ एषः वराकः । लोकमीनौघः लोकमत्स्यसमूहः । भवसरसि संसारसरोवरे । मृत्यु-यम-कैवर्त-धीवर-हस्तेन प्रसारित-प्रसारितजरा–उग्रप्रोल्लसज्जालमध्ये । स्वसुखपयसि । दीव्यन् क्रीडयन् । उग्रम् आपदाम् । चक्रं समूहम् । निकटम् अपि न पश्यति ॥३७॥ जनः लोकः । अन्तकगोचरं यमगोचरम् । गतवतः गतजीवान् । गृह्णन् जनः बहून् गच्छतः पश्यन् । तथापि मोहात् एव आत्मनः परम् । स्थैर्यं स्थिरत्वम् । मनुते । च पुनः । यद् वार्धके संप्राप्तेऽपि । प्रायः बाहुल्येन । धर्माय । न स्पृहयति न वाञ्छति । तत् स्वम् आत्मानम् ।

पुत्र-पौत्रादिरूपी मनोहर पत्तोंसे रमणीय तथा विषयभोगजनित सुख जैसे फलोंसे परिपूर्ण होता है; वह यदि मृत्युरूपी तीव्र दावानलसे व्याप्त न होता तो विद्वान् जन और अन्य क्या देखें ? अर्थात् वह मनुष्यरूप वृक्ष उस कालरूप दावानलसे नष्ट होता ही है । यह देखते हुए भी विद्वज्जन आत्महितमें प्रवृत्त नहीं होते, यह खेदकी बात है ॥ ३५ ॥ संसारमें मनुष्य सुखकी इच्छा करते ही हैं, परन्तु वह उन्हें केवल कर्मके द्वारा दिया गया प्राप्त होता है । वे मनुष्य निश्चयसे मृत्युको तो प्राप्त होते हैं, परन्तु उससे डरते हैं । इस प्रकार वे दुर्बुद्धि मनुष्य हृदयमें इच्छा (सुखाभिलाषा) और भय (मृत्युभय) को धारण करते हुए अज्ञानतासे अनेक दुःखोंरूप लहरोंवाले संसाररूपी भयानक समुद्रमें व्यर्थ ही गिरते हैं ॥ ३६ ॥ यह विचारा जनरूपी मछलियोंका समुदाय संसाररूपी सरोवरके भीतर अपने सुखरूप जलमें क्रीड़ा करता हुआ मृत्युरूपी धीवरके हाथसे फैलाये गये घने वृद्धत्वरूपी विस्तृत जालके मध्येमें फंसकर निकटवर्ती भी तीव्र आपत्तियों के समूहको नहीं देखता है ॥ विशेषार्थ—जिस प्रकार मछलियां सरोवरके भीतर जलमें क्रीड़ा करती हुई उसमें इतनी आसक्त हो जाती हैं कि उन्हें धीवरके द्वारा अपने पकड़नेके लिये फैलाये गये जालका भी ध्यान नहीं रहता इसीलिये उन्हें उसमें फंसकर मरणका कष्ट सहना पड़ता है । ठीक इसी प्रकार बिचारा यह प्राणीसमूह भी संसारके भीतर सातावेदनीयजनित अल्प सुखमें इतना अधिक मग्न हो जाता है कि उसे मृत्युको प्राप्त करानेवाले वृद्धत्व (बुढ़ापा) के प्राप्त हो जाने पर उसका भान नहीं होता और इसीलिये अन्तमें वह कालका ग्रास बनकर असह्य दुःखको सहता है ॥ ३७ ॥ मनुष्य मरणको प्राप्त हुए जीवोंके सम्बन्धमें सुनता है, तथा वर्तमानमें उक्त मरणको प्राप्त होनेवाले बहुत-से जीवोंको स्वयं देखता भी

---

१ क व्याप्तश्चेदभवत्तदा । २ क व्याप्तः अभवत् ।

संप्राप्ते ऽपि च वार्धके स्पृहयति प्रायो न धर्माय यत्
तद्बध्नात्यधिकाधिकं स्वमसकृत्पुत्रादिभिर्बन्धनैः ॥ ३८ ॥

291) दुश्चेष्टाकृतकर्मशिल्पिरचितं दुःसन्धि दुर्बन्धनं
सापायस्थिति दोषधातुमलवत्सर्वत्र यन्नश्वरम् ।
आधिव्याधिजरामृतिप्रभृतयो यच्चात्र चित्रं न तत्
तच्चित्रं स्थिरता बुधैरपि वपुष्यत्रापि यन्मृग्यते ॥ ३९ ॥

292) लब्धा श्रीरिह वाञ्छिता वसुमती भुक्ता समुद्रावधिः
प्राप्तास्ते विषया मनोहरतराः स्वर्गे ऽपि ये दुर्लभाः ।
पश्चाच्चेन्मृतिरागमिष्यति ततस्तत्सर्वमेतद्विषा-
श्लिष्टं भोज्यमिवातिरम्यमपि धिग्मुक्तिः परं मृग्यताम् ॥ ४० ॥

293) युद्धे तावदलं रथेभतुरगा वीराश्च दृप्ता भृशं
मन्त्रः शौर्यमसिश्च तावदतुलाः कार्यस्य संसाधकाः ।

पुत्रादिभिर्बन्धनैः । असकृत् वारंवारम् । अधिकाधिकं बध्नाति ॥ ३८ ॥ यत् शरीरम् । दुश्चेष्टाकृतकर्मशिल्पिरचितं पापकर्मशिल्पी विज्ञानी तेन रचितम् । यत् शरीरम् । दुःसन्धि दुर्बन्धनम् । यत् शरीरम् । सापायस्थिति । दोषधातुमलवत् मलभृतम् । यत शरीरम् । नश्वरं विनश्वरम् अस्ति । अत्र संसारे । यत् आधिः मानसी व्यथा । व्याधिः शरीरव्यथा । जरा-मृति-मरणप्रभृतयः बहवः रोगाः सन्ति । तत् चित्रं न अस्ति । बुधैः भव्यैः । अपि । अत्र । वपुषि शरीरे । यत् स्थिरता । मृग्यते अवलोक्यते । तत् चित्रम् आश्चर्यम् ॥ ३९ ॥ इह संसारे । श्रीः लक्ष्मीः लब्धा । वाञ्छिता वसुमती समुद्रावधिः भुक्ता । ते विषयाः मनोहर-तराः प्राप्ताः ये विषयाः स्वर्गेऽपि दुर्लभाः । चेत् पश्चात् मृतिः आगमिष्यति । ततः कारणात् । एतत्सर्वम् । रम्यं सुखम् अपि धिक् । किंलक्षणं सुखम् । विषाश्लिष्टं भोज्यम् इव । परं केवलम् । मुक्तिः मृग्यतां विचार्यताम् । ॥ ४० ॥ राज्ञः रथेभतुरगाः तावत् । युद्धे सङ्ग्रामे । अलं समर्थाः । वीराश्च । भृशम् अत्यर्थम् । तावत् दृप्ताः सगर्वाः सन्ति । मन्त्रैः[1] तावत्स्फुरति । शौर्यं च । असिश्च खड्गः । तावत्कार्यस्य संसाधकास्तावत्सन्ति यावत् यमः क्रुद्धः क्रोधं प्राप्तः । सन्मुखं[2] नैव धावति । किंलक्षणो

है; तो भी वह केवल मोहके कारण अपनेको अतिशय स्थिर मानता है। इसीलिये वृद्धत्वके प्राप्त हो जानेपर भी चूंकि वह प्रायः धर्मकी अभिलाषा नहीं करता, अत एव अपनेको निरन्तर पुत्रादिरूप बन्धनोंसे अत्यधिक बांध लेता है ॥ ३८ ॥ जो शरीर दुष्ट आचरणसे उपार्जित कर्मरूपी कारीगरके द्वारा रचा गया है, जिसकी सन्धियां व बन्धन निन्द्य हैं, जिसकी स्थिति विनाशसे सहित है अर्थात् जो विनश्वर है; जो रोगादि दोषों, सात धातुओं एवं मलसे परिपूर्ण है; तथा जो नष्ट होनेवाला है, उसके साथ यदि आधि (मानसिक चिन्ता), रोग, बुढ़ापा और मरण आदि रहते हैं तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। परन्तु आश्चर्य तो केवल इसमें है कि विद्वान् मनुष्य भी उस शरीरमें स्थिरताको खोजते हैं ॥ ३९ ॥ हे आत्मन्! तूने इच्छित लक्ष्मीको पा लिया है, समुद्र पर्यन्त पृथिवीको भी भोग लिया है, तथा जो विषय स्वर्गमें भी दुर्लभ हैं उन अतिशय मनोहर विषयोंको भी प्राप्त कर लिया है। फिर भी यदि पीछे मृत्यु आनेवाली है तो यह सब विषसे संयुक्त आहारके समान अत्यन्त रमणीय होकर भी धिक्कारके योग्य है। इसलिये तू एक मात्र मुक्तिकी खोज कर ॥ ४० ॥ युद्धमें राजाके रथ, हाथी, घोड़े, अभिमानी सुभट, मंत्र, शौर्य और तलवार; यह सब अनुपम सामग्री तभी तक कार्यको सिद्ध कर सकती है जब तक कि दुष्ट भूखा यमराज (मृत्यु) क्रोधित होकर मारनेकी इच्छासे सामने नहीं दौड़ता है। इसलिये विद्वान् पुरुषोंको उस यमसे

१ क मन्त्रं, श मन्त्राः । २ क यावत् यमः सन्मुखं ।

राज्ञो ऽपि क्षुधितो ऽपि निर्दयमना यावज्जिघत्सुर्यमः
क्रुद्धो धावति नैव सन्मुखमितो यत्नो विधेयो बुधैः ॥ ४१ ॥

294) राजापि क्षणमात्रतो विधिवशाद्रङ्कायते निश्चितं
सर्वव्याधिविवर्जितो ऽपि तरुणो ऽप्याशु क्षयं गच्छति ।
अन्यैः किं किल सारतामुपगते श्रीजीविते द्वे तयोः
संसारे स्थितिरीदृशीति विदुषा क्वान्यत्र कार्यो मदः ॥ ४२ ॥

295) हन्ति व्योम स मुष्टिनाथ सरितं शुष्कां तरत्याकुलः
तृष्णार्तो ऽथ मरीचिकाः पिबति च प्रायः प्रमत्तो भवन् ।
प्रोत्तुङ्गाचलचूलिकागतमरुत्प्रेङ्खत्प्रदीपोपमैः
यः सम्पत्सुतकामिनीप्रभृतिभिः कुर्यान्मदं मानवः ॥ ४३ ॥

296) लक्ष्मीं व्याधमृगीमतीव चपलामाश्रित्य भूपा मृगाः
पुत्रादीनपरान् मृगानतिरुषा निघ्नन्ति सेर्ष्यं किल ।

यमः । क्षुधितः अतिनिर्दयमनाः । पुनः किंलक्षणः यमः । जिघत्सुः ग्रसितुम् इच्छुः जिघत्सुः । बुधैः पण्डितैः । इतः यमात् । यत्नः विधेयः कर्तव्यः ॥ ४१ ॥ राजा अपि । विधिवशात् कर्मवशात् । क्षणमात्रतः क्षणतः । निश्चितम् । रङ्कायते रङ्क इव आचरति । सर्वव्याधिविवर्जितोऽपि तरुणः आशु क्षयं गच्छति । अन्यैः किम् । किल इति सत्ये । श्रीजीविते द्वे सारताम् उपगते । तयोः द्वयोः श्रीजीवितयोः । ईदृशी स्थितिः । इति ज्ञात्वा । विदुषा पण्डितेन । अन्यत्र । क्व कस्मिन् विषये । मदः कार्यः । अपि तु मदः न कर्तव्यः ॥ ४२ ॥ अत्र संसारे । यः मानवः सम्पत्सुतकामिनीप्रभृतिभिः । मदं गर्वम् । कुर्यात् । किंलक्षणैः संपत्सुतकामिनीप्रभृतिभिः । प्रकर्षेण उत्तुङ्गा अचलचूलिका तस्यां गतः मरुत् तेन प्रेङ्खन्तः[1] ये प्रदीपाः तत्समानैः । यः मदं करोति स मूर्खः मुष्टिना व्योम हन्ति मारयति । अथ आकुलः शुष्काम् । सरितं नदीम् । तरति । अथ च पुनः । प्रायः बाहुल्येन । प्रमत्तः भवन् तृष्णार्तः मरीचिकाः पिबति । इति ज्ञात्वा । मदः न कार्यः न कर्तव्यः ॥ ४३ ॥ भूपाः मृगाः ।

अपनी रक्षा करनेके लिये अर्थात् मोक्षप्राप्तिके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये ॥ ४१ ॥ भाग्यवश राजा भी क्षणभरमें निश्चयसे रंकके समान हो जाता है, तथा समस्त रोगोंसे रहित युवा पुरुष भी शीघ्र ही मरणको प्राप्त होता है । इस प्रकार अन्य पदार्थोंके विषयमें तो क्या कहा जाय, किन्तु जो लक्ष्मी और जीवित दोनों ही संसारमें श्रेष्ठ समझे जाते हैं उनकी भी जब ऐसी (उपर्युक्त) स्थिति है तब विद्वान् मनुष्यको अन्य किसके विषयमें अभिमान करना चाहिये ? अर्थात् अभिमान करनेके योग्य कोई भी पदार्थ यहां स्थायी नहीं है ॥ ४२ ॥ सम्पत्ति, पुत्र और स्त्री आदि पदार्थ ऊंचे पर्वतकी शिखरपर स्थित व वायुसे चलायमान दीपकके समान शीघ्र ही नाशको प्राप्त होनेवाले हैं । फिर भी जो मनुष्य उनके विषयमें स्थिरताका अभिमान करता है वह मानो मुट्ठीसे आकाशको नष्ट करता है, अथवा व्याकुल होकर सूखी (जलसे रहित) नदीको तैरता है, अथवा प्याससे पीड़ित होकर प्रमादयुक्त होता हुआ वालुको पीता है ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार मुट्ठीसे आकाशको ताड़ित करना, जलरहित नदीमें तैरना, और प्याससे पीड़ित होकर वालुका पान करना; यह सब कार्य असम्भव होनेसे मनुष्यकी अज्ञानताका द्योतक है उसी प्रकार जो सम्पत्ति, पुत्र और स्त्री आदि पदार्थ देखते देखते ही नष्ट होनेवाले हैं उनके विषयमें अभिमान करना भी मनुष्यकी अज्ञानताको प्रगट करता है । कारण कि यदि उक्त पदार्थ चिरस्थायी होते तो उनके विषयमें अभिमान करना उचित कहा जा सकता था, सो तो हैं नहीं ॥ ४३ ॥ राजारूपी मृग अत्यन्त चंचल ऐसी लक्ष्मीरूपी व्याधकी हिरणीका आश्रय लेकर ईर्ष्यायुक्त होते हुए अतिशय क्रोधसे पुत्रादिरूपी दूसरे मृगोंका घात करते हैं । वे जिस यमरूपी व्याधने बहुत-सी

[1] श तेन मरुता प्रेंखंतः ।

सज्जीभूतघनापदुन्नतधनुःसंलग्नसंहृच्छरं
नो पश्यन्ति समीपमागतमपि क्रुद्धं यमं लुब्धकम् ॥ ४४ ॥

297) मृत्योर्गोचरमागते निजजने मोहेन यः शोककृत्
नो गन्धो ऽपि गुणस्य तस्य बहवो दोषाः पुनर्निश्चितम् ।
दुःखं वर्धत एव नश्यति चतुर्वर्गो मतेर्विभ्रमः
पापं रुक् च मृतिश्च दुर्गतिरथ स्याद्दीर्घसंसारिता ॥ ४५ ॥

298) आपन्मयसंसारे क्रियते विदुषा किमापदि विषादः ।
कस्त्रस्यति लङ्घनतः प्रविधाय चतुष्पथे सदनम् ॥ ४६ ॥

लक्ष्मीम् । व्याधमृगीं भिल्लमृगीम् । अतीव चपलाम् आश्रित्य पुत्रादीन् अपरान् मृगान् । अतिरुषा कोपेन । सेर्ष्यम् ईर्ष्यायुक्तं यथा स्यात्तथा । निघ्नन्ति मारयन्ति । किल इति सत्ये । क्रुद्धं यमं लुब्धकं समीपम् आगतम् अपि नो पश्यन्ति । किंलक्षणं यमव्याधम् । सज्जीभूतघनापदुन्नतधनुःसंलग्नसंहृत् शरं बाणम् ॥ ४४ ॥ अत्र लोके । निजजने । मृत्योर्गोचरं यमस्य गोचरम् । आगते सति । यः मूढः । मोहेन शोककृत् भवति । तस्य जनस्य । गुणलेशोऽपि गन्धोऽपि वासनामात्रम् अपि नो अस्ति । पुनः निश्चितं दोषा बहवः सन्ति । तस्य शोकी[कि]जनस्य दुःखं वर्धते । एव निश्चितम् । चतुर्वर्गः धर्मार्थकाममोक्षाः । नश्यति[1] । तस्य मतेः विभ्रमः । स्याद्भवेत् । तस्य पापं भवति । तेन पापेन रुक् रोगं भवति । तेन रुजा मृतिः मरणं भवति । च पुनः । दुर्गतिः भवति । अथ तया दुर्गत्या दीर्घसंसारिता । स्याद्भवेत् ॥ ४५ ॥ आपन्मयसंसारे आपदि सत्याम् । विदुषा पण्डितेन । विषादः किं क्रियते । अपि तु न क्रियते । च पुनः । चतुष्पथे । सदनं गृहं वा शयनम् । प्रविधाय कृत्वा । लङ्घनतः उपद्रवात् ।

आपत्तियोंरूपी धनुषको सुसज्जित करके उसके ऊपर संहार करनेवाले बाणको रख लिया है तथा जो अपने समीपमें आ चुका है ऐसे उस क्रोधको प्राप्त हुए यमरूपी व्याधको भी नहीं देखते हैं ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार हिरण व्याधके द्वारा पकड़ी गई (मरणोन्मुख) हिरणीके निमित्तसे ईर्ष्यायुक्त होकर दूसरे हिरणोंका तो घात करते हैं, परन्तु वे उस व्याधकी ओर नहीं देखते जो कि उनका वध करनेके लिये धनुष-बाणसे सुसज्जित होकर समीपमें आ चुका है । ठीक उसी प्रकारसे राजा लोग चंचल राज्यलक्ष्मीके निमित्तसे क्रुद्ध होकर अन्यकी तो बात क्या किन्तु पुत्रादिकोंका भी घात करते हैं, परन्तु वे उस यमराज (मृत्यु) को नहीं देखते जो कि अनेक आपत्तियोंमें डालकर उन्हें ग्रहण करनेके लिये समीपमें आ चुका है । तात्पर्य यह कि जो धन-सम्पत्ति कुछ ही समय रहकर नियमसे नष्ट हो जानेवाली है उसके निमित्तसे मनुष्योंको दूसरे प्राणियोंके लिये कष्ट नहीं पहुंचाना चाहिये । किन्तु अपने आपको भी नश्वर समझकर कल्याणके मार्गमें लग जाना चाहिये ॥ ४४ ॥ अपने किसी सम्बन्धी पुरुषका मरण हो जानेपर जो अज्ञानके वश होकर शोक करता है उसके पास गुणकी गन्ध (लेश मात्र) भी नहीं है, परन्तु दोष उसके पास बहुत-से हैं; यह निश्चित है । इस शोकसे उसका दुख अधिक बढ़ता है; धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चारों पुरुषार्थ नष्ट होते हैं; बुद्धिमें विपरीतता आती है, तथा पाप (असातावेदनीय) कर्मका बन्ध भी होता है, रोग उत्पन्न होता है, तथा अन्तमें मरणको प्राप्त होकर वह नरकादि दुर्गतिको प्राप्त होता है । इस प्रकार उसका संसारपरिभ्रमण लंबा हो जाता है ॥ ४५ ॥ इस आपत्तिस्वरूप संसारमें किसी विशेष आपत्तिके प्राप्त होनेपर विद्वान् पुरुष क्या विषाद करता है ? अर्थात् नहीं करता । ठीक है– चौरस्तेमें (जहां चारों ओर रास्ता जाता है) मकान बनाकर कौन-सा मनुष्य लांघे जानेके भयसे दुखी होगा ? अर्थात् कोई नहीं होगा ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार चौरस्तेमें स्थित रहकर यदि कोई मनुष्य गाड़ी आदिके द्वारा कुचले जानेकी आशंका करता है तो यह

[1] श चतुर्वर्गः नश्यति ।

299) वातूल एष किमु किं ग्रहसंगृहीतो भ्रान्तो ऽथ वा किमु जनः किमथ प्रमत्तः ।
जानाति पश्यति शृणोति च जीवितादि विद्युच्चलं तदपि नो कुरुते स्वकार्यम् ॥ ४७ ॥

300) दत्तं नौषधमस्य नैव कथितः कस्याप्ययं मन्त्रिणो
नो कुर्याच्छुचमेवमुन्नतमतिर्लोकान्तरस्थे निजे ।
यत्ना यान्ति यतो ऽङ्गिनः शिथिलतां सर्वे मृतेः संनिधौ
बन्धाश्चर्मविनिर्मिताः परिलसद्वर्षाम्बुसिक्ता इव ॥ ४८ ॥

301) स्वकर्मव्याघ्रेण स्फुरितनिजकालादिमहसा
समाघ्रातः साक्षाच्छरणरहिते संसृतिवने ।
प्रिया मे पुत्रा मे द्रविणमपि मे मे गृहमिदं
वदन्नेवं मे मे पशुरिव जनो याति मरणम् ॥ ४९ ॥

कः त्रस्यति कः भयं करोति । न कोऽपि ॥ ४६ ॥ एषः जनः किमु वातुलः । किं वा ग्रहेण संगृहीतः । अथवा किमु भ्रान्तः । अथ किं प्रमत्तः । च पुनः । एषः जनः जीवितादि विद्युच्चलं जानाति पश्यति शृणोति । तदपि स्वकार्यं नो कुरुते ॥ ४७ ॥ उन्नतमतिः ज्ञानवान् । निजे इष्टे । लोकान्तरस्थे सति मृते सति । एवं शुचं शोकं नो कुर्यात् । एवं कथम् । अस्य रोगिणः पुरुषस्य ओषधं नो दत्तम् । अयं कस्यापि मन्त्रिणः नैव कथितः । एवं शुचं शोकं नो कुर्यात् । यतः अङ्गिनः जीवस्य । मृतेः यमस्य । संनिधौ समीपे । सर्वे यत्नाः शिथिलतां यान्ति । यथा चर्मविनिर्मिताः बन्धाः परिलसद्वर्षाम्बुसिक्ता इव जलेन सिक्ताः चर्मबन्धाः शिथिलतां यान्ति ॥ ४८ ॥ जनः लोकः । संसृतिवने संसारवने । स्वकर्मव्याघ्रेण साक्षात् समाघ्रातः गृहीतः । मरणं याति । किंलक्षणे संसारे । शरणरहिते । किंलक्षणेन स्वकर्मव्याघ्रेण । स्फुरितनिजकालादिमहसा । एवं वदन् मरणं याति । एवं

उसकी अज्ञानता ही कही जाती है । ठीक इसी प्रकारसे जब कि संसारका स्वरूप ही आपत्तिमय है तब भला ऐसे संसारमें रहकर किसी आपत्तिके आनेपर खेदखिन्न होना, यह भी अतिशय अज्ञानताका द्योतक है ॥ ४६ ॥ यह मनुष्य क्या वातरोगी है, क्या भूत-पिशाच आदिसे ग्रहण किया गया है, क्या भ्रान्तिको प्राप्त हुआ है, अथवा क्या पागल है ? कारण कि वह 'जीवित आदि बिजलीके समान चंचल है' इस बातको जानता है, देखता है और सुनता भी है; तो भी अपने कार्य (आत्महित) को नहीं करता है ॥४७॥ किसी प्रिय जनके मरणको प्राप्त होनेपर विवेकी मनुष्य 'इसको औषध नहीं दी गई, अथवा इसके विषयमें किसी मान्त्रिकके लिये नहीं कहा गया' इस प्रकारसे शोकको नहीं करता है । कारण कि मृत्युके निकट आनेपर प्राणियोंके सभी प्रयत्न इस प्रकार शिथिलताको प्राप्त होते हैं जिस प्रकार कि चमड़ेसे बनाये गये बन्धन वर्षाके जलमें भीगकर शिथिल हो जाते हैं । अर्थात् मृत्युसे बचनेके लिये किया जानेवाला प्रयत्न कभी किसीका सफल नहीं होता है ॥४८॥ जो संसाररूपी वन रक्षकोंसे रहित है उसमें अपने उदयकाल आदिरूप पराक्रमसे संयुक्त ऐसे कर्मरूपी व्याघ्रके द्वारा ग्रहण किया गया यह मनुष्यरूपी पशु 'यह प्रिया मेरी है, ये पुत्र मेरे हैं, यह द्रव्य मेरा है, और यह घर भी मेरा है' इस प्रकार 'मेरा मेरा' कहता हुआ मरणको प्राप्त हो जाता है ॥ विशेषार्थ— जिस प्रकार वनमें गन्धको पाकर चीतेके द्वारा पकड़े गये बकरे आदि पशुकी रक्षा करनेवाला वहां कोई नहीं है— वह 'मैं मैं' शब्दको करता हुआ वहींपर मरणको प्राप्त होता है— उसी प्रकार इस संसारमें कर्मके आधीन हुए प्राणीकी भी मृत्युसे रक्षा करनेवाला कोई नहीं है । फिर भी मोहके वशीभूत होकर यह मनुष्य उस मृत्युकी ओर ध्यान न देकर जो स्त्री-पुत्रादि बाह्य पदार्थ कभी अपने नहीं हो सकते उनमें ममत्व-बुद्धि रखकर 'मे मे' (यह स्त्री मेरी है, ये पुत्र मेरे हैं आदि) करता हुआ व्यर्थमें संक्लेशको प्राप्त होता

302) दिनानि खण्डानि गुरूणि मृत्युना विहन्यमानस्य निजायुषो भृशम् ।
पतन्ति पश्यन्नपि नित्यमग्रतः स्थिरत्वमात्मन्यभिमन्यते जडः ॥ ५० ॥

303) कालेन प्रलयं व्रजन्ति नियतं ते ऽपीन्द्रचन्द्रादयः
का वार्तान्यजनस्य कीटसदृशो ऽशक्तेरदीर्घायुषः ।
तस्मान्मृत्युमुपागते प्रियतमे मोहं मुधा मा कृथाः
कालः क्रीडति नात्र येन सहसा तत्किंचिदन्विष्यताम् ॥ ५१ ॥

304) संयोगो यदि विप्रयोगविधिना चेज्जन्म तन्मृत्युना
सम्पच्चेद्विपदा सुखं यदि तदा दुःखेन भाव्यं ध्रुवम् ।
संसारे ऽत्र मुहुर्मुहुर्बहुविधावस्थान्तरप्रोल्लसद्-
वेषान्यत्वनटीकृताङ्गिनि सतः शोको न हर्षः क्वचित् ॥ ५२ ॥

कथम् । प्रिया मे पुत्रा मे द्रविणमपि मे इदं गृहं मे । एवं वदन् पशुरिव अजशिशुरिव मरणं[1] याति ॥ ४९ ॥ निजायुषः । गुरूणि बहुतराणि । खण्डानि दिनानि । नित्यम् अग्रतः पतन्ति । किंलक्षणस्य निजायुषः । मृत्युना विहन्यमानस्य यमेन पीड्यमानस्य । जडः मूर्खजनः । पश्यन् अपि आत्मनि विषये स्थिरत्वम् अभिमन्यते ॥ ५० ॥ भो भव्याः श्रूयताम् । कालेन कृत्वा । तेऽपि इन्द्रचन्द्रादयः । नियतं निश्चितम् । प्रलयं व्रजन्ति नाशं गच्छन्ति । अन्यजनस्य का वार्ता । किंलक्षणस्य अन्यजनस्य । कीटसदृशः पतङ्गसमानस्य । पुनः[2] किंलक्षणस्य अन्यजनस्य । अशक्तेः असमर्थस्य । पुनः किंलक्षणस्य अन्यजनस्य । अदीर्घायुषः स्तोकायुर्जनस्य । तस्मात्कारणात् । प्रियतमे इष्टे जने । मृत्युम् उपागते सति । मुधा वृथा । मोहं मा कृथाः । सहसा तत्किंचित् । अन्विष्यताम् अवलोक्यताम् । येन आत्मावलोकनेन । अत्र कालः न क्रीडति ॥ ५१ ॥ अत्र संसारे । ध्रुवं निश्चितम् । यदि सुखम् अस्ति तदा दुःखेन भाव्यं व्याप्तम् अस्ति । चेत् यदि । संपत् अस्ति तदा विपदा भाव्यम् अस्ति । अत्र संसारे । यदि चेत् । जन्म । तत् जन्म । मृत्युना भाव्यम् अस्ति । यदि चेत् । संयोगः इष्टमिलनम् अस्ति । तदा विप्रयोगविधिना वियोगेन ।

है ॥ ४९ ॥ यह अज्ञानी प्राणी मृत्युके द्वारा खण्डित की जानेवाली अपनी आयुके दिनरूप दीर्घ खण्डोंको सदा सामने गिरते हुए देखता हुआ भी अपनेको स्थिर मानता है ॥ ५० ॥ जब वे इन्द्र और चन्द्र आदि भी समय पाकर निश्चयसे मृत्युको प्राप्त होते हैं तब भला कीड़ेके सदृश निर्बल एवं अल्पायु अन्य जनकी तो बात ही क्या है? अर्थात् वह तो निःसन्देह मरणको प्राप्त होवेगा ही । इसलिये हे भव्य जीव! किसी अत्यन्त प्रिय मनुष्यके मरणको प्राप्त होनेपर व्यर्थमें मोहको मत कर । किन्तु ऐसा कुछ उपाय खोज, जिससे कि वह काल (मृत्यु) सहसा यहां क्रीड़ा न कर सके ॥ ५१ ॥ जहांपर प्राणी बार बार बहुत प्रकारकी अवस्थाओंरूप वेषोंकी भिन्नतासे नटके समान आचरण करते हैं ऐसे उस संसारमें यदि इष्टका संयोग होता है तो वियोग भी उसका अवश्य होना चाहिये, यदि जन्म है तो मृत्यु भी अवश्य होनी चाहिये, यदि सम्पत्ति है तो विपत्ति भी अवश्य होनी चाहिये, तथा यदि सुख है तो दुख भी अवश्य होना चाहिये । इसीलिये सज्जन मनुष्यको इष्टसंयोगादिके होनेपर तो हर्ष और इष्टवियोगादिके होनेपर शोक भी नहीं करना चाहिये ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार नट (नाटकका पात्र) आवश्यकतानुसार राजा और रंक आदि अनेक प्रकारके वेषोंको तो ग्रहण करता है; परन्तु वह संयोग और वियोग, जन्म और मरण, सम्पत्ति और विपत्ति तथा सुख और दुख आदिमें अन्तःकरणसे हर्ष एवं विषादको प्राप्त नहीं होता । कारण कि वह अपनी यथार्थ अवस्था और ग्रहण किये हुए उन कृत्रिम वेषोंमें भेद समझता है । उसी प्रकार विवेकी मनुष्य भी उपर्युक्त संयोग-वियोग एवं नर-नारकादि अवस्थाओंमें कभी हर्ष और विषादको नहीं प्राप्त होता ।

१ क पशुरिव मरणं । २ क कीटसदृशः पुनः ।

305) लोकाश्चेतसि चिन्तयन्त्यनुदिनं कल्याणमेवात्मनः
कुर्यात्सा भवितव्यतागतवती तत्तत्र यद्रोचते।
मोहोल्लासवशादतिप्रसरतो हित्वा विकल्पान् बहून्
रागद्वेषविषोज्झितैरिति सदा सद्भिः सुखं स्थीयताम् ॥ ५३ ॥

306) लोका गृहप्रियतमासुतजीवितादि वाताहतध्वजपटाग्रचलं समस्तम्।
व्यामोहमत्र परिहृत्य धनादिमित्रे धर्मे मतिं कुरुत किं बहुभिर्वचोभिः ॥ ५४ ॥

307) पुत्रादिशोकशिखिशान्तिकरी यतीन्द्रश्रीपद्मनन्दिवदनाम्बुधरप्रसूतिः।
सद्बोधसस्यजननी जयतादनित्यपञ्चाशदुन्नतधियाममृतैकवृष्टिः ॥ ५५ ॥

व्याप्तं पीडितम् अस्ति। किंलक्षणे संसारे। मुहुर्मुहुः वारंवारम्। बहुविधावस्थान्तरप्रोल्लसद्वेषान्यत्वेनटीकृताङ्गिनि बहुविधगत्यन्तरवेषैः नर्तितजीवगणे। सतः सत्पुरुषस्य। क्वचित्काले शोकः न कार्यः क्वचित्काले हर्षः न कार्यः ॥ ५२ ॥ रागद्वेषविषोज्झितैः रागद्वेषरहितैः। सद्भिः चतुरैः। सदा काले। सुखम्। स्थीयतां तिष्ठताम्। इति विकल्पान् बहून्। हित्वा त्यक्त्वा। किंलक्षणान् विकल्पान्। मोहोल्लासवशात् मोहप्रभावात्। अतिप्रसरतः। लोकाः जनाः। चेतसि विषये। अनुदिनं दिनं दिनं प्रति। आत्मनः कल्याणम् एव चिन्तयन्ति। सा आगतवती भवितव्यता। तत्र लोकरोचने। यद्रोचते तत्कुर्यात् ॥ ५३ ॥ भो लोकाः गृहप्रियतमा-स्त्री-सुत-पुत्र-जीवितादि वातेन पवनेन आहतं पीडितं ध्वजपटाग्रं तद्वत् चलं चपलम्। समस्तम्। विजानीत। अत्र धनादिषु धनादिमित्रे[1] व्यामोहम्। परिहृत्य परित्यक्त्वा। धर्मे मतिं कुरुत। बहुभिर्वचोभिः किम्। न किमपि ॥ ५४ ॥ अनित्यपञ्चाशत् जयतात्। किंलक्षणा अनित्यपञ्चाशत्। उन्नतधियाम् उन्नतबुद्धीनाम्। अमृतैकवृष्टिः। पुनः किंलक्षणा अनित्यपञ्चाशत्। पुत्रादिशोक [शिखि]–अग्नि-शान्तिकरी। पुनः किंलक्षणा अनित्यपञ्चाशत्। यतीन्द्रश्रीपद्मनन्दिवदनाम्बुधर-मेघः तस्मात् प्रसूतिः उत्पन्ना। पुनः किंलक्षणा अनित्यपञ्चाशत्। सद्बोधसस्यजननी बोधधान्यजन्मभूमिः ॥ ५५ ॥ इति अनित्यपञ्चाशत् ॥ ३ ॥

कारण कि वह समझता है कि संसारका स्वरूप ही जन्म-मरण है। इसमें पूर्वोपार्जित कर्मके अनुसार प्राणियोंको कभी इष्टका संयोग और कभी उसका वियोग भी अवश्य होता है। सम्पत्ति और विपत्ति कभी किसीके नियत नहीं है– यदि मनुष्य कभी सम्पत्तिशाली होता है तो कभी वह अशुभ कर्मके उदयसे विपत्तिग्रस्त भी देखा जाता है। अतएव उनमें हर्ष और विषादको प्राप्त होना बुद्धिमत्ता नहीं है ॥ ५२ ॥ मनुष्य मनमें प्रतिदिन अपने कल्याणका ही विचार करते हैं, किन्तु आई हुई भवितव्यता (दैव) वही करती है जो कि उसको रुचता है। इसलिये सज्जन पुरुष राग-द्वेषरूपी विषसे रहित होते हुए मोहके प्रभावसे अतिशय विस्तारको प्राप्त होनेवाले बहुतसे विकल्पोंको छोड़कर सदा सुखपूर्वक स्थित रहें ॥ ५३ ॥ हे भव्यजनो ! अधिक कहनेसे क्या ? जो गृह, स्त्री, पुत्र और जीवित आदि सब वायुसे ताड़ित ध्वजाके वस्त्रके अग्रभागके समान चंचल हैं उनके विषयमें तथा धन एवं मित्र आदिके विषयमें मोहको छोड़कर धर्ममें बुद्धिको करो ॥ ५४ ॥ श्री पद्मनन्दी मुनीन्द्रके मुखरूपी मेघसे उत्पन्न हुई जो अनित्यपञ्चाशत् (पचास श्लोकमय अनित्यताका प्रकरण) रूप अद्वितीय अमृतकी वर्षा विद्वज्जनोंके लिये पुत्रादिके शोकरूपी अग्निको शान्त करके सम्यग्ज्ञानरूप सस्य (फसल) को उत्पन्न करती है वह जयवंत होवे ॥ ५५ ॥

इस प्रकार अनित्यपञ्चाशत् समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

---

१ अ क श वेषान्यत्व। २ क अत्र धनादिमित्रे।

[४. एकत्वसप्ततिः]

308) चिदानन्दैकसद्भावं परमात्मानमव्ययम् । प्रणमामि सदा शान्तं शान्तये सर्वकर्मणाम् ॥१॥
309) खादिपञ्चकनिर्मुक्तं कर्माष्टकविवर्जितम् । चिदात्मकं परं ज्योतिर्वन्दे देवेन्द्रपूजितम् ॥ २ ॥
310) यदव्यक्तमबोधानां व्यक्तं सद्बोधचक्षुषाम् । सारं यत्सर्ववस्तूनां नमस्तस्मै चिदात्मने ॥३॥
311) चित्तत्त्वं तत्प्रतिप्राणिदेह एव व्यवस्थितम् । तमश्छन्ना न जानन्ति भ्रमन्ति च बहिर्बहिः॥४॥
312) भ्रमन्तो ऽपि सदा शास्त्रजाले महति केचन । न विदन्ति परं तत्त्वं दारुणीव हुताशनम् ॥५॥
313) केचित्केनापि कारुण्यात्कथ्यमानमपि स्फुटम् । न मन्यन्ते न शृण्वन्ति महामोहमलीमसाः॥
314) भूरिधर्मात्मकं तत्त्वं दुःश्रुतेर्मन्दबुद्धयः । जात्यन्धहस्तिरूपेण ज्ञात्वा नश्यन्ति केचन ॥ ७ ॥

अहं पद्मनन्द्याचार्यः । सदा सर्वदा । प्रणमामि । कम् । परमात्मानम् । किंलक्षणं परमात्मानम् । चिदानन्दैकसद्भावं ज्ञान-आनन्दैकस्वभावम् । पुनः किंलक्षणं परमात्मानम् । अव्ययं विनाशरहितम् । पुनः किंलक्षणं परमात्मानम् । शान्तं सर्वोपाधिवर्जितम् ।[1] एवंविधं परमात्मानं सदा प्रणमामि । कस्मै । सर्वकर्मणां शान्तये ॥ १ ॥ चिदात्मकं ज्योतिः अहं वन्दे । किंलक्षणं ज्योतिः । खादिपञ्चकनिर्मुक्तम्[2] आकाशादिपञ्चद्रव्यरहितं वा पञ्चइन्द्रियरहितम् । पुनः किंलक्षणं ज्योतिः । कर्माष्टकविवर्जितम् । परम् उत्कृष्टम् । वन्दे । पुनः किंलक्षणं ज्योतिः । देवेन्द्रपूजितम् ॥ २ ॥ तस्मै चिदात्मने नमः । यत्परंज्योतिः । अबोधानां बोधरहितानाम् । अव्यक्तम् अप्रकटम् । यत्परंज्योतिः । सद्बोधचक्षुषां सद्बोधयुक्तानाम् । व्यक्तं प्रकटम् । यत्परंज्योतिः सर्ववस्तूनां पदार्थानां सारम् । तस्मै चिदात्मने नमः ॥ ३ ॥ तत् । चित्तत्वं चैतन्यतत्त्वम् । प्रतिप्राणिदेहे प्राणिनां देहे । एव निश्चितम् । व्यवस्थितम् अस्ति । तत् चैतन्यतत्त्वम् । तमश्छन्ना मिथ्यात्व-अन्धकारेण आच्छादिताः । न जानन्ति । च पुनः । बहिर्बहिः भ्रमन्ति ॥ ४ ॥ केचन मूर्खाः । सदा सर्वदा । महति शास्त्रजाले भ्रमन्तोऽपि । परं तत्त्वम् आत्मतत्त्वम् । न विदन्ति न लभन्ते । यथा दारुणि काष्ठे । हुताशनं प्राप्तुं[3] दुर्लभम् ॥ ५ ॥ कारुण्यात् दयाभावात् । केनापि स्फुटं व्यक्तं प्रकटं तत्त्वम् । कथ्यमानम् अपि । केचित् मूर्खाः । न मन्यन्ते न शृण्वन्ति । किंलक्षणाः मूर्खाः । महामोहमलीमसाः महामोहेन व्याप्ताः ॥ ६ ॥ केचन मन्दबुद्धयः । भूरिधर्मात्मकं तत्त्वं जात्यन्धहस्तिरूपेण ज्ञात्वा नश्यन्ति । किंलक्षणा मूर्खाः । दुःश्रुतेः दुर्णयदुःशास्त्रप्रमाणात् मन्द-

जिस परमात्माके चेतनस्वरूप अनुपम आनन्दका सद्भाव है तथा जो अविनश्वर एवं शान्त है उसके लिये मैं (पद्मनन्दी मुनि) अपने समस्त कर्मोंको शान्त करनेके लिये सदा नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥ जो आकाश आदि पांच (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी) द्रव्योंसे अर्थात् शरीरसे तथा ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे भी रहित हो चुकी है और देवोंके इन्द्रोंसे पूजित है ऐसी उस चैतन्यस्वरूप उत्कृष्ट ज्योतिको मैं नमस्कार करता हूं ॥ २ ॥ जो चेतन आत्मा अज्ञानी प्राणियोंके लिये अस्पष्ट तथा सम्यग्ज्ञानियोंके लिये स्पष्ट है और समस्त वस्तुओंमें श्रेष्ठ है उस चेतन आत्माके लिये नमस्कार हो ॥ ३ ॥ वह चैतन्य तत्त्व प्रत्येक प्राणीके शरीरमें ही स्थित है । किन्तु अज्ञानरूप अन्धकारसे व्याप्त जीव उसको नहीं जानते हैं, इसीलिये वे बाहिर बाहिर घूमते हैं अर्थात् विषयभोगजनित सुखको ही वास्तविक सुख मानकर उसको प्राप्त करनेके लिये ही प्रयत्नशील होते हैं ॥ ४ ॥ कितने ही मनुष्य सदा महान् शास्त्रसमूहमें परिभ्रमण करते हुए भी, अर्थात् बहुत-से शास्त्रोंका परिशीलन करते हुए भी उस उत्कृष्ट आत्मतत्त्वको काष्ठमें शक्तिरूपसे विद्यमान अग्निके समान नहीं जानते हैं ॥ ५ ॥ यदि कोई दयासे प्रेरित होकर उस उत्कृष्ट तत्त्वका स्पष्टतया कथन भी करता है तो कितने ही प्राणी महामोहसे मलिन होकर उसको न मानते हैं और न सुनते भी हैं ॥ ६ ॥ जिस प्रकार जन्मान्ध पुरुष हाथीके यथार्थ स्वरूपको नहीं ग्रहण कर पाता है, किन्तु उसके किसी एक ही अंगको पकड़कर उसे ही हाथी मान लेता है, ठीक इसी प्रकारसे कितने ही मन्दबुद्धि मनुष्य एकान्तवादियों-

---

१ श शान्तं एवंविधं । २ श वन्दे खादि । ३ क प्राप्तुं ।

315) केचित् किंचित्परिज्ञाय कुतश्चिद्गर्विताशयाः । जगन्मन्दं प्रपश्यन्तो नाश्रयन्ति मनीषिणः ॥८॥
316) जन्तुमुद्धरते धर्मः पतन्तं दुःखसंकटे । अन्यथा स कृतो भ्रान्त्या लोकैर्ग्राह्यः परीक्षितः ॥९॥
317) सर्वविद्वीतरागोक्तो धर्मः सूनृततां व्रजेत् । प्रामाण्यतो यतः पुंसो वाचः प्रामाण्यमिष्यते ॥

बुद्धयः ॥ ७ ॥ केचिज्जीवाः । कुतश्चित् शास्त्रात् । किंचित्तत्त्वम् । परिज्ञाय ज्ञात्वा । जगन्मन्दं मूर्खम् । प्रपश्यन्तः । मनीषिणः पण्डिताः । परमात्मतत्त्वं न आश्रयन्ति न प्राप्नुवन्ति । किंलक्षणाः पण्डिताः । गर्विताशयाः गर्वितचित्ताः ॥ ८ ॥ धर्मः दुःखसंकटे पतन्तम् । जन्तुं जीवम् । उद्धरते । स दयाधर्मः आत्मधर्मः । लोकैः भ्रान्त्या अन्यथा कृतः । साधुजनैः परीक्षितः परीक्षां कृत्वा । ग्राह्यः ग्रहणीयः ॥ ९ ॥ सर्ववित् सर्वज्ञः वीतरागः तेन उक्तः धर्मः सूनृततां व्रजेत् सत्यतां व्रजेत् । यतः कारणात् ।

के द्वारा प्ररूपित खोटे शास्त्रोंके अभ्याससे पदार्थको सर्वथा एकरूप ही मानकर उसके अनेक धर्मात्मक (अनेकान्तात्मक) स्वरूपको नहीं जानते हैं और इसीलिये वे विनाशको प्राप्त होते हैं ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार किसी एक ही पुरुषमें पितृत्व, पुत्रत्व, भागिनेयत्व और मातुलत्व आदि अनेक धर्म भिन्न भिन्न अपेक्षासे रहते हैं तथा अपेक्षाकृत होनेसे उनमें परस्पर किसी प्रकारका विरोध भी नहीं आता है। इसी प्रकारसे प्रत्येक पदार्थमें अनेक धर्म रहते हैं । किन्तु कितने ही एकान्तवादी उनकी अपेक्षाकृत सत्यताको न समझकर उनमें परस्पर विरोध बतलाते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार किसी एक ही पदार्थमें एक साथ शीतता और उष्णता ये दोनों धर्म नहीं रह सकते हैं उसी प्रकारसे एक ही पदार्थमें नित्यत्व-अनित्यत्व, पृथक्त्वापृथक्त्व तथा एकत्वानेकत्व आदि परस्पर विरोधी धर्म भी एक साथ नहीं रह सकते हैं। परन्तु यदि इसपर गम्भीर दृष्टिसे विचार किया जाय तो उक्त धर्मोंके रहनेमें किसी प्रकारका विरोध प्रतिभासित नहीं होता है। जैसे– किसी एक ही पुरुषमें अपने पुत्रकी अपेक्षा पितृत्व और पिताकी अपेक्षा पुत्रत्व इन दोनों विरोधी धर्मोंके रहनेमें। एक ही वस्तुमें शीतता और उष्णताके रहनेमें जो विरोध बतलाया जाता है इसमें प्रत्यक्षसे बाधा आती है, क्योंकि, चीमटा आदिमें एक साथ वे दोनों (अग्रभागकी अपेक्षा उष्णत्व और पिछले भागकी अपेक्षा शीतता) धर्म प्रत्यक्षसे देखे जाते हैं। इसी प्रकार घट-पटादि सभी पदार्थोंमें द्रव्यकी अपेक्षा नित्यत्व और पर्यायकी अपेक्षा अनित्यत्व आदि परस्पर विरोधी दिखनेवाले धर्म भी पाये जाते हैं। कारण कि जब घटका विनाश होता है तब वह कुछ निरन्वय विनाश नहीं होता। किन्तु जो पुद्गल द्रव्य घट पर्यायमें था उसका पौद्गलिकत्व उसके नष्ट हो जानेपर उत्पन्न हुए ठीकरोंमें भी बना रहता है। अत एव पर्यायकी अपेक्षा ही उसका नाश कहा जावेगा, न कि पुद्गल द्रव्यकी अपेक्षा भी। इसी प्रकार अन्य धर्मोंके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये। इस प्रकार जो जड़बुद्धि पदार्थमें अनेक धर्मोंके प्रतीतिसिद्ध होनेपर भी उनमेंसे किसी एक ही धर्मको दुराग्रहके वश होकर स्वीकार करते हैं वे स्वयं ही अपने आपका अहित करते हैं ॥ ७ ॥ कितने ही जीव किसी शास्त्र आदिके निमित्तसे कुछ थोड़ा-सा ज्ञान पा करके इतने अधिक अभिमानको प्राप्त हो जाते हैं कि वे सभी लोगोंको मूर्ख समझकर अन्य किन्हीं भी विशिष्ट विद्वानोंका आश्रय नहीं लेते ॥८॥ दुखरूप संकुचित मार्गमें (गड्ढेमें) गिरते हुए प्राणीकी रक्षा धर्म ही करता है। परन्तु दूसरोंके द्वारा इसका स्वरूप भ्रान्तिके वश होकर विपरीत कर दिया गया है। अत एव मनुष्योंको उसे (धर्मको) परीक्षापूर्वक ग्रहण करना चाहिये ॥ ९ ॥ जो धर्म सर्वज्ञ और वीतरागके द्वारा कहा गया है वही यथार्थताको प्राप्त हो सकता है, क्योंकि पुरुषकी प्रमाणतासे ही वचनमें प्रमाणता मानी जाती है ॥ विशेषार्थ– वचनमें असत्यता या तो अल्पज्ञताके कारणसे होती है या फिर हृदयके राग-द्वेषसे दूषित होनेके कारण। इसीलिये जो पुरुष

१ श सर्ववित् सर्ववेत्ता सर्वज्ञाता वीतरागः ।

318) बहिर्विषयसंबन्धः सर्वः सर्वस्य सर्वदा । अतस्तद्भिन्नचैतन्यबोधयोगौ तु दुर्लभौ ॥ ११ ॥
319) लब्धिपञ्चकसामग्रीविशेषात्पात्रतां गतः । भव्यः सम्यग्दृगादीनां यः स मुक्तिपथे स्थितः ॥१२॥

पुंसः पुरुषस्य । प्रामाण्यतः वाचः प्रामाण्यम् । इष्यते कथ्यते ॥ १० ॥ बहिर्विषयसंबन्धः बाह्यविषयसंबन्धः सर्वः । सर्वस्य लोकस्य । सर्वदा सदैव वर्तते । अतः बाह्यसंबन्धात् वा अतः करणात् । तद्भिन्नचैतन्यबोधयोगौ तस्मात् बाह्यसंबन्धात् भिन्नौ यौ चैतन्यबोधयोगौ । तु पुनः । दुर्लभौ[1] ॥ ११ ॥ यः भव्यः लब्धिपञ्चकसामग्रीविशेषात्पात्रतां गतः । पञ्चकसामग्री किम् । खयउवसम्मविसोही देसणपाओग्गकरणलद्धीए । चत्तारि वि सामण्णा करणे सम्मत्तचारित्तं ॥' एका क्षयोपशमलब्धिः । तस्याः किं लक्षणम् । एकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तं श्रावककुलजन्म अनेकवारं प्राप्तः सम्यक्त्वेन विना १ । द्वितीया विशुद्धिलब्धिः । तस्याः किं लक्षणम् । दानपूजादिके परिणाम निर्मल अनेक वार भये सम्यग्दर्शन विना २ । तृतीया देशनालब्धिः । तस्याः किं लक्षणम् । गुरुको उपदेश सप्त तत्त्व नव पदार्थ पञ्चास्तिकाय षट् द्रव्य अनेकवार सुणी वखाणी सम्यग्दर्शन विना, अभ्यन्तरकी रुचि विना ३ । चतुर्थी प्रायोग्यलब्धिः । तस्याः किं लक्षणम् । सर्व कर्मनुकी स्थिति एक एक भाग आणि राखी तपके बल कर सम्यग्दर्शन विना पुनरपि सर्व कर्मनुकी सर्वदेशस्थिति बांधी ४ । करणलब्धिः पञ्चमी । तस्याः किं लक्षणम् । वह करणलब्धि सम्यग्दृष्टि जीवोंके होती है । करणलब्धेश्च भेदास्त्रयः अधःकरणम् अपूर्वकरणम् अनिवृत्तिकरणं च । अधःकरणं किम् । सम्यक्त्वके परिणाम मिथ्यात्वके परिणाम समान करै । द्वितीयगुणस्थाने । अपूर्वकरणं किम् । सम्यक्त्वके परिणाम अपूर्व चढहि । अनिवृत्तकरणं किम् । सम्यक्त्वके परिणामनिकी निवृत्ति नाहीं दिन दिन चढते आहि । इस संसारी जीवने विना सम्यक्त्वके चार लब्धि तो अनेकवार पाईं । परन्तु पञ्चमी करणलब्धि दुर्लभ है, क्योंकि वह संसारी जीवोंमें सम्यग्दृष्टिको ही होती है । यः भव्यः पञ्चसामग्रीविशेषात्पात्रतां गतः । केषाम् । सम्यग्दृगादीनाम् । स भव्यः मुक्तिपथे स्थितः ॥ १२ ॥ सम्यग्दृग्बोधचारित्रत्रितयं

अल्पज्ञ और राग-द्वेषसे सहित है उसका कहा हुआ धर्म प्रमाण नहीं हो सकता, किन्तु जो पुरुष सर्वज्ञ होनेके साथ ही राग-द्वेषसे रहित भी हो चुका है उसीका कहा हुआ धर्म प्रमाण माना जा सकता है ॥१०॥ सब बाह्य विषयोंका सम्बन्ध सभी प्राणियोंके और वह भी सदा काल ही रहता है । किन्तु उससे भिन्न चैतन्य और सम्यग्ज्ञानका सम्बन्ध ये दोनों दुर्लभ हैं ॥ ११ ॥ जो भव्य जीव क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण इन पांच लब्धियों रूप विशेष सामग्रीसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयको धारण करनेके योग्य बन चुका है वह मोक्षमार्गमें स्थित हो गया है ॥ विशेषार्थ—प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति जिन पांच लब्धियोंके द्वारा होती है उनका स्वरूप इस प्रकार है—**१. क्षयोपशमलब्धि**—जब पूर्वसंचित कर्मोंके अनुभागस्पर्धक विशुद्धिके द्वारा प्रत्येक समयमें उत्तरोत्तर अनन्तगुणे हीन होते हुए उदीरणाको प्राप्त होते हैं तब क्षयोपशमलब्धि होती है । **२. विशुद्धिलब्धि**—प्रतिसमय अनन्तगुणी हीनताके क्रमसे उदीरणाको प्राप्त कराये गये अनुभागस्पर्धकोंसे उत्पन्न हुआ जो जीवका परिणाम सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियोंके बन्धका कारण तथा असातावेदनीय आदि पाप प्रकृतियोंके अबन्धका कारण होता है उसे विशुद्धि कहते हैं । इस विशुद्धिकी प्राप्तिका नाम विशुद्धिलब्धि है । **३. देशनालब्धि**—जीवादि छह द्रव्यों तथा नौ पदार्थोंके उपदेशको देशना कहा जाता है । उस देशनामें लीन हुए आचार्य आदिकी प्राप्तिको तथा उनके द्वारा उपदिष्ट पदार्थके ग्रहण, धारण एवं विचार करनेकी शक्तिकी प्राप्तिको भी देशनालब्धि कहते हैं । **४. प्रायोग्यलब्धि**—सब कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थितिको घातकर उसे अन्तःकोड़ाकोड़ि मात्र स्थितिमें स्थापित करने तथा उक्त सब कर्मोंके उत्कृष्ट अनुभागको घातकर उसे द्विस्थानीय (घातियाकर्मोंके लता और दारुरूप तथा अन्य पाप प्रकृतियोंके नीम और कांजीर रूप) अनुभागमें स्थापित करनेको प्रायोग्यलब्धि कहा जाता है । ५. अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन प्रकारके परिणामोंकी

---

१ श पुनः तद्भिन्नचैतन्यबोधयोगौ दुर्लभौ ।

320) सम्यग्दृग्बोधचारित्रत्रितयं मुक्तिकारणम् । मुक्तावेव सुखं तेन तत्र यत्नो विधीयताम् ॥ १३ ॥
321) दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते । स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः ॥ १४ ॥
322) एकमेव हि चैतन्यं शुद्धनिश्चयतो ऽथवा । को ऽवकाशो विकल्पानां तत्राखण्डैकवस्तुनि ॥ १५ ॥
323) प्रमाणनयनिक्षेपा अर्वाचीने पदे स्थिताः । केवले च पुनस्तस्मिंस्तदेकं प्रतिभासते ॥ १६ ॥
324) निश्चयैकदृशा नित्यं तदेवैकं चिदात्मकम् । प्रपश्यामि गतभ्रान्तिर्व्यवहारदृशा परम् ॥ १७ ॥

मुक्तिकारणं मोक्षकारणम् । तेन कारणेन । मुक्तौ मोक्षे एव सुखम् । तत्र मुक्तौ मोक्षे । यत्नः विधीयतां क्रियताम् ॥ १३ ॥ पुंसि आत्मनि निश्चयः दर्शनम् । तस्मिन् आत्मनि बोधः तद्बोधः । इष्यते कथ्यते । अत्रैव आत्मनि स्थितिः चारित्रम् । इति त्रयम् । शिवाश्रयः योगः त्रयं मोक्षकारणम् ॥ १४ ॥ अथवा । हि यतः । शुद्धनिश्चयनः एकं चैतन्यं तत्त्वम्[2] एव अस्ति । तत्र अखण्डैक-वस्तुनि आत्मनि विषये । विकल्पानाम् अवकाशः कः । अपि तु अवकाशः नास्ति ॥ १५ ॥ च पुनः । प्रमाणनयनिक्षेपाः । अर्वाचीनपदे व्यवहारपदे । स्थिताः । तस्मिन् केवले । तत् एकं चैतन्यम् । प्रतिभासते शोभते ॥ १६ ॥ निश्चयैकदृशा । नित्यं सदैव । एकम् । [तत् चिदात्मकं] चैतन्यतत्त्वम् । प्रतिभासते । चैतन्यतत्त्वं गतभ्रान्तिः प्रपश्यामि । व्यवहारदृशा व्यवहार-नेत्रेण । अपरं दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूपं प्रतिभासते ॥ १७ ॥ यः आत्मनि विषये आत्मना कृत्वा आत्मना ज्ञात्वा स्थिरः तिष्ठेत् स

प्राप्तिको **करणलब्धि** कहते हैं । जिन परिणामोंमें उपरितनसमयवर्ती परिणाम अधस्तनसमयवर्ती परिणामोंके सदृश होते हैं उन्हें अधःप्रवृत्तकरण कहा जाता है (विशेष जाननेके लिये देखिये षट्खण्डागम पु. ६, पृ. २१४ आदि) । प्रत्येक समयमें उत्तरोत्तर जो अपूर्व अपूर्व ही परिणाम होते हैं वे अपूर्वकरण परिणाम कहलाते हैं । इनमें भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम सर्वथा विसदृश तथा एक समयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश और विसदृश भी होते हैं । जो परिणाम एक समयवर्ती जीवोंके सर्वथा सदृश तथा भिन्न समयवर्ती जीवोंके सर्वथा विसदृश ही होते हैं उन्हें अनिवृत्तिकरण परिणाम कहा जाता है । प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति इन तीन प्रकारके परिणामोंके अन्तिम समयमें होती है । उपर्युक्त पांच लब्धियोंमें पूर्वकी चार लब्धियां भव्य और अभव्य दोनोंके भी समान रूपसे होती हैं । किन्तु पांचवीं करणलब्धि सम्यक्त्वके अभिमुख हुए भव्य जीवके ही होती है ॥ १२ ॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों एकत्रित स्वरूपसे मोक्षके कारण हैं । और वास्तविक सुख उस मोक्षमें ही है । इसलिये उस मोक्षके विषयमें प्रयत्न करना चाहिये ॥ १३ ॥ आत्माके विषयमें जो निश्चय हो जाता है उसे सम्यग्दर्शन, उस आत्माका जो ज्ञान होता है उसे सम्यग्ज्ञान, तथा उसी आत्मामें स्थिर होनेको सम्यक्चारित्र कहा जाता है । इन तीनोंका संयोग मोक्षका कारण होता है ॥ १४ ॥ अथवा शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे ये (सम्यग्दर्शनादि) तीनों एक चैतन्यस्वरूप ही हैं । कारण कि उस अखण्ड एक वस्तु (आत्मा) में भेदोंके लिये स्थान ही कौन-सा है? ॥ विशेषार्थ— ऊपर जो सम्यग्दर्शन आदिका पृथक् पृथक् स्वरूप बतलाया गया है वह व्यवहार-नयकी अपेक्षासे है । शुद्ध निश्चयनयसे उन तीनोंमें कोई भेद नहीं है, क्योंकि वे तीनों अखण्ड आत्मासे अभिन्न हैं । इसीलिये उनमें भेदकी कल्पना भी नहीं हो सकती है ॥ १५ ॥ प्रमाण, नय और निक्षेप ये अर्वाचीन पदमें स्थित हैं, अर्थात् जब व्यवहारनयकी मुख्यतासे वस्तुका विवेचन किया जाता है तभी इनका उपयोग होता है । किन्तु शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिमें केवल एक शुद्ध आत्मा ही प्रतिभासित होता है । वहां वे उपर्युक्त सम्यग्दर्शनादि तीनों भी अभेदरूपमें एक ही प्रतिभासित होते हैं ॥ १६ ॥ मैं निश्चयनयरूप अनु-पम नेत्रसे सदा भ्रान्तिसे रहित होकर उसी एक चैतन्य स्वरूपको देखता हूं । किन्तु व्यवहारनयरूप नेत्रसे

१ श 'एव' इति नास्ति । २ श चैतन्यतत्त्वं ।

325) अजमेकं परं शान्तं सर्वोपाधिविवर्जितम् । आत्मानमात्मना ज्ञात्वा तिष्ठेदात्मनि यः स्थिरः ॥१८॥
326) स एवामृतमार्गस्थः स एवामृतमश्नुते । स एवार्हन् जगन्नाथः स एव प्रभुरीश्वरः ॥ १९ ॥
327) केवलज्ञानदृक्सौख्यस्वभावं तत्परं महः । तत्र ज्ञाते न किं ज्ञातं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम् ॥ २० ॥
328) इति ज्ञेयं तदेवैकं श्रवणीयं तदेव हि । द्रष्टव्यं च तदेवैकं नान्यन्निश्चयतो बुधैः ॥ २१ ॥
329) गुरूपदेशतोऽभ्यासाद्वैराग्यादुपलभ्य यत् । कृतकृत्यो भवेद्योगी तदेवैकं न चापरम् ॥ २२ ॥
330) तत्प्रतिप्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता । निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम् ॥२३॥
331) जानीते यः परं ब्रह्म कर्मणः पृथगेकताम् । गतं तद्गतबोधात्मा तत्स्वरूपं स गच्छति ॥ २४ ॥

ज्ञानवान् । किंलक्षणम् आत्मानम् । अजं जन्मरहितम् । एकम् अद्वितीयम् । परम् उत्कृष्टम् । शान्तम् । सर्वोपाधिविवर्जितम् ॥१८॥ यः आत्मनि विषये स्थिरः भवेत् स एव अमृतमार्गस्थः । स एव अमृतम् अश्नुते आत्मानम् अनुभवति । स एव अर्हन् पूज्यः । स एव जगन्नाथः । स एव प्रभुः । स एव ईश्वरः ॥ १९ ॥ तत्परं महः केवलज्ञानदृक्सौख्यस्वभावं वर्तते । तत्र तस्मिन् महसि । ज्ञाते सति किं न ज्ञातम् । तत्र तस्मिन् स्वभावे दृष्टे सति किं न दृष्टम् । तत्र तस्मिन् आत्मनि श्रुते सति किं न श्रुतम् । सर्वं ज्ञातं सर्वं श्रुतं सर्वं दृष्टम् ॥ २० ॥ इति पूर्वोक्तप्रकारेण । बुधैः पण्डितैः । तदेव एकम् आत्मतत्त्वम् । ज्ञेयं ज्ञातव्यम् । हि यतः । तदेव आत्मतत्त्वं श्रयणीयम्[1] । च पुनः । तदेव आत्मतत्त्वं द्रष्टव्यं निश्चयतः । अन्यत् न ॥ २१ ॥ योगी मुनीश्वरः । यत् आत्मतत्त्वम् । गुरूपदेशतः । उपलभ्य प्राप्य । वा अभ्यासात् आत्मतत्त्वं प्राप्य । अथवा वैराग्यात् आत्मतत्त्वम् उपलभ्य प्राप्य । कृतकृत्यः कर्मरहितः भवेत्[2] । तदेव एकम् आत्मतत्त्वम् अपरं न ॥ २२ ॥ हि यतः । येन पुरुषेण । तस्य आत्मनः वार्ता अपि श्रुता भवति । किंलक्षणेन पुरुषेण । तत्प्रतिप्रीतिचित्तेन तस्य आत्मनः प्रति प्रीतिचित्तेन । निश्चितम् । स भव्यः भवेत् भावि-आगामिनिर्वाणभाजनं मोक्षपात्रं भवेत् ॥ २३ ॥ यः परम् उत्कृष्टम् । ब्रह्म जानीते । तद्गतबोधात्मा तस्मिन् आत्मनि गतः प्राप्तः बोधात्मा । तत्स्वरूपं[3] तस्य आत्मनः स्वरूपम् । गच्छति । किंलक्षणं ब्रह्म । कर्मणः सकाशात् । पृथक् भिन्नम् । आत्मनि एकतां गतं प्राप्तम् ॥ २४ ॥ हि यतः । केनापि परेण परवस्तुना सह संबन्धः कर्मबन्धकारणम् ।

उक्त सम्यग्दर्शनादिको पृथक् पृथक् स्वरूपसे देखता हूं ॥ १७ ॥ जो महात्मा जन्म-मरणसे रहित, एक, उत्कृष्ट, शान्त और सब प्रकारके विशेषणोंसे रहित आत्माको आत्माके द्वारा जानकर उसी आत्मामें स्थिर रहता है वही अमृत अर्थात् मोक्षके मार्गमें स्थित होता है, वही मोक्षपदको प्राप्त करता है। तथा वही अरहन्त तीनों लोकोंका स्वामी, प्रभु एवं ईश्वर कहा जाता है ॥ १८–१९ ॥ केवलज्ञान, केवलदर्शन और अनन्त सुखस्वरूप जो वह उत्कृष्ट तेज है उसके जान लेनेपर अन्य क्या नहीं जाना गया, उसके देख लेनेपर अन्य क्या नहीं देखा गया, तथा उसके सुन लेनेपर अन्य क्या नहीं सुना गया ? अर्थात् एक मात्र उसके जान लेनेपर सब कुछ ही जान लिया गया है, उसके देख लेनेपर सब कुछ ही देखा जा चुका है, तथा उसके सुन लेनेपर सभी कुछ सुन लिया गया है ॥ २० ॥ इस कारण विद्वान् मनुष्योंके द्वारा निश्चयसे वही एक उत्कृष्ट आत्मतेज जाननेके योग्य है, वही एक सुननेके योग्य है, तथा वही एक देखनेके योग्य है; उससे भिन्न अन्य कुछ भी न जाननेके योग्य है, न सुननेके योग्य है, और न देखनेके योग्य है ॥ २१ ॥ योगीजन गुरुके उपदेशसे, अभ्याससे और वैराग्यसे उसी एक आत्मतेजको प्राप्त करके कृत-कृत्य (मुक्त) होते हैं, न कि उससे भिन्न किसी अन्यको प्राप्त करके ॥ २२ ॥ उस आत्मतेजके प्रति मनमें प्रेमको धारण करके जिसने उसकी बात भी सुनी है वह निश्चयसे भव्य है व भविष्यमें प्राप्त होनेवाली मुक्तिका पात्र है ॥ २३ ॥ जो ज्ञानस्वरूप जीव कर्मसे पृथक् होकर अभेद अवस्थाको प्राप्त हुई उस उत्कृष्ट आत्माको जानता है और उसमें लीन होता है वह स्वयं ही उसके स्वरूपको प्राप्त हो जाता है

१ श आश्रयणीयम् । २ क कृतकृत्यो भवेत् । ३ क बोधात्मा स्वरूपं ।

332) केनापि हि परेण स्यात्संबन्धो बन्धकारणम् । परैकत्वपदे शान्ते मुक्तये स्थितिरात्मनः ॥२५॥
333) विकल्पोर्मिभरत्यक्तः शान्तः कैवल्यमाश्रितः । कर्माभावे भवेदात्मा वाताभावे समुद्रवत् ॥२६॥
334) संयोगेन यदायातं मत्तस्तत्सकलं परम् । तत्परित्यागयोगेन मुक्तो ऽहमिति मे मतिः ॥ २७ ॥
335) किं मे करिष्यतः क्रूरौ शुभाशुभनिशाचरौ । रागद्वेषपरित्यागमहामन्त्रेण कीलितौ ॥ २८ ॥
336) संबन्धे ऽपि सति त्याज्यौ रागद्वेषौ महात्मभिः । विना तेनापि ये कुर्युस्ते कुर्युः किं न वातुलाः ॥
337) मनोवाक्कायचेष्टाभिस्तद्विधं कर्म जृम्भते । उपास्यते तदेवैकं ताभ्यो[1] भिन्नं मुमुक्षुभिः ॥ ३० ॥

स्याद्भवेत् । पर–श्रेष्ठ–एकत्वपदे शान्ते आत्मनः स्थितिः । मुक्तये मोक्षाय भवति ॥ २५ ॥ आत्मा शान्तः भवेत् । किंलक्षण आत्मा । विकल्प–ऊर्मिभरत्यक्तः रहितः । कैवल्यम् आश्रितः । शान्तः भवेत् । क सति । कर्माभावे सति । किंवत् । वाताभावे पवनाभावे । समुद्रवत् ॥ २६ ॥ यत् संयोगेन आयातं वस्तु तत्सकलं वस्तु मत्तः सकाशात् । परं भिन्नम् । तत्परित्यागयोगेन तस्य वस्तुनः परित्यागयोगेन । अहं मुक्तः इति मे मतिः ॥ २७ ॥ शुभाशुभनिशाचरौ पुण्यपापराक्षसौ द्वौ । मे किं करिष्यतः । किंलक्षणौ पुण्यपापराक्षसौ । रागद्वेषपरित्यागमहामन्त्रेण कीलितौ ॥ २८ ॥ महात्मभिः भव्यैः । संबन्धेऽपि सति रागद्वेषौ त्याज्यौ । ये मूर्खाः । तेन संबन्धेन विना अपि रागद्वेषं कुर्युः । ते मूर्खाः । किं न कुर्युः ॥ २९ ॥ मनोवाक्कायचेष्टाभिः । तद्विधं पुण्यपापरूपं कर्म । जृम्भते प्रसरति । मुमुक्षुभिः मुनीश्वरैः । तत् एव एकम् आत्मतत्त्वम् । उपास्यते सेव्यते । किंलक्षणम् आत्मतत्त्वम् । तेभ्यः पूर्वोक्तेभ्यः पापपुण्येभ्यो[2] भिन्नम् ॥ ३० ॥ खलु इति निश्चितम् । द्वैततः कर्मबन्धात् । द्वैतं संसारः जायते । अद्वैतात्

अर्थात् परमात्मा बन जाता है ॥ २४ ॥ किसी भी पर पदार्थसे जो सम्बन्ध होता है वह बन्धका कारण होता है, किन्तु शान्त व उत्कृष्ट एकत्वपदमें जो आत्माकी स्थिति होती है वह मुक्तिका कारण होती है ॥२५॥ कर्मके अभावमें यह आत्मा वायुके अभावमें समुद्रके समान विकल्पोंरूप लहरोंके भारसे रहित और शान्त होकर कैवल्य अवस्थाको प्राप्त हो जाती है ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार वायुका संचार न होनेपर समुद्र लहरोंसे रहित, शान्त और एकत्व अवस्थासे युक्त होता है उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मोंका अभाव हो जानेपर यह आत्मा सब प्रकारके विकल्पोंसे रहित, शान्त (क्रोधादि विकारोंसे रहित) और केवली अवस्थासे युक्त हो जाता है ॥ २६ ॥ संयोगसे जो कुछ भी प्राप्त हुआ है वह सब मुझसे भिन्न है । उसका परित्याग कर देनेके सम्बन्धसे मैं मुक्त हो चुका, ऐसा मेरा निश्चय है ॥ विशेषार्थ–यह प्राणी स्त्री, पुत्र, मित्र एवं धन-सम्पत्ति आदि पर पदार्थोंके संयोगसे ही अनेक प्रकारके दुःखोंको भोगता है, अत एव उक्त संयोगका ही परित्याग करना चाहिये । ऐसा करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ २७ ॥ जिन पुण्य और पापरूप दोनों दुष्ट राक्षसोंको राग-द्वेषके परित्यागरूप महामंत्रके द्वारा कीलित किया जा चुका है वे अब मेरा (आत्माका) क्या कर सकेंगे? अर्थात् वे कुछ भी हानि नहीं कर सकेंगे ॥ विशेषार्थ–जो पुण्य और पापरूप कर्म प्राणीको अनेक प्रकारका कष्ट (पारतंत्र्य आदि) दिया करते हैं उनका बन्ध राग और द्वेषके निमित्तसे ही होता है । अत एव उक्त राग-द्वेषका परित्याग कर देनेसे उनका बन्ध स्वयमेव रुक जाता है और इस प्रकारसे आत्मा स्वतंत्र हो जाता है ॥२८॥ महात्माओंको सम्बन्ध (निमित्त) के भी होनेपर उन राग-द्वेषका परित्याग करना चाहिये । जो जीव उस (सम्बन्ध) के विना भी राग-द्वेष करते हैं वे वातरोगसे ग्रसित रोगीके समान अपना कौन-सा अहित नहीं करते हैं? अर्थात् वे अपना सब प्रकारसे अहित करते हैं ॥ २९ ॥ मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिसे उस प्रकारका अर्थात् तदनुसार पुण्य-पापरूप कर्म वृद्धिंगत होता है । अत एव मुमुक्षु जन उक्त मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिसे भिन्न उसी एक आत्मतत्त्वकी उपासना किया करते हैं ॥३०॥ द्वैतभावसे नियमतः

१ अ क श तेभ्यो । २ क तेभ्यः पुण्यपापेभ्यो ।

338) द्वैततो द्वैतमद्वैतादद्वैतं खलु जायते । लोहाल्लोहमयं पात्रं हेम्नो हेममयं यथा ॥ ३१ ॥
339) निश्चयेन तदेकत्वमद्वैतममृतं परम् । द्वितीयेन कृतं द्वैतं संसृतिर्व्यवहारतः ॥ ३२ ॥
340) बन्धमोक्षौ रतिद्वेषौ कर्मात्मानौ शुभाशुभौ । इति द्वैताश्रिता बुद्धिरसिद्धिरभिधीयते ॥ ३३ ॥
341) उदयोदीरणा सत्ता प्रबन्धः खलु कर्मणः । बोधात्मधाम सर्वेभ्यस्तदेवैकं परं परम् ॥ ३४ ॥
342) क्रोधादिकर्मयोगे ऽपि निर्विकारं परं महः । विकारकारिभिर्मेघैर्न विकारि नभो भवेत् ॥ ३५ ॥

अबन्धात् संवरात् । अद्वैतं मुक्तिः जायते । यथा लोहात् लोहमयं पात्रं भवति । हेम्नः सुवर्णात् । हेममयं सुवर्णमयम् । पात्रं जायते ॥ ३१ ॥ निश्चयेन तत् एकत्वम् अद्वैतम् । परम् उत्कृष्टम् । अमृतम् अस्ति । द्वितीयेन कर्मणा । कृतं द्वैतम् अस्ति । व्यवहारतः संसृतिः संसारः ॥ ३२ ॥ बन्धमोक्षौ रतिद्वेषौ कर्मात्मानौ । शुभाशुभौ पापपुण्यौ । इति द्वैताश्रिती[1] बुद्धिः । असिद्धिः संसार-कारिणी । अभिधीयते कथ्यते ॥ ३३ ॥ खलु इति निश्चितम् । उदय उदीरणा सत्ता कर्मणः । प्रबन्धः समूहः । गलत्कर्म[फल]-दानैपरिणतिः[2] उदयः । अपक्वपाचनम् उदीरणा । सत्ता अस्तित्वम् । तेषां प्रबन्धः । तदेव परं ज्योतिः । सर्वेभ्यः कर्मभ्यः[3] । परं भिन्नम् । एकम् । बोधात्मधाम ज्ञानगृहम् ॥ ३४ ॥ भो मुने । क्रोधादिकर्मयोगेऽपि परं महः निर्विकारं जानीहि । विकारकारिभिः विकारकरणैस्वभावैः[4] मेघैः नभः विकारि न भवेत् । पञ्चवर्णयुक्तैः मेघैः कृत्वा आकाशद्रव्यं पञ्चवर्णरूपं न क्रियते इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

द्वैत और अद्वैतभावसे अद्वैत उत्पन्न होता है । जैसे लोहेसे लोहेका तथा सुवर्णसे सुवर्णका ही वर्तन उत्पन्न होता है ॥ विशेषार्थ– आत्मा और कर्म तथा बन्ध और मोक्ष इत्यादि प्रकारकी बुद्धि द्वैतबुद्धि कही जाती है । ऐसी बुद्धिसे द्वैतभाव ही बना रहता है, जिससे कि संसारपरिभ्रमण अनिवार्य हो जाता है । किन्तु मैं एक ही हूं, अन्य बाह्य पदार्थ न मेरे हैं और न मै उनका हूं, इस प्रकारकी बुद्धि अद्वैत-बुद्धि कहलाती है । इस प्रकारके विचारसे वह अद्वैतभाव सदा जागृत रहता है, जिससे कि अन्तमें मोक्ष भी प्राप्त हो जाता है । इसके लिये यहां यह उदाहरण दिया गया है कि जिस प्रकार लोह धातुसे लोहस्वरूप तथा सुवर्णसे सुवर्ण-स्वरूप ही पात्र बनता है उसी प्रकार द्वैतबुद्धिसे द्वैतभाव तथा अद्वैतबुद्धिसे अद्वैतभाव ही होता है ॥ ३१ ॥ निश्चयसे जो वह एकत्व है वही अद्वैत है जो कि उत्कृष्ट अमृत अर्थात् मोक्षस्वरूप है । किन्तु दूसरे (कर्म या शरीर आदि) के निमित्तसे जो द्वैतभाव उदित होता है वह व्यवहारकी अपेक्षा रखनेसे संसारका कारण होता है ॥ ३२ ॥ बन्ध और मोक्ष, राग और द्वेष, कर्म और आत्मा, तथा शुभ और अशुभ; इस प्रकारकी बुद्धि द्वैतके आश्रयसे होती है जो संसारका कारण कही जाती है ॥ ३३ ॥ उदय, उदीरणा और सत्त्व यह सब निश्चयसे कर्मका विस्तार है । किन्तु ज्ञानरूप जो आत्माका तेज है वह उन सबसे भिन्न, एक और उत्कृष्ट है ॥ विशेषार्थ– स्थितिके पूर्ण होनेपर निर्जीर्ण होता हुआ कर्म जो फलदानके सन्मुख होता है इसे उदय कहा जाता है । उदयकालके प्राप्त न होनेपर भी अपकर्षणके द्वारा जो कर्मनिषेक उदयमें स्थापित कराये जाते हैं, इसे उदीरणा कहते हैं । ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियोंका कर्मस्वरूपसे अवस्थित रहनेको सत्त्व कहा जाता है ॥ ३४ ॥ क्रोधादि कर्मोंका संयोग होनेपर भी वह उत्कृष्ट आत्मतेज विकारसे रहित ही होता है । ठीक भी है– विकारको करनेवाले मेघोंसे कभी आकाश विकारयुक्त नहीं होता है ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार आकाशमें विकारको उत्पन्न करनेवाले मेघोंके रहनेपर भी वह आकाश विकारको प्राप्त नहीं होता, किन्तु स्वभावसे स्वच्छ ही रहता है । उसी प्रकार आत्माके साथ क्रोधादि कर्मोंका संयोग रहनेपर भी उससे आत्मामें विकार नहीं उत्पन्न होता, किन्तु वह स्वभावसे निर्विकार ही रहता है ॥ ३५ ॥

---

१ श द्वैतं आश्रिता । २ अ श गलत्कर्मकालदान । ३ क कर्मेभ्यः । ४ अ विकारिकरण, क विकारकारण ।

343) नामापि हि परं तस्मान्निश्चयात्तदनामकम् । जन्ममृत्यादि चाशेषं वपुर्धर्मं विदुर्बुधाः ॥ ३६ ॥
344) बोधेनापि युतिस्तस्य चैतन्यस्य तु कल्पना । स च तच्च तयोरैक्यं निश्चयेन विभाव्यते ॥३७॥
345) क्रियाकारकसंबन्धप्रबन्धोज्झितमूर्ति यत् । एवं ज्योतिस्तदेवैकं शरण्यं मोक्षकाङ्क्षिणाम् ॥
346) तदेकं परमं ज्ञानं तदेकं शुचि दर्शनम् । चारित्रं च तदेकं स्यात् तदेकं निर्मलं तपः ॥ ३९ ॥
347) नमस्यं च तदेवैकं तदेवैकं च मङ्गलम् । उत्तमं च तदेवैकं तदेव शरणं सताम् ॥ ४० ॥
348) आचारश्च तदेवैकं तदेवावश्यकक्रिया । स्वाध्यायस्तु तदेवैकमप्रमत्तस्य योगिनः ॥ ४१ ॥

हि यतः । निश्चयात् । तस्मात्[1] आत्मनः नाम अपि । परं भिन्नम् । तज्ज्योतिः । अनामकम् अस्ति । च पुनः । जन्ममृत्यादि । अशेषं समस्तं कष्टम् । बुधाः पण्डिताः । वपुर्धर्मं शरीरस्वभावम् । विदुः जानन्ति ॥ ३६ ॥ तस्य चैतन्यस्य बोधेनापि युतिः[2] संयोगः तु कल्पनामात्रम् । स[3] बोधः । तत् चैतन्यम् । निश्चयेन । तयोः बोधचैतन्ययोः ऐक्यम् । विभाव्यते कथ्यते ॥ ३७ ॥ यत् एवं ज्योतिस्तदेव एकम् । मोक्षकाङ्क्षिणां मुक्तिवाञ्छकानां मुनीनां शरण्यम् । एवं किंलक्षणं ज्योतिः । क्रियाकारकसंबन्धप्रबन्धेन उज्झितमूर्ति । स्थानात् अन्यस्थानगमनं क्रिया । क्रियते[4] इति कारकम् । संबन्धे षष्ठी । केनचित्सह संबन्धः । तेषां त्रयाणां क्रियाकारकसंबन्धानां प्रबन्धः समूहः तेन उज्झिता रहिता मूर्तिः यस्य तत् ॥ ३८ ॥ तत् एकं ज्योतिः परमं ज्ञानम् । तत् एकं ज्योतिः शुचि दर्शनम् । च पुनः । तदेकं ज्योतिः चारित्रं स्यात् भवेत् । तत् एकं ज्योतिः निर्मलं तपः । निश्चयेन । सर्वगुणमयं ज्योतिः ॥ ३९ ॥ भो भव्याः । तत् ज्योतिः । नमस्यं नमस्करणीयम् । तदेव एकं ज्योतिः । सतां साधूनाम् । मङ्गलम् अस्ति । च पुनः । तदेव ज्योतिः । सतां साधूनाम् । उत्तमं श्रेष्ठम् अस्ति । च पुनः । तदेव एकं ज्योतिः सतां साधूनाम् । शरण्यम् अस्ति ॥ ४० ॥ अप्रमत्तगुणस्थानवर्तिनः सप्तमगुणस्थानवर्तिनः । योगिनः मुनेः । तदेव एकं ज्योतिः

आत्माका वाचक शब्द भी निश्चयतः उससे भिन्न है, क्योंकि, निश्चयनयकी अपेक्षा वह आत्मा संज्ञासे रहित (अनिर्वचनीय) है । अर्थात् वाच्य-वाचकभाव व्यवहार नयके आश्रित है, न कि निश्चय नयके । विद्वज्जन जन्म और मरण आदि सबको शरीरका धर्म समझते हैं ॥ ३६ ॥ उस चैतन्यका ज्ञानके साथ भी जो संयोग है वह केवल कल्पना है, क्योंकि, ज्ञान और चैतन्य इन दोनोंमें निश्चयसे अभेद जाना जाता है ॥ ३७ ॥ जो आत्मज्योति गमनादिरूप क्रिया, कर्ता आदि कारक और उनके सम्बन्धके विस्तारसे रहित है वही एक मात्र ज्योति मोक्षाभिलाषी साधु जनोंके लिये शरणभूत है ॥ ३८ ॥ वही एक आत्मज्योति उत्कृष्ट ज्ञान है, वही एक आत्मज्योति निर्मल सम्यग्दर्शन है, वही एक आत्मज्योति चारित्र है, तथा वही एक आत्मज्योति निर्मल तप है ॥ विशेषार्थ– अभिप्राय यह है कि जब स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट हो जाता है तब शुद्ध चैतन्य स्वरूप एक मात्र आत्माका ही अनुभव होता है । उस समय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप आदिमें कुछ भी भेद नहीं रहता । इसी प्रकार ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेयका भी कुछ भेद नहीं रहता; क्योंकि, उस समय वही एक मात्र आत्मा ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता बन जाता है । इसीलिये इस अवस्थामें कर्ता, कर्म और करण आदि कारकोंका भी सब भेद समाप्त हो जाता है ॥ ३९ ॥ वही एक आत्मज्योति नमस्कार करनेके योग्य है, वही एक आत्मज्योति मंगल स्वरूप है, वही एक आत्मज्योति उत्तम है, तथा वही एक आत्मज्योति साधुजनोंके लिये शरणभूत है ॥ विशेषार्थ– "चत्तारि मंगलं, अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं । चत्तारि लोगुत्तमा ··· " इत्यादि प्रकारसे जो अरहंत, सिद्ध, साधु और केवलीकथित धर्म इन चारको मंगल, लोकोत्तम तथा शरणभूत बतलाया गया है वह व्यवहारनयकी प्रधानतासे है । शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा तो केवल एक वह आत्मज्योति ही मंगल, लोकोत्तम और शरणभूत है ॥ ४० ॥ प्रमादसे रहित हुए मुनिका वही एक आत्मज्योति आचार है, वही एक आत्म-

१ क निश्चयात् ततः तस्मात् । २ अ श 'बोधेन सह युतिः' । ३ श कल्पना सः । ४ क गमनं क्रियते ।

349) गुणाः शीलानि सर्वाणि धर्मश्चात्यन्तनिर्मलः। संभाव्यन्ते परं ज्योतिस्तदेकमनुतिष्ठतः ॥ ४२ ॥
350) तदेवैकं परं रत्नं सर्वशास्त्रमहोदधेः। रमणीयेषु सर्वेषु तदेकं पुरतः स्थितम् ॥ ४३ ॥
351) तदेवैकं परं तत्त्वं तदेवैकं परं पदम्। भव्याराध्यं तदेवैकं तदेवैकं परं महः ॥ ४४ ॥
352) शस्त्रं जन्मतरुच्छेदि तदेवैकं सतां मतम्। योगिनां योगनिष्ठानां तदेवैकं प्रयोजनम् ॥ ४५ ॥
353) मुमुक्षूणां तदेवैकं मुक्तेः पन्था न चापरः। आनन्दोऽपि न चान्यत्र तद्विहाय विभाव्यते ॥
354) संसारघोरघर्मेण सदा तप्तस्य देहिनः। यन्त्रधारागृहं शान्तं तदेव हिमशीतलम् ॥ ४७ ॥
355) तदेवैकं परं दुर्गमगम्यं कर्मविद्विषाम्। तदेवैतत्तिरस्कारकारि सारं निजं बलम् ॥ ४८ ॥
356) तदेव महती विद्या स्फुरन्मन्त्रस्तदेव हि। औषधं तदपि श्रेष्ठं जन्मव्याधिविनाशनम् ॥ ४९ ॥

आचारः। तदेव एकं ज्योतिः आवश्यकक्रिया। तु पुनः। तदेव एकं ज्योतिः स्वाध्यायः ॥ ४१ ॥ तदेकं परं ज्योतिः। अनुतिष्ठतः विचारयतः। अथवा तज्ज्योतिः प्रवर्तयतः[1] मुनेः। गुणाः संभाव्यन्ते। सर्वाणि शीलानि संभाव्यन्ते। अत्यन्तनिर्मलः धर्मः संभाव्यते कथ्यते ॥ ४२ ॥ तदेव एकं ज्योतिः सर्वशास्त्रसमुद्रस्य परं रत्नं वर्तते। सर्वेषु रमणीयेषु वस्तुषु तदेव एकं ज्योतिः। पुरतः अग्रतः। स्थितम् अस्ति ॥ ४३ ॥ तदेव एकं ज्योतिः परं तत्त्वम् अस्ति। तदेव एकं ज्योतिः परं पदम् अस्ति। तदेव एकं ज्योतिः भव्यैः आराध्यम् अस्ति। तदेव एकं ज्योतिः परं महः अस्ति ॥ ४४ ॥ तदेव एकं ज्योतिः जन्मतरुच्छेदि शस्त्रं संसारवृक्षच्छेदकम् अस्ति। सतां साधूनां संसारच्छेदकं मतम्। योगिनिष्ठानां ध्यानतत्पराणां योगिनां तदेव एकं ज्योतिः प्रयोजनं कार्यम् अस्ति ॥ ४५ ॥ मुमुक्षूणां मुक्तिवाञ्छकानां मुनीनाम्। तदेव एकं ज्योतिः। मुक्तेः मोक्षस्य। पन्था मार्गः वर्तते। च पुनः। अपरः मार्गः न अस्ति। च पुनः। तद्विहाय चैतन्यं विहाय त्यक्त्वा। अन्यत्र स्थाने। आनन्दः अपि। न विभाव्यते न कथ्यते ॥ ४६ ॥ तदेव ज्योतिः। देहिनः जीवस्य। यन्त्रधारागृहं लतागृहम् अस्ति[2]। किंलक्षणस्य देहिनः। संसार-घोरघर्मेण संसाररुद्र-आतपेन सदा तप्तस्य दुःखितस्य। किंलक्षणं ज्योतिः। शान्तम्। पुनः किंलक्षणं ज्योतिः। हिमशीतलम्। प्रालेयवच्छीतलम् ॥ ४७ ॥ तदेव एकं ज्योतिः परं दुर्गम् अस्ति। किंलक्षणं ज्योतिः। कर्मविद्विषां कर्मशत्रूणाम्। अगम्यम्। तदेव ज्योतिः। एतत्कर्मशत्रूणाम्। तिरस्कारं करोति तत् तिरस्कारकारि। पुनः किंलक्षणं ज्योतिः। यस्मिन् निजं स्वकीयम्। सारं श्रेष्ठं बलं वर्तते ॥ ४८ ॥ तदेव ज्योतिः महती विद्या वर्तते। तदेव ज्योतिः स्फुरन्मन्त्रः अस्ति। तदपि ज्योतिः श्रेष्ठम्

ज्योति आवश्यक क्रिया है, तथा वही एक आत्मज्योति स्वाध्याय भी है ॥ ४१ ॥ केवल उसी एक उत्कृष्ट आत्मज्योतिका अनुष्ठान करनेवाले साधुके गुणोंकी, समस्त शीलोंकी और अत्यन्त निर्मल धर्मकी भी सम्भावना है ॥ ४२ ॥ समस्त शास्त्ररूपी महासमुद्रका उत्कृष्ट रत्न वही एक आत्मज्योति है तथा वही एक आत्मज्योति सब रमणीय पदार्थोंमें आगे स्थित अर्थात् श्रेष्ठ है ॥ ४३ ॥ वही एक आत्मज्योति उत्कृष्ट तत्त्व है, वही एक आत्मज्योति उत्कृष्ट पद है, वही एक आत्मज्योति भव्य जीवोंके द्वारा आराधन करने योग्य है, तथा वही एक आत्मज्योति उत्कृष्ट तेज है ॥ ४४ ॥ वही एक आत्मज्योति साधुजनोंके लिये जन्मरूपी वृक्षको नष्ट करनेवाला शस्त्र माना जाता है तथा समाधिमें स्थित योगी जनोंका अभीष्ट प्रयोजन उसी एक आत्मज्योतिकी प्राप्ति है ॥ ४५ ॥ मोक्षाभिलाषी जनोंके लिये मोक्षका मार्ग वही एक आत्मज्योति है, दूसरा नहीं है। उसको छोड़कर किसी दूसरे स्थानमें आनन्दकी भी सम्भावना नहीं है ॥ ४६ ॥ शान्त और बर्फके समान शीतल वही आत्मज्योति संसाररूपी भयानक घामसे निरन्तर सन्तापको प्राप्त हुए प्राणीके लिये यन्त्रधारागृह (फुव्वारोंसे युक्त घर) के समान आनन्ददायक है ॥ ४७ ॥ वही एक आत्मज्योति कर्मरूपी शत्रुओंके लिये दुर्गम ऐसा उत्कृष्ट दुर्ग (किला) है तथा वही यह आत्मज्योति इन कर्मरूपी शत्रुओंको तिरस्कृत करनेवाली अपनी श्रेष्ठ सेना है ॥ ४८ ॥ वही आत्मज्योति विपुल बोध है, वही प्रकाशमान मंत्र है, तथा वही

---

१ अ श प्रतिवर्तयतः। २ क 'अस्ति' इति नास्ति।

357) अक्षयस्याक्षयानन्दमहाफलभरश्रियः। तदेवैकं परं बीजं निःश्रेयसलसत्तरोः ॥ ५० ॥
358) तदेवैकं परं विद्धि त्रैलोक्यगृहनायकम्। येनैकेन विना शङ्के वसदप्येतदुद्वसम्[1] ॥ ५१ ॥
359) शुद्धं यदेव चैतन्यं तदेवाहं न संशयः। कल्पनयानयाप्येतद्धीनमानन्दमन्दिरम् ॥ ५२ ॥
360) स्पृहा मोक्षे ऽपि मोहोत्था तन्निषेधाय जायते। अन्यस्मै तत्कथं शान्ताः स्पृहयन्ति मुमुक्षवः ॥
361) अहं चैतन्यमेवैकं नान्यत्किमपि जातुचित्। संबन्धो ऽपि न केनापि दृढपक्षो ममेदृशः ॥
362) शरीरादिबहिश्चिन्ताचक्रसंपर्कवर्जितम्। विशुद्धात्मस्थितं चित्तं कुर्वन्नास्ते निरन्तरम् ॥ ५५ ॥
363) एवं सति यदेवास्ति तदस्तु किमिहापरैः। आसाद्यात्मनिदं तत्त्वं शान्तो भव सुखी भव ॥
364) अपारजन्मसन्तानपथभ्रान्तिकृतश्रमम्। तत्त्वामृतमिदं पीत्वा नाशयन्तु मनीषिणः ॥ ५७ ॥

औषधम् अस्ति। किंलक्षणं ज्योतिः। जन्मव्याधिविनाशनम् ॥ ४९ ॥ तदेव एकं ज्योतिः। निःश्रेयसलसत्तरोः मोक्षतरोः बीजम्। किंलक्षणस्य मोक्षतरोः। अक्षयस्य विनाशरहितस्य। पुनः किंलक्षणस्य। अक्षयानन्दमहाफलभरश्रीः[4] यस्य स तस्य अक्षयानन्दमहाफलभरश्रियः ॥ ५० ॥ तदेव एकं ज्योतिः। परम् उत्कृष्टम्। त्रैलोक्यगृहनायकम्। विद्धि जानीहि। अहं शङ्के। येन एकेन विना आत्मना विना। एतत् त्रैलोक्यम्। वसत् अपि उद्वसम्[5] उद्यानम्। इति हेतोः त्रैलोक्यनायकम् आत्मानं जानीहि ॥ ५१ ॥ यदेव शुद्धं चैतन्यं तदेव अहम्। न संशयः न सन्देहः। एतत् ज्योतिः। अनया कल्पनया हीनम्। अहम् अन्यत् चैतन्यम् अन्यत्। अनेन[6] विकल्पेन रहितं ज्योतिः। आनन्दमन्दिरं सुखनिधानम् ॥ ५२ ॥ मोक्षे अपि। मोहोत्था मोहोत्पन्ना। स्पृहा वाञ्छा। तन्निषेधाय मोक्षनिषेधाय। जायते कथ्यते। तत्तस्मात्कारणात्। मुमुक्षवः मुक्तिवाञ्छकाः मुनयः। अन्यस्मै वस्तुने। कथं स्पृहयन्ति कथं वाञ्छन्ति। किंलक्षणाः मुनयः। शान्ताः ॥ ५३ ॥ अहम् एकं चैतन्यम् एव। जातुचित् कदाचित्। अन्यत् किमपि न। केनापि वस्तुना सह संबन्धोऽपि न। मम मुनेः। ईदृशः दृढः पक्षः अस्ति ॥ ५४ ॥ चित्तं मनः। निरन्तरम् अनवरतम्। विशुद्धात्मस्थितं कुर्वन्। आस्ते तिष्ठति। किंलक्षणं मनः। शरीरादिबहिश्चिन्ताचक्र-समूहः तस्य चिन्ताचक्रसमूहस्य संपर्केण संयोगेन वर्जितम् ॥ ५५ ॥ इह आत्मनि। एवं पूर्वोक्तविचारे सति। यदेव निजस्वरूपम्। अस्ति[7]। तदा अपरैः विकल्पैः किम् अस्ति। न किमपि। तदेव निजस्वरूपमस्तु। भो आत्मन्। इदं स्वरूपम्। आसाद्य प्राप्य। इदं तत्त्वं प्राप्य। शान्तो भव सुखी भव ॥ ५६ ॥ मनीषिणः मुनयः। इदं तत्त्वामृतं पीत्वा। अपारजन्मसन्तानपथभ्रान्त[न्ति]कृतश्रमं पाररहितसंसारपर-

जन्मरूपी रोगको नष्ट करनेवाली श्रेष्ठ औषधि है ॥ ४९ ॥ वही आत्मज्योति शाश्वतिक सुखरूपी महाफलोंके भारसे सुशोभित ऐसे अविनश्वर मोक्षरूपी सुन्दर वृक्षका एक उत्कृष्ट बीज है ॥ ५० ॥ उसी एक उत्कृष्ट आत्मज्योतिको तीनों लोकरूपी गृहका नायक समझना चाहिये, जिस एकके विना यह तीन लोकरूपी गृह निवाससे सहित होकर भी उससे रहित निर्जन वनके समान प्रतीत होता है। अभिप्राय यह है कि अन्य द्रव्योंके रहनेपर भी लोककी शोभा उस एक आत्मज्योतिसे ही है ॥ ५१ ॥ आनन्दकी स्थानभूत जो यह आत्मज्योति है वह "जो शुद्ध चैतन्य है वही मैं हूं, इसमें सन्देह नहीं है" इस कल्पनासे भी रहित है ॥ ५२ ॥ मोहके उदयसे उत्पन्न हुई मोक्षप्राप्तिकी भी अभिलाषा उस मोक्षकी प्राप्तिमें रुकावट डालनेवाली होती है, फिर भला शान्त मोक्षाभिलाषी जन दूसरी किस वस्तुकी इच्छा करते हैं? अर्थात् किसीकी भी नहीं ॥ ५३ ॥ मैं एक चैतन्यस्वरूप ही हूं, उससे भिन्न दूसरा कोई भी स्वरूप मेरा कभी भी नहीं हो सकता। किसी पर पदार्थके साथ मेरा सम्बन्ध भी नहीं है, ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय है ॥ ५४ ॥ ज्ञानी साधु शरीरादि बाह्य पदार्थविषयक चिन्तासमूहके संयोगसे रहित अपने चित्तको निरन्तर शुद्ध आत्मामें स्थित करके रहता है ॥ ५५ ॥ हे आत्मन्! ऐसी अवस्थाके होनेपर जो भी कुछ है वह रहे। यहां अन्य पदार्थोंसे भला क्या प्रयोजन है? अर्थात् कुछ भी नहीं। इस चैतन्य स्वरूपको पाकर, तू शान्त और सुखी हो ॥ ५६ ॥ बुद्धिमान् पुरुष इस तत्त्व रूपी अमृतको पीकर अपरिमित जन्मपरम्परा (संसार) के

१ क °दुद्वनम्। २ क यथा कल्पनया°, ब मनःकल्पनया। ३ श विनाशरहितस्य आनंद। ४ क भटः श्री। ५ क उद्वनम्। ६ श अन्येन। ७ क दृढपक्षः इत्यर्थः।

365) अतिसूक्ष्ममतिस्थूलमेकं चानेकमेव यत् । स्वसंवेद्यमवेद्यं च यदक्षरमनक्षरम् ॥ ५८ ॥
366) अनौपम्यमनिर्देश्यमप्रमेयमनाकुलम् । शून्यं पूर्णं च यन्नित्यमनित्यं च प्रचक्ष्यते ॥ ५९ ॥
367) निःशरीरं निरालम्बं निःशब्दं निरुपाधि यत् । चिदात्मकं परंज्योतिरवाङ्मनसगोचरम्[1] ॥६०॥
368) इत्यत्र गहने ऽत्यन्तदुर्लक्ष्ये परमात्मनि । उच्यते यत्तदाकाशं प्रत्यालेख्यं विलिख्यते ॥ ६१ ॥

न्परापथ-मार्गभ्रमणेन कृतश्रमम् उत्पन्नं श्रमं खेदम् । नाशयन्तु स्फेटयन्तु[2] ॥ ५७ ॥ यत् ज्योतिः अतिसूक्ष्मं प्रचक्ष्यते[3] कथ्यते अमूर्तत्वात् । यज्ज्योतिः अतिस्थूलं प्रचक्ष्यते[3] कथ्यते । कस्मात् । अनन्तगुणाश्रयत्वात् । यज्ज्योतिः एकं प्रचक्ष्यते[3] शुद्धद्रव्यार्थिकेन । यज्ज्योतिः अनेकं प्रचक्ष्यते[3] कथ्यते गुणापेक्षया अथवा दर्शनज्ञानचारित्रतः । यज्ज्योतिः स्वसंवेद्यम् । कस्मात् । सहजज्ञानपरिच्छेद्यत्वात् । यज्ज्योतिः अवेद्यम् । कस्मात् । क्षायोपशमिकज्ञानेन अपरिच्छेद्यत्वात् । यज्ज्योतिः अक्षरं, न क्षरति इति अक्षरं, विनाशरहितत्वात्[4] । च पुनः । यज्ज्योतिः अनक्षरम् । कस्मात् । अक्षररहितत्वात् । यज्ज्योतिः अनौपम्यम् असाधारणगुणसहितत्वेन उपमातीतम् । यज्ज्योतिः अनिर्देश्यम् । कस्मात् । कथितुमशक्यत्वात् । यज्ज्योतिः अप्रमेयम् । कस्मात् । प्रमातुमशक्यत्वात् वा प्रमाणातीतत्वात् । यज्ज्योतिः अनाकुलम् आकुलतारहितम् । यज्ज्योतिः शून्यं परपरचतुष्टयेन शून्यम् । च पुनः । यज्ज्योतिः पूर्णं स्वचतुष्टयेन पूर्णम् । यज्ज्योतिः नित्यं द्रव्यापेक्षया नित्यम् । यज्ज्योतिः अनित्यं पर्यायार्थिकनयेन अनित्यं प्रचक्ष्यते[3] कथ्यते ॥ ५८-५९ ॥ यत् परंज्योतिः । निःशरीरं शरीररहितम् । यज्ज्योतिः निरालम्बम् आलम्बनरहितम् । यज्ज्योतिः निःशब्दं शब्दरहितम् । यज्ज्योतिः निरुपाधि उपाधिरहितम् । यज्ज्योतिः चिदात्मकम् । यज्ज्योतिः अवाङ्मानसगोचरम् अतीन्द्रियज्ञानगोचरम् ॥ ६० ॥ इति पूर्वोक्तप्रकारेण । अत्र परमात्मनि विषये । यत् उच्यते कथ्यते तत् आकाशं प्रति आलेख्यं चित्रामं विलिख्यते

मार्गमें परिभ्रमण करनेसे उत्पन्न हुई थकावटको दूर करें ॥ ५७ ॥ वह आत्मज्योति अतिशय सूक्ष्म भी है और स्थूल भी है, एक भी है और अनेक भी है, स्वसंवेद्य भी है और अवेद्य भी है, तथा अक्षर भी है और अनक्षर भी है। वह ज्योति अनुपम, अनिर्देश्य, अप्रमेय एवं अनाकुल होकर शून्य भी कही जाती है और पूर्ण भी, नित्य भी कही जाती है और अनित्य भी ॥ विशेषार्थ—वह आत्मज्योति निश्चयनयकी अपेक्षा रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे रहित होनेके कारण सूक्ष्म तथा व्यवहारनयकी अपेक्षा शरीराश्रित होनेसे स्थूल भी कही जाती है। इसी प्रकार वह शुद्ध चैतन्यरूप सामान्य स्वभावकी अपेक्षा एक तथा व्यवहारनयकी अपेक्षा भिन्न भिन्न शरीर आदिके आश्रित रहनेसे अनेक भी कही जाती है। वह स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा जाननेके योग्य होनेसे स्वसंवेद्य तथा इन्द्रियजनित ज्ञानकी अविषय होनेसे अवेद्य भी कही जाती है। वह निश्चयसे विनाशरहित होनेसे अक्षर तथा अकारादि अक्षरोंसे रहित होनेके कारण अथवा व्यवहारकी अपेक्षा विनष्ट होनेसे अनक्षर भी कही जाती है। वही आत्मज्योति उपमारहित होनेसे अनुपम, निश्चयनयसे शब्दका अविषय होनेसे अनिर्देश्य (अवाच्य), सांव्यवहारिक प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका विषय न होनेसे अप्रमेय तथा आकुलतासे रहित होनेके कारण अनाकुल भी है। इसके अतिरिक्त चूंकि वह मूर्तिक समस्त बाह्य पदार्थोंके संयोगसे रहित है अत एव शून्य तथा अपने ज्ञानादि गुणोंसे परिपूर्ण होनेसे पूर्ण भी मानी जाती है, अथवा परकीय द्रव्यादिकी अपेक्षा शून्य और स्वकीय द्रव्यादिकी अपेक्षा पूर्ण भी मानी जाती है। वह द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा विनाशरहित होनेसे नित्य तथा पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अनित्य भी कही जाती है ॥ ५८-५९ ॥ वह उत्कृष्ट चैतन्यस्वरूप ज्योति चूंकि शरीर, आलम्बन, शब्द तथा और भी अन्यान्य विशेषणोंसे रहित है; अत एव वह वचन एवं मनके भी अगोचर है ॥ ६० ॥ इस प्रकार उस परमात्माके दुरधिगम्य एवं अत्यन्त दुर्लक्ष्य (अदृश्य) होनेपर उसके विषयमें जो कुछ भी कहा जाता है वह आकाशमें चित्रलेखनके

१ अ वाग्मनसगोचरम्, श वाङ्मनसगोचरम्। २ अ श स्फोटयन्तु। ३ श प्रचक्षते। ४ अ श अविनाशत्वात्।

369) आस्तां तत्र स्थितो यस्तु चिन्तामात्रपरिग्रहः। तस्यात्र जीवितं श्लाघ्यं देवैरपि स पूज्यते ॥६२॥
370) सर्वविद्भिरसंसारैः सम्यग्ज्ञानविलोचनैः । एतस्योपासनोपायः साम्यमेकमुदाहृतम् ॥ ६३ ॥
371) साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम्। शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः ॥६४॥
372) नाकृतिर्नाक्षरं वर्णो नो विकल्पश्च कश्चन। शुद्धं चैतन्यमेवैकं यत्र तत्साम्यमुच्यते ॥ ६५ ॥
373) साम्यमेकं परं कार्यं साम्यं तत्त्वं परं स्मृतम्। साम्यं सर्वोपदेशानामुपदेशो विमुक्तये॥ ६६ ॥
374) साम्यं सद्बोधनिर्माणं शश्वदानन्दमन्दिरम्। साम्यं शुद्धात्मनो रूपं द्वारं मोक्षैकसद्मनः ॥६७॥
375) साम्यं निःशेषशास्त्राणां सारमाहुर्विपश्चितः। साम्यं कर्ममहाकक्षदाहे दावानलायते ॥ ६८ ॥
376) साम्यं शरण्यमित्याहुर्योगिनां योगगोचरम्। उपाधिरचिताशेषदोषक्षपणकारणम् ॥ ६९ ॥

॥ ६१ ॥ तत्र आत्मनि। स्थितः प्रवर्तनम्। आस्तां दूरे तिष्ठतु। तु पुनः। यः चिन्तामात्रपरिग्रहः पुरुषः अस्ति। अत्र संसारे। तस्य जीवितं श्लाघ्यम्। स पुमान् देवैरपि पूज्यते ॥ ६२ ॥ सर्वविद्भिः सर्वज्ञैः। एतस्य आत्मनः। उपासनोपायः सेवनोपायः। साम्यम् एकम्। उदाहृतं कथितम्। किंलक्षणैः सर्वज्ञैः। असंसारैः संसाररहितैः। पुनः किंलक्षणैः। सम्यग्ज्ञानविलोचनैः ॥६३॥ इति एते एकार्थवाचकाः भवन्ति। ते के। साम्यं स्वास्थ्यम्। च पुनः। समाधिः योगः चेतोनिरोधनं शुद्धोपयोगः ॥ ६४ ॥ तत्साम्यम् उच्यते यत्र एकमेव शुद्धं चैतन्यम् अस्ति। यस्य शुद्धस्य आकृतिः न समचतुरस्रादिआकृतिः[1] न। यस्य चैतन्यस्य आकारादि अक्षरं न। यस्य शुद्धस्य शुक्लादिः वर्णः न। यस्य शुद्धचैतन्यस्य कश्चन विकल्पः न। तत्साम्यम् उच्यते ॥ ६५ ॥ परम् एकं साम्यं कार्यं कर्तव्यम्। साम्यं परं तत्त्वं स्मृतं कथितम्। साम्यं सर्वोपदेशानां सर्वशास्त्र-उपदेशानाम्। विमुक्तये मोक्षाय उपदेशः ॥ ६६ ॥ एतत्साम्यं सद्बोधनिर्माणं सद्बोधस्य निर्मापकम्। पुनः शश्वत् आनन्दमन्दिरं कल्याण-स्थानम्। पुनः साम्यं शुद्धात्मनः रूपम् अस्ति। पुनः साम्यं मोक्षैकसद्मनः मोक्षगृहस्य द्वारम् ॥ ६७ ॥ विपश्चितः पण्डिताः। निःशेषशास्त्राणां सारं साम्यम्। आहुः कथयन्ति। कर्ममहाकक्ष-वन-दाहे साम्यम्। दावानलायते दावानल इवाचरति ॥ ६८ ॥ साम्यं योगिनां योगगोचरम् अस्ति। इति हेतोः। शरण्यम् आहुः। किंलक्षणं साम्यम्। उपाधिरचित-अशेषदोषक्षपणकारणं

समान है॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह कि जिस प्रकार अमूर्त आकाशके ऊपर चित्रका निर्माण करना असम्भव है उसी प्रकार अतीन्द्रिय आत्माके विषयमें कुछ वर्णन करना भी असम्भव ही है। वह तो केवल स्वानुभवके गोचर है ॥ ६१ ॥ जो उस आत्मामें लीन है वह तो दूर ही रहे। किन्तु जो उसका चिन्तन मात्र करता है उसका जीवन प्रशंसाके योग्य है, वह देवोंके द्वारा भी पूजा जाता है ॥ ६२ ॥ जो सर्वज्ञ देव संसारसे रहित अर्थात् जीवनमुक्त होते हुए सम्यग्ज्ञानरूप नेत्रको धारण करते हैं उन्होंने इस आत्माके आराधनका उपाय एक मात्र समताभाव बतलाया है ॥ ६३ ॥ साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्तनिरोध और शुद्धोपयोग; ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं ॥ ६४ ॥ जहां न कोई आकार है, न अकारादि अक्षर है, न कृष्ण-नीलादि वर्ण है, और न कोई विकल्प ही है; किन्तु जहां केवल एक चैतन्यस्वरूप ही प्रतिभासित होता है उसीको साम्य कहा जाता है ॥ ६५ ॥ वह समताभाव एक उत्कृष्ट कार्य है। वह समताभाव उत्कृष्ट तत्त्व माना गया है। वही समताभाव सब उपदेशोंका उपदेश है जो मुक्तिका कारण है, अर्थात् समताभावका उपदेश समस्त उपदेशोंका सार है, क्योंकि उससे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ६६ ॥ समताभाव सम्यग्ज्ञानको उत्पन्न करनेवाला है, वह शाश्वतिक (नित्य) सुखका स्थान है, वह समताभाव शुद्ध आत्माका स्वरूप तथा मोक्षरूपी अनुपम प्रासादका द्वार है ॥ ६७ ॥ पण्डित जन समताभावको समस्त शास्त्रोंका सार बतलाते हैं। वह समताभाव कर्मरूपी महावनको भस्म करनेके लिये दावानलके समान है ॥ ६८ ॥ जो समताभाव योगी जनोंके योगका विषय होता हुआ बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहके निमित्तसे उत्पन्न हुए समस्त दोषोंको नष्ट करनेवाला है वह शरणभूत कहा जाता है ॥ ६९ ॥ जो आत्मारूपी हंस अणिमादि

१ श समुचतुरस्रादि काचित् आकृतिः।

377) निःस्पृहायाणिमाद्यब्जखण्डे साम्यसरोजुषे । हंसाय शुचये मुक्तिहंसीदत्तदृशे नमः ॥ ७० ॥

378) ज्ञानिनो ऽमृतसंगाय मृत्युस्तापकरोऽपि सन् । आमकुम्भस्य लोके ऽस्मिन् भवेत्पाकविधिर्यथा ॥

379) मानुष्यं सत्कुले जन्म लक्ष्मीर्बुद्धिः कृतज्ञता । विवेकेन विना सर्वं सदप्येतन्न किंचन ॥ ७२ ॥

380) चिदचिद् द्वे परे तत्त्वे विवेकस्तद्विवेचनम् । उपादेयमुपादेयं हेयं हेयं च कुर्वतः ॥ ७३ ॥

381) दुःखं किंचित्सुखं किंचिच्चित्ते भाति जडात्मनः । संसारे ऽत्र पुनर्नित्यं सर्वं दुःखं विवेकिनः ॥

382) हेयं हि कर्म रागादि तत्कार्यं च विवेकिनः । उपादेयं परंज्योतिरुपयोगैकलक्षणम् ॥ ७५ ॥

383) यदेव चैतन्यमहं तदेव तदेव जानाति तदेव पश्यति ।
तदेव चैकं परमस्ति निश्चयाद् गतो ऽस्मि भावेन तदेकतां परम् ॥ ७६ ॥

दोषविनाशकारणम् ॥ ६९ ॥ हंसाय नमः । किंलक्षणाय हंसाय परमात्मने । साम्यसरोजुषे साम्यसरःसेवकाय । पुनः किंलक्षणाय परमात्मने । अणिमाद्यब्जखण्डे स्वर्गश्रीकमलखण्डे । निःस्पृहाय उदासीनाय । पुनः किंलक्षणाय । शुचये पवित्राय । पुनः किंलक्षणाय हंसाय । मुक्तिहंसीदत्तदृशे मुक्तिहंसिनीदत्तनेत्राय ॥ ७० ॥ मृत्युः आतापकरः अपि सन् ज्ञानिनः पुरुषस्य । अमृतसंगाय सुखाय भवेत् । अस्मिन् लोके यथा आमकुम्भस्य अपक्वकलशस्य पाकविधिः पक्वकरणम् ॥ ७१ ॥ मानुष्यं सत्कुले जन्म लक्ष्मीः बुद्धिः कृतज्ञता सर्वं विवेकेन विना । सत् विद्यमानम् अपि । असत् अविद्यमानम् । एतत् किंचन न[1] ॥ ७२ ॥ चित् अचित् परे द्वे तत्त्वे । तयोः द्वयोः विवेचनं विचारणम् । विवेकः । तं विवेकं कुर्वतः मुनेः उपादेयं तत्त्वम् उपादेयं ग्रहणीयम् । च पुनः । हेयं तत्त्वं हेयं त्यजनीयम् ॥ ७३ ॥ अत्र संसारे । जडात्मनः मूर्खस्य । चित्ते किंचित् दुःखं किंचित्सुखं प्रतिभाति । पुनः विवेकिनः चित्ते सर्वं दुःखं भाति । नित्यं सदैव ॥ ७४ ॥ हि यतः । रागादि कर्म । हेयं त्यजनीयम् । च पुनः । विवेकिनः । तत्कार्यं तस्य रागादिकर्मणः कार्यं त्यजनीयम् । परंज्योतिः उपादेयं ग्रहणीयम् । किंलक्षणं ज्योतिः । उपयोगैकलक्षणं ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणम् ॥ ७५ ॥ यत् । एव निश्चयेन । चैतन्यतत्त्वम् अस्ति[2] । तदेव अहम् । तदेव आत्मतत्त्वं सर्वं जानाति । तदेव चैतन्यं सर्वं लोकं पश्यति अवलोकयति । च पुनः । निश्चयात् तदेव एकं ज्योतिः । परम् उत्कृष्टम् । अस्ति । भावेन विचारणेन अथवा चैतन्येन

ऋद्धिरूपी कमलखण्ड (स्वर्ग)की अभिलाषासे रहित है, समतारूपी सरोवरका आराधक है, पवित्र है, तथा मुक्तिरूपी हंसीकी ओर दृष्टि रखता है, उसके लिये नमस्कार हो ॥ ७० ॥ जिस प्रकार इस लोकमें कच्चे घड़ेका परिपाक अमृतसंग अर्थात् पानीके संयोगका कारण होता है उसी प्रकार अविवेकी जनके लिये सन्तापको करनेवाली भी वह मृत्यु ज्ञानी जनके लिये अमृतसंग अर्थात् शाश्वतिक सुख (मोक्ष) का कारण होती है ॥ ७१ ॥ मनुष्य पर्याय, उत्तम कुलमें जन्म, सम्पत्ति, बुद्धि और कृतज्ञता (उपकारस्मृति); यह सब सामग्री होकर भी विवेकके विना कुछ भी कार्यकारी नहीं है ॥ ७२ ॥ चेतन और अचेतन ये दो भिन्न तत्त्व हैं । उनके भिन्न स्वरूपका विचार करना इसे विवेक कहा जाता है । इसलिये हे आत्मन् ! तू इस विवेकसे ग्रहण करनेके योग्य जो चैतन्यस्वरूप है उसे ग्रहण कर और छोड़ने योग्य जड़ताको छोड़ दे ॥ ७३ ॥ यहां संसारमें मूर्ख प्राणीके चित्तमें कुछ तो सुख और कुछ दुखरूप प्रतिभासित होता है । किन्तु विवेकी जीवके चित्तमें सदा सब दुखदायक ही प्रतिभासित होता है ॥ विशेषार्थ– इसका अभिप्राय यह है कि अविवेकी प्राणी कभी इष्ट सामग्रीके प्राप्त होनेपर सुख और उसका बियोग हो जानेपर कभी दुखका अनुभव करता है । किन्तु विवेकी प्राणी इष्ट सामग्रीकी प्राप्ति और उसके वियोग दोनोंको ही दुखप्रद समझता है । इसीलिये वह उक्त दोनों ही अवस्थाओंमें समभाव रहता है ॥ ७४ ॥ विवेकी जनको कर्म तथा उसके कार्यभूत रागादि भी छोड़नेके योग्य हैं और उपयोगरूप एक लक्षणवाली उत्कृष्ट ज्योति ग्रहण करनेके योग्य है ॥ ७५ ॥ जो चैतन्य है वही मैं हूं । वही चैतन्य जानता है और वही चैतन्य देखता भी है । निश्चयसे

१ श 'न' नास्ति । २ क चैतन्यं अस्ति ।

384) एकत्वसप्ततिरियं सुरसिन्धुरुच्चैःश्रीपद्मनन्दिहिमभूधरतः प्रसूता।
यो गाहते शिवपदाम्बुनिधिं प्रविष्टामेतां लभेत स नरः परमां विशुद्धिम् ॥ ७७ ॥
385) संसारसागरसमुत्तरणैकसेतुमेनं सतां सदुपदेशमुपाश्रितानाम्।
कुर्यात्पदं मललवो ऽपि किमन्तरङ्गे सम्यक्समाधिविधिसंनिधिनिस्तरङ्गे ॥ ७८ ॥
386) आत्मा भिन्नस्तदनुगतिमत्कर्म भिन्नं तयोर्या प्रत्यासत्तेर्भवति विकृतिः सापि भिन्ना तथैव।
कालक्षेत्रप्रमुखमपि यत्तच्च भिन्नं मतं मे भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालंकृतं सर्वमेतत् ॥ ७९ ॥
387) ये ऽभ्यासयन्ति कथयन्ति विचारयन्ति संभावयन्ति च मुहुर्मुहुरात्मतत्त्वम्।
ते मोक्षमक्षयमनूनमनन्तसौख्यं क्षिप्रं प्रयान्ति नवकेवललब्धिरूपम् ॥ ८० ॥

सह। परं केवलम्। एकताम्। गतोऽस्मि प्राप्तोऽस्मि ॥ ७६ ॥ इयम् एकत्वसप्ततिः। सुरसिन्धुः आकाशगङ्गा। उच्चैः श्रीपद्मनन्दिहिमभूधरतः[1] उन्नतरश्रीपद्मनन्दिहिमाचलपर्वतात्। प्रसूता उद्भूता उत्पन्ना। यः पुमान्। एताम् आकाशगङ्गाम्। गाहते आन्दोलयति। स नरः परमां विशुद्धिम्। लभेत प्राप्नुयात्। किंलक्षणाम् एकत्वसप्ततिम् आकाशगङ्गाम्। शिवपदाम्बुनिधिं प्रविष्टां मोक्षसमुद्रं प्राप्ताम् ॥ ७७ ॥ भो भव्याः श्रूयताम्। एनम्। सत् समीचीनम् उपदेशम् उपाश्रितानाम्। सतां सत्पुरुषाणाम्। अन्तरङ्गे मनसि अभ्यन्तरे मनसि। मललवोऽपि पापलेशोऽपि। किं पदं स्थानं कुर्यात्। अपि तु न कुर्यात्। किंलक्षणम् उपदेशम्। संसारसागरसमुत्तरणैकसेतुम् एकप्रोहणम्[2]। किंलक्षणे अन्तरङ्गे। सम्यक्समाधिविधिसंनिधिनिस्तरङ्गे समीचीनसाम्यविधिसमीपेन अनाकुले ॥ ७८ ॥ आत्मा भिन्नः। तदनुगतिमत् तस्य जीवस्य अनुगामि कर्म भिन्नम्। तयोः द्वयोः आत्मकर्मणोः। प्रत्यासत्तेः सामीप्यात्। या विकृतिः भवति सापि भिन्ना। तथैव सा विकृतिः आत्मकर्मवद्भिन्ना। यत् कालक्षेत्रप्रमुखं तदपि भिन्नम्। च पुनः। एतत्सर्वम्। निजगुणालंकृतम् आत्मीयगुणपर्यायसंयुक्तम्। मत्तः भिन्नं भिन्नम्। मतं कथितम् ॥ ७९ ॥ ये मुनयः। आत्मतत्त्वम्। मुहुर्मुहुः वारंवारम्। अभ्यासयन्ति। च पुनः। ये मुनयः आत्मतत्त्वं कथयन्ति। ये[3] मुनयः आत्मतत्त्वं विचारयन्ति। ये मुनयः आत्मतत्त्वं संभावयन्ति। ते[4] मुनयः क्षिप्रं शीघ्रम्। अनूनं मोक्षं प्रयान्ति। न[5] ऊनं अनूनं सौख्येन पूर्णं मोक्षम्। किंलक्षणं मोक्षम्। अक्षयं विनाशरहितम्। अनन्तसौख्यम्। पुनः किंलक्षणं मोक्षम्। नवकेवललब्धिरूपं नवकेवलस्वरूपम् ॥ ८० ॥ इत्येकत्वाशीतिः [इत्येकत्वसप्ततिः] समाप्ता ॥ ४ ॥

वही एक चैतन्य उत्कृष्ट है। मैं स्वभावतः केवल उसीके साथ एकताको प्राप्त हुआ हूं ॥ ७६ ॥ जो यह एकत्वसप्तति (सत्तर पद्यमय एकत्वविषयक प्रकरण) रूपी गंगा उन्नत (ऊंचे) श्री पद्मनन्दीरूपी हिमालय पर्वतसे उत्पन्न होकर मोक्षपदरूपी समुद्रमें प्रविष्ट हुई है उसमें जो मनुष्य स्नान करता है (एकत्वसप्ततिके पक्षमें— अभ्यास करता है) वह मनुष्य अतिशय विशुद्धिको प्राप्त होता है ॥ ७७ ॥ जिन साधुजनोंने संसाररूपी समुद्रके पार होनेमें अद्वितीय पुलस्वरूप इस उपदेशका आश्रय लिया है उनके उत्तम समाधिविधिकी समीपतासे निश्चलताको प्राप्त हुए अन्तःकरणमें क्या मलका लेश भी स्थान पा सकता है? अर्थात् नहीं पा सकता ॥ ७८ ॥ आत्मा भिन्न है, उसका अनुसरण करनेवाला कर्म मुझसे भिन्न है, इन दोनोंके सम्बन्धसे जो विकारभाव उत्पन्न होता है वह भी उसी प्रकारसे भिन्न है, तथा अन्य भी जो काल एवं क्षेत्र आदि हैं वे भी भिन्न माने गये हैं। अभिप्राय यह कि अपने गुणों और कलाओंसे विभूषित यह सब भिन्न भिन्न ही है ॥ ७९ ॥ जो भव्य जीव इस आत्मतत्त्वका बार बार अभ्यास करते हैं, व्याख्यान करते हैं, विचार करते हैं, तथा सम्मान करते हैं; वे शीघ्र ही अविनश्वर, सम्पूर्ण, अनन्त सुखसे संयुक्त एवं नौ केवललब्धियों (केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र) स्वरूप मोक्षको प्राप्त करते हैं ॥ ८० ॥ इस प्रकार यह एकत्वसप्तति प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

---

१ श 'श्रीपद्मनन्दिहिमभूधरतः' नास्ति। २ अ समुत्तरणएकप्रोहणं, क समुत्तरणएकसेतुं प्रोहणं। ३ श ते। ४ श ये।
५ अ शीघ्रं नूनं मोक्षं प्रयान्ति न, क शीघ्रं अनूनं न।

[५. यतिभावनाष्टकम्]

388) आदाय व्रतमात्मतत्त्वममलं ज्ञात्वाथ गत्वा वनं
निःशेषामपि मोहकर्मजनितां[1] हित्वा विकल्पावलिम्[2] ।
ये तिष्ठन्ति मनोमरुच्चिदचलैकत्वप्रमोदं गता
निष्कम्पा गिरिवज्जयन्ति मुनयस्ते सर्वसंगोज्झिताः ॥ १ ॥

389) चेतोवृत्तिनिरोधनेन करणग्रामं विधायोद्वसं
तत्संहृत्य गतागतं च मरुतो[3] धैर्यं समाश्रित्य च ।
पर्यङ्केन मया शिवाय विधिवच्छून्यैकभूभृद्दरी-
मध्यस्थेन कदा चिदर्पितदृशा स्थातव्यमन्तर्मुखम् ॥ २ ॥

390) धूलीधूसरितं विमुक्तवसनं पर्यङ्कमुद्रागतं
शान्तं निर्वचनं निमीलितदृशं तत्त्वोपलम्भे सति ।
उत्कीर्णं दृषदीव मां वनभुवि भ्रान्तो मृगाणां गणः
पश्यत्युद्गतविस्मयो यदि तदा मादृग्जनः पुण्यवान् ॥ ३ ॥

ते मुनयः जयन्ति । ये गिरिवत् पर्वतवत् । निष्कम्पाः कम्परहिताः तिष्ठन्ति । किंलक्षणा मुनयः । मनोमरुच्चिदचलैकत्व-प्रमोदं गताः उच्छ्वासनिःश्वासेन सह चैतन्य-अचल-पर्वत-एकत्वे प्रमोदं हर्षं गताः । पुनः किंलक्षणाः मुनयः । सर्वसंगेन परिग्रहेण उज्झिताः रहिताः । किं कृत्वा । व्रतम् आदाय गृहीत्वा । पुनः अमलम् आत्मतत्त्वं ज्ञात्वा । अथ,अथवा । वनं गत्वा । पुनः निःशेषाम् अपि मोहकर्मजनितां विकल्पावलिम् । हित्वा परित्यज्य । निष्कम्पाः तिष्ठन्ति ॥ १ ॥ मया मुनिना । शिवाय मोक्षाय । विधिवत् विधियुक्तेन । पर्यङ्क--आसनेन । अन्तर्मुखं ज्ञानावलोकनं यथा स्यात्तथा । कदाचित् स्थातव्यम् । किंलक्षणेन मया । शून्या-एका-भूभृद्दरी-गुफा-मध्यस्थेन । पुनः किंलक्षणेन मया मुनिना । अर्पितदृशा[4] नासाग्रस्थापितनेत्रेण । किं कृत्वा । चेतो-वृत्तिनिरोधनेन । करणग्रामम् इन्द्रियसमूहम् । उद्वसं विधाय[5] उद्यानं कृत्वा । च पुनः । तस्य मरुतः पवनस्य । गतागतं गमनम् आगमनम् । संहृत्य संकोच्य । च पुनः । धैर्यं समाश्रित्य । कदा[6] कस्मिन् काले । मया अन्तरङ्गविचारं प्रति स्थातव्यम् ॥ २ ॥ मुनिः उदासीनं चिन्तयति । तदा काले । मादृग्जनः मत्सदृशः जनः । पुण्यवान् । यदि चेत् । भुवि पृथिव्याम् । मृगाणां गणः मृगसमूहः । माम् उत्कीर्णं दृषदि इव[7] पश्यति माम् उत्केरितं पाषाणे[8] इव पश्यति । किंलक्षणः मृगसमूहः । भ्रान्तः । उद्गतविस्मयः उत्पन्न--आश्चर्यः । किंलक्षणं माम् । धूलीधूसरितम् । पुनः किंलक्षणं माम् । विमुक्तवसनं वस्त्ररहितम् । पुनः किंलक्षणं माम् । पर्यङ्कमुद्रागतं पर्यङ्कासनस्थितम् । शान्तं क्षमायुक्तम् । पुनः किंलक्षणं माम् । निर्वचनं वचनरहितम् । पुनः किंलक्षणं माम् ।

जो मुनि व्रतको ग्रहण करके, निर्मल आत्मतत्त्वको जान करके, वनमें जा करके, तथा मोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाले सब ही विकल्पोंके समूहको छोड़ करके मनरूपी वायुसे विचलित न होनेवाले स्थिर चैतन्यमें एकत्वके आनन्दको प्राप्त होते हुए पर्वतके समान निश्चल रहते हैं वे सम्पूर्ण परिग्रहसे रहित मुनि जयवन्त होवें ॥ १ ॥ मुनि विचार करते हैं कि मैं मनके व्यापारको रोकता हुआ इन्द्रियसमूहको वीरान करके (जीत करके), वायुके गमनागमनको संकुचित करके, धैर्यका अवलम्बन लेकर, तथा मोक्षप्राप्तिके निमित्त विधिपूर्वक पर्वतकी एक निर्जन गुफाके बीचमें पद्मासनसे स्थित होकर अपने स्वरूपपर दृष्टि रखता हुआ कब चेतन आत्मामें लीन होकर स्थित होऊंगा ? ॥ २ ॥ तत्त्वज्ञानके प्राप्त हो जानेपर धूलिसे मलिन (अस्नात), वस्त्रसे रहित, पद्मासनसे स्थित, शान्त, वचनरहित तथा आखोंको मींचे हुए; ऐसी अवस्थाको प्राप्त हुए मुझको यदि वनभूमिमें भ्रमको प्राप्त हुआ मृगोंका समूह आश्चर्यचकित होकर पत्थरमें उकेरी हुई मूर्ति

---

१ ब जनितं । २ ब विकल्पावलीं । ३ ब श मरुतौ । ४ क नासार्पितदृशा । ५ क विहाय । ६ क कदाचित् । ७ क दृषदिव । ८ क पाषाण ।

391) वासः शून्यमठे क्वचिन्निवसनं नित्यं ककुम्मण्डलं
संतोषो धनमुन्नतं प्रियतमा क्षान्तिस्तपो वर्तनम्[1] ।
मैत्री सर्वशरीरिभिः सह सदा तत्त्वैकचिन्तासुखं
चेदास्ते न किमस्ति मे शमवतः कार्यं न किंचित् परैः ॥ ४ ॥

392) लब्ध्वा जन्म कुले शुचौ वरवपुर्बुद्ध्वा श्रुतं पुण्यतो
वैराग्यं च करोति यः शुचि तपो लोके स एकः कृती ।
तेनैवोज्झितगौरवेण यदि वा ध्यानामृतं पीयते
प्रासादे कलशस्तदा मणिमयो हैमे समारोपितः ॥ ५ ॥

393) ग्रीष्मे भूधरमस्तकाश्रितशिलां मूलं तरोः प्रावृषि
प्रोद्भूते शिशिरे चतुष्पथपदं प्राप्ताः स्थितिं कुर्वते ।
ये तेषां यमिनां यथोक्ततपसां ध्यानप्रशान्तात्मनां
मार्गे संचरतो मम प्रशमिनः कालः कदा यास्यति ॥ ६ ॥

निमीलितदृशं अर्धोद्घाटितनेत्रम् । क्व सति । तत्त्वोपलम्भे सति ॥३॥ चेद्यदि । मे मम । क्वचित् शून्यमठे वासः । आस्ते तिष्ठति । नित्यं सदैव । ककुम्मण्डलं निवसनं दशदिक्समूहं वस्त्रम् । मे मम । संतोषः उन्नतं धनम् अस्ति । मम मुनेः । क्षान्तिः क्षमा । प्रियतमा स्त्री अस्ति । मम मुनेः तपः वर्तनं व्यापारः अस्ति । यदि चेत् । मम मुनेः । सर्वशरीरिभिः सह मैत्री अस्ति । चेत् मम सदा तत्त्वैकचिन्तासुखम् अस्ति । यदि चेत् । पूर्वोक्तं सर्वम् अस्ति तदा किं न अस्ति मे । सर्वम् अस्ति । शमवतः मे परैः सह किंचित् कार्यं न अस्ति ॥४॥ लोके संसारे । स एकः[2] पुमान् । कृती पुण्यवान् । यः शुचि तपः करोति । किं कृत्वा । शुचौ पवित्रकुले । जन्म लब्ध्वा । वरवपुः शरीरम् । लब्ध्वा । पुण्यतः श्रुतम् । बुद्ध्वा ज्ञात्वा । च पुनः । वैराग्यं प्राप्य यः तपः करोति सः पुण्यवान् । वा अथवा । तेनैव पुरुषेण । उज्झितगौरवेण गर्वरहितेन । यदि चेत् । ध्यानम् अमृतं पीयते तदा । हैमे स्वर्णमये । प्रासादे गृहे । मणिमयः कलशः । समारोपितः स्थापितः ॥५॥ तेषां यमिनां मुनीनाम् । मार्गे संचरतः मम कालः कदा यास्यति । किंलक्षणानां मुनीनाम् । यथोक्ततपसां यथोक्ततपोयुक्तानाम् । पुनः किंलक्षणानाम् । ध्यानप्रशान्तात्मनाम् । ये मुनयः । ग्रीष्मे ज्येष्ठाषाढे । भूधरमस्तके आश्रितशिलां प्रति स्थितिं कुर्वते । ये मुनयः । प्रावृषि वर्षाकाले । तरोः वृक्षस्य । मूले प्राप्ताः स्थितिं कुर्वते । ये मुनयः । प्रोद्भूते शिशिरे शीतऋतौ । चतुष्पथपदं प्राप्ताः स्थितिं कुर्वते । तेषां मार्गे संचरतः मम कालः कदा यास्यति ॥ ६ ॥

समझने लग जावे तो मुझ जैसा मनुष्य पुण्यशाली होगा ॥ ३ ॥ यदि मेरा किसी निर्जन उपाश्रयमें निवास हो जाता है, सदा दिशासमूह ही मेरा वस्त्र बन जाता है अर्थात् यदि मेरे पास किंचित् मात्र भी परिग्रह नहीं रहता है, सन्तोष ही मेरा उन्नत धन हो जाता है, क्षमा ही मेरी प्यारी स्त्री बन जाती है, एक मात्र तप ही मेरा व्यापार हो जाता है, सब ही प्राणियोंके साथ मेरा मैत्रीभाव हो जाता है, तथा यदि मैं सदा ही एक मात्र तत्त्वविचारसे उत्पन्न होनेवाले सुखका अनुभव करने लग जाता हूं; तो फिर अतिशय शान्तिको प्राप्त हुए मेरे पास क्या नहीं है ? सब कुछ है । ऐसी अवस्थामें मुझको दूसरोंसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता है ॥४॥ लोकमें जो मनुष्य पुण्यके प्रभावसे उत्तम कुलमें जन्म लेकर, उत्तम शरीरको पाकर और आगमको जान करके वैराग्यको प्राप्त होता हुआ निर्मल तप करता है वह अनुपम पुण्यशाली है । वही मनुष्य यदि प्रतिष्ठाके मोह (आदर-सत्कारका भाव) को छोड़कर ध्यानरूप अमृतका पान करता है तो समझना चाहिये कि उसने सुवर्णमय प्रासादके ऊपर मणिमय कलशको स्थापित कर दिया है ॥ ५ ॥ जो साधु ग्रीष्म ऋतुमें पर्वतके शिखरके ऊपर स्थित शिलाके ऊपर, वर्षा ऋतुमें वृक्षके मूलमें, तथा शीत ऋतुके प्राप्त होनेपर चौरस्तेमें स्थान प्राप्त करके ध्यानमें स्थित होते हैं; जो आगमोक्त अनशनादि तपका आचरण करते हैं, और जिन्होंने ध्यानके द्वारा अपनी आत्माको अतिशय शान्त कर लिया है; उनके मार्गमें प्रवृत्त होते हुए मेरा काल अत्यन्त शान्तिके साथ कब बीतेगा ? ॥ ६ ॥

१ मु (जै. सि.) तपोभोजनम् । २ श एव ।

394) भेदज्ञानविशेषसंहृतमनोवृत्तिः समाधिः परो
जायेताद्भुतधामधन्यशमिनां केषांचिदत्राचलः ।
वज्रे मूर्ध्नि पतत्यपि त्रिभुवने वह्निप्रदीप्ते ऽपि वा
येषां नो विकृतिर्मनागपि भवेत् प्राणेषु नश्यत्स्वपि ॥ ७ ॥

395) अन्तस्तत्त्वमुपाधिवर्जितमर्हव्याहारवाच्यं[3] परं
ज्योतिर्यैः कलितं श्रितं च यतिभिस्ते सन्तु नः शान्तये ।
येषां तत्सदनं तदेव शयनं तत्संपदस्तत्सुखं
तद्वृत्तिस्तदपि प्रियं तदखिलश्रेष्ठार्थसंसाधकम् ॥ ८ ॥

396) पापारिक्षयकारि दातृ नृपतिस्वर्गापवर्गश्रियं
श्रीमत्पङ्कजनन्दिभिर्विरचितं चिच्चेतनानन्दिभिः ।
भक्त्या यो यतिभावनाष्टकमिदं भव्यस्त्रिसंध्यं पठेत्
किं किं सिध्यति वाञ्छितं न भुवने तस्यात्र पुण्यात्मनः ॥ ९ ॥

अत्र संसारे केषाञ्चित् मुनीनाम् । परः उत्कृष्टः । समाधिः । जायेत उत्पद्येत । किंलक्षणानां मुनीनाम् । अद्भुतधामधन्यशमिनाम् । किंलक्षणः[1] समाधिः । भेदज्ञानविशेषसंहृतमनोवृत्तिः भेदज्ञानेन संकोचितमनोव्यापारः । पुनः अचलसमाधिः । येषां[2] मुनीनाम् । मनाक् अपि । विकृतिः विकारः । न भवेत् । क्व सति । मूर्ध्नि वज्रे पतत्यपि सति । वा अथवा । त्रिभुवने वह्निना प्रदीप्ते ज्वलिते सति अपि । पुनः केषु सत्सु । प्राणेषु नश्यत्सु अपि ॥७॥ यैः यतिभिः । परं ज्योतिः । कलितं ज्ञातम् । च पुनः । आश्रितम् । ते मुनयः । नः अस्माकम् । शान्तये कल्याणाय । सन्तु भवन्तु । किंलक्षणं ज्योतिः । अन्तस्तत्त्वम् अन्तःस्वरूपम् । पुनः किंलक्षणं ज्योतिः । उपाधिवर्जितम् । पुनः किंलक्षणं ज्योतिः । अर्ह-व्याहारवाच्यम्[3] अर्ह-शब्दवाच्यम् । येषां मुनीनाम् । तदेव ज्योतिः । सदनं गृहम् । येषां मुनीनाम् । तदेव ज्योतिः । शयनं शय्या । येषां मुनीनाम् । तदेव ज्योतिः संपदः । येषां मुनीनाम् । तदेव ज्योतिः सुखम् । येषां मुनीनाम् । तदेव ज्योतिः वृत्तिः वर्तनं व्यापारः । येषां मुनीनाम् । तदेव ज्योतिः । प्रियं वल्लभम् । येषां मुनीनाम् । तदेव ज्योतिः । अखिलश्रेष्ठार्थसंसाधनं कारणम् ॥ ८ ॥ यः भव्यः । इदं यतिभावनाष्टकं भक्त्या कृत्वा त्रिसंध्यं पठेत् तस्य पुण्यात्मनः अत्र भुवने किं किं वाञ्छितं न सिध्यति । किंलक्षणं यतिभावनाष्टकम् । पापारिक्षयकारि पापशत्रुविनाशनम् । पुनः किंलक्षणं यतिभावनाष्टकम् । नृपति-स्वर्ग-अपवर्गश्रियं दातृ । पुनः किंलक्षणं यतिभावनाष्टकम् । श्रीमत्पङ्कजनन्दिभिः पद्मनन्दिभिः विरचितम् । किंलक्षणैः पद्मनन्दिभिः[4] चिच्चेतनानन्दिभिः ज्ञानचैतन्य-उत्पन्न-आनन्दयुक्तैः ॥ ९ ॥ इति यतिभावनाष्टकम्[5] ॥ ५ ॥

शिरके ऊपर वज्रके गिरनेपर भी, अथवा तीनों लोकोंके अग्निसे प्रज्वलित हो जानेपर भी, अथवा प्राणोंके नाशको प्राप्त होते हुए भी जिनके चित्तमें थोड़ा-सा भी विकारभाव नहीं उत्पन्न होता है; ऐसे आश्चर्यजनक आत्मतेजको धारण करनेवाले किन्हीं विरले ही श्रेष्ठ मुनियोंके वह उत्कृष्ट निश्चल समाधि होती है जिसमें भेदज्ञानविशेषके द्वारा मनका व्यापार (दुष्प्रवृत्ति) रुक जाता है ॥ ७ ॥ जिन मुनियोंने बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रहसे रहित और 'अर्हम्' शब्दके द्वारा कहे जानेवाले उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप अन्तस्तत्त्व अर्थात् अन्तरात्माके स्वरूपको जान लिया है तथा उसीका आश्रय भी किया है, एवं जिन मुनियोंका वही आत्मतत्त्व भवन है, वही शय्या है, वही सम्पत्ति है, वही सुख है, वही व्यापार है, वही प्यारा है, और वही समस्त श्रेष्ठ पदार्थोंको सिद्ध करनेवाला है; वे मुनि हमें शान्तिके लिये होवें ॥ ८ ॥ आत्मचैतन्यमें आनन्दका अनुभव करनेवाले श्रीमान् पद्मनन्दी (भव्य जीवोंको प्रफुल्लित करनेवाले गणधरादिकों या पद्मनन्दी मुनि) के द्वारा रचा गया यह आठ श्लोकमय 'यतिभावना' प्रकरण पापरूप शत्रुको नष्ट करके राजलक्ष्मी, स्वर्गलक्ष्मी और मोक्षलक्ष्मीको भी देनेवाला है । जो भव्य जीव तीनों संध्याकालों (प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल) में भक्तिपूर्वक उस यतिभावनाष्टकको पढ़ता है उस पुण्यात्मा जीवको यहां लोकमें कौन कौन-सा अभीष्ट पदार्थ सिद्ध नहीं होता है ? अर्थात् उसे सभी अभीष्ट पदार्थ सिद्ध होते हैं ॥ ९ ॥ इस प्रकार यतिभावनाष्टक समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

---

१ क किंलक्षणा । २ श समाधिः तेषां येषां । ३ श व्यापारवाच्यं, अप्रतौ तु त्रुटितं जातं पत्रमत्र । ४ श प्रतौ 'विरचितम् । किंलक्षणैः पद्मनन्दिभिः' नास्ति । ५ अ श प्रत्योः ॥ इति आदायव्रतं समाप्तम् ॥

[६. उपासकसंस्कारः]

397) **आद्यो जिनो नृपः श्रेयान् व्रतदानादिपूरुषौ । एतदन्योन्यसंबन्धे धर्मस्थितिरभूदिह ॥ १ ॥**
398) **सम्यग्दृग्बोधचारित्रत्रितयं धर्म उच्यते । मुक्तेः पन्थाः स एव स्यात् प्रमाणपरिनिष्ठितः ॥ २ ॥**
399) **रत्नत्रयात्मके मार्गे संचरन्ति न ये जनाः । तेषां मोक्षपदं दूरं भवेद्दीर्घतरो भवः ॥ ३ ॥**
400) **संपूर्णदेशभेदाभ्यां स च धर्मो द्विधा भवेत् । आद्ये भेदे च निर्ग्रन्थाः द्वितीये गृहिणः स्थिताः ॥**
401) **संप्रत्यपि प्रवर्तेत धर्मस्तेनैव वर्त्मना । तेन ते ऽपि च गण्यन्ते गृहस्था धर्महेतवः ॥ ५ ॥**
402) **संप्रत्यत्र कलौ काले जिनगेहे[1] मुनिस्थितिः । धर्मश्च दानमित्येषां श्रावका मूलकारणम् ॥ ६ ॥**
403) **देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः । दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥ ७ ॥**
404) **समता सर्वभूतेषु संयमे शुभभावना । आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम् ॥ ८ ॥**

आद्यः जिनः ऋषभः द्वितीयः श्रेयान् राजा अत्र[2] भरतक्षेत्रे द्वौ ऋषभश्रेयांसौ व्रतदानादिकारणौ जातौ । इह भरतक्षेत्रे । एतदन्योन्यसंबन्धे सति परस्परं संबन्धे सति । धर्मस्थितिः अभूत् ॥ १ ॥ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयं धर्मः । उच्यते कथ्यते । स एव[3] धर्मः निश्चयेन । मुक्तेः पन्थाः मार्गः स्यात् भवेत् । प्रमाणपरिनिष्ठितः प्रमाणेन कथितः[4] मार्गः ॥ २ ॥ ये जनाः लोकाः । रत्नत्रयात्मके मार्गे न संचरन्ति । तेषां जीवानाम् । मोक्षपदं दूरं भवेत् । भवः संसारः । दीर्घतरः बहुलः भवेत् ॥ ३ ॥ च पुनः । स धर्मः[5] संपूर्णदेशभेदाभ्यां द्विधा भवेत् । आद्ये भेदे महाव्रते । निर्ग्रन्थाः स्थिताः मुनयः स्थिताः । च पुनः । द्वितीये भेदे अणुव्रते । गृहिणः स्थिताः ॥ ४ ॥ धर्मः । संप्रति पञ्चमकाले अपि । तेनैव वर्त्मना गृहिधर्ममार्गेण प्रवर्तेत । तेन हेतुना । तेऽपि गृहस्था धर्महेतवः । गण्यन्ते कथ्यन्ते ॥ ५ ॥ अत्र कलौ काले पञ्चमकाले । संप्रति इदानीम् । जिनगेहे चैत्यालये । मुनिस्थितिः वर्तते । इति[6] हेतोः । धर्मः दानं च । एषां मुनिस्थितिदानधर्माणाम् । मूलकारणं श्रावकाः सन्ति ॥ ६ ॥ गृहस्थानां दिने दिने इति षट्कर्माणि सन्ति । तत् किम् । देवपूजा । च पुनः । गुरूपास्तिः गुरुसेवा । स्वाध्यायः पञ्चभेदः[7] । संयमस्तु द्वादशभेदकः । तपस्तु द्वादशधा । दानं चतुर्विधम् । इति षट्कर्माणि दिने दिने सन्ति ॥ ७ ॥ हि यतः । तत् सामायिकम् । मतं कथितम् । यत्र[8] सामायिकव्रते । सर्वभूतेषु सर्वजीवेषु । समता क्षमा । संयमेषु शुभभावना । यत्र सामायिके आर्तरौद्रपरित्यागः । तत्

आद्य जिन अर्थात् ऋषभ जिनेन्द्र तथा श्रेयान् राजा ये दोनों क्रमसे व्रतविधि और दानविधिके आदिप्रवर्तक पुरुष हैं, अर्थात् व्रतोंका प्रचार सर्वप्रथम ऋषभ जिनेन्द्रके द्वारा प्रारम्भ हुआ तथा दान-विधिका प्रचार राजा श्रेयान्से प्रारम्भ हुआ। इनका परस्पर सम्बन्ध होनेपर यहां भरत क्षेत्रमें धर्मकी स्थिति हुई ॥ १ ॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंको धर्म कहा जाता है तथा वही मुक्तिका मार्ग है जो प्रमाणसे सिद्ध है ॥ २ ॥ जो जीव रत्नत्रयस्वरूप इस मोक्षमार्गमें संचार नहीं करते हैं उनके लिये मोक्ष स्थान तो दूर तथा संसार अतिशय लंबा हो जाता है ॥ ३ ॥ वह धर्म सम्पूर्ण धर्म और देश धर्मके भेदसे दो प्रकारका है। इनमेंसे प्रथम भेदमें दिगम्बर मुनि और द्वितीय भेदमें गृहस्थ स्थित होते हैं ॥ ४ ॥ वर्तमानमें भी उस रत्नत्रयस्वरूप धर्मकी प्रवृत्ति उसी मार्गसे अर्थात् पूर्णधर्म और देशधर्म स्वरूपसे हो रही है। इसीलिये वे गृहस्थ भी धर्मके कारण माने जाते हैं ॥ ५ ॥ इस समय यहां इस कलिकाल अर्थात् पंचम कालमें मुनियोंका निवास जिनालयमें हो रहा है और उन्हींके निमित्तसे धर्म एवं दानकी प्रवृत्ति है। इस प्रकार मुनियोंकी स्थिति, धर्म और दान इन तीनोंके मूल कारण गृहस्थ श्रावक हैं ॥ ६ ॥ जिनपूजा, गुरुकी सेवा, स्वाध्याय, संयम और तप ये छह कर्म गृहस्थोंके लिये प्रतिदिन करनेके योग्य हैं अर्थात् वे उनके आवश्यक कार्य हैं ॥ ७ ॥ सब प्राणियोंके विषयमें समताभाव धारण करना, संयमके विषयमें शुभ विचार रखना तथा आर्त एवं रौद्र ध्यानोंका त्याग करना, इसे सामायिक व्रत माना जाता है ॥ ८ ॥

---

१ च गेहो । २ श प्रतौ 'अत्र' पदं नास्ति । ३ क स धर्मः एव । ४ अ श कथितः । ५ श धर्मः सः । ६ श 'इति' नास्ति । ७ श स्वाध्यायस्य पंच भेदानि । ८ अ श कथितं व्रतं यत्र ।

405) सामायिकं न जायेत व्यसनम्लानचेतसः । श्रावकेन ततः साक्षात्त्याज्यं व्यसनसप्तकम् ॥९॥
406) द्यूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गनाः । महापापानि सप्तैव व्यसनानि त्यजेद् बुधः ॥ १० ॥
407) धर्मार्थिनोऽपि लोकस्य चेदस्ति व्यसनाश्रयः । जायते न ततः सापि धर्मान्वेषणयोग्यता ॥११॥
408) सप्तैव नरकाणि स्युस्तैरेकैकं निरूपितम् । आकर्षयन्नृणामेतद्व्यसनं स्वसमृद्धये ॥ १२ ॥
409) धर्मशत्रुविनाशार्थं पापाख्यकुपतेरिह । सप्ताङ्गं बलवद्राज्यं सप्तभिर्व्यसनैः कृतम् ॥ १३ ॥
410) प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये । ते च दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये ॥
411) ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न । निष्फलं जीवितं तेषां तेषां धिक् च गृहाश्रमम् ॥
412) प्रातरुत्थाय कर्तव्यं देवतागुरुदर्शनम् । भक्त्या तद्वन्दना कार्या धर्मश्रुतिरुपासकैः ॥ १६ ॥

सामायिकं व्रतम् ॥ ८ ॥ व्यसनम्लानचेतसः जीवस्य सामायिकम् । न जायेत न उत्पद्येत । ततः कारणात् । श्रावकेन साक्षात् व्यसनसप्तकम् । त्याज्यं त्यजनीयम् ॥ ९ ॥ बुधः ज्ञानवान् । सप्तैव व्यसनानि त्यजेत् । किंलक्षणानि व्यसनानि । महापापानि । द्यूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गनाः एतानि सप्त व्यसनानि महापापानि बुधः त्यजेत् ॥ १० ॥ लोकस्य । चेत् यदि । व्यसनाश्रयः अस्ति । ततः व्यसनात् । धर्मान्वेषणयोग्यता न जायते धर्मक्रिया न जायते न उत्पद्यते । किंलक्षणस्य लोकस्य । धर्मार्थिनोऽपि धर्मयुक्तस्य ॥ ११ ॥ हि यतः । नरकाणि सप्तैव । तैः नरकैः । एतत् व्यसनम् एकैकं निरूपितं स्वसमृद्धये नृणाम् आकर्षयन् ॥ १२ ॥ इह संसारे[1] । सप्तभिर्व्यसनैः । पापाख्यकुपतेः कुराज्ञः । राज्यं सप्ताङ्गं कृतम् । किंलक्षणं राज्यम् । बलवत् बलिष्ठम् । पुनः[2] किंलक्षणं राज्यम् । धर्मशत्रुविनाशार्थम् ॥ १३ ॥ ये भव्या नराः । जिनं भक्त्या कृत्वा प्रपश्यन्ति । च पुनः । जिनेन्द्रं पूजयन्ति । ये भव्या जिनेन्द्रं स्तुवन्ति । ते भव्याः । भुवनत्रये । दृश्याः अवलोकनीयाः । च पुनः । ते भव्याः पूज्याः । ते भव्याः स्तुत्याः ॥ १४ ॥ ये मूर्खा । जिनेन्द्रं न पश्यन्ति । ये मूर्खाः जिनेन्द्रं न पूजयन्ति । ये-मूर्खाः जिनेन्द्रं न स्तुवन्ति । तेषां जीवितं जीवनं निष्फलम् । च पुनः । तेषां मूर्खाणां[3] गृहाश्रमं धिक् ॥ १५ ॥ उपासकैः श्रावकैः । प्रातः प्रभाते । उत्थाय देवतागुरुदर्शनं कर्तव्यम् । भक्त्या कृत्वा । तद्वन्दना कार्या तेषां देवगुरुशास्त्रादीनां वन्दना कार्या कर्तव्या श्रावकैः । धर्मश्रुतिः

जिसका चित्त द्यूतादि व्यसनोंके द्वारा मलिन हो रहा है उसके उपर्युक्त सामायिककी सम्भावना नहीं है । इसलिये श्रावकको साक्षात् उन सात व्यसनोंका परित्याग अवश्य करना चाहिये ॥ ९ ॥ द्यूत, मांस, मद्य, वेश्या, शिकार, चोरी और परस्त्री ये सातों ही व्यसन महापापस्वरूप हैं । विवेकी जनको इनका त्याग करना चाहिये ॥ १० ॥ धर्माभिलाषी जन भी यदि उन व्यसनोंका आश्रय लेता है तो इससे उसके वह धर्मके खोजनेकी योग्यता भी नहीं उत्पन्न होती है ॥ ११ ॥ नरक सात ही हैं । उन्होंने मानो अपनी समृद्धिके लिये मनुष्योंको आकर्षित करनेवाले इस एक एक व्यसनको नियुक्त किया है ॥ १२ ॥ इन सात व्यसनोंने मानो धर्मरूपी शत्रुको नष्ट करनके लिये पाप नामसे प्रसिद्ध निकृष्ट राजाके सात राज्यांगों (राजा, मंत्री, मित्र, खजाना, देश दुर्ग और सैन्य) से युक्त राज्यको बलवान् किया है ॥ विशेषार्थ— अभिप्राय इसका यह है कि इन व्यसनोंके निमित्तसे धर्मका तो ह्रास होता है और पाप बढ़ता है । इसपर ग्रन्थकर्ताके द्वारा यह उत्प्रेक्षा की गई है कि मानो पापरूपी राजाने अपने धर्मरूपी शत्रुको नष्ट करनेके लिये अपने राज्यको इन सात व्यसनोंरूप सात राज्यांगोंसे ही सुसज्जित कर लिया है ॥ १३ ॥ जो भव्य प्राणी भक्तिसे जिन भगवानका दर्शन, पूजन और स्तुति किया करते हैं वे तीनों लोकोंमें स्वयं ही दर्शन, पूजन और स्तुतिके योग्य बन जाते हैं । अभिप्राय यह कि वे स्वयं भी परमात्मा बन जाते हैं ॥ १४ ॥ जो जीव भक्तिसे जिनेन्द्र भगवान्का न दर्शन करते हैं, न पूजन करते हैं, और न स्तुति ही करते हैं उनका जीवन निष्फल है; तथा उनके गृहस्थाश्रमको धिक्कार है ॥ १५ ॥ श्रावकोंको प्रातःकालमें उठ करके भक्तिसे जिनेन्द्र देव तथा निर्ग्रन्थ गुरुका दर्शन और उनकी

१ क इह जगति संसारे । २ क 'पुनः' नास्ति । ३ श 'मूर्खाणां' नास्ति ।

413) पश्चादन्यानि कार्याणि कर्तव्यानि यतो बुधैः । धर्मार्थकाममोक्षाणामादौ धर्मः प्रकीर्तितः ॥१७॥
414) गुरोरेव प्रसादेन लभ्यते ज्ञानलोचनम् । समस्तं दृश्यते येन हस्तरेखेव निस्तुषम् ॥ १८ ॥
415) ये गुरुं नैव मन्यन्ते तदुपास्तिं न कुर्वते । अन्धकारो भवेत्तेषामुदिते ऽपि दिवाकरे ॥ १९ ॥
416) ये पठन्ति न सच्छास्त्रं सद्गुरुप्रकटीकृतम् । ते ऽन्धाः सचक्षुषो ऽपीह संभाव्यन्ते मनीषिभिः ॥
417) मन्ये न प्रायशस्तेषां कर्णाश्च हृदयानि च । यैरभ्यासे गुरोः शास्त्रं न श्रुतं नावधारितम् ॥२१॥
418) देशव्रतानुसारेण संयमो ऽपि निषेव्यते । गृहस्थैर्येन तेनैव जायते फलवद्व्रतम् ॥ २२ ॥
419) त्याज्यं मांसं च मद्यं च मधूदुम्बरपञ्चकम् । अष्टौ मूलगुणाः प्रोक्ताः गृहिणो दृष्टिपूर्वकाः ॥२३॥

धर्मश्रवणं कर्तव्यम् ॥ १६ ॥ बुधैः पण्डितैः । अन्यानि कार्याणि पश्चात् कर्तव्यानि । यतः कारणात् । धर्मार्थकाममोक्षाणां चतुःपदार्थानां मध्ये । आदौ धर्मः । प्रकीर्तितः कथितः ॥ १७ ॥ गुरोः प्रसादेन कृत्वा ज्ञानलोचनं लभ्यते । येन ज्ञानलोचनेन समस्तं निस्तुषं लोकालोकं दृश्यते । का इव । हस्तरेखा इव ॥ १८ ॥ ये श्रावकाः । गुरुं न मन्यन्ते । ये श्रावकाः तस्य गुरोः उपास्तिं सेवाम् । न कुर्वते । तेषां श्रावकाणाम् । उदितेऽपि प्रकाशयुक्तेऽपि । दिवाकरे सूर्ये । अन्धकारः भवेत् ॥ १९ ॥ ये अज्ञानिनः मूर्खाः । सच्छास्त्रं समीचीनं शास्त्रं न पठन्ति । किंलक्षणं शास्त्रम् । सद्गुरुप्रकटीकृतम् । ते मूर्खाः । इह जगति संसारे । सचक्षुषः चक्षुर्युक्ता अपि । मनीषिभिः[1] पण्डितैः । अन्धाः । संभाव्यन्ते कथ्यन्ते ॥ २० ॥ अहम् एवं मन्ये । तेषां नराणाम् । प्रायशः बाहुल्येन । कर्णाः न । च पुनः । तेषां नराणां हृदयानि न । यैः नरैः । गुरोः अभ्यासे निकटे । शास्त्रं न श्रुतम् । यैः नरैः शास्त्रं न अवधारितम् ॥ २१ ॥ गृहस्थैः नरैः । देशव्रतानुसारेण संयमोऽपि । निषेव्यते सेव्यते । येन कारणेन । तेन संयमेन व्रतम् । फलवत् सफलम् । जायते ॥ २२ ॥ मांसं त्याज्यम् । च पुनः । मद्यं त्याज्यम् । च पुनः । मधु त्याज्यम् ।

वन्दना करके धर्मश्रवण करना चाहिये ॥ १६ ॥ तत्पश्चात् अन्य कार्योंको करना चाहिये, क्योंकि, विद्वान् पुरुषोंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमें धर्मको प्रथम बतलाया है ॥ १७ ॥ गुरुकी ही प्रसन्नता से वह ज्ञान (केवलज्ञान) रूपी नेत्र प्राप्त होता है कि जिसके द्वारा समस्त जगत् हाथकी रेखाके समान स्पष्ट देखा जाता है ॥ १८ ॥ जो अज्ञानी जन न तो गुरुको मानते हैं और न उसकी उपासना ही करते हैं उनके लिये सूर्यका उदय होनेपर भी अन्धकार जैसा ही है ॥ विशेषार्थ– यह ऊपर कहा जा चुका है कि ज्ञानकी प्राप्ति गुरुके ही प्रसादसे होती है । अत एव जो मनुष्य आदरपूर्वक गुरुकी सेवा-शुश्रूषा नहीं करते हैं वे अल्पज्ञानी ही रहते हैं । उनके अज्ञानको सूर्यका प्रकाश भी दूर नहीं कर सकता । कारण कि वह तो केवल सीमित बाह्य पदार्थोंके अवलोकनमें सहायक हो सकता है, न कि आत्मावलोकनमें । आत्मावलोकनमें तो केवल गुरुके निमित्तसे प्राप्त हुआ अध्यात्मज्ञान ही सहायक होता है ॥ १९ ॥ जो जन उत्तम गुरुके द्वारा प्ररूपित समीचीन शास्त्रको नहीं पढ़ते हैं उन्हें बुद्धिमान् मनुष्य दोनों नेत्रोंसे युक्त होनेपर भी अन्धा समझते हैं ॥ २० ॥ जिन्होंने गुरुके समीपमें न शास्त्रको सुना है और न उसको हृदयमें धारण भी किया है उनके प्रायः करके न तो कान हैं और न हृदय भी है, ऐसा मैं समझता हूं ॥ विशेषार्थ— कानोंका सदुपयोग इसीमें है कि उनके द्वारा शास्त्रोंका श्रवण किया जाय– उनसे सदुपदेशको सुना जाय । तथा मनके लाभका भी यही सदुपयोग है कि उसके द्वारा सुने हुए शास्त्रका चिन्तन किया जाय– उसके रहस्यको धारण किया जाय । इसलिये जो प्राणी कान और मनको पा करके भी उन्हें शास्त्रके विषयमें उपयुक्त नहीं करते हैं उनके वे कान और मन निष्फल ही हैं ॥ २१ ॥ श्रावक यदि देशव्रतके अनुसार इन्द्रियोंके निग्रह और प्राणिदयारूप संयमका भी सेवन करते हैं तो इससे उनका वह व्रत (देशव्रत) सफल हो जाता है । अभिप्राय यह है कि देशव्रतके परिपालनकी सफलता इसीमें है कि तत्पश्चात् पूर्ण संयमको भी धारण किया जाय ॥ २२ ॥ मांस, मद्य, शहद और पांच उदुम्बर फलों (ऊमर, कठूमर, पाकर,

[1] १ अ श अपि मूर्खाः मनीषिभिः ।

420) **अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतानि चत्वारि द्वादशेति गृहिव्रते ॥ २४ ॥**

उदुम्बरपञ्चकं त्यजनीयम् । एते गृहिणः गृहस्थस्य । मूलगुणाः दृष्टिपूर्वकाः सम्यग्दर्शनसहिताः । प्रोक्ताः कथिताः ॥ २३ ॥ गृहिव्रते इति द्वादश व्रतानि[1] सन्ति । पञ्चैव अणुव्रतानि । त्रिप्रकारं गुणव्रतम् । चत्वारि शिक्षाव्रतानि । इति द्वादश व्रतानि ॥२४॥

बड़ और पीपल) का त्याग करना चाहिये। सम्यग्दर्शनके साथ ये आठ श्रावकके मूलगुण कहे गये हैं ॥ विशेषार्थ—मूल शब्दका अर्थ जड़ होता है । जिस वृक्षकी जड़ें गहरी और बलिष्ठ होती हैं उसकी स्थिति बहुत समय तक रहती है । किन्तु जिसकी जड़ें अधिक गहरी और बलिष्ठ नहीं होती उसकी स्थिति बहुत काल तक नहीं रह सकती—वह आंधी आदिके द्वारा शीघ्र ही उखाड़ दिया जाता है । ठीक इसी प्रकारसे चूंकि इन गुणोंके विनाश्रावकके उत्तर गुणों (अणुव्रतादि) की स्थिति भी दृढ़ नहीं रहती है, इसीलिये ये श्रावकके मूलगुण कहे जाते हैं । इनके भी प्रारम्भमें सम्यग्दर्शन अवश्य होना चाहिये, क्योंकि उसके विना प्रायः व्रत आदि सब निरर्थक ही रहते हैं ॥ २३ ॥ गृहिव्रत अर्थात् देशव्रतमें पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत; इस प्रकार ये बारह व्रत होते हैं ॥ विशेषार्थ—हिंसा, असत्य वचन, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पांच स्थूल पापोंका परित्याग करना; इसे अणुव्रत कहा जाता है । वह पांच प्रकारका है—अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत । मन, वचन और कायके द्वारा कृत, कारित एवं अनुमोदना रूपसे (नौ प्रकारसे) जो संकल्पपूर्वक त्रस जीवोंकी हिंसाका परित्याग किया जाता है उसे अहिंसाणुव्रत कहते हैं । स्थूल असत्य वचनको न स्वयं बोलना और न इसके लिये दूसरेको प्रेरित करना तथा जिस सत्य वचनसे दूसरा विपत्तिमें पड़ता हो ऐसे सत्य वचनको भी न बोलना, इसे सत्याणुव्रत कहा जाता है । रखे हुए, गिरे हुए अथवा भूले हुए परधनको विना दिये ग्रहण न करना अचौर्याणुव्रत कहलाता है । परस्त्रीसे न तो स्वयं ही सम्बन्ध रखना और न दूसरेको भी उसके लिये प्रेरित करना, इसे ब्रह्मचर्याणुव्रत अथवा स्वदारसन्तोष कहा जाता है । धन-धान्यादि परिग्रहका प्रमाण करके उससे अधिककी इच्छा न करना, इसे परिग्रहपरिमाणाणुव्रत कहते हैं । गुणव्रत तीन हैं—दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण । पूर्वादिक दस दिशाओंमें प्रसिद्ध किन्हीं समुद्र, नदी, वन और पर्वत आदिकी मर्यादा करके उसके बाहिर जानेका मरण पर्यन्त नियम कर लेनेको दिग्व्रत कहा जाता है । जिन कामोंसे किसी प्रकारका लाभ न होकर केवल पाप ही उत्पन्न होता है वे अनर्थदण्ड कहलाते हैं और उनके त्यागको अनर्थदण्डव्रत कहा जाता है । जो वस्तु एक ही वार भोगनेमें आती है वह भोग कहलाती है—जैसे भोजनादि । तथा जो वस्तु एक वार भोगी जाकर भी दुवारा भोगनेमें आती है उसे उपभोग कहा जाता है—जैसे वस्त्रादि । इन भोग और उपभोगरूप इन्द्रियविषयोंका प्रमाण करके अधिककी इच्छा नहीं करना, इसे भोगोपभोगपरिमाण कहते हैं । ये तीनों व्रत चूंकि मूलगुणोंकी वृद्धिके कारण हैं, अत एव इनको गुणव्रत कहा गया है । देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत हैं । दिग्व्रतमें की गई मर्यादाके भीतर भी कुछ समयके लिये किसी गृह, गांव एवं नगर आदिकी मर्यादा करके उसके भीतर ही रहनेका नियम करना देशावकाशिकव्रत कहा जाता है । नियत समय तक पांचों पापोंका पूर्णरूपसे त्याग कर देनेको सामायिक कहते हैं । यह सामायिक जिनचैत्यालयादिरूप किसी निर्बाध एकान्त स्थानमें की जाती है । सामायिकमें स्थित होकर यह विचार करना

१ क द्वादशानि व्रतानि ।

421) **पर्वस्वथ यथाशक्ति भुक्तित्यागादिकं तपः । वस्त्रपूतं पिबेत्तोयं रात्रिभोजनवर्जनम् ॥ २५ ॥**
422) **तं देशं तं नरं तत्स्वं तत्कर्माणि च नाश्रयेत् । मलिनं दर्शनं येन येन च व्रतखण्डनम् ॥ २६ ॥**
423) **भोगोपभोगसंख्यानं विधेयं विधिवत्सदा । व्रतशून्या न कर्तव्या काचित् कालकला बुधैः ॥२७॥**
424) **रत्नत्रयाश्रयः कार्यस्तथा भव्यैरतन्द्रितैः । जन्मान्तरे ऽपि तच्छ्रद्धा यथा संवर्धते तराम् ॥२८॥**

श्रावकैः अथ पर्वसु यथाशक्ति भुक्तित्यागादिकं तपः कर्तव्यम् । गृहस्थः । तोयं जलम् । वस्त्रपूतं पिबेत् । गृहस्थः रात्रिभोजनवर्जनं करोति ॥ २५ ॥ येन कर्मणा दर्शनं मलिनं भवति । च पुनः । येन कर्मणा व्रतखण्डनं भवति । तं देशं तं नरं तत् स्वं द्रव्यं तत्कर्माणि अपि न[१] आश्रयेत् ॥ २६ ॥ बुधैः चतुरैः । सदा सर्वदा । भोगोपभोगसंख्यानम् । विधिवत् विधिपूर्वकम् । विधेयं कर्तव्यम् । काचित् कालकला व्रतशून्या न कर्तव्या ॥ २७ ॥ भव्यैः । अतन्द्रितैः आलस्यरहितैः । तथा रत्नत्रयस्य आश्रयः कार्यः कर्तव्यः यथा तस्य दर्शनस्य रत्नत्रयस्य श्रद्धा जन्मान्तरेऽपि तराम् अतिशयेन संवर्धते ॥ २८ ॥

चाहिये कि जिस संसारमें मैं रह रहा हूं वह अशरण है, अशुभ है, अनित्य है, दुःखस्वरूप है, तथा आत्मस्वरूपसे भिन्न है। किन्तु इसके विपरीत मोक्ष शरण है, शुभ है, नित्य है, निराकुल सुखस्वरूप है, और आत्मस्वरूपसे अभिन्न है; इत्यादि। अष्टमी एवं चतुर्दशी आदिको अन्न, पान (दूध आदि), खाद्य (लड्डू-पेड़ा आदि) और लेह्य (चाटने योग्य रबड़ी आदि) इन चार प्रकारके आहारोंका परित्याग करना; इसे प्रोषधोपवास कहा जाता है। प्रोषधोपवास यह पद प्रोषध और उपवास इन दो शब्दोंके समाससे निष्पन्न हुआ है। इनमें प्रोषध शब्दका अर्थ एक वार भोजन (एकाशन) तथा उपवास शब्दका अर्थ चारों प्रकारके आहारका छोड़ना है। अभिप्राय यह कि एकाशनपूर्वक जो उपवास किया जाता है वह प्रोषधोपवास कहलाता है। जैसे—यदि अष्टमीका प्रोषधोपवास करना है तो सप्तमी और नवमीको एकाशन तथा अष्टमीको उपवास करना चाहिये। इस प्रकार प्रोषधोपवासमें सोलह पहरके लिये आहारका त्याग किया जाता है। प्रोषधोपवासके दिन पांच पाप, स्नान, अलंकार तथा सब प्रकारके आरम्भको छोड़कर ध्यानाध्ययनादिमें ही समयको विताना चाहिये। किसी प्रत्युपकार आदिकी अभिलाषा न करके जो मुनि आदि सत्पात्रोंके लिये दान दिया जाता है, इसे वैयावृत्य कहते हैं। इस वैयावृत्यमें दानके अतिरिक्त संयमी जनोंकी यथायोग्य सेवा-शुश्रूषा करके उनके कष्टको भी दूर करना चाहिये। किन्हीं आचार्योंके मतानुसार देशावकाशिक व्रतको गुणव्रतके अन्तर्गत तथा भोगोपभोगपरिमाणव्रतको शिक्षाव्रतके अन्तर्गत ग्रहण किया गया है ॥ २४ ॥ श्रावकको पर्वदिनों (अष्टमी एवं चतुर्दशी आदि) में अपनी शक्तिके अनुसार भोजनके परित्याग आदिरूप (अनशनादि) तपोंको करना चाहिये। इसके साथ ही उन्हें रात्रिभोजनको छोड़कर वस्त्रसे छना हुआ जल भी पीना चाहिये ॥ २५ ॥ जिस देशादिके निमित्तसे सम्यग्दर्शन मलिन होता हो तथा व्रतोंका नाश होता हो ऐसे उस देशका, उस मनुष्यका, उस द्रव्यका तथा उन क्रियाओंका भी परित्याग कर देना चाहिये ॥ २६ ॥ विद्वान् मनुष्योंको नियमानुसार सदा भोग और उपभोगरूप वस्तुओंका प्रमाण कर लेना चाहिये। उनका थोड़ा-सा भी समय व्रतोंसे रहित नहीं जाना चाहिये ॥ विशेषार्थ—जो वस्तु एक ही वार उपयोगमें आया करती है उसे भोग कहा जाता है—जैसे भोज्य पदार्थ एवं माला आदि। इसके विपरीत जो वस्तु अनेक वार उपयोगमें आया करती है वह उपभोग कहलाती है—जैसे वस्त्र आदि। इन दोनों ही प्रकारके पदार्थोंका प्रमाण करके श्रावकको उससे अधिककी इच्छा नहीं करना चाहिये ॥ २७ ॥ भव्य जीवोंको आलस्य छोड़कर रत्नत्रयका आश्रय इस प्रकारसे करना चाहिये कि जिस प्रकारसे उनका उक्त

१ श क तत्कर्माणि न।

425) विनयश्च यथायोग्यं कर्तव्यः परमेष्ठिषु । दृष्टिबोधचरित्रेषु तद्वत्सु समयाश्रितैः ॥ २९ ॥
426) दर्शनज्ञानचारित्रतपःप्रभृति सिध्यति । विनयेनेति तं तेन मोक्षद्वारं प्रचक्षते ॥ ३० ॥
427) सत्पात्रेषु यथाशक्ति दानं देयं गृहस्थितैः । दानहीना भवेत्तेषां निष्फलैव गृहस्थता ॥ ३१ ॥
428) दानं ये न प्रयच्छन्ति निर्ग्रन्थेषु चतुर्विधम् । पाशा एव गृहास्तेषां बन्धनायैव निर्मिताः ॥३२॥
429) अभयाहारभैषज्यशास्त्रदाने हि यत्कृते । ऋषीणां जायते सौख्यं गृही श्लाघ्यः कथं न सः ॥३३
430) समर्थोऽपि न यो दद्याद्यतीनां दानमादरात् । छिनत्ति स स्वयं मूढः परत्र सुखमात्मनः ॥३४॥
431) दृषन्नावसमो ज्ञेयो दानहीनो गृहाश्रमः । तदारूढो भवाम्भोधौ मज्जत्येव न संशयः ॥ ३५ ॥
432) समयस्थेषु वात्सल्यं स्वशक्त्या ये न कुर्वते । बहुपापावृतात्मानस्ते धर्मस्य पराङ्मुखाः ॥ ३६ ॥

समयाश्रितैः सर्वज्ञमताश्रितैः भव्यैः परमेष्ठिषु यथायोग्यं विनयः कर्तव्यः । भव्यैः दृष्टिबोधचरित्रेषु । तद्वत्सु रत्नत्रयाश्रितेषु विनयः कर्तव्यः ॥ २९ ॥ तेन कारणेन । विनयेन दर्शनज्ञानचरित्रतपःप्रभृति सिध्यति[1] । इति हेतोः । तं विनयं मोक्षद्वारं प्रचक्षते कथ्यते ॥ ३० ॥ गृहस्थितैः सत्पात्रेषु यथाशक्ति दानं देयम् । तेषां श्रावकाणाम् । दानहीना गृहस्थता निष्फला भवेत् ॥ ३१ ॥ ये श्रावकाः । निर्ग्रन्थेषु यतिषु । चतुर्विधं दानं न प्रयच्छन्ति तेषां गृहस्थानाम् । गृहाः बन्धनाय पाशाः विनिर्मिताः ॥ ३२ ॥ स गृही श्रावकः । कथं न श्लाघ्यः । हि यतः । यत्कृते येन गृहिणा कृते यत्कृते[2] । अभय-आहारभैषज्यशास्त्रदाने कृते सति ऋषीणां सौख्यम् । जायते उत्पद्यते ॥ ३३ ॥ यः समर्थः श्रावकः आदरात् यतीनां दानं न दद्यात् स मूढः मूर्खः[3] । आत्मनः । परत्र सुखं परलोकसुखम् । स्वयम् आत्मना । छिनत्ति छेदयति ॥ ३४ ॥ दानहीनः गृहाश्रमः गृहपदः[दम्] । दृषन्नावसमः ज्ञेयः पाषाणनौकासमः ज्ञातव्यः[4] । तदारूढः तस्यां पाषाणनौकायाम् आरूढः नरः । भवाम्भोधौ संसारसमुद्रे । मज्जति ब्रुडति । न संशयः ॥ ३५ ॥ ये श्रावकाः । समयस्थेषु जिनमार्गस्थितेषु नरेषु । स्वशक्त्या । वात्सल्यं सेवाम् । न कुर्वते । ते नराः धर्मस्य पराङ्मुखाः

रत्नत्रयविषयक श्रद्धान (दृढ़ता) दूसरे जन्ममें भी अतिशय वृद्धिंगत होता रहे ॥ २८ ॥ इसके अतिरिक्त श्रावकोंको जिनागमके आश्रित होकर अर्हदादि पांच परमेष्ठियों, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा इन सम्यग्दर्शनादिको धारण करनेवाले जीवोंकी भी यथायोग्य विनय करनी चाहिये ॥ २९ ॥ उस विनयके द्वारा चूंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप आदिकी सिद्धि होती है अत एव उसे मोक्षका द्वार कहा जाता है ॥ ३० ॥ गृहमें स्थित रहनेवाले श्रावकोंको शक्तिके अनुसार उत्तम पात्रोंके लिये दान देना चाहिये, क्योंकि, दानके विना उनका गृहस्थाश्रम (श्रावकपना) निष्फल ही होता है ॥ ३१ ॥ जो गृहस्थ दिगम्बर मुनियोंके लिये चार प्रकारका दान नहीं देते हैं उनको बन्धनमें रखनेके लिये वे गृह मानो जाल ही बनाये गये हैं ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि श्रावक घरमें रहकर जिन असि-मषी आदि-रूप कर्मोंको करता है उनसे उसके अनेक प्रकारके पाप कर्मका संचय होता है । उससे छुटकारा पानेका उपाय केवल दान है । सो यदि वह उस पात्रदानको नहीं करता है तो फिर वह उक्त संचित पापके द्वारा संसारमें ही परिभ्रमण करनेवाला है । इस प्रकारसे उक्त दानहीन श्रावकके लिये वे घर बन्धनके ही कारण बन जाते हैं ॥ ३२ ॥ जिसके द्वारा अभय, आहार, औषध और शास्त्रका दान करनेपर मुनियोंको सुख उत्पन्न होता है वह गृहस्थ कैसे प्रशंसाके योग्य न होगा ? अवश्य होगा ॥ ३३ ॥ जो मनुष्य दान देनेके योग्य हो करके भी मुनियोंके लिये भक्तिपूर्वक दान नहीं देता है वह मूर्ख परलोकमें अपने सुखको स्वयं ही नष्ट करता है ॥ ३४ ॥ दानसे रहित गृहस्थाश्रमको पत्थरकी नावके समान समझना चाहिये । उस गृहस्थाश्रमरूपी *पत्थरकी नावपर बैठा हुआ मनुष्य संसाररूपी समुद्रमें डूबता ही है*, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ३५ ॥ जो गृहस्थ

१ क सिध्यति विनयेनेति तं तेन मोक्षद्वारं प्रचक्षते । २ श 'येन गृहिणा कृते यत्कृते' इति वाक्यांशः नास्ति । ३ श मूर्खः मूढः । ४ क समः पाषाणनौकासमः ज्ञेयः ज्ञातव्यः ।

433) येषां जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते । चित्ते जीवदया नास्ति तेषां धर्मः कुतो भवेत् ॥ ३७ ॥
434) मूलं धर्मतरोराद्या व्रतानां धाम संपदाम् । गुणानां निधिरित्यङ्गिदया कार्या विवेकिभिः ॥३८॥
435) सर्वे जीवदयाधारा गुणास्तिष्ठन्ति मानुषे । सूत्राधाराः प्रसूनानां हाराणां च सरा इव ॥३९॥
436) यतीनां श्रावकाणां च व्रतानि सकलान्यपि । एकाहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं कथितानि जिनेश्वरैः ॥४०॥
437) जीवहिंसादिसंकल्पैरात्मन्यपि हि दूषिते । पापं भवति जीवस्य न परं परपीडनात् ॥ ४१ ॥
438) द्वादशापि सदा चिन्त्या अनुप्रेक्षा महात्मभिः । तद्भावना भवत्येव कर्मणः क्षयकारणम् ॥४२॥

सन्ति । बहुपापेन आवृतम् [आवृतः] आच्छादितं [°तः] आत्मा येषां ते बहुपापावृतात्मानः धर्मस्य । पराङ्मुखा वर्तन्ते ॥ ३६ ॥ येषां गृहस्थानाम् । चित्ते मनसि । जीवदया धर्मः अस्ति तेषां श्रावकाणां धर्मः भवेत् । किंलक्षणे चित्ते । जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते । येषां श्रावकाणां चित्ते जीवदया न अस्ति । तेषां श्रावकाणाम् । धर्मः कुतो भवेत् ॥ ३७ ॥ इति हेतोः । विवेकिभिः अङ्गिदया कार्या कर्तव्या । अङ्गिदया धर्मतरोः धर्मवृक्षस्य मूलम् । पुनः किंलक्षणा दया । व्रतानाम् आद्या आदौ जाता आद्या[1] । पुनः किंलक्षणा दया । संपदां धाम गृहम् । पुनः किंलक्षणा दया । गुणानां निधिः । इति हेतोः । दया कार्या ॥३८॥ मानुषे मनुष्यविषये । सर्वे गुणाः जीवदयाधाराः तिष्ठन्ति । प्रसूनानां पुष्पाणाम् । च पुनः । हाराणां सूत्राधाराः सरा इव । लोके हारलव ॥ ३९ ॥ जिनेश्वरैः गणधरदेवैः । यतीनाम् । च पुनः । श्रावकाणाम् । सकलानि व्रतानि एकाहिंसाधर्मप्रसिद्ध्यर्थं कथितानि ॥ ४० ॥ हि यतः । जीवहिंसादिसंकल्पैः कृत्वा आत्मनि दूषिते अपि जीवस्य पापं भवति । परं केवलम् । परपीडनात् न भवति । अपि तु परपीडनात् अपि पापं भवति । संकल्पैरपि पापं भवति ॥ ४१ ॥ महात्मभिः भव्यजीवैः । द्वादश अपि अनुप्रेक्षाः सदा । चिन्त्या विचारणीयाः । तद्भावना तासां अनुप्रेक्षाणां भावना । कर्मणः क्षयकारणं

अपनी शक्तिके अनुसार साधर्मी जनोंसे प्रेम नहीं करते हैं वे धर्मसे विमुख होकर अपनेको बहुत पापसे आच्छादित करते हैं ॥ ३६ ॥ (जिन भगवान्‌के उपदेशसे दयालुतारूप अमृतसे परिपूर्ण जिन श्रावकोंके हृदयमें प्राणिदया आविर्भूत नहीं होती है उनके धर्म कहांसे हो सकता है ?) अर्थात् नहीं हो सकता ॥ विशेषार्थ—इसका अभिप्राय यह है कि जिन गृहस्थोंका हृदय जिनागमका अभ्यास करनेके कारण दयासे ओतप्रोत हो चुका है वे ही गृहस्थ वास्तवमें धर्मात्मा हैं । किन्तु इसके विपरीत जिनका चित्त दयासे आर्द्र नहीं हुआ है वे कभी भी धर्मात्मा नहीं हो सकते । कारण कि धर्मका मूल तो वह दया ही है ॥ ३७ ॥ (प्राणिदया धर्मरूपी वृक्षकी जड़ है, व्रतोंमें मुख्य है, सम्पत्तियोंका स्थान है, और गुणोंका भण्डार है । इसलिये उसे विवेकी जनोंको अवश्य करना चाहिये)॥३८॥ (मनुष्यमें सब ही गुण जीवदयाके आश्रयसे इस प्रकार रहते हैं जिस प्रकार कि पुष्पोंकी लड़ियाँ सूतके आश्रयसे रहती हैं ॥) विशेषार्थ—जिस प्रकार फूलोंके हारोंकी लड़ियां धागेके आश्रयसे स्थिर रहती हैं उसी प्रकार समस्त गुणोंका समुदाय प्राणिदयाके आश्रयसे स्थिर रहता है । यदि मालाके मध्यका धागा टूट जाता है तो जिस प्रकार उसके सब फूल विखर जाते हैं उसी प्रकार निर्दयी मनुष्यके वे सब गुण भी दयाके अभावमें विखर जाते हैं—नष्ट हो जाते हैं । अत एव सम्यग्दर्शनादि गुणोंके अभिलाषी श्रावकको प्राणियोंके विषयमें दयालु अवश्य होना चाहिये ॥ ३९ ॥ (जिनेन्द्र देवने मुनियों और श्रावककोंके सब ही व्रत एक मात्र अहिंसा धर्मकी ही सिद्धिके लिये बतलाये हैं ॥ ४० ॥) (जीवके केवल दूसरे प्रणियोंको कष्ट देनेसे ही पाप नहीं होता, बल्कि प्राणीकी हिंसा आदिके विचार मात्रसे भी आत्माके दूषित होनेपर वह पाप होता है ॥ ४१ ॥) महात्मा पुरुषोंको निरन्तर बारहों अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन करना चाहिये । कारण यह कि उनकी भावना (चिन्तन) कर्मके क्षयका कारण होती है ॥ ४२ ॥

---

१ श दया । आद्या आदौ जाता व्रतानां प्रथमा मुख्या ।

439) अध्रुवाशरणे चैव भव एकत्वमेव च । अन्यत्वमशुचित्वं च तथैवास्रवसंवरौ ॥ ४३ ॥
440) निर्जरा च तथा लोको बोधिदुर्लभधर्मता । द्वादशैता अनुप्रेक्षा भाषिता जिनपुङ्गवैः ॥ ४४ ॥
441) अध्रुवाणि समस्तानि शरीरादीनि देहिनाम् । तन्नाशे ऽपि न कर्तव्यः शोको दुष्कर्मकारणम् ॥४५
442) व्याघ्रेणाघ्रातकायस्य मृगशावस्य निर्जने । यथा न शरणं जन्तोः संसारे न तथापदि ॥ ४६ ॥
443) यत्सुखं तत्सुखाभासं यद्दुःखं तत्सदाञ्जसा । भवे लोकाः सुखं सत्यं मोक्ष एव स साध्यताम् ॥
444) स्वजनो वा परो वापि नो कश्चित्परमार्थतः । केवलं स्वार्जितं कर्म जीवेनैकेन भुज्यते ॥ ४८ ॥
445) क्षीरनीरवदेकत्र स्थितयोर्देहदेहिनोः । भेदो यदि ततो ऽन्येषु कलत्रादिषु का कथा ॥ ४९ ॥
446) तथाशुचिरयं कायः कृमिधातुमलान्वितः । यथा तस्यैव संपर्कादन्यत्राप्यपवित्रता ॥ ५० ॥

भवति ॥ ४२ ॥ जिनपुङ्गवैः सर्वविद्भिः । एता द्वादश भावना अनुप्रेक्षा भाषिताः । १ अध्रुवम् । २ अशरणम् । ३ संसारः । च पुनः । ४ एकत्वम् । ५ अन्यत्वम् । ६ अशुचित्वम् । ७ तथा[1] आस्रवैः । ८ संवरम् । ९ निर्जरा । तथा १० लोकानुप्रेक्षा । ११ बोधिदुर्लभः । १२ धर्मानुप्रेक्षा । एताः द्वादश भावनाः कथिताः ॥ ४३–४४ ॥ देहिनां जीवानाम्[3] । शरीरादीनि समस्तानि अध्रुवाणि विनश्वराणि सन्ति । तन्नाशेऽपि शरीरादिनाशेऽपि शोकः न कर्तव्यः । किंलक्षणः शोकः । दुष्कर्मकारणम्[4] ॥ ४५ ॥ यथा निर्जने वने । व्याघ्रेण आघ्रातकायस्य गृहीतशरीरस्य मृगशावस्य शरणं न । तथा संसारे । जन्तोः जीवस्य । आपदि शरणं न ॥ ४६ ॥ भो लोकाः । भवे संसारे । यत्सुखम् अस्ति तत्सुखम् आभासम् अस्ति । यद्दुःखं तत्सदा अञ्जसा सामस्त्येन[5] दुःखम् । सत्यं शाश्वतं सुखं मोक्ष एव । स मोक्षः साध्यताम् ॥ ४७ ॥ परमार्थतः निश्चयतः । कश्चित् वा स्वजनः वा परो जनैः[6] कोऽपि नो[7] । एकेन जीवेन केवलं स्वार्जितं कर्म भुज्यते ॥ ४८ ॥ यदि चेत् । देहदेहिनोः शरीर-आत्मनोः । भेदः क्षीरनीरवत् अस्ति । किंलक्षणयोः शरीरात्मनोः । एकत्र स्थितयोः । ततः कारणात् । अन्येषु कलत्रादिषु का कथा ॥ ४९ ॥ अयं कायः शरीरम् । तथा अशुचिः यथा तस्य कायस्य संपर्कात् मेलापकात् । अन्यत्र सुगन्धादौ[8] वस्तुनि ।

अध्रुव अर्थात् अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, उसी प्रकार आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म ये जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा बारह अनुप्रेक्षायें कहीं गईं हैं ॥ ४३–४४ ॥ प्राणियोंके शरीर आदि सब ही नश्वर हैं । इसलिये उक्त शरीर आदिके नष्ट हो जानेपर भी शोक नहीं करना चाहिये, क्योंकि, वह शोक पापबन्धका कारण है । इस प्रकारसे वार वार विचार करनेका नाम अनित्यभावना है ॥ ४५ ॥ जिस प्रकार निर्जन वनमें सिंहके द्वारा पकड़े गये मृगके बच्चेकी रक्षा करनेवाला कोई नहीं है, उसी प्रकार आपत्ति (मरण आदि) के प्राप्त होनेपर उससे जीवकी रक्षा करनेवाला भी संसारमें कोई नहीं है । इस प्रकार विचार करना अशरणभावना कही जाती है ॥ ४६ ॥ संसारमें जो सुख है वह सुखका आभास है– यथार्थ सुख नहीं है, परन्तु जो दुःख है वह वास्तविक है और सदा रहनेवाला है । सच्चा सुख मोक्षमें ही है । इसलिये हे भव्यजनो ! उसे ही सिद्ध करना चाहिये । इस प्रकार संसारके स्वरूपका चिन्तन करना, यह संसारभावना है ॥ ४७ ॥ कोई भी प्राणी वास्तवमें न तो स्वजन (स्वकीय माता-पिता आदि) है और न पर भी है । जीवके द्वारा जो कर्म बांधा गया है उसको ही केवल वह अकेला भोगनेवाला है । इस प्रकार बार बार विचार करना, इसे एकत्वभावना कहते हैं ॥ ४८ ॥ जब दूध और पानीके समान एक ही स्थानमें रहनेवाले शरीर और जीवमें भी भेद है तब प्रत्यक्षमें ही अपनेसे भिन्न दिखनेवाले स्त्री-पुत्र आदिके विषयमें भला क्या कहा जावे ? अर्थात् वे तो जीवसे भिन्न हैं ही । इस प्रकार विचार करनेका नाम अन्यत्वभावना है ॥ ४९ ॥ क्षुद्र कीड़ों, रस-रुधिरादि धातुओं तथा मलसे संयुक्त यह शरीर ऐसा अपवित्र है कि उसके ही सम्बन्धसे दूसरी (पुष्पमाला आदि) भी वस्तुएँ

१ क 'तथा' नास्ति । २ श आस्रवं । ३ श 'जीवानां' नास्ति । ४ अ श अतोऽग्रे 'भवेत्' इत्येतदधिकं पदं दृश्यते । ५ श सामस्तेन । ६ क परजनः । ७ श न । ८ क सुगन्ध्यादौ ।

447) जीवपोतो भवाम्भोधौ मिथ्यात्वादिकरन्ध्रवान् । आस्रवति विनाशार्थं कर्माम्भः सुचिरं[1] भ्रमात् ॥ ५१ ॥
448) कर्मास्रवनिरोधो ऽत्र संवरो भवति ध्रुवम् । साक्षादेतदनुष्ठानं मनोवाक्कायसंवृतिः ॥ ५२ ॥
449) निर्जरा शातनं प्रोक्ता पूर्वोपार्जितकर्मणाम् । तपोभिर्बहुभिः सा स्याद्वैराग्याश्रितचेष्टितैः ॥ ५३ ॥
450) लोकः सर्वो ऽपि सर्वत्र सापायस्थितिरध्रुवः । दुःखकारीति कर्तव्या मोक्ष एव मतिः सताम् ॥ ५४ ॥
451) रत्नत्रयपरिप्राप्तिर्बोधिः सातीव दुर्लभा । लब्धा कथं कथंचिच्चेत् कार्यो यत्नो महानिह ॥ ५५ ॥

अपवित्रता भवति । किंलक्षणः कायः । कृमिधातुमलान्वितः ॥ ५० ॥ भव-अम्भोधौ संसारसमुद्रे । जीवपोतः जीवप्रोहणः । भ्रमात् । कर्माम्भः कर्मजलम् । सुचिरं चिरकालम् । विनाशार्थम् आस्रवति । किंलक्षणः जीवप्रोहणः । मिथ्यात्वादिकरन्ध्रवान् छिद्रवान् ॥ ५१ ॥ अत्र कर्मास्रवनिरोधः ध्रुवं[2] साक्षात् संवरो भवति । एतदनुष्ठानं एतस्य कर्मास्रवनिरोधस्य आचरणम् । मनोवाक्कायसंवृतिः संवरः ॥ ५२ ॥ पूर्वोपार्जितकर्मणाम् । शातनं शटनम् । निर्जरा । प्रोक्ता कथिता । सा निर्जरा । बहुभिः तपोभिः स्यात् भवेत् । सा निर्जरा । वैराग्याश्रितचेष्टितैः कृत्वा भवेत् ॥ ५३ ॥ सर्वः अपि लोकः सर्वत्र सापायस्थितिः विनाशसहितस्थितिः । अध्रुवः दुःखकारी । इति हेतोः । सतां मतिः मोक्षे कर्तव्या । एव निश्चयेन ॥ ५४ ॥ रत्नत्रयपरिप्राप्तिः बोधिः [सा] अतीव[3] दुर्लभा । चेत् कथं कथंचित् लब्धा । इह बोधौ । महान् यत्नः कार्यः कर्तव्यः ॥ ५५ ॥

अपवित्र हो जाती हैं । इस प्रकारसे शरीरके स्वरूपका विचार करना, यह अशुचिभावना है ॥ ५० ॥ संसाररूपी समुद्रमें मिथ्यात्वादिरूप छेदोंसे संयुक्त जीवरूपी नाव भ्रम (अज्ञान व परिभ्रमण) के कारण बहुत कालसे आत्मविनाशके लिये कर्मरूपी जलको ग्रहण करती है ॥ विशेषार्थ—जिस प्रकार छिद्र युक्त नाव घूमकर उक्त छिद्रके द्वारा जलको ग्रहण करती हुई अन्तमें समुद्रमें डूबकर अपनेको नष्ट कर देती है उसी प्रकार यह जीव भी संसारमें परिभ्रमण करता हुआ मिथ्यात्वादिके द्वारा कर्मोंका आस्रव करके इसी दुःखमय संसारमें घूमता रहता है । तात्पर्य यह है कि दुखका कारण यह कर्मोंका आस्रव ही है, इसीलिये उसे छोड़ना चाहिये । इस प्रकारके विचारका नाम आस्रवभावना है ॥ ५१ ॥ कर्मोंके आस्रवको रोकना, यह निश्चयसे संवर कहलाता है । इस संवरका साक्षात् अनुष्ठान मन, वचन और कायकी अशुभ प्रवृत्तिको रोक देना ही है ॥ विशेषार्थ– जिन मिथ्यात्व एवं अविरति आदि परिणामोंके द्वारा कर्म आते हैं उन्हें आस्रव तथा उनके निरोधको संवर कहा जाता है । आस्रव जहां संसारका कारण है वहां संवर मोक्षका कारण है । इसीलिये आस्रव हेय और संवर उपादेय है । इस प्रकार संवरके स्वरूपका विचार करना, यह संवरभावना कही जाती है ॥ ५२ ॥ पूर्वसंचित कर्मोंको धीरे धीरे नष्ट करना, यह निर्जरा कही गई है । वह वैराग्यके आलम्बनसे प्रवृत्त होनेवाले बहुतसे तपोंके द्वारा होती है । इस प्रकार निर्जराके स्वरूपका विचार करना, यह निर्जराभावना है ॥ ५३ ॥ यह सब लोक सर्वत्र विनाशयुक्त स्थितिसे सहित, अनित्य तथा दुःखदायी है । इसीलिये विवेकी जनोंको अपनी बुद्धि मोक्षके विषयमें ही लगानी चाहिये ॥ विशेषार्थ– यह चौदह राजु ऊंचा लोक अनादिनिधन है, इसका कोई करता-धरता नहीं है । जीव अपने कर्मके अनुसार इस लोकमें परिभ्रमण करता हुआ कभी नारकी, कभी तिर्यंच, कभी देव और कभी मनुष्य होता है । इसमें परिभ्रमण करते हुए जीवको कभी निराकुल सुख प्राप्त नहीं होता । वह निराकुल सुख मोक्ष प्राप्त होनेपर ही उत्पन्न होता है । इसलिये विवेकी जनको उक्त मोक्षकी प्राप्तिका ही प्रयत्न करना चाहिये । इस प्रकार लोकके स्वभावका विचार करना, यह लोकभावना कहलाती है ॥ ५४ ॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र स्वरूप रत्नत्रयकी प्राप्तिका नाम बोधि है । वह बहुत ही दुर्लभ

१ मु (जै. सि.) प्रचुरं । २ क अध्रुवं । ३ श प्राप्तिः सा बोधिः अतीव ।

452) जिनधर्मो[1]ऽयमत्यन्तं दुर्लभो भविनां मतः । तथा ग्राह्यो यथा साक्षादामोक्षं सह गच्छति ॥५६
453) दुःखग्राहगणाकीर्णे संसारक्षारसागरे । धर्मपोतं परं प्राहुस्तारणार्थं मनीषिणः ॥ ५७ ॥
454) अनुप्रेक्षा इमाः सद्भिः सर्वदा हृदये धृताः । कुर्वते तत्परं पुण्यं हेतुर्यत्स्वर्गमोक्षयोः ॥ ५८ ॥
455) आद्योत्तमक्षमा यत्र यो धर्मो दशभेदभाक् । श्रावकैरपि सेव्यो ऽसौ यथाशक्ति यथागमम् ॥५९
456) अन्तस्तत्त्वं विशुद्धात्मा बहिस्तत्त्वं दयाङ्गिषु । द्वयोः सन्मीलने मोक्षस्तस्माद् द्वितयमाश्रयेत् ॥
457) कर्मभ्यः कर्मकार्येभ्यः पृथग्भूतं चिदात्मकम् । आत्मानं भावयेन्नित्यं नित्यानन्दपदप्रदम् ॥ ६१ ॥
458) इत्युपासकसंस्कारः कृतः श्रीपद्मनन्दिना । येषामेतदनुष्ठानं तेषां धर्मो ऽतिनिर्मलः ॥ ६२ ॥

अयं जिनधर्मः । भविनां प्राणिनाम् । अत्यन्तं दुर्लभः । अतः कारणात् तथा ग्राह्यः यथा साक्षात् । आ मोक्षम् आ मर्यादीकृत्य । सह गच्छति ॥ ५६ ॥ संसारक्षारसागरे संसारसमुद्रे । तारणार्थम् । मनीषिणः पण्डिताः । धर्मपोतं धर्मप्रोहणम् । परं श्रेष्ठम् । आहुः कथयन्ति । किंलक्षणे संसारसमुद्रे । दुःखग्राहगणाकीर्णे दुःखानि एव जलचरा जीवास्तेषां गणैः समाकीर्णे[2] भृते ॥ ५७ ॥ इमाः अनुप्रेक्षाः । सद्भिः पण्डितैः । सर्वदा हृदये धृताः । तत्परं पुण्यं कुर्वते यत्पुण्यं स्वर्गमोक्षयोः हेतुः कारणं भवति ॥ ५८ ॥ असौ धर्मः यथाशक्ति यथागमं श्रावकैः अपि सेव्यः । यः धर्मः दशभेदभाक्[3] दशभेदधारी । यत्र धर्मे । आद्या उत्तमक्षमा वर्तते ॥ ५९ ॥ अन्तस्तत्त्वं विशुद्धात्मा वर्तते । बहिस्तत्त्वम् अङ्गिषु दया वर्तते । तयोर्द्वयोः अन्तर्बहिस्तत्त्वयोः । सन्मीलने एकत्रकरणे विचारणे । मोक्षः भवेत् । तस्मात्कारणात् । द्वितयम् आश्रयेत् ॥ ६० ॥ योगी आत्मानम् । नित्यं सदैव भावयेत् विचारयेत् । किंलक्षणम् आत्मानम् । कर्मभ्यः कर्मकार्येभ्यः पृथग्भूतं भिन्नस्वरूपम् । पुनः चिदात्मकम् । पुनः किंलक्षणम् आत्मानम् । नित्यं सदैव । आनन्दपदप्रदम्[4] ॥ ६१ ॥ इति उपासकसंस्कारः श्रावकाचारः । श्रीपद्मनन्दिना कृतः । येषां श्रावकाणाम्[5] । एतत् अनुष्ठानम् अस्ति । तेषां श्रावकाणाम् । अतिनिर्मलः धर्मो भवेत् ॥ ६२ ॥ इति श्रावकाचारः समाप्तः ॥ ६ ॥

है । यदि वह जिस किसी प्रकारसे प्राप्त हो जाती है तो फिर उसके विषयमें महान् प्रयत्न करना चाहिये । इस प्रकार रत्नत्रयस्वरूप बोधिकी प्राप्तिकी दुर्लभताका विचार करना, यह बोधिदुर्लभभावना है ॥ ५५ ॥ संसारी प्राणियोंके लिये यह जैनधर्म अत्यन्त दुर्लभ माना गया है । उक्त धर्मको इस प्रकारसे ग्रहण करना चाहिये जिससे कि वह साक्षात् मोक्षके प्राप्त होने तक साथमें ही जावे ॥ ५६ ॥ विद्वान् पुरुष दुःखरूपी हिंसक जलजन्तुओंके समूहसे व्याप्त इस संसारूपी खारे समुद्रमें उससे पार होनेके लिये धर्मरूपी नावको उत्कृष्ट बतलाते हैं । इस प्रकार धर्मके स्वरूपका विचार करना धर्मभावना कही जाती है ॥ ५७ ॥ सज्जनोंके द्वारा सदा हृदयमें धारण की गई ये बारह अनुप्रेक्षायें उस उत्कृष्ट पुण्यको करती हैं जो कि स्वर्ग और मोक्षका कारण होता है ॥ ५८ ॥ जिस धर्ममें उत्तम क्षमा सबसे पहिले है तथा जो दस भेदोंसे संयुक्त है, श्रावकोंको भी अपनी शक्ति और आगमके अनुसार उस धर्मका सेवन करना चाहिये ॥ ५९ ॥ अभ्यन्तर तत्त्व कर्मकलंकसे रहित विशुद्ध आत्मा तथा बाह्य तत्त्व प्राणियोंके विषयमें दयाभाव है । इन दोनोंके मिलनेपर मोक्ष होता है । इसलिये उन दोनोंका आश्रय करना चाहिये ॥ ६० ॥ जो चैतन्यस्वरूप आत्मा कर्मों तथा उनके कार्यभूत रागादि विभावों और शरीर आदिसे भिन्न है उस शाश्वतिक आनन्दस्वरूप पदको अर्थात् मोक्षको प्रदान करनेवाली आत्माका सदा विचार करना चाहिये ॥ ६१ ॥ इस प्रकार यह उपासकसंस्कार अर्थात् श्रावकका चारित्र श्री पद्मनन्दी मुनिके द्वारा रचा गया है । जो जन इसका आचरण करते हैं उनके अत्यन्त निर्मल धर्म होता है ॥ ६२ ॥ इस प्रकार श्रावकाचार समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

---

१ च म (जै. सि.) जिनधर्मो । २ अ क जीवाः तैः समाकीर्णे । ३ श 'दशभेदभाक्' नास्ति । ४ क आनन्दप्रदम् । ५ श अतोऽग्रे 'अपि' पदमधिकं दृश्यते ।

[७. देशव्रतोद्द्योतनम्]

459) बाह्याभ्यन्तरसंगवर्जनतया ध्यानेन शुक्लेन यः
कृत्वा कर्मचतुष्टयक्षयमगात् सर्वज्ञतां निश्चितम् ।
तेनोक्तानि वचांसि धर्मकथने सत्यानि नान्यानि तत्
भ्राम्यत्यत्र मतिस्तु यस्य स महापापी न भव्यो ऽथवा ॥ १ ॥

460) एको ऽप्यत्र करोति यः स्थितिमतिप्रीतः शुचौ दर्शने
स श्लाघ्यः खलु दुःखितो ऽप्युदयतो दुष्कर्मणः प्राणभृत् ।
अन्यैः किं प्रचुरैरपि प्रमुदितैरत्यन्तदूरीकृत-
स्फीतानन्दभरप्रदामृतपथैर्मिथ्यापथे प्रस्थितैः ॥ २ ॥

461) बीजं मोक्षतरोर्दृशं भवतरोर्मिथ्यात्वमाहुर्जिनाः
प्राप्तायां दृशि तन्मुमुक्षुभिरलं यत्नो विधेयो बुधैः ।
संसारे बहुयोनिजालजटिले भ्राम्यन् कुकर्मावृतः
क्व प्राणी लभते महत्यपि गते काले हितां तामिह ॥ ३ ॥

यः देवः । बाह्याभ्यन्तरसंगवर्जनतया बाह्याभ्यन्तरसंगत्यागेन । शुक्लेन ध्यानेन कर्मचतुष्टयक्षयं[1] कृत्वा । सर्वज्ञताम् अगात् सर्वज्ञतां प्राप्तः । तेन सर्वज्ञेन । उक्तानि कथितानि वचांसि धर्मकथने निश्चितं सत्यानि । तु पुनः । अन्यानि[2] अन्यदेव-कुदेव-कथितानि वचांसि सत्यानि न । तत्तस्मात्कारणात् । यस्य जनस्य मतिः । अत्र सर्वज्ञवचने भ्राम्यति स महापापी । अथवा स नरः भव्यः न । किंतु अभव्यः ॥ १ ॥ अत्र संसारे । यः एकः अपि भव्यजीवः अतिप्रीतः सन् शुचौ दर्शने स्थितिं करोति । खलु निश्चितम् । स प्राणभृत् श्लाघ्यः । किंलक्षणः प्राणी । दुष्कर्मण उदयतः दुःखितोऽपि । अन्यैः प्रचुरैः अपि जीवैः किम्[3] । किंलक्षणैः जीवैः । प्रमुदितैः । अत्यन्तदूरीकृतस्फीतानन्दभरप्रदामृतपथैः[4] । पुनः किंलक्षणैः जीवैः । मिथ्यापथे मिथ्यामार्गे । प्रस्थितैः चलितैः ॥ २ ॥ जिनाः गणधरदेवाः । मोक्षतरोः मोक्षवृक्षस्य । बीजम् । दृशं दर्शनम् । आहुः कथयन्ति । जिनाः गणधरदेवाः भवतरोः संसारवृक्षस्य बीजं मिथ्यात्वम् आहुः कथयन्ति । तत्तस्मात्कारणात् । दृशि प्राप्तायां सत्याम् । मुमुक्षुभिः

जो बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहको छोड़ करके तथा शुक्ल ध्यानके द्वारा चार घातिया कर्मोंको नष्ट करके निश्चयसे सर्वज्ञताको प्राप्त हो चुका है उसके द्वारा धर्मके व्याख्यानमें कहे गये वचन सत्य हैं, इससे भिन्न राग-द्वेषसे दूषित हृदयवाले किसी अल्पज्ञके वचन सत्य नहीं हैं । इसीलिये जिस जीवकी बुद्धि उक्त सर्वज्ञके वचनोंमें भ्रमको प्राप्त होती है वह अतिशय पापी है, अथवा वह भव्य ही नहीं है ॥ १ ॥ एक भी जो भव्य प्राणी अत्यन्त प्रसन्नतासे यहां निर्मल सम्यग्दर्शनके विषयमें स्थितिको करता है वह पाप कर्मके उदयसे दुःखित होकर भी निश्चयसे प्रशंसनीय है । इसके विपरीत जो मिथ्या मार्गमें प्रवृत्त होकर महान् सुखको प्रदान करनेवाले मोक्षके मार्गसे बहुत दूर हैं वे यदि संख्यामें अधिक तथा सुखी भी हों तो भी उनसे कुछ प्रयोजन नहीं है ॥ विशेषार्थ— अभिप्राय यह है कि यदि निर्मल सम्यग्दृष्टि जीव एक भी हो तो वह प्रशंसाके योग्य है । किन्तु मिथ्यामार्गमें प्रवृत्त हुए प्राणी संख्यामें यदि अधिक भी हों तो भी वे प्रशंसनीय नहीं है–निन्दनीय ही हैं । निर्मल सम्यग्दृष्टि जीवका पाप कर्मके उदयसे वर्तमानमें दुःखी रहना भी उतना हानिकारक नहीं है, जितना कि मिथ्यादृष्टि जीवका पुण्य कर्मके उदयसे वर्तमानमें सुखसे स्थित रहना भी हानिकारक है ॥ २ ॥ जिन भगवान् सम्यग्दर्शनको मोक्षरूपी वृक्षका बीज तथा मिथ्यादर्शनको संसाररूपी वृक्षका बीज बतलाते हैं । इसलिये उस सम्यग्दर्शनके प्राप्त हो जानेपर मोक्षाभिलाषी विद्वज्जनोंको उसके संरक्षण

१ क कर्मचतुष्टयं । २ श इदं पदं नोपलभ्यते तत्र । ३ श 'किम्' नास्ति । ४ श °रत्यन्तदूरीकृतस्फीतं आनन्दभरप्रदं अमृतपथं यैः ।

462) संप्राप्ते ऽत्र भवे कथं कथमपि द्राघीयसानेहसा
मानुष्ये शुचिदर्शने च महती कार्यं तपो मोक्षदम् ।
नो चेल्लोकनिषेधतो ऽथ महतो मोहादशक्तेरथो
संपद्येत न तत्तदा गृहवतां षट्कर्मयोग्यं व्रतम् ॥ ४ ॥

463) दृङ्मूलव्रतमष्टधा तदनु च स्यात्पञ्चधाणुव्रतं
शीलाख्यं च गुणव्रतत्रयमतः शिक्षाश्चतस्रः पराः ।
रात्रौ भोजनवर्जनं शुचिपटात् पेयं पयः शक्तितो
मौनादिव्रतमप्यनुष्ठितमिदं पुण्याय भव्यात्मनाम् ॥ ५ ॥

464) हन्ति स्थावरदेहिनः स्वविषये सर्वांस्त्रसान् रक्षति
ब्रूते सत्यमचौर्यवृत्तिमबलां शुद्धां निजां सेवते[1] ।
दिग्देशव्रतदण्डवर्जनमतः सामायिकं प्रोषधं
दानं भोगयुगप्रमाणमुररीकुर्याद्गृहीति व्रती ॥ ६ ॥

मुनीश्वरैः । अथ बुधैः । अलम् अत्यर्थम् । यत्नः विधेयः कर्तव्यः । इह संसारे । प्राणी महति काले गते अपि । हिता कल्याणयुक्ताम् । तां दृशं क्व लभते । किंलक्षणे संसारे । बहुयोनिजालजटिले नानायोनिसमूहभृते । किंलक्षणः प्राणी । संसारे भ्राम्यन् ॥ ३ ॥ अत्र भवे संसारे । कथं कथमपि कष्टेन । द्राघीयसा अनेहसा दीर्घकालेन । मानुष्ये । च पुनः । शुचिदर्शने संप्राप्ते सति । महता भव्यजीवेन[1] । मोक्षदं तपः कार्यं कर्तव्यम् । नो चेत् तत्तपः न संपद्येत । कुतः । लोकनिषेधतः । अथ महतः मोहात् । अथ अशक्तेः असामर्थ्यात् । तदा । गृहवतां गृहस्थानाम् । षट्कर्मयोग्यं व्रतम् अस्ति देवपूजागुरूपास्तीत्यादि ॥ ४ ॥ इदम् अनुष्ठितम् आचरितम् । भव्यात्मनां पुण्याय । स्यात् भवेत् । तमेव दर्शयति । दृग्दर्शनम् । अष्टधा मूलव्रतम् । तदनु पश्चात् । पञ्चधा अणुव्रतम् । च पुनः । शीलाख्यं व्रतं त्रयं[6] गुणव्रतम् अतः चतस्रः शिक्षाः । पराः श्रेष्ठाः । रात्रौ भोजनवर्जनम् । शुचिपटात् पयः पेयं शुचिवस्त्रात् जलपानम् । शक्तितः मौनादिव्रतम् । सर्वं पुण्याय भवति ॥ ५ ॥ गृही गृहस्थः । स्वविषये स्वकार्ये स्थावरदेहिनः पृथ्वीकायादीन् । हन्ति पीडयति । सर्वान् त्रसान् रक्षति । सत्यं वचः ब्रूते । अचौर्यवृत्तिं पालयति । निजाम् अबलां शुद्धां युवतिं सेवते[2] । दिग्देशव्रतौ [°ते] अनर्थदण्डवर्जनं करोति । अतः पश्चात् । सामायिकं करोति । प्रोषध-उपवासं

आदिके विषयमें महान् प्रयत्न करना चाहिये । कारण यह है कि पाप कर्मसे आच्छन्न होकर बहुत-सी (चौरासी लाख) योनियोंके समूहसे जटिल इस संसारमें परिभ्रमण करनेवाला प्राणी दीर्घ कालके वीतनेपर भी हितकारक उस सम्यग्दर्शनको कहांसे प्राप्त कर सकता है ? अर्थात् नहीं प्राप्त कर सकता है ॥ ३ ॥ यहां संसारमें यदि किसी प्रकारसे अतिशय दीर्घ कालमें मनुष्यभव और निर्मल सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया है तो फिर महापुरुषको मोक्षदायक तपका आचरण करना चाहिये । परन्तु यदि कुटुम्बीजनों आदिके रोकनेसे, महामोहसे अथवा अशक्तिके कारण वह तपश्चरण नहीं किया जा सकता है तो फिर गृहस्थ श्रावकोंके छह आवश्यक (देवपूजा आदि) क्रियाओंके योग्य व्रतका परिपालन तो करना ही चाहिये ॥ ४ ॥ सम्यग्दर्शनके साथ आठ मूलगुण, तत्पश्चात् पांच अणुव्रत, तथा तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत इस प्रकार ये सात शीलव्रत, रात्रिमें भोजनका परित्याग, पवित्र वस्त्रसे छाने गये जलका पीना, तथा शक्तिके अनुसार मौनव्रत आदि; यह सब आचरण भव्य जीवोंके लिये पुण्यका कारण होता है ॥ ५ ॥ व्रती श्रावक अपने प्रयोजनके वश स्थावर प्राणियोंका घात करता हुआ भी सब त्रस जीवोंकी रक्षा करता है, सत्य वचन बोलता है, चौर्यवृत्ति (चोरी) का परित्याग करता है, शुद्ध अपनी ही स्त्रीका सेवन करता है, दिग्व्रत और देशव्रतका पालन करता है, अनर्थदण्डों (पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या)

१ अ श महतां । २ श सेव्यते । ३ च भोगयुतप्रमाण । ४ अ श महतां भव्यजीवैः । ५ क अति । ६ अ श व्रतत्रयं । ७ श युवतीं ।

465) देवाराधनपूजनादिबहुषु व्यापारकार्येषु सत्-
पुण्योपार्जनहेतुषु प्रतिदिनं संजायमानेष्वपि ।
संसारार्णवतारणे प्रवहणं सत्पात्रमुद्दिश्य यत्
तद्देशव्रतधारिणो धनवतो दानं प्रकृष्टो गुणः ॥ ७ ॥

466) सर्वो वाञ्छति सौख्यमेव तनुभृत्तन्मोक्ष एव स्फुटं
दृष्ट्यादित्रय एव सिध्यति स तन्निर्ग्रन्थ एव स्थितम् ।
तद्वृत्तिर्वपुषो ऽस्य वृत्तिरशनात्तद्दीयते श्रावकैः
काले क्लिष्टतरे ऽपि मोक्षपदवी प्रायस्ततो वर्तते ॥ ८ ॥

467) स्वेच्छाहारविहारजल्पनतया नीरुग्वपुर्जायते
साधूनां तु न सा ततस्तदपटु प्रायेण संभाव्यते ।
कुर्यादौषधपथ्यवारिभिरिदं चारित्रभारक्षमं
यत्तस्मादिह वर्तते प्रशमिनां धर्मो गृहस्थोत्तमात् ॥ ९ ॥

करोति । गृही दानं करोति । गृही भोगयुगं भोग-उपभोगप्रमाणं संख्यां करोति । सर्वं व्रतम् उररी-अङ्गीकुर्यात्[१] । इति हेतोः । व्रती कथ्यते ॥ ६ ॥ देशव्रतधारिणः धनवतः श्रावकस्य[२] । सत्पात्रम् उद्दिश्य यत् दानं भवेत्[३] तत् प्रकृष्टः श्रेष्ठगुणः भवति । किंलक्षणं दानम् । संसारार्णवतारणे प्रवहणं प्रोहणम् । केषु सत्सु । देव-आराधनपूजनादिबहुषु व्यापारकार्येषु सत्पुण्योपार्जनहेतुषु[४] प्रतिदिनं संजायमानेषु अपि ॥ ७ ॥ सर्वः तनुभृत् सौख्यम् एव वाञ्छति । तत् सौख्यम् । स्फुटं व्यक्तम् । मोक्षे एव । स मोक्षः । दृष्ट्यादित्रये सति सिध्यति । तत् दृष्ट्यादित्रयं निर्ग्रन्थपदे स्थितम् । तन्निर्ग्रन्थवृत्तिः वपुषः शरीरात् भवति । अस्य शरीरस्य । वृत्तिः स्थिरता । अशनात् भोजनात् भवति । तत् अशनं भोजनम् । श्रावकैः दीयते । काले क्लिष्टतरे अपि । प्रायः बाहुल्येन । ततः श्रावकात् । मोक्षपदवी वर्तते ॥ ८ ॥ इह जगति संसारे । तस्मात् कारणात् । प्रशमिनां योगिनाम् । धर्मः । गृहस्थोत्तमात् श्रावकात् वर्तते । यत् वपुः शरीरम् । स्वेच्छाहारविहारजल्पनतया । नीरुग् रोगरहितं जायते । तु पुनः । साधूनाम् । सा स्वेच्छा न । ततः[५] कारणात् । प्रायेण बाहुल्येन । तत् मुनीनां वपुः शरीरम् । अपटु रुजा रोगेण रहितं न संभाव्यते । इदं

का परित्याग करता है; तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, दान (अतिथिसंविभाग) और भोगोपभोगपरिमाणको स्वीकार करता है ॥ ६ ॥ देशव्रती धनवान् श्रावकके प्रतिदिन उत्तम पुण्योपार्जनके कारणभूत देवाराधना एवं जिनपूजनादिरूप बहुत कार्योंके होनेपर भी संसाररूपी समुद्रके पार होनेमें नौकाका काम करनेवाला जो सत्पात्रदान है वह उसका महान् गुण है । अभिप्राय यह है कि श्रावकके समस्त कार्योंमें मुख्य कार्य सत्पात्रदान है ॥ ७ ॥ सब प्राणी सुखकी ही इच्छा करते हैं, वह सुख स्पष्टतया मोक्षमें ही है, वह मोक्ष सम्यग्दर्शनादिस्वरूप रत्नत्रयके होनेपर ही सिद्ध होता है, वह रत्नत्रय दिगम्बर साधुके ही होता है, उक्त साधुकी स्थिति शरीरके निमित्तसे होती है, उस शरीरकी स्थिति भोजनके निमित्तसे होती है, और वह भोजन श्रावकोंके द्वारा दिया जाता है । इस प्रकार इस अतिशय क्लेशयुक्त कालमें भी मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति प्रायः उन श्रावकोंके निमित्तसे ही हो रही है ॥ ८ ॥ शरीर इच्छानुसार भोजन, गमन और संभाषणसे नीरोग रहता है । परन्तु इस प्रकारकी इच्छानुसार प्रवृत्ति साधुओंके सम्भव नहीं है । इसलिये उनका शरीर प्रायः अस्वस्थ हो जाता है । ऐसी अवस्थामें चूंकि श्रावक उस शरीरको औषध, पथ्य भोजन और जलके द्वारा व्रतपरिपालनके योग्य करता है अत एव यहां उन मुनियोंका धर्म उत्तम श्रावकके निमित्तसे ही चलता

---

१ श °करोति । २ श धनवतः पुरुषस्य श्रावकस्य । ३ श करोति । ४ क कार्येषु सत्सु पुण्योपार्जन हेतुषु, क-प्रतौ त्रुटितं जातं पत्रमत्र । ५ श ततः ।

468) व्याख्या पुस्तकदानमुन्नतधियां पाठाय भव्यात्मनां
भक्त्या यत्क्रियते श्रुताश्रयमिदं दानं तदाहुर्बुधाः ।
सिद्धे ऽस्मिन् जननान्तरेषु कतिषु त्रैलोक्यलोकोत्सव-
श्रीकारिप्रकटीकृताखिलजगत्कैवल्यभाजो जनाः ॥ १० ॥

469) सर्वेषामभयं प्रवृद्धकरुणैर्यद्दीयते प्राणिनां
दानं स्यादभयादि तेन रहितं दानत्रयं निष्फलम् ।
आहारौषधशास्त्रदानविधिभिः क्षुद्रोगजाड्याद्भयं
यत्तत्पात्रजने विनश्यति ततो दानं तदेकं परम् ॥ ११ ॥

470) आहारात् सुखितौषधादतितरां नीरोगता जायते
शास्त्रात् पात्रनिवेदितात् परभवे पाण्डित्यमत्यद्भुतम् ।
एतत्सर्वगुणप्रभापरिकरः पुंसो ऽभयाद्दानतः
पर्यन्ते पुनरुन्नतोन्नतपदप्राप्तिर्विमुक्तिस्ततः ॥ १२ ॥

शरीरम् । औषधपथ्यवारिभिः चारित्रभारक्षमं कुर्यात् ॥ ९ ॥ यत् । उन्नतधियां भव्यात्मनाम् । पाठाय पठनार्थम् । भक्त्या कृत्वा । व्याख्या क्रियते । भक्त्या कृत्वा पुस्तकदानं क्रियते । तत इदं दानम् । बुधाः पण्डिताः । श्रुताश्रयम् । आहुः कथयन्ति ज्ञानदानं कथयन्ति । अस्मिन् ज्ञानदाने सिद्धे सति । कतिषु जननान्तरेषु पर्यायान्तरेषु । जना लोकाः । त्रैलोक्यलोकोत्सव-श्रीकारि[2] यत्प्रकटीकृतम् अखिलं जगत् येन तत् कैवल्यं भजति इति कैवल्यभाजः जनाः भवन्ति ॥ १० ॥ प्रवृद्धकरुणैः दयालुभिः भव्यैः । सर्वेषां प्राणिनां यत् अभयं दीयते तत् अभयादिदानम् । स्यात् भवेत् । तेन अभयदानेन । रहितं दानत्रयं निष्फलं भवेत् । पात्रजने क्षुत्-क्षुधारोगात् जाड्यात् भयम् अस्ति । तत् भयम् । आहारौषधशास्त्रदानादिभिः विनश्यति । ततः कारणात् । एकं परं श्रेष्ठम् । अभयदानं प्रशस्यते श्लाघ्यते ॥ ११ ॥ भो लोकाः श्रूयतां दानफलम् । आहारात् सुखिता जायते । औषधात् । अतितराम् अतिशयेन । नीरोगता जायते । पात्रनिवेदितात् शास्त्रात् परभवे अत्यद्भुतं पाण्डित्यं भवेत् । अभया-द्दानतः । पुंसः पुरुषस्य । एतत् पूर्वोक्तः सर्वगुणप्रभापरिकरः गुणसमूहः । जायते । पर्यन्ते पुनः उन्नतोन्नतपदप्राप्तिः जायते ।

है ॥ ९ ॥ उन्नत बुद्धिके धारक भव्य जीवोंको पढ़नेके लिये जो भक्तिसे पुस्तकका दान किया जाता है, अथवा उनके लिये तत्त्वका व्याख्यान किया जाता है, इसे विद्वज्जन श्रुतदान (ज्ञानदान) कहते हैं । इस ज्ञानदानके सिद्ध हो जानेपर कुछ थोड़ेसे ही भवोंमें मनुष्य उस केवलज्ञानको प्राप्त कर लेते हैं जिसके द्वारा सम्पूर्ण विश्व साक्षात् देखा जाता है तथा जिसके प्रगट होनेपर तीनों लोकोंके प्राणी उत्सवकी शोभा करते हैं ॥ १० ॥ दयालु पुरुषोंके द्वारा जो सब प्राणियोंके लिये अभय दिया जाता है, अर्थात् उनके भयको दूर किया जाता है, वह अभयदान कहलाता है । उससे रहित शेष तीन प्रकारका दान व्यर्थ होता है । चूंकि आहार, औषध और शास्त्रके दानकी विधिसे पात्र जनका क्रमसे क्षुधाका भय, रोगका भय और अज्ञानताका भय नष्ट होता है अत एव एक वह अभयदान ही श्रेष्ठ है ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त चार दानोंमें यह अभयदान मुख्य है । कारण कि शेष आहारादि दानोंकी सफलता इस अभय-दानके ही ऊपर अवलंबित है । इसके अतिरिक्त यदि विचार किया जाय तो वे आहारादिके दानस्वरूप शेष तीन दान भी इस अभयदानके ही अन्तर्गत हो जाते हैं । इसका कारण यह है कि अभयदानका अर्थ है प्राणीके सब प्रकारके भयको दूर करके उसे निर्भय करना । सो आहारदानके द्वारा प्राणीकी क्षुधाके भयको, औषधदानके द्वारा रोगके भयको, और शास्त्रदानके द्वारा उसकी अज्ञानताके भयको ही दूर किया जाता है ॥ ११ ॥ पात्रके लिये दिये गये आहारके निमित्तसे दूसरे जन्ममें सुख, औषधके निमित्तसे अति-

१ श त्रैलोकलोकस्य यत् श्रीकारी । २ ब त्रैलोक्यलोकस्य श्रीकारि, श त्रैलोकलोकस्य उत्सव श्रीकारि ।

471) कृत्वा कार्यशतानि पापबहुलान्याश्रित्य खेदं परं
भ्रान्त्वा वारिधिमेखलां वसुमतीं दुःखेन यच्चार्जितम् ।
तत्पुत्रादपि जीवितादपि धनं प्रेयो ऽस्य पन्थाः शुभो
दानं तेन च दीयतामिदमहो नान्येन तत्संगतिः ॥ १३ ॥

472) दानेनैव गृहस्थता गुणवती लोकद्वयोद्द्योतिका
सैव स्यान्ननु तद्विना धनवतो लोकद्वयध्वंसकृत् ।
दुर्व्यापारशतेषु सत्सु गृहिणः पापं यदुत्पद्यते
तन्नाशाय शशाङ्कशुभ्रयशसे दानं च नान्यत्परम् ॥ १४ ॥

473) पात्राणामुपयोगि यत्किल धनं तद्धीमतां[1] मन्यते
येनानन्तगुणं परत्र सुखदं व्यावर्तते तत्पुनः ।
यद्भोगाय गतं पुनर्धनवतस्तन्नष्टमेव ध्रुवं
सर्वासामिति संपदां गृहवतां दाने प्रधानं फलम् ॥ १५ ॥

ततः पश्चात् । विमुक्तिर्जायते ॥ १२ ॥ तत् धनं पुत्रादपि जीवितादपि । प्रेयः वल्लभम् । यत् धनम् । दुःखेन अर्जितम् उपार्जितम् । किं कृत्वा । अकार्यशतानि पापबहुलानि कृत्वा । पुनः परं खेदम् आश्रित्य प्राप्य । च पुनः । वारिधिमेखलां वसुमतीं भ्रान्त्वा धनम् उपार्जितम् । अस्य धनस्य । शुभः पन्था मार्गः । एकं दानम् । तेन कारणेन । अहो इति संबोधने । भो लोकाः । इदं धनम् । दीयताम् । तस्य धनस्य अन्येन सह संगतिर्न ॥ १३ ॥ ननु इति वितर्के । धनवतः पुंसः गृहस्थता दानेन एव गुणवती लोकद्वय-उद्योतिका । स्यात् भवेत् । सा एव गृहस्थता । तद्विना तेन दानेन विना । तद्गृहस्थपदं लोकद्वयध्वंसकृत् । गृहिणः गृहस्थस्य[2] । दुर्व्यापारशतेषु सत्सु यत्पापम् उत्पद्यते तन्नाशाय पुनः शशाङ्कशुभ्रयशसे दानं परं श्रेष्ठम् । अन्यत् न ॥ १४ ॥ किल इति सत्ये । यत् धनम् । पात्राणाम् उपयोगि पात्रनिमित्तं भवति । धीमतां तद्धनं मन्यते । येन कारणेन । तत् धनम् । पुनः परत्र परलोके । अनन्तगुणं सुखदं व्यावर्तते । पुनः यत् धनम् । भोगाय गतम् । धनवतः गृहस्थस्य । तत् धनम् । नष्टम्

शय नीरोगता, और शास्त्रके निमित्तसे आश्चर्यजनक विद्वत्ता प्राप्त होती है । सो अभयदानसे पुरुषको इन सब ही गुणोंका समुदाय प्राप्त होता है तथा अन्तमें उन्नत उन्नत पदों (इन्द्र एवं चक्रवर्ती आदि) की प्राप्तिपूर्वक मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है ॥ १२ ॥ जो धन अतिशय खेदका अनुभव करते हुए पापप्रचुर सैकड़ों दुष्कार्योंको करके तथा समुद्ररूप करधनीसे सहित अर्थात् समुद्रपर्यन्त पृथिवीका परिभ्रमण करके बहुत दुखसे कमाया गया है वह धन मनुष्यको अपने पुत्र एवं प्राणोंसे भी अधिक प्यारा होता है । इसके व्ययका उत्तम मार्ग दान है । इसलिये कष्टसे प्राप्त उस धनका दान करना चाहिये । इसके विपरीत दूसरे मार्ग (दुर्व्यसनादि) से अपव्यय किये गये जानेपर उसका संयोग फिरसे नहीं प्राप्त हो सकता है ॥ १३ ॥ दानके द्वारा ही गुणयुक्त गृहस्थाश्रम दोनों लोकोंको प्रकाशित करता है, अर्थात् जीवको दानके निमित्तसे ही इस भव और परभव दोनोंमें सुख प्राप्त होता है । इसके विपरीत उक्त दानके विना धनवान् मनुष्यका वह गृहस्थाश्रम दोनों लोकोंको नष्ट कर देता है । सैकड़ों दुष्ट व्यापारोंमें प्रवृत्त होनेपर गृहस्थके जो पाप उत्पन्न होता है उसको नष्ट करनेका तथा चन्द्रमाके समान धवल यशकी प्राप्तिका कारण वह दान ही है, उसको छोड़कर पापनाश और यशकी प्राप्तिका और कोई दूसरा कारण नहीं हो सकता है ॥ १४ ॥ जो धन पात्रोंके उपयोगमें आता है उसीको बुद्धिमान् मनुष्य श्रेष्ठ मानते हैं, क्योंकि, वह अनन्तगुणे सुखका देनेवाला होकर परलोकमें फिरसे भी प्राप्त हो जाता है । किन्तु इसके विपरीत जो धनवान्का धन भोगके निमित्तसे नष्ट होता है वह निश्चयसे नष्ट ही हो जाता है, अर्थात् दानजनित पुण्यके अभावमें वह फिर कभी

१ ब धीमता । २ श गृहस्थस्य गृहिणः ।

474) पुत्रे राज्यमशेषमर्थिषु धनं दत्त्वाभयं प्राणिषु
प्राप्ता नित्यसुखास्पदं सुतपसा मोक्षं पुरा पार्थिवाः ।
मोक्षस्यापि भवेत्ततः प्रथमतो दानं निदानं बुधैः
शक्त्या देयमिदं सदातिचपले द्रव्ये तथा जीविते ॥ १६ ॥

475) ये मोक्षं प्रति नोद्यताः सुनृभवे लब्धे ऽपि दुर्बुद्धयः
ते तिष्ठन्ति गृहे न दानमिह चेत्तन्मोहपाशो दृढः ।
मत्वेदं गृहिणा यथर्द्धि विविधं दानं सदा दीयतां
तत्संसारसरित्पतिप्रतरणे पोतायते निश्चितम् ॥ १७ ॥

476) यैर्नित्यं न विलोक्यते जिनपतिर्न स्मर्यते नार्च्यते
न स्तूयेत न दीयते मुनिजने दानं च भक्त्या परम् ।
सामर्थ्ये सति तद्गृहाश्रमपदं पाषाणनावा समं
तत्रस्था भवसागरे ऽतिविषमे मज्जन्ति नश्यन्ति च ॥ १८ ॥

इव[एव]ध्रुवम् । इति हेतोः । गृहवतां संपदां दाने प्रधानं फलम् ॥१५॥ पुरा पूर्वम् । पार्थिवा राजानः । तपसा कृत्वा । नित्यसुखास्पदं मोक्षं प्राप्ताः । किं कृत्वा । पुत्रे अशेषं राज्यं दत्त्वा । अर्थिषु याचकेषु धनं दत्त्वा । प्राणिषु अभयं दत्त्वा । ततः कारणात् । मोक्षस्यापि प्रथमतः निदानं कारणं दानं भवेत् । सदा काले । बुधैः चतुरैः । शक्त्या इदं दानं देयम् । क्व सति । द्रव्ये अतिचपले सति । तथा जीविते अतिचपले सति ॥ १६ ॥ सुनृभवे लब्धे अपि प्राप्ते अपि ये दुर्बुद्धयः निन्द्यबुद्धयः । मोक्षं प्रति न उद्यताः । ते जनाः । गृहे तिष्ठन्ति । चेत्[1] यदि । इह लोके । दानं न । तत् गृहपदम् । दृढः मोहपाशः । इदं मत्वा ज्ञात्वा । गृहिणा श्रावकेण । यथर्द्धि विविधं दानं सदा[2] दीयताम् । तत् दानम् । संसारसरित्पतिप्रतरणे संसारसमुद्रतरणे । निश्चितं पोतायते प्रोहण इव आचरति इति[3] पोतायते ॥ १७ ॥ यैः भव्यैः श्रावकैः नित्यं सदैव जिनपतिः न विलोक्यते । यैः श्रावकैः । जिनपतिः न स्मर्यते । यैः श्रावकैः जिनपतिः न अर्च्यते । यैर्भव्यैः जिनपतिः न स्तूयते[4] । च पुनः । सामर्थ्ये सति । भक्त्या कृत्वा मुनिजने परं दानं न दीयते । तद्गृहाश्रमपदं[5] तस्य श्रावकस्य गृहपदम् । पाषाणनावा समं पाषाणनावसदृशम् । तत्रस्थाः पाषाणनाव-

---

नहीं प्राप्त होता । अत एव गृहस्थोंको समस्त सम्पत्तियोंके लाभका उत्कृष्ट फल दानमें ही प्राप्त होता है ॥ १५ ॥ पूर्व कालमें अनेक राजा पुत्रको समस्त राज्य देकर, याचक जनोंको धन देकर, तथा प्राणियोंको अभय देकर उत्कृष्ट तपश्चरणके द्वारा अविनश्वर सुखके स्थानभूत मोक्षको प्राप्त हुए हैं । इस प्रकारसे वह दान मोक्षका भी प्रधान कारण है । इसीलिये सम्पत्ति और जीवितके अतिशय चपल अर्थात् नश्वर होनेपर विद्वान् पुरुषोंको शक्तिके अनुसार सर्वदा उस दानको अवश्य देना चाहिये ॥ १६ ॥ उत्तम मनुष्यभवको पा करके भी जो दुर्बुद्धि पुरुष मोक्षके विषयमें उद्यम नहीं करते हैं वे यदि घरमें रहते हुए भी दान नहीं देते हैं तो उनके लिये वह घर मोहके द्वारा निर्मित दृढ़ जाल जैसा ही है, ऐसा समझकर गृहस्थ श्रावकको अपनी सम्पत्तिके अनुसार सर्वदा अनेक प्रकारका दान देना चाहिये । कारण यह कि वह दान निश्चयसे संसाररूपी समुद्रके पार होनेमें नावका काम करनेवाला है ॥ १७ ॥ जो जन प्रतिदिन जिनेन्द्र देवका न तो दर्शन करते हैं, न स्मरण करते हैं, न पूजन करते हैं, न स्तुति करते हैं, और न समर्थ होकर भी भक्तिसे मुनिजनके लिये उत्तम दान भी देते हैं; उनका गृहस्थाश्रम पद पत्थरकी नावके समान है । उसके ऊपर स्थित होकर वे मनुष्य अत्यन्त भयानक संसाररूपी समुद्रमें गोता खाते हुए नष्ट ही

---

१ श 'चेत्' नास्ति । २ श 'सदा' नास्ति । ३ श 'इति' नास्ति । ४ श स्तूर्यते । ५ श दानं दीयते न गृहाश्रमपदं ।

477) चिन्तारत्नसुरद्रुकामसुरभिस्पर्शोपलाद्या भुवि
ख्याता एव परोपकारकरणे दृष्टा न ते केनचित् ।
तैरत्रोपकृतं न केषुचिदपि प्रायो न संभाव्यते
तत्कार्याणि पुनः सदैव विदधद्दाता परं दृश्यते ॥ १९ ॥

478) यत्र श्रावकलोक एष वसति स्यात्तत्र चैत्यालयो
यस्मिन् सो ऽस्ति च तत्र सन्ति यतयो धर्मश्च तैर्वर्तते ।
धर्मे सत्यघसंचयो विघटते स्वर्गापवर्गाश्रयं[1]
सौख्यं भावि नृणां ततो गुणवतां स्युः श्रावकाः संमताः ॥ २० ॥

479) काले दुःखमसंज्ञके जिनपतेर्धर्मे गते क्षीणतां
तुच्छे सामयिके जने बहुतरे मिथ्यान्धकारे सति ।
चैत्ये चैत्यगृहे च भक्तिसहितो यः सो ऽपि नो दृश्यते
यस्तत्कारयते यथाविधि पुनर्भव्यः स वन्द्यः सताम् ॥ २१ ॥

सदृशगृहपदस्थाः[2] । अतिविषमे । भवसागरे संसारसमुद्रे । मज्जन्ति ब्रुडन्ति नश्यन्ति च ॥ १८ ॥ चिन्तारत्नै[3]-सुरद्रुम-कल्पवृक्ष-कामसुरभि-कामधेनु-गो[4]-स्पर्शोपल-पार्श्वपाषाणा एते । भुवि भूमण्डले[5] । परोपकारकरणे । ख्याताः प्रसिद्धाः कथ्यन्ते । ते पूर्वोक्ताः । केनचित् पुंसा दृष्टाः न । तैः चिन्तारत्नादिभिः । केषुचित् उपकृतं न । अत्र लोके । उपकारं [रः] न कृतं [तः] उपकारः न संभाव्यते । पुनः तत्कार्याणि । तेषां रत्नादीनां कार्याणि चिन्तितदायकानि । सदैव विदधत् कुर्वन् । दाता परं दृश्यते ॥ १९ ॥ यत्र एषः श्रावकलोकः वसति तिष्ठति । तत्र चैत्यालयः स्यात् भवेत् । च पुनः । यस्मिन् चैत्यालये सति । स सर्वज्ञबिम्ब अस्ति[7]। अथवा यस्मिन् ग्रामे चैत्यालयः अस्ति तत्र यतयः सन्ति। तैः यतिभिः धर्मः प्रवर्तते[6]। धर्मे सति अघसंचयः पापसंचयः विघटते विनश्यति । नृणां स्वर्गापवर्गसौख्यम् । भावि भविष्यति । ततः कारणात् । गुणवतां श्रावकाः संमताः स्युः ॥ २० ॥ दुःखमसंज्ञके पञ्चमकाले सति । जिनपतेः धर्मे क्षीणतां गते सति । सामयिके जने[8] तुच्छे सति । मिथ्यान्धकारे बहुतरे सति । चैत्ये प्रतिमायाम् । च पुनः । चैत्यगृहे भक्तिसहितः यः कश्चित् श्रावकः । सोऽपि नो दृश्यते । पुनः यः भव्यः यथाविधि । तत्कारयते तत् चैत्यं प्रतिमां

होनेवाले हैं ॥ १८ ॥ चिन्तामणि, कल्पवृक्ष, कामधेनु और पारस पत्थर आदि पृथिवीपर परोपकारके करनेमें केवल प्रसिद्ध ही हैं । उनको न तो किसीने परोपकार करते हुए देखा है और न उन्होंने यहां किसीका उपकार किया भी है, तथा वैसी सम्भावना भी प्रायः नहीं है । परन्तु उनके कार्यों (परोपकारादि) को सदा ही करता हुआ केवल दाता श्रावक अवश्य देखा जाता है । तात्पर्य यह कि दानी मनुष्य उन प्रसिद्ध चिन्तामणि आदिसे भी अतिशय श्रेष्ठ है ॥ १९ ॥ जिस गांवमें ये श्रावक जन रहते हैं वहां चैत्यालय होता है और जहांपर चैत्यालय है वहांपर मुनिजन रहते हैं, उन मुनियोंके द्वारा धर्मकी प्रवृत्ति होती है, तथा धर्मके होनेपर पापके समूहका नाश होकर स्वर्ग-मोक्षका सुख प्राप्त होता है । इसलिये गुणवान् मनुष्योंको श्रावक अभीष्ट हैं ॥ विशेषार्थ— अभिप्राय यह है कि जिन जिनभवनोंमें स्थित होकर मुनिजन स्वर्ग-मोक्षके साधनभूत धर्मका प्रचार करते हैं वे जिनभवन श्रावकोंके द्वारा ही निर्मापित कराये जाते हैं । अत एव जब वे श्रावक ही परम्परासे उस सुखके साधन हैं तब गुणी जनोंको उन श्रावकोंका यथायोग्य सन्मान करना ही चाहिये ॥ २० ॥ इस दुखमा नामके पंचम कालमें जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा प्ररूपित धर्म क्षीण हो चुका है । इसमें जैनागम अथवा जैन धर्मका आश्रय लेनेवाले जन थोड़े और अज्ञानरूप अन्धकारका प्रचार बहुत अधिक है । ऐसी अवस्थामें जो मनुष्य जिनप्रतिमा और जिनगृहके विषयमें भक्ति रखता हो वह भी

१ क स्वर्गापवर्गश्रियं । २ श °नावासदृशा गृहस्थाः । ३ श चिन्तामणिरत्न । ४ श गौ । ५ क भुवि मण्डले । ६ श वर्तते ।
७ क स्वर्गापवर्गश्रियं सौख्यं, क-प्रतौ त्रुटितं जातं पत्रमत्र । ८ श सामयिकसहितजने ।

480) बिम्बादलोन्नतियवोन्नतिमेव भक्त्या ये कारयन्ति जिनसद्म जिनाकृतिं च ।
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता स्तोतुं परस्य किमु कारयितुर्द्वयस्य ॥ २२ ॥

481) यात्राभिः स्नपनैर्महोत्सवशतैः पूजाभिरुल्लोचकैः
नैवेद्यैर्बलिभिर्ध्वजैश्च कलशैस्तूर्यत्रिकैर्जागरैः ।
घण्टाचामरदर्पणादिभिरपि प्रस्तार्य शोभां परां
भव्याः पुण्यमुपार्जयन्ति सततं सत्यत्र चैत्यालये[6] ॥ २३ ॥

482) ते चाणुव्रतधारिणो ऽपि नियतं यान्त्येव देवालयं[2]
तिष्ठन्त्येव महर्द्धिकामरपदं तत्रैव लब्ध्वा चिरम् ।
अत्रागत्य पुनः कुले ऽतिमहति प्राप्य प्रकृष्टं शुभा-
न्मानुष्यं च विरागतां च सकलत्यागं च मुक्तास्ततः ॥ २४ ॥

च पुनः चैत्यगृहं कारयते स भव्यः । सतां वन्द्यः सत्पुरुषाणां[3] वन्द्यः ॥ २१ ॥ ये भव्याः । जिनसद्म । च पुनः । जिनाकृतिं भक्त्या कारयन्ति । बिम्बादलोन्नतिं कन्दूरी-अर्धसमानम् । जिनसद्म । यवोन्नतिं[4] यव-उन्नतिसमानम्[5] । जिनाकृतिम् । कारयन्ति । इह लोके । तदीयं पुण्यं स्तोतुम् । वागपि सरस्वत्यपि । शक्ता समर्था । नैव । परस्य द्वयस्य कारयितुः जिनसद्म जिनाकृतिं कारयितुः । किमु का वार्ता ॥ २२ ॥ अत्र चैत्यालये सति । भव्याः । सततं निरन्तरम् । पुण्यम् उपार्जयन्ति । काभिः । यात्राभिः । पुनः कैः । स्नपनैः महोत्सवशतैः पूजाभिः । उल्लोचकैः चन्द्रोपकैः । पुण्यम् उपार्जयन्ति । पुनः नैवेद्यैः । बलिभिः यज्ञैः । ध्वजैः । कलशैः । तौर्यत्रिकैः गीतनृत्यवादित्रैः । जागरैः । घण्टाचामरदर्पण-आदर्शशतैः अपि । परां शोभां प्रस्तार्य पुण्यम् उपार्जयन्ति भव्याः ॥ २३ ॥ ते अणुव्रतधारिणः श्रावका अपि चैत्यालयं यान्ति । तत्र देवलोके । महर्द्धिक-अमरपदं लब्ध्वा । चिरं बहुतरं कालम् । तिष्ठन्ति । पुनः । अत्र मनुष्यलोके आगत्य अतिमहति कुले । शुभात् पुण्यात् । मानुष्यं प्राप्य । च पुनः ।

नहीं देखनेमें आता । फिर भी जो भव्य विधि पूर्वक उक्त जिनप्रतिमा और जिनगृहका निर्माण कराता है वह सज्जन पुरुषोंके द्वारा वन्दनीय है ॥ २१ ॥ जो भव्य जीव भक्तिसे कुंदुरुके पत्तेके बराबर जिनालय तथा जौके बराबर जिनप्रतिमाका निर्माण कराते हैं उनके पुण्यका वर्णन करनेके लिये यहां वाणी (सरस्वती) भी समर्थ नहीं है । फिर जो भव्य जीव उन (जिनालय एवं जिनप्रतिमा) दोनोंका ही निर्माण कराता है उसके विषयमें क्या कहा जाय ? अर्थात् वह तो अतिशय पुण्यशाली है ही ॥ विशेषार्थ— इसका अभिप्राय यह है कि जो भव्य प्राणी छोटे-से छोटे भी जिनमंदिरका अथवा जिनप्रतिमाका निर्माण कराता है वह बहुत ही पुण्यशाली होता है । फिर जो भव्य प्राणी विशाल जिनभवनका निर्माण कराकर उसमें मनोहर जिनप्रतिमाको प्रतिष्ठित कराता है उसको तो निःसन्देह अपरिमित पुण्यका लाभ होनेवाला है ॥ २२ ॥ संसारमें चैत्यालयके होनेपर अनेक भव्य जीव यात्राओं (जलयात्रा आदि), अभिषेकों, सैकडों महान् उत्सवों, अनेक प्रकारके पूजाविधानों, चंदोवों, नैवेद्यों, अन्य उपाहारों, ध्वजाओं, कलशों, तौर्यत्रिकों (गीत, नृत्य, वादित्र), जागरणों तथा घंटा, चामर और दर्पणादिकोंके द्वारा उत्कृष्ट शोभाका विस्तार करके निरन्तर पुण्यका उपार्जन करते हैं ॥ २३ ॥ वे भव्य जीव यदि अणुव्रतोंके भी धारक हों तो भी मरनेके पश्चात् स्वर्गलोकको ही जाते हैं और अणिमा आदि ऋद्धियोंसे संयुक्त देवपदको प्राप्त करके चिर काल तक वहां (स्वर्गमें) ही रहते हैं । तत्पश्चात् महान् पुण्यकर्मके उदयसे मनुष्यलोकमें आकर और अतिशय प्रशंसनीय कुलमें उत्तम मनुष्य होकर वैराग्यको प्राप्त होते हुए वे समस्त परिग्रहको छोड़कर मुनि हो जाते हैं तथा इस

१ ब वाणुव्रत । २ ब-प्रतिपाठोऽयम् । अ क श चैत्यालयं । ३ क सत्पुरुषैः । ४ श 'यवोन्नतिं' नास्ति । ५ अ जवउन्नत-समानां, श जवोन्नतसमानं । ६ क 'परां' नास्ति ।

483) पुंसो ऽर्थेषु चतुर्षु निश्चलतरो मोक्षः परं सत्सुखः
शेषास्तद्विपरीतधर्मकलिता हेया मुमुक्षोरतः ।
तस्मात्तत्पदसाधनत्वधरणो धर्मो ऽपि नो संमतः
यो भोगादिनिमित्तमेव स पुनः पापं बुधैर्मन्यते ॥ २५ ॥

484) भव्यानामणुभिर्व्रतैरनणुभिः साध्यो ऽत्र मोक्षः परं
नान्यत्किंचिदिहैव निश्चयनयाज्जीवः सुखी जायते ।
सर्वं तु व्रतजातमीदृशधिया साफल्यमेत्यन्यथा
संसाराश्रयकारणं भवति यत्तद्दुःखमेव स्फुटम् ॥ २६ ॥

485) यत्कल्याणपरंपरार्पणपरं भव्यात्मनां संसृतौ
पर्यन्ते यदनन्तसौख्यसदनं मोक्षं ददाति ध्रुवम् ।
तज्जीयादतिदुर्लभं सुनरतामुख्यैर्गुणैः प्रापितं
श्रीमत्पङ्कजनन्दिभिर्विरचितं देशव्रतोद्द्योतनम् ॥ २७ ॥

विरागतां प्राप्य । च पुनः । सकलपरिग्रहत्यागं प्राप्य । ततः मुक्ताः कर्मबन्धनात् मुक्ता रहिता भवन्ति ॥ २४ ॥ पुंसः पुरुषस्य । चतुर्षु अर्थेषु पदार्थेषु । परम् उत्कृष्टः । निश्चलतरः मोक्षः पदार्थः सत्सुखः । शेषाः पदार्थाः त्रयः । तद्विपरीतधर्मकलिताः मोक्षपराङ्मुखाः । अतः कारणात् मुमुक्षोः । हेयाः त्याज्याः । तस्मात् धर्मपदार्थः अपि । तत्पद-मोक्षपद-साधनत्वधरणः मोक्षपदसाधनसमर्थः धर्मपदार्थः धर्मः नो संमतः नेष्टः (?) यो भोगादिनिमित्तमेव स बुधैः पापं[1] मन्यते ॥ २५ ॥ अत्र संसारे । भव्यानाम् अणुभिः [व्रतैः] अणुव्रतैः । अनणुभिः महाव्रतैः । परं मोक्षः साध्यः । अन्यत्किंचित् न । जीवः निश्चयनयात् । इहैव मोक्षे । सुखी जायते । तु पुनः । सर्वं व्रतजातं व्रतसमूहम् [हः] । ईदृशधिया मोक्षधिया । साफल्यम् एति साफल्यं गच्छति । अन्यथा संसाराश्रयकारणं भवति । यत् व्रतजातं व्रतसमूहं[हः] । तद्दुःखम् एव । स्फुटं व्यक्तम् ॥ २६ ॥ तद्देशव्रतोद्द्योतनं देशव्रतप्रकाशनम् । जीयात् । यत् देशव्रतोद्द्योतनम् । संसृतौ संसारे । भव्यात्मनाम् । कल्याणपरंपरा कल्याणश्रेणी तस्याः अर्पणे परं श्रेष्ठम् । पुनः किंलक्षणं देशव्रतोद्द्योतनम् । यत्[2] पर्यन्ते अवसाने । ध्रुवं निश्चितम् । अनन्तसौख्यसदनं मोक्षं ददाति । किंलक्षणं मोक्षम् । अतिदुर्लभम् । पुनः किंलक्षणं देशव्रतोद्द्योतनम् । सुनरतामुख्यैः गुणैः प्रापितम् । किंलक्षणं देशव्रतोद्द्योतनम् । श्रीमत्पङ्कजनन्दिभिः विरचितं कृतम ॥ २७ ॥ इति देशव्रतोद्द्योतनं समाप्तम् ॥ ७ ॥

क्रमसे वे अन्तमें मुक्तिको भी प्राप्त कर लेते हैं ॥ २४ ॥ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमें केवल मोक्ष पुरुषार्थ ही समीचीन (बाधा रहित) सुखसे युक्त होकर सदा स्थिर रहनेवाला है । शेष तीन पुरुषार्थ उससे विपरीत (अस्थिर) स्वभाववाले हैं । अत एव वे मुमुक्षु जनके लिये छोड़नेके योग्य हैं । इसीलिए जो धर्म पुरुषार्थ उपर्युक्त मोक्ष पुरुषार्थका साधक होता है वह भी हमें अभीष्ट है; किन्तु जो धर्म केवल भोगादिका ही कारण होता है उसे विद्वज्जन पाप ही समझते हैं ॥ २५ ॥ भव्य जीवोंको अणुव्रतों अथवा महाव्रतोंके द्वारा यहांपर केवल मोक्ष ही सिद्ध करनेके योग्य है, अन्य कुछ भी सिद्ध करनेके योग्य नहीं है । कारण यह है कि निश्चय नयसे जीव उस मोक्षमें ही स्थित होकर सुखी होता है । इसीलिये इस प्रकारकी बुद्धिसे जो सब व्रतोंका परिपालन किया जाता है वह सफलताको प्राप्त होता है तथा इसके विपरीत वह केवल उस संसारका कारण होता है जो प्रत्यक्षमें ही दुःखस्वरूप है ॥ २६ ॥ श्रीमान् पद्मनन्दी मुनिके द्वारा रचा गया जो देशव्रतोद्योतन प्रकरण संसारमें भव्य जीवोंके लिये कल्याण-परम्पराके देनेमें तत्पर है, अन्तमें जो निश्चयसे अनन्त सुखके स्थानभूत मोक्षको देता है, तथा जो उत्तम मनुष्यपर्याय आदि गुणोंसे प्राप्त कराया जानेवाला है; ऐसा वह दुर्लभ देशव्रतोद्योतन जयवन्त होवे ॥ २७ ॥ इस प्रकार देशव्रतोद्योतन समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

---

१ श क धर्मपदार्थः नो सम्मतः नो कथितः पुनः यः धर्मः भोगादिनिमित्तं एव बुधैः पण्डितैः स धर्मः पापं । २ क 'यत्' नास्ति ।

[८. सिद्धस्तुतिः]

486) सूक्ष्मत्वादणुदर्शिनो ऽवधिदृशः पश्यन्ति नो यान् परे
यत्संविन्महिमस्थितं[1] त्रिभुवनं खस्थं[2] भमेकं यथा ।
सिद्धानामहमप्रमेयमहसां तेषां लघुर्मानुषो
मूढात्मा किमु वच्मि तत्र यदि वा भक्त्या महत्या वशः ॥ १ ॥

487) निःशेषामरशेखराश्रितमणिश्रेण्यर्चिताङ्घ्रिद्वया
देवास्ते ऽपि जिना यदुन्नतपदप्राप्त्यै यतन्ते तराम् ।
सर्वेषामुपरि प्रवृद्धपरमज्ञानादिभिः क्षायिकैः
युक्ता न व्यभिचारिभिः प्रतिदिनं सिद्धान् नमामो वयम् ॥ २ ॥

488) ये लोकाग्रविलम्बिनस्तदधिकं धर्मास्तिकायं विना
नो याताः सहजस्थिरामललसद्दृग्बोधसन्मूर्तयः ।
संप्राप्ताः कृतकृत्यतामसदृशाः सिद्धा जगन्मङ्गलं
नित्यानन्दसुधारसस्य च सदा पात्राणि ते पान्तु वः ॥ ३ ॥

अहं मानुषः । मूढात्मा मूर्खः । लघुः हीनः । तेषां सिद्धानाम् । किमु वच्मि किं कथयामि । किंलक्षणानां सिद्धानाम् । अप्रमेयमहसां मर्यादारहिततेजसाम् । यान् सिद्धान् सूक्ष्मत्वात् परे अवधिदृशः अवधिज्ञानिनः । अणुदर्शिनः सूक्ष्मपरमाणुदर्शिनः । नो पश्यन्ति । येषां सिद्धानां ज्ञाने । त्रिभुवनं प्रतिभासते । यथा खस्थम्[3] । आकाशे स्थितम् । भं नक्षत्रम् । भासते । यत् ज्ञानम् । त्रिभुवने । संविन्महिमस्थितम् । यदि वा । तत्र तेषु सिद्धेषु । यत्किंचिद्वच्मि तत् भक्त्या[4] महत्या वशः कथ्यते ॥ १ ॥ वयम् आचार्याः प्रतिदिनं सिद्धान् नमामः । किंलक्षणान् सिद्धान् । सर्वेषामुपरि प्रवृद्धपरमज्ञानादिभिः क्षायिकैः युक्तान् । अव्यभिचारिभिः विनाशरहितगुणैः[5] युक्तान् । यदुन्नतपदप्राप्त्यै येषां सिद्धानाम् उन्नतपदप्राप्त्यै । तेऽपि जिनाः[6] तीर्थंकरदेवाः । तराम् अतिशयेन । यतन्ते यत्नं कुर्वन्ति । किंलक्षणा जिनदेवाः । निःशेषा अमराः देवाः[7] तेषां शेखरेषु मुकुटेषु आश्रिता ये मणयः तेषां मणीनां श्रेणिभिः अर्चितम् अङ्घ्रिद्वयं येषां ते निःशेषामरशेखराश्रितमणिश्रेण्यर्चिताङ्घ्रिद्वयाः ॥ २ ॥ ते सिद्धाः । वः युष्मान् । सदा सर्वदा । पान्तु रक्षन्तु । ये सिद्धाः । लोकाग्रविलम्बिनः । तदधिकं लोकात् अग्रे । नो याताः । केन विना । धर्मास्तिकायं विना । किंलक्षणाः सिद्धाः । सहजस्थिरातिनिर्मललसद्दृग्-दर्शन-बोध-ज्ञानमूर्तयः । पुनः किंलक्षणाः सिद्धाः । कृतकृत्यतां संप्राप्ताः । पुनः असदृशाः असमानाः । पुनः किंलक्षणाः सिद्धाः । जगन्मङ्गलम् । च पुनः । नित्यानन्दसुधारसस्य पात्राणि । ते

सूक्ष्म होनेसे जिन सिद्धोंको परमाणुदर्शी दूसरे अवधिज्ञानी भी नहीं देख पाते हैं तथा जिनके ज्ञानमें स्थित तीनों लोक आकाशमें स्थित एक नक्षत्रके समान स्पष्ट प्रतिभासित होते हैं उन अपरिमित तेजके धारक सिद्धोंका वर्णन क्या मुझ जैसा मूर्ख व हीन मनुष्य कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता। फिर भी जो मैं उनका कुछ वर्णन यहां कर रहा हूं वह अतिशय भक्तिके वश होकर ही कर रहा हूं ॥ १ ॥ जिनके दोनों चरण समस्त देवोंके मुकुटोंमें लगे हुए माणियोंकी पंक्तियोंसे पूजित हैं, अर्थात् जिनके चरणोंमें समस्त देव भी नमस्कार करते हैं, ऐसे वे तीर्थंकर जिनदेव भी जिन सिद्धोंके उन्नत पदको प्राप्त करनेके लिये अधिक प्रयत्न करते हैं; जो सबोंके ऊपर वृद्धिंगत होकर अन्य किसीमें न पाये जानेवाले ऐसे अतिशय वृद्धिंगत केवलज्ञानादिस्वरूप क्षायिक भावोंसे संयुक्त हैं; उन सिद्धोंको हम प्रतिदिन नमस्कार करते हैं ॥ २ ॥ जो सिद्ध जीव लोकशिखरके आश्रित हैं, आगे धर्म द्रव्यका अभाव होनेसे जो उससे अधिक उपर नहीं गये हैं, जो अविनश्वर स्वाभाविक निर्मल दर्शन (केवलदर्शन)

---

१ क श संविन्महिम° । २ म (जै सि.) श स्वच्छं । ३ श स्वच्छं । ४ श किंचित् भक्त्या । ५ श °रहितैर्गुणैः । ६ श ते जिनाः । ७ क निःशेषामराः निःशेषदेवाः ।

489) ये जित्वा निजकर्मकर्कशरिपून् प्राप्ताः पदं शाश्वतं
येषां जन्मजरामृतिप्रभृतिभिः सीमापि नोल्लङ्घ्यते ।
येष्वैश्वर्यमचिन्त्यमेकमसमज्ञानादिसंयोजितं
ते सन्तु त्रिजगच्छिखाग्रमणयः सिद्धा मम श्रेयसे ॥ ४ ॥

490) सिद्धो[1] बोधमितिः स बोध उदितो ज्ञेयप्रमाणो भवेत्
ज्ञेयं लोकमलोकमेव च वदन्त्यात्मेति सर्वस्थितः ।
मूषायां मदनोज्झिते हि जठरे यादृग् नभस्तादृशः
प्राक्कायात् किमपि प्रहीण इति वा सिद्धः सदानन्दति ॥ ५ ॥

सिद्धाः । रक्षन्तु ॥ ३ ॥ ते सिद्धाः मम श्रेयसे । सन्तु भवन्तु । किंलक्षणाः सिद्धाः । त्रिजगच्छिखाग्रमणयः । ये सिद्धाः निजकर्मकर्कशरिपून् शत्रून् जित्वा । शाश्वतं पदं प्राप्ताः । येषां सिद्धानाम् । सीमा अपि मर्यादा अपि । जन्मजरामृतिप्रभृतिभिः नोल्लङ्घ्यते । येषु सिद्धेषु एकम् अचिन्त्यम् ऐश्वर्यं वर्तते । असमज्ञानादिसंयोजितं ज्ञानम् अतीन्द्रियज्ञानं वर्तते ॥ ४ ॥ सिद्धः सदा आनन्दति । किंलक्षणः सिद्धः । कृतकृत्यः । पुनः किंलक्षणः सिद्धः । बोधमितिः बोधप्रमाणम् । स उदितः बोधः प्रकटीभूतः बोधः ज्ञेयप्रमाणो भवेत् । ज्ञेयं लोकं च पुनः अलोकम् एव वदन्ति[2] । इति हेतोः । आत्मा सर्वस्थितः । हि यतः । मूषायां मृन्मयपुत्तलिकायाम् । मदन-उज्झिते मयणरहिते । जाठरे उदरे । यादृक् नभः आकाशः अस्ति तादृशः सिद्धाकारः इति प्राक्कायात्

और ज्ञान (केवलज्ञान) रूप अनुपम शरीरको धारण करते हैं, जो कृतकृत्यस्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं, अनुपम हैं, जगत्के लिये मंगलस्वरूप हैं, तथा अविनश्वर सुखरूप अमृतरसके पात्र हैं; ऐसे वे सिद्ध सदा आप लोगोंकी रक्षा करें ॥ ३ ॥ जो सिद्ध परमेष्ठी अपने कर्मरूपी कठोर शत्रुओंको जीतकर नित्य (मोक्ष) पदको प्राप्त हो चुके हैं; जन्म, जरा एवं मरण आदि जिनकी सीमाको भी नहीं लांघ सकते, अर्थात् जो जन्म, जरा और मरणसे मुक्त हो गये हैं; तथा जिनमें असाधारण ज्ञान आदिके द्वारा अचिन्त्य एवं अद्वितीय अनन्तचतुष्टयस्वरूप ऐश्वर्यका संयोग कराया गया है; ऐसे वे तीनों लोकोंके चूड़ामणिके समान सिद्ध परमेष्ठी मेरे कल्याणके लिये होवें ॥ ४ ॥ सिद्ध जीव अपने ज्ञानके प्रमाण हैं और वह ज्ञान ज्ञेय (ज्ञानका विषय) के प्रमाण कहा गया है। वह ज्ञेय भी लोक एवं अलोकस्वरूप है। इसीसे आत्मा सर्वव्यापक कहा जाता है। सांचे (जिसमें ढालकर पात्र एवं आभूषण आदि बनाये जाते हैं) मेंसे मैनके पृथक् हो जानेपर उसके भीतर जैसा शुद्ध आकाश शेष रह जाता है ऐसे आकारको धारण करनेवाला तथा पूर्व शरीरसे कुछ हीन ऐसा वह सिद्ध परमेष्ठी सदा आनन्दका अनुभव करता है ॥ विशेषार्थ— सिद्धोंका ज्ञान अपरिमित है जो समस्त लोक एवं अलोकको विषय करता है। इस प्रकार लोक और अलोक रूप अपरिमित ज्ञेयको विषय करनेवाले उस ज्ञानसे चूंकि आत्मा अभिन्न है—तत्स्वरूप है; इसी अपेक्षासे आत्माको व्यापक कहा जाता है। वस्तुतः तो वह पूर्व शरीरसे कुछ न्यून रहकर अपने सीमित क्षेत्रमें ही रहता है। पूर्व शरीरसे कुछ न्यून रहनेका कारण यह है कि शरीरके उपांगभूत जो नासिकाछिद्रादि होते हैं वहां आत्मप्रदेशोंका अभाव रहता है। शरीरका सम्बन्ध छूटनेपर अमूर्तिक सिद्धात्माका आकार कैसा रहता है, यह बतलाते हुए यहां यह उदाहरण दिया गया है कि जैसे मिट्टी आदिसे निर्मित पुतलेके भीतर मैन भर दिया गया हो, तत्पश्चात् उसे अग्निका संयोग प्राप्त होनेपर जिस प्रकार उस मैनके गल जानेपर वहां उस आकारमें शुद्ध आकाश शेष रह जाता है उसी प्रकार शरीरका सम्बन्ध छूट

१ च शुद्धो। २ क लोकं अलोकं च पुनः एव वदन्ति।

491) दृग्बोधौ परमौ तदावृतिहतेः सौख्यं च मोहक्षयात्
वीर्यं विघ्नविघाततो ऽप्रतिहतं मूर्तिर्न नामक्षतेः ।
आयुर्नाशवशान्न जन्ममरणे गोत्रे न गोत्रं विना
सिद्धानां न च वेदनीयविरहाद्दुःखं सुखं चाक्षजम् ॥ ६ ॥

492) यैर्दुःखानि समाप्नुवन्ति विधिवज्जानन्ति पश्यन्ति नो
वीर्यं नैव निजं भजन्त्यसुभृतो नित्यं स्थिताः संसृतौ ।
कर्माणि प्रहतानि तानि महता योगेन यैस्ते सदा
सिद्धा नित्यचतुष्टयामृतसरिन्नाथा भवेयुर्न किम् ॥ ७ ॥

493) एकाक्षाद्बहुकर्मसंवृतमतेर्द्व्यक्षादिजीवाः सुख-
ज्ञानाधिक्ययुता भवन्ति किमपि क्लेशोपशान्तेरिह ।
ये सिद्धास्तु समस्तकर्मविषमध्वान्तप्रबन्धच्युताः
सद्बोधाः सुखिनश्च ते कथमहो न स्युस्त्रिलोकाधिपाः ॥ ८ ॥

किमपि प्रहीणः ॥ ५ ॥ सिद्धानां दृग्बोधौ परमौ वर्तेते[1] । कस्मात् । तयोर्द्वयोः ज्ञानदर्शनयोः आवृतिहतेः आवरणस्फेटनात्[2] । च पुनः । सिद्धानां सौख्यं वर्तते । कस्मात् । मोहक्षयात । सिद्धानाम् अनन्तवीर्यं वर्तते । कस्मात् । विघ्नविघाततः अन्तरायकर्म-क्षयात् । किंलक्षणं वीर्यम् । अप्रतिहतं न केनापि हतम् । सिद्धानां मूर्तिः न । कस्मात् । नामक्षतेः नामकर्मक्षयात् । येषां सिद्धानां जन्ममरणे न । कस्मात् । आयुःकर्मनाशात् । येषां सिद्धानाम् । गोत्रे द्वे न उच्चनीचगोत्रे[3] न । कस्मात् । गोत्रकर्मविना-शात् । च पुनः । सिद्धानाम् । अक्षजम् इन्द्रिय-उत्पन्नम् अक्षजं सुखं दुःखं न । कस्मात् । वेदनीयकर्मविरहात् नाशात् ॥ ६ ॥ ते सिद्धाः । सदा सर्वदा । नित्यचतुष्टयामृतसरिन्नाथाः अनन्तसुखसमुद्राः । किं न भवेयुः । अपि तु भवेयुः । यैः सिद्धैः । महता योगेन शुक्लध्यानेन । तानि कर्माणि । प्रहतानि विनाशितानि । यैः कर्मभिः । असुभृतः जीवाः दुःखानि समाप्नुवन्ति विधिवत् दुःखानि जानन्ति नो पश्यन्ति निजं वीर्यम् नैव भजन्ति नाश्रयन्ति । नित्यम् । संसृतौ स्थिताः संसारे स्थिताः ॥ ७ ॥ इह जगति संसारे । एकाक्षात् एकेन्द्रियात् । द्वि-अक्षादिजीवाः द्वीन्द्रियादिजीवाः । सुखज्ञानाधिक्ययुताः भवन्ति । कस्मात् । किमपि[4] क्लेशोपशान्तेः सकाशात् । किंलक्षणात् एकेन्द्रियात्[5] । बहुकर्मसंवृतमतेः । अहो इति संबोधने । तु पुनः । ते सिद्धाः । कथं सुखिनः न स्युः न

जानेपर उसके आकार शुद्ध आत्मप्रदेश शेष रह जाते हैं ॥ ५ ॥ सिद्धोंके दर्शनावरणके क्षयसे उत्कृष्ट दर्शन (केवलदर्शन), ज्ञानावरणके क्षयसे उत्कृष्ट ज्ञान (केवलज्ञान), मोहनीय कर्मके क्षयसे अनन्त सुख, अन्तरायके विनाशसे अनन्तवीर्य, नामकर्मके क्षयसे उनके मूर्तिका अभाव होकर अमूर्तत्व (सूक्ष्मत्व), आयु कर्मके नष्ट हो जानेसे जन्म-मरणका अभाव होकर अवगाहनत्व, गोत्र कर्मके क्षीण हो जानेपर उच्च एवं नीच गोत्रोंका अभाव होकर अगुरुलघुत्व, तथा वेदनीय कर्मके नष्ट हो जानेसे इन्द्रियजन्य सुख-दुःखका अभाव होकर अव्याबाधत्व गुण प्रगट होता है ॥ ६ ॥ जिन कर्मोंके निमित्तसे निरन्तर संसारमें स्थित प्राणी सदा दुःखोंको प्राप्त हुआ करते हैं, विधिवत् आत्मस्वरूपको न जानते हैं और न देखते हैं, तथा अपने स्वाभाविक वीर्य (सामर्थ्य) का भी अनुभव नहीं करते हैं; उन कर्मोंको जिन सिद्धोंने महान् योग अर्थात् शुक्लध्यानके द्वारा नष्ट कर दिया है वे सिद्ध भगवान् अविनश्वर अनन्तचतुष्टयरूप अमृतकी नदीके अधिपति (समुद्र) नहीं होंगे क्या ? अर्थात् अवश्य होंगे ॥ ७ ॥ संसारमें जिस एकेन्द्रिय जीवकी बुद्धि कर्मके बहुत आवरणसे सहित है उसकी अपेक्षा द्वीन्द्रिय आदि जीव अधिक सुखी एवं अधिक ज्ञानवान् हैं, कारण कि इनके उसकी अपेक्षा कर्मका आवरण कम है । फिर

१ श वर्तेते । २ श स्फोटनात् । ३ श नो । ४ क 'किमपि' नास्ति । ५ क 'एकेन्द्रियात्' नास्ति ।

494) यः केनाप्यतिगाढगाढमभितो दुःखप्रदैः प्रग्रहैः
बद्धो ऽन्यैश्च नरो रुषा घनतरैरापादमामस्तकम् ।
एकस्मिन् शिथिले ऽपि तत्र मनुते सौख्यं स सिद्धाः पुनः
किं न स्युः सुखिनः सदा विरहिता बाह्यान्तरैर्बन्धनैः ॥ ९ ॥

495) सर्वज्ञः कुरुते परं तनुभृतः प्राचुर्यतः कर्मणां
रेणूनां गणनं किलाधिवसतामेकं प्रदेशं घनम् ।
इत्याशास्वखिलासु बद्धमहसो दुःखं न कस्मान्मह-
न्मुक्तस्यास्य तु सर्वतः किमिति नो जायेत सौख्यं परम् ॥ १० ॥

भवेयुः । अपि तु सुखिनः भवेयुः । ये सिद्धाः समस्तकर्मविषमध्वान्तप्रबन्धच्युताः समस्तकर्मबन्धनरहिताः । ये सिद्धाः सद्बोधाः । ये सिद्धाः त्रिलोकाधिपाः ॥ ८ ॥ यः नरः केन अपि पुरुषेण रुषा[1] क्रोधेन । अन्यैः प्रग्रहैः रज्जुभिः । अभितः सर्वत्र । अतिगाढगाढम् आपादं[2] आमस्तकं बद्धः । किंलक्षणैः प्रग्रहैः । घनतरैः दुःखप्रदैः । तत्र तेषु बन्धनेषु । एकस्मिन् बन्धने शिथिले सति । स नरः बद्धनरः । सौख्यं मनुते । पुनः सिद्धाः बाह्यान्तरैः बन्धनैः विरहिताः सदा सुखिनः किं न स्युः भवेयुः । अपि तु सुखिनः भवेयुः ॥९॥ किल इति सत्ये । तनुभृतः जीवस्य । कर्मणां रेणूनां गणनं परं प्राचुर्यतः सर्वज्ञः कुरुते । किंलक्षणानां कर्मरेणूनाम् । एकैकप्रदेशं घनं निबिडम् अधिवसताम् इति अखिलासु आशासु परमाणुषु । बद्धमहसः कर्मपरमाणुभिः वेष्टित[3]जीवस्य । कस्मान्महद्दुःखं न । अपि तु दुःखम् अस्ति । अस्य[4] मुक्तस्य कर्मबन्धनरहितस्य । सर्वतः परं सौख्यं किमिति नो जायेत । अपि

भला जो सिद्ध जीव समस्त कर्मरूपी घोर अन्धकारके विस्तारसे रहित हो चुके हैं वे तीनों लोकोंके अधिपति होकर उत्तम ज्ञान (केवलज्ञान) और अनन्त सुखसे सम्पन्न कैसे न होंगे? अवश्य होंगे ॥ (विशेषार्थ— एकेन्द्रिय जीवोंके जितनी अधिक मात्रामें ज्ञानावरणादि कर्मोंका आवरण है उससे उत्तरोत्तर द्वीन्द्रियादि जीवोंके वह कुछ कम है। इसीलिये एकेन्द्रियोंकी अपेक्षा द्वीन्द्रिय और उनकी अपेक्षा त्रीन्द्रियादि जीव उत्तरोत्तर अधिक ज्ञानवान् एवं सुखी देखे जाते हैं। फिर जब वही कर्मोंका आवरण सिद्धोंके पूर्णतया नष्ट हो चुका है तब उनके अनन्तज्ञानी एवं अनन्तसुखी हो जानेमें कुछ भी सन्देह नहीं रहता ॥ ८ ॥ जो मनुष्य किसी दूसरे मनुष्यके द्वारा क्रोधके वश होकर पैरसे लेकर मस्तक तक चारों ओर दुःखदायक दृढ़तर रस्सियोंके द्वारा जकड़ कर बांध दिया गया है वह उनमेंसे किसी एक भी रस्सीके शिथिल होनेपर सुखका अनुभव किया करता है। फिर भला जो सिद्ध जीव बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही बन्धनोंसे रहित हो चुके हैं वे क्या सदा सुखी न होंगे? अर्थात् अवश्य होंगे ॥ ९ ॥ प्राणीके एक प्रदेशमें सघनरूपसे स्थित कर्मोंके प्रचुर परमाणुओंकी गणना केवल सर्वज्ञ ही कर सकता है। फिर जब सब दिशाओंमें अर्थात् सब ओरसे इस प्राणीका आत्मतेज कर्मोंसे सम्बद्ध (रुका हुआ) है तब उसे महान् दुःख क्यों न होगा? अवश्य होगा। इसके विपरीत जो यह सिद्ध जीव सब ओरसे ही उक्त कर्मोंसे रहित हो चुका है उसके उत्कृष्ट सुख नहीं होगा क्या? अर्थात् अवश्य होगा ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि इस संसारी प्राणीके एक ही आत्मप्रदेशमें इतने अधिक कर्मपरमाणु संबद्ध हैं कि उनकी गिनती केवल सर्वज्ञ ही कर सकता है, न कि हम जैसा कोई अल्पज्ञ प्राणी। ऐसे इस जीवके सब ही (असंख्यात) आत्मप्रदेश उन कर्मपरमाणुओंसे संबद्ध हैं। अब भला विचार कीजिये कि इतने अनन्तानन्त कर्मपरमाणुओंसे बंधा हुआ यह संसारी प्राणी कितना अधिक दुखी और उन सबसे रहित हो गया सिद्ध जीव

१ श 'रुषा' नास्ति। २ श आपदां। ३ श वेष्टितो। ४ श यस्य।

496) येषां कर्मनिदानजन्यविविधक्षुत्तृण्मुखा व्याधयः
तेषामन्नजलादिकौषधगणस्तच्छान्तये युज्यते ।
सिद्धानां तु न कर्म तत्कृतरुजो नातः किमन्नादिभिः
नित्यात्मोत्थसुखामृताम्बुधिगतास्तृप्तास्त एव ध्रुवम् ॥ ११ ॥

497) सिद्धज्योतिरतीव निर्मलतरज्ञानैकमूर्ति स्फुरद्-
वर्तिर्दीपमिवोपसेव्य लभते योगी स्थिरं तत्पदम् ।
सद्बुध्याथ विकल्पजालरहितस्तद्रूपतामापतं-
स्तादृग्जायत एव देवविनुतस्त्रैलोक्यचूडामणिः ॥ १२ ॥

498) यत्सूक्ष्मं च महच्च शून्यमपि यन्नो शून्यमुत्पद्यते
नश्यत्येव च नित्यमेव च तथा नास्त्येव चास्त्येव च ।
एकं यद्यदनेकमेव तदपि प्राप्तं प्रतीतिं दृढां
सिद्धज्योतिरमूर्ति चित्सुखमयं केनापि तल्लक्ष्यते ॥ १३ ॥

तु परं सौख्यं जायेते ॥ १० ॥ येषां जीवानाम् कर्मनिदानजन्यविविधक्षुत्-क्षुधा-तृट्-तृषा-प्रमुखाः व्याधयः वर्तन्ते । तेषां जीवानाम् । तच्छान्तये[३] तेषां व्याधीनां शान्तये । अन्नजलादिकौषधगणः युज्यते । तु पुनः सिद्धानां कर्म[४] न । सिद्धानां तत्कृतरुजः न तैः कर्मभिः कृतरुजः न । अतः कारणात् अन्नादिभिः किं कार्यम् । न किमपि । ते सिद्धाः । ध्रुवं निश्चितम् । तृप्ताः । पुनः नित्यात्मोत्थसुखामृताम्बुधिगताः प्राप्ताः ॥ ११ ॥ योगी मुनिः । सिद्धज्योतिः उपसेव्य । स्थिरम् । तत्पदं मोक्षपदम् । लभते प्राप्नोति । किंलक्षणः योगी । अतीवनिर्मलतरज्ञानैकमूर्तिः । यथा वर्तिः स्फुरद्दीपम् उपसेव्य दीपगुणं लभते । अथ सद्बुध्या कृत्वा विकल्पजालरहितः तद्रूपताम् आपतं [नन्] प्राप्तम्[५] । तादृग् जायते सिद्धसदृशः[६] जायते । देवविनुतः देवैः विशेषेण नुतः । त्रैलोक्यचूडामणिः जायते ॥ १२ ॥ तत् सिद्धज्योतिः । केनापि ज्ञानिना । लक्ष्यते ज्ञायते । यत् सिद्धज्योतिः सूक्ष्मम् अलक्ष्यत्वात् । यत् सिद्धज्योतिः महत् गरिष्ठम् अप्रमाणत्वात् न विद्यते प्रमाणं मर्यादा यस्य सः अप्रमाणस्तस्य भावः

कितना अधिक सुखी होगा ॥ १० ॥ जिन प्राणियोंके कर्मके निमित्तसे उत्पन्न हुई अनेक प्रकारकी भूख-प्यास आदि व्याधियां हुआ करती हैं उनका इन व्याधियोंकी शान्तिके लिये अन्न, जल और औषध आदिका लेना उचित है । किन्तु जिन सिद्ध जीवोंके न कर्म हैं और न इसीलिये तज्जन्य व्याधियां भी हैं उनको इन अन्नादि वस्तुओंसे क्या प्रयोजन है ? अर्थात् उनको इनसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रहा । वे तो निश्चयसे अविनश्वर आत्ममात्रजन्य (अतीन्द्रिय) सुखरूपी अमृतके समुद्रमें मग्न रहकर सदा ही तृप्त रहते हैं ॥ ११ ॥ जिस प्रकार बत्ती दीपककी सेवा करके उसके पदको प्राप्त कर लेती है, अर्थात दीपक स्वरूप परिणम जाती है, उसी प्रकार अत्यन्त निर्मल ज्ञानरूप असाधारण मूर्तिस्वरूप सिद्धज्योतिकी आराधना करके योगी भी स्वयं उसके स्थिर पद (सिद्धपद) को प्राप्त कर लेता है । अथवा वह सम्यग्ज्ञानके द्वारा विकल्पसमूहसे रहित होता हुआ सिद्धस्वरूपको प्राप्त होकर ऐसा हो जाता है कि तीनों लोकके चूड़ामणि रत्नके समान उसको देव भी नमस्कार करतें हैं ॥ १२ ॥ जो सिद्धज्योति सूक्ष्म भी है और स्थूल भी है, शून्य भी है और परिपूर्ण भी है, उत्पाद-विनाशशाली भी है और नित्य भी है, सद्भावरूप भी है और अभावरूप भी है, तथा एक भी है और अनेक भी है; ऐसी वह दृढ प्रतीतिको प्राप्त हुई अमूर्तिक, चेतन एवं सुखस्वरूप सिद्धज्योति किसी विरले ही योगी पुरुषके

---

१ च प्रतिपाठोऽयम् । अ क ब श °मापतं तादृग् । २ क जायते । ३ श शान्तये । ४ श तत्कर्म । ५ श प्रापतं
६ अ सदृशं, श सदृशे ।

499) स्याच्छब्दामृतगर्भितागममहारत्नाकरस्नानतो
धौता यस्य मतिः स एव मनुते तत्त्वं विमुक्तात्मनः ।
तत्तस्यैव तदेव याति सुमतेः साक्षादुपादेयतां
भेदेन स्वकृतेन तेन च विना स्वं रूपमेकं परम् ॥ १४ ॥

अप्रमाणत्वं तस्मात् अप्रमाणत्वात्[1] । यत्सिद्धज्योतिः शून्यं संसाराभावात् । यत्सिद्धज्योतिः नो शून्यं स्वचतुष्टयेन नो शून्यम् । यत्सिद्धज्योतिः उत्पद्यते नश्यति पर्यायार्थनयेन[2] । यत्सिद्धज्योतिः नित्यं द्रव्यनयेन । यत्सिद्धज्योतिः नास्ति अस्तिगुणापेक्षया द्रव्यस्य नास्तित्वं गुणस्य अस्तित्वं द्रव्यापेक्षया गुणस्य नास्तित्वं द्रव्यस्य अस्तित्वम् । यत्सिद्धज्योतिः एकं द्रव्यतः । यत्सिद्धज्योतिः अनेकं गुणतः । यत्सिद्धज्योतिः तदपि दृढां प्रतीतिं प्राप्तम् । यत्सिद्धज्योतिः अमूर्ति चित्सुखमयम् । तत् केनापि लक्ष्यते ॥ १३ ॥ यस्य भव्यस्य मतिः । स्यात्शब्द-अस्तित्वादिशब्दामृतेन गर्भितः आगमः एव रत्नाकरः तस्य स्नानतः । धौता प्रक्षालिता यस्य मतिः स एव विशुद्धात्मनः तत्त्वं मनुते । तत्तस्मात्कारणात् । तस्य सुमतेः । तदेव आत्मतत्त्वम् । उपादेयतां याति ग्राह्यभावं याति । केन । भेदेन भेदज्ञानेन । च पुनः । तेन । स्वकृतेन आत्मना कृतेन । विना भेदज्ञानेन विना । एकं परं

द्वारा देखी जाती है ॥ विशेषार्थ— यहां जो सिद्धज्योतिको परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले अनेक धर्मोंसे संयुक्त बतलाया है वह विवक्षाभेदसे बतलाया गया है । यथा– वह सिद्धज्योति चूंकि अतीन्द्रिय है अत एव सूक्ष्म कही जाती है । परन्तु उसमें अनन्तानन्त पदार्थ प्रतिभासित होते हैं, अतः इस अपेक्षासे वह स्थूल भी कही जाती है । वह पर (पुद्गलादि) द्रव्योंके गुणोंसे रहित होनेके कारण शून्य तथा अनन्तचतुष्टयसे संयुक्त होनेके कारण परिपूर्ण भी है । पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा वह परिणमनशील होनेसे उत्पाद-विनाशशाली तथा द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा विकार रहित होनेसे नित्य भी मानी जाती है । स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा वह सद्भावस्वरूप तथा पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा अभावस्वरूप भी है । वह अपने स्वभावको छोड़कर अन्यस्वरूप न होनेके कारण एक तथा अनेक पदार्थोंके स्वरूपको प्रतिभासित करनेके कारण अनेक स्वरूप भी है । ऐसी उस सिद्धज्योतिका चिन्तन सभी नहीं कर पाते, किन्तु निर्मल ज्ञानके धारक कुछ विशेष योगीजन ही उसका चिन्तन करते हैं ॥ १३ ॥ 'स्यात्' शब्दरूप अमृतसे गर्भित आगम (अनेकान्तसिद्धान्त) रूपी महासमुद्रमें स्नान करनेसे जिसकी बुद्धि निर्मल हो चुकी है वही सिद्ध आत्माके रहस्यको जान सकता है । इसलिये उसी सुबुद्धि जीवके लिये जब तक अपने आप किया गया भेद (संसारी व मुक्त स्वरूप) विद्यमान है तब तक वही सिद्धस्वरूप साक्षात् उपादेय (ग्रहण करने योग्य) होता है । तत्पश्चात् उपर्युक्त भेदबुद्धिके नष्ट हो जानेपर केवल एक निर्विकल्पक शुद्ध आत्मतत्त्व ही प्रतिभासित होता है– उस समय वह उपादान-उपादेय भाव भी नष्ट हो जाता है ॥ विशेषार्थ— यह भव्य जीव जब अनेकान्तमय परमागमका अभ्यास करता है तब वह विवेक-बुद्धिको प्राप्त होकर सिद्धोंके यथार्थ स्वरूपको जान लेता है । उस समय वह अपने आपको कर्मकलंकसे लिप्त जानकर उसी सिद्ध स्वरूपको ही उपादेय (ग्राह्य) मानता है । किन्तु जैसे ही उसके स्वरूपाचरण प्रगट होता है वैसे ही उसकी वह संसारी और मुक्त विषयक भेदबुद्धि भी नष्ट हो जाती है– उस समय उसके ध्यान, ध्याता एवं ध्येयका भेद ही नहीं रहता । तब उसे सब प्रकारके विकल्पोंसे रहित एकमात्र

१ श अतोऽग्रे 'पुनर्न विद्यते प्रमाणं मर्यादा यस्य तत् अप्रमाणं मीयते प्रमाणीक्रियते मर्यादीक्रियते तत् प्रमाणं' इत्येतावान् पाठोऽधिकः समुपलभ्यते । २ श पर्यायनयेन ।

500) दृष्टिस्तत्त्वविदः करोत्यविरतं शुद्धात्मरूपे स्थिता
शुद्धं तत्पदमेकमुल्बणमतेरन्यत्र चान्यादृशाम् ।
स्वर्णात्तन्मयमेव वस्तु घटितं लोहाच्च मुक्त्यर्थिना
मुक्त्वा मोहविजृम्भितं ननु पथा शुद्धेन संचर्यताम् ॥ १५ ॥
501) निर्दोषश्रुतचक्षुषा षडपि हि द्रव्याणि दृष्ट्वा सुधी-
रादत्ते विशदं स्वमन्यमिलितं स्वर्णं यथा धावकः ।
यः कश्चित् किल निश्चिनोति रहितः शास्त्रेण तत्त्वं परं
सो ऽन्धो रूपनिरूपणं हि कुरुते प्राप्तो मनःशून्यताम् ॥ १६ ॥
502) यो हेयेतरबोधसंभृतमतिर्मुञ्चन् स हेयं परं
तत्त्वं स्वीकुरुते तदेव कथितं सिद्धत्वबीजं जिनैः[1] ।
नान्यो भ्रान्तिगतः स्वतो ऽथ परतो हेये परे ऽर्थे ऽस्य तद्
दुष्प्रापं शुचि वर्त्म येन परमं तद्धाम संप्राप्यते ॥ १७ ॥

स्वरूपं न जायते ॥ १४ ॥ तत्त्वविदः सम्यग्दृष्टेः । उल्बणमतेः उत्कटमतेः । दृष्टिः प्रतीतिः रुचिः । अविरतं निरन्तरम् । शुद्धात्मरूपे स्थिता । एकं शुद्धं तत्पदं मोक्षपदम् । करोति । च पुनः । अन्यत्र अन्यादृशः मिथ्यादृष्टेः मिथ्यात्वे रुचिः संसारं करोति । स्वर्णात् घटितं[2] वस्तु स्वर्णमयं भवेत् लोहात् घटितं वस्तु लोहमयं भवेत् । ननु इति वितर्के । मुक्त्यर्थिना मोहविजृम्भितं मुक्त्वा[3] । शुद्धेन पथा मार्गेण । संचर्यतां गम्यताम् ॥ १५ ॥ सुधीः ज्ञानवान् । निर्दोषश्रुतचक्षुषा निर्दोषसिद्धान्त-नेत्रेण । षडपि षट् अपि द्रव्याणि । हि यतः । दृष्ट्वा । स्वम् आत्मतत्त्वम् । आदत्ते गृह्णाति । किंलक्षणम् आत्मतत्त्वम् । अन्यमिलितं कर्ममिलितम् । यथा धावकः स्वर्णम् आदत्ते गृह्णाति । किल इति सत्ये । यः कश्चित् शास्त्रेण रहितः परं तत्त्वं निश्चिनोति ग्रहीतुम् इच्छति । स अन्धः रूपनिरूपणं कुरुते । मनःशून्यतां प्राप्तः[4] ॥ १६ ॥ यः भव्यः । हेयेतरबोधसंभृतमतिः हेय-उपादेयतत्त्वे विचारमतिः । स हेयं तत्त्वं मुञ्चन् परम् उपादेयं तत्त्वं स्वीकुरुते । जिनैः[1] तदेव तत्त्वं सिद्धत्वबीजं कथितम् । अन्यः न । स्वतः अथ परतः आत्मनः परतः । हेये पदार्थे । परे उपादेये पदार्थे । भ्रान्तिगतः प्राप्तः । अस्य जीवस्य । तत् वर्त्म मार्गम् ।

शुद्ध आत्मस्वरूप ही प्रतिभासित होता है ॥ १४ ॥ निर्मल बुद्धिको धारण करनेवाले तत्त्वज्ञ पुरुषकी दृष्टि निरन्तर शुद्ध आत्मस्वरूपमें स्थित होकर एक मात्र शुद्ध आत्मपद अर्थात् मोक्षपदको करती है । किन्तु अज्ञानी पुरुषकी दृष्टि अशुद्ध आत्मस्वरूप या पर पदार्थोंमें स्थित होकर संसारको बढ़ाती है । ठीक है— सुवर्णसे निर्मित वस्तु (कटक-कुण्डल आदि) सुवर्णमय तथा लोहसे निर्मित वस्तु (छुरी आदि) लोहमय ही होती है । इसीलिये मुमुक्षु जीवको मोहसे वृद्धिको प्राप्त हुए विकल्पसमूहको छोड़कर शुद्ध मोक्षमार्गसे संचार करना चाहिये ॥ १५ ॥ जिस प्रकार सुनार तांबा आदिसे मिश्रित सुवर्णको देखकर उसमेंसे तांबा आदिको अलग करके शुद्ध सुवर्णको ग्रहण करता है उसी प्रकार विवेकी पुरुष निर्दोष आगमरूप नेत्रसे छहों द्रव्योंको देखकर उनमेंसे निर्मल आत्मतत्त्वको ग्रहण करता है । जो कोई जीव शास्त्रसे रहित होकर उत्कृष्ट आत्मतत्त्वका निश्चय करता है वह मूर्ख उस अन्धेके समान है जो कि अन्धा व मनसे (विवेकसे) रहित होकर भी रूपका अवलोकन करना चाहता है ॥ १६ ॥ जिसकी बुद्धि हेय और उपादेय तत्त्वके ज्ञानसे परिपूर्ण है वह भव्य जीव हेय पदार्थको छोड़कर उपादेयभूत उत्कृष्ट आत्मतत्त्वको स्वीकार करता है, क्योंकि, जिनेन्द्र देवने उसे ही मुक्तिका बीज बतलाया है । इसके विपरीत जो जीव हेय और उपादेय तत्त्वके विषयमें स्वतः अथवा परके उपदेशसे भ्रमको प्राप्त होता है वह उक्त आत्मतत्त्वको स्वीकार नहीं कर पाता है । इसलिये उसके लिये वह निर्मल मोक्षमार्ग दुर्लभ हो जाता है जिसके कि द्वारा वह

१ क जनैः । २ क स्वर्णात् स्वर्णघटितं । ३ श मुक्त्वा । ४ अ कुरुते मनःसून्यतां कुरुते सून्यतां प्राप्तः, श कुरुते मन्ये शून्यतां कुरुते शून्यतां प्राप्तः ।

503) साङ्गोपाङ्गमपि श्रुतं बहुतरं सिद्धत्वनिष्पत्तये
ये ऽन्यार्थं परिकल्पयन्ति खलु ते निर्वाणमार्गच्युताः ।
मार्गं चिन्तयतो ऽन्वयेन तमतिक्रम्यापरेण स्फुटं
निःशेषं श्रुतमेति तत्र विपुले साक्षाद्विचारे सति ॥ १८ ॥

504) निःशेषश्रुतसंपदः शमनिधेराराधनायाः फलं
प्राप्तानां विषये सदैव सुखिनामल्पैव मुक्तात्मनाम् ।
उक्ता भक्तिवशान्मयाप्यविदुषा या सापि गीः सांप्रतं
निःश्रेणिर्भवतादनन्तसुखतद्धामारुरुक्षोर्मम ॥ १९ ॥

505) विश्वं पश्यति वेत्ति शर्म लभते स्वोत्पन्नमात्यन्तिकं
नाशोत्पत्तियुतं तथाप्यविचलं मुक्त्यर्थिनां मानसे ।
एकीभूतमिदं वसत्यविरतं संसारभारोज्झितं
शान्तं जीवघनं द्वितीयरहितं मुक्तात्मरूपं महः ॥ २० ॥

506) त्यक्त्वा न्यासनयप्रमाणविवृतीः सर्वं पुनः कारकं
संबन्धं च तथा त्वमित्यहमिति प्रायान् विकल्पानपि ।
सर्वोपाधिविवर्जितात्मनि परं शुद्धैकबोधात्मनि
स्थित्वा सिद्धिमुपाश्रितो विजयते सिद्धः समृद्धो गुणैः ॥ २१ ॥

मोक्षं दुष्प्रापम्[1] । शुचि पवित्रम् । येन वर्त्मना मार्गेण । तत् परमं धाम मोक्षगृहम् । संप्राप्यते लभ्यते ॥ १७ ॥ ये मूढाः । साङ्गोपाङ्गं श्रुतं बहुतरं सिद्धत्वनिष्पत्तये । अन्यार्थम् अन्यमार्गेण । परिकल्पयन्ति विचारयन्ति । खलु इति सत्ये । ते नराः । निर्वाणमार्गच्युताः सन्ति । अन्वयेन परंपरायातं द्रव्यश्रुतम् । अतिक्रम्य उल्लङ्घ्य । अपरेण उन्नतमार्गेण । मार्गं चिन्तयतः मुनेः । निःशेषं श्रुतम् । एति आगच्छति । क सति । तत्र भावश्रुते । साक्षात् विपुले विचारे सति ॥ १८ ॥ मया अपि अविदुषा जडेन । मुक्तात्मनां सिद्धानाम् । विषये । या गीः वाणी । भक्तिवशात् । उक्ता कथिता । सा गीः वाणी अपि सांप्रतम् । मम मुनेः । निःश्रेणिः भवतात् । किंलक्षणस्य मम । अनन्तसुखतद्धाम आरुरुक्षोः मोक्षगृहमारोढुमिच्छोः[2] । पुनः किंलक्षणस्य मम । निःशेषश्रुतसंपदः । पुनः शमनिधेः । किंलक्षणानां सिद्धानाम् । आराधनायाः फलं प्राप्तानाम् । सदैव सुखिनाम् । किंलक्षणा वाणी । अल्पा स्तोका ॥ १९ ॥ मुक्तात्मरूपं महः विश्वं पश्यति, विश्वं समस्तं वेत्ति । महः स्वोत्पन्नं आत्मोत्पन्नम् आत्यन्तिकम् । शर्म सुखम् । लभते । पुनः किंलक्षणं महः । नाशोत्पत्तियुतं ध्रौव्य-व्यय-उत्पादयुतम्[3] । तथापि । अविचलं शाश्वतम् । मुक्त्यर्थिनाम् । मानसे चित्ते । इदं महः । एकीभूतम् अविरतं वसति । पुनः किंलक्षणं महः । संसारभारोज्झितं शान्तं जीवघनं द्वितीयरहितं मुक्तात्मरूपं महः ॥ २० ॥ सिद्धः विजयते सिद्धिम् उपाश्रितः । गुणैः समृद्धः भृतः । किं कृत्वा । शुद्धैकबोधात्मनि सर्व-उपाधि-

उत्कृष्ट मोक्षपद प्राप्त किया जाता है ॥ १७ ॥ अंगों और उपांगोंसे सहित बहुत-सा भी श्रुत (आगम) मुक्तिकी प्राप्तिका साधन है । जो जीव उसकी अन्य सांसारिक कार्योंके लिये कल्पना करते हैं वे मोक्षमार्गसे भ्रष्ट होते हैं । परम्परागत द्रव्य श्रुतका अतिक्रमण करके जो अन्य मार्गसे चिन्तन करता है उसको तद्विषयक महान् विचारके होनेपर साक्षात् समस्त श्रुत प्राप्त होता है ॥ १८ ॥ जो समस्त श्रुतरूप सम्पत्तिसे सहित और शान्तिके स्थानभूत ऐसे आत्मतत्त्वकी आराधनाके फलको प्राप्त होकर शाश्वतिक सुखको पा चुके हैं ऐसे उन मुक्तात्माओंके विषयमें मुझ जैसे अल्पज्ञने जो भक्तिवश कुछ थोड़ा-सा कथन किया है वह अनन्त सुखसे परिपूर्ण उस मोक्षरूपी महलके ऊपर आरोहणकी इच्छा करनेवाले ऐसे मेरे लिये निःश्रेणि (नसैनी) के समान होवे ॥ १९ ॥ यह सिद्धात्मारूप तेज विश्वको देखता और जानता है, आत्ममात्रसे उत्पन्न आत्यन्तिक सुखको प्राप्त करता है, नाश व उत्पादसे युक्त होकर भी निश्चल (ध्रुव) है, मुमुक्षु जनोंके हृदयमें एकत्रित होकर निरन्तर रहता है, संसारके भारसे रहित है, शान्त है, सघन आत्मप्रदेशोंस्वरूप है, तथा असाधारण है ॥ २० ॥ जो निक्षेप, नय एवं प्रमाणकी अपेक्षासे किये जानेवाले विवरणों; कर्ता

१ श दुष्प्राप्यम् । २ अ क गृहं चटितुमिच्छोः । ३ क ध्रौव्यउत्पादयुतम् ।

507) तैरेव प्रतिपद्यते ऽत्र रमणीस्वर्णादिवस्तु प्रियं
तत्सिद्धैकमहः सदन्तरदृशा मन्दैर्न यैर्दृश्यते ।
ये तत्तत्त्वरसप्रभिन्नहृदयास्तेषामशेषं पुनः
साम्राज्यं तृणवद्वपुश्च परवद्भोगाश्च रोगा इव ॥ २२ ॥

508) वन्द्यास्ते गुणिनस्त एव भुवने धन्यास्त एव ध्रुवं
सिद्धानां स्मृतिगोचरं रुचिवशान्नामापि यैर्नीयते ।
ये ध्यायन्ति पुनः प्रशस्तमनसस्तान् दुर्गभूभृद्दरी-
मध्यस्थाः स्थिरनासिकाग्रिमदृशस्तेषां किमु ब्रूमहे ॥ २३ ॥

509) यः सिद्धे परमात्मनि प्रविततज्ञानैकमूर्तौ किल
ज्ञानी निश्चयतः स एव सकलप्रज्ञावतामग्रणीः ।
तर्कव्याकरणादिशास्त्रसहितैः किं तत्र शून्यैर्यतो
यद्योगं विदधाति वेध्यविषये तद्बाणमावर्ण्यते ॥ २४ ॥

वर्जितात्मनि स्थित्वा । पुनः किं कृत्वा । न्यासनयप्रमाणविवृतीः[1] त्यक्त्वा । पुनः सर्वं कारकम् । च[2] पुनः संबन्धं त्यक्त्वा । पुनः त्वम् अहं इति विकल्पान् । प्रायान् बाहुल्यान्(?) । मुक्त्वा ॥ २१ ॥ अत्र लोके । तैरेव मूर्खैः । रमणीस्वर्णादिवस्तु । प्रियं मनोज्ञम् । प्रतिपद्यते अङ्गीक्रियते । यैः मन्दैः । तत्सिद्धैकमहः । अन्तरदृशा ज्ञाननेत्रेण । न दृश्यते । किंलक्षणं महः । सत् समीचीनम् । पुनः । ये मुनयः । तत्तत्त्वरसप्रभिन्नहृदयाः सिद्धस्वरूपरसेन भिन्नहृदयाः । तेषाम् अशेषं साम्राज्यं तृणवत् । तेषां मुनीनां वपुः परवत् । च पुनः । तेषां भोगाः रोगा इव ॥ २२ ॥ भुवने त्रैलोक्ये ते भव्याः वन्द्याः । भुवने ते भव्या एव गुणिनः । ध्रुवं ते एव धन्याः श्लाघ्याः । यैर्भव्यैः । रुचिवशात् सिद्धानां नाम अपि[4] नीयते । ये पुनः । तान् सिद्धान् । ध्यायन्ति । किंलक्षणास्ते । प्रशस्तमनसः । पुनः किंलक्षणाः । भूभृद्दरीमध्यस्थाः । स्थिरनासिकाग्रिमदृशः नेत्राणि येषाम् तेषां[5] किमु ब्रूमहे ॥ २३ ॥ किल इति सत्ये । यः भव्यः । परमात्मनि विषये ज्ञानी स एव निश्चयतः सकलप्रज्ञावताम् अग्रणीः गरिष्ठः । किंलक्षणे परमात्मनि । सिद्धे । पुनः[6] प्रविततज्ञानैकमूर्तौ । तर्कव्याकरणादिशास्त्रसहितैः पुरुषैः । तत्र आत्मनि शून्यैः किम् । न किमपि । यतः । यद्बाणम् । वेध्यविषये योगं[7] विदधाति । तद्बाणम् आवर्ण्यते । येन बाणेन वेध्य आश्लिष्यते स बाण

आदि समस्त कारकों; कारक एवं क्रिया आदिके सम्बन्ध, तथा 'तुम' व 'मैं' इत्यादि विकल्पोंको भी छोड़कर केवल शुद्ध एक ज्ञानस्वरूप तथा समस्त उपाधिसे रहित आत्मामें स्थित होकर सिद्धिको प्राप्त हुआ है ऐसा वह अनन्तज्ञानादि गुणोंसे समृद्ध सिद्ध परमेष्ठी जयवन्त होवे ॥ २१ ॥ संसारमें जो मूर्ख जन उत्तम आभ्यन्तर नेत्र (ज्ञान) से उस समीचीन सिद्धात्मारूप अद्वितीय तेजको नहीं देखते हैं वे ही यहां स्त्री एवं सुवर्ण आदि वस्तुओंको प्रिय मानते हैं । किन्तु जिनका हृदय उस सिद्धात्मारूप रससे परिपूर्ण हो चुका है उनके लिये समस्त साम्राज्य (चक्रवर्तित्व) तृणके समान तुच्छ प्रतीत होता है, शरीर दूसरेका-सा (अथवा शत्रु जैसा) प्रतिभासित होता है, तथा भोग रोगके समान जान पड़ते हैं ॥ २२ ॥ जो भव्य जीव भक्तिपूर्वक सिद्धोंके नाम मात्रका भी स्मरण करते हैं वे संसारमें निश्चयसे वन्दनीय हैं, वे ही गुणवान् हैं, और वे ही प्रशंसाके योग्य हैं । फिर जो साधु जन दुर्ग (दुर्गम स्थान) अथवा पर्वतकी गुफाके मध्यमें स्थित होकर और नासिकाके अग्रभागपर अपने नेत्रोंको स्थिर करके प्रसन्न मनसे उन सिद्धोंका ध्यान करते हैं उनके विषयमें हम क्या कहें? अर्थात् वे तो अतिशय गुणवान् एवं वन्दनीय हैं ही ॥ २३ ॥ जो भव्य जीव अतिशय विस्तृत ज्ञानरूप अद्वितीय शरीरके धारक सिद्ध परमात्माके विषयमें ज्ञानवान् है वही निश्चयसे समस्त विद्वानोंमें श्रेष्ठ है । किन्तु जो सिद्धात्मविषयक ज्ञानसे शून्य रहकर न्याय एवं व्याकरण आदि शास्त्रोंके जानकार हैं उनसे यहां कुछ भी प्रयोजन नहीं है । कारण यह कि जो

१ श न्यास ४ नय ९ प्रमाण २ विवृतीः । २ श 'च' नास्ति । ३ श प्रभिन्न । ४ श अपि । ५ अ श नेत्रास्तेषां ६ श 'पुनः' नास्ति । ७ श विषययोगं ।

510) सिद्धात्मा परमः परं प्रविलसद्बोधः प्रबुद्धात्मना
येनाज्ञायि स किं करोति बहुभिः शास्त्रैर्बहिर्वाचकैः ।
यस्य प्रोद्गतरोचिरुज्ज्वलतनुर्भानुः करस्थो भवेत्
ध्वान्तध्वंसविधौ स किं मृगयते रत्नप्रदीपादिकान् ॥ २५ ॥

511) सर्वत्र च्युतकर्मबन्धनतया सर्वत्र सद्दर्शनाः
सर्वत्राखिलवस्तुजातविषयव्यासक्तबोधत्विषः ।
सर्वत्र स्फुरदुन्नतोन्नतसदानन्दात्मका निश्चलाः
सर्वत्रैव निराकुलाः शिवसुखं सिद्धाः प्रयच्छन्तु नः ॥ २६ ॥

512) आत्मोत्तुङ्गगृहं प्रसिद्धबहिराद्यात्मप्रभेदक्षणं
बह्वात्माध्यवसानसंगतलसत्सोपानशोभान्वितम् ।
तत्रात्मा विभुरात्मनात्मसुहृदो हस्तावलम्बी समा-
रुह्यानन्दकलत्रसंगतभुवं सिद्धः सदा मोदते ॥ २७ ॥

आवर्ण्यते ॥ २४ ॥ येन मुनिना प्रबुद्धात्मना । परं [परमः] श्रेष्ठः[1] । सिद्धात्मा । अज्ञायि ज्ञातः । किंलक्षणः परमात्मा । प्रविलसद्बोधः । स ज्ञानवान् बहुभिः बहिर्वाचकैः शास्त्रैः किं करोति । यस्य पुंसः । ध्वान्तध्वंसविधौ करस्थः भानुः सूर्यः भवेत्[2] स किं रत्नप्रदीपादिकान् मृगयते अवलोकयते । अपि तु न मृगयते । किंलक्षणः भानुः । प्रोद्गतरोचिरुज्ज्वलतनुः ॥ २५ ॥ सिद्धाः । नः अस्मभ्यम् । शिवसुखं प्रयच्छन्तु ददतु । किंलक्षणाः सिद्धाः । सर्वत्र च्युतकर्मबन्धनतया सर्वत्र सद्दर्शनाः केवलदर्शनाः । पुनः किंलक्षणाः सिद्धाः । सर्वत्र अखिलवस्तुजातविषयव्यासक्तबोधत्विषः सर्वपदार्थसमूहगोचराः आसक्त[3]ज्ञानदीप्तयः । पुनः किंलक्षणाः सिद्धाः । सर्वत्र स्फुरदुन्नतोन्नत[4]सत्-आनन्दात्मकाः । निश्चलाः । पुनः किंलक्षणाः सिद्धाः । निराकुलाः । एवंभूताः सिद्धाः सुखं ददतु ॥ २६ ॥ सिद्धः सदा मोदते । आत्मा । विभुः राजा । तत्र आत्मोत्तुङ्गगृहं समारुह्य मोदते । किंलक्षणं गृहम् ।

लक्ष्यके विषयमें सम्बन्धको करता है वही बाण कहा जाता है ॥ विशेषार्थ— जो बाण अपने लक्ष्यका वेधन करता है वही बाण प्रशंसनीय माना जाता है, किन्तु जो बाण अपने लक्ष्यके वेधनेमें असमर्थ रहता है वह वास्तव बाण कहलानेके योग्य नहीं है । इसी प्रकार जो भव्य जीव प्रयोजनीभूत आत्मतत्त्वके विषयमें जानकारी रखते हैं वे ही वास्तवमें प्रशंसनीय हैं । इसके विपरीत जो न्याय, व्याकरण एवं ज्योतिष आदि अनेक विषयोंके प्रकाण्ड विद्वान् होकर भी यदि प्रयोजनीभूत आत्मतत्त्वके विषयमें अज्ञानी हैं तो वे निन्दाके पात्र हैं । कारण यह कि आत्मज्ञानके विना जीवका कभी कल्याण नहीं हो सकता । यही कारण है कि द्रव्यलिंगी मुनि बारह अंगोंके पाठी होकर भी भव्यसेनके समान संसारमें परिभ्रमण करते हैं तथा इसके विपरीत शिवभूति (भावप्राभृत ५२–५३) मुनि जैसे भव्य प्राणी केवल तुष-माषके समान आत्मपर-विवेकसे ही संसारसे मुक्त हो जाते हैं ॥ २४ ॥ जिस विवेकी पुरुषने सम्यग्ज्ञानसे विभूषित केवल उत्कृष्ट सिद्ध आत्माका परिज्ञान प्राप्त कर लिया है वह बाह्य पदार्थोंका विवेचन करनेवाले बहुत शास्त्रोंसे क्या करता है ? अर्थात् उसे इनसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता । ठीक ही है– जिसके हाथमें किरणोंके उदयसे संयुक्त उज्ज्वल शरीरवाला सूर्य स्थित होता है वह क्या अन्धकारको नष्ट करनेके लिये रत्नके दीपक आदिको खोजता है ? अर्थात् नहीं खोजता है ॥ २५ ॥ जो सिद्ध जीव समस्त आत्मप्रदेशोंमें कर्मबन्धनसे रहित हो जानेके कारण सब आत्मप्रदेशोंमें व्याप्त समीचीन दर्शनसे सहित हैं, जिनकी समस्त वस्तुसमूहको विषय करनेवाली ज्ञानज्योतिका प्रसार सर्वत्र हो रहा है अर्थात् जो सर्वज्ञ हो चुके हैं, जो सर्वत्र प्रकाशमान शाश्वतिक अनन्त सुखस्वरूप हैं, तथा जो सर्वत्र ही निश्चल एवं निराकुल हैं; ऐसे वे सिद्ध हमें मोक्षसुख प्रदान करें ॥ २६ ॥ जो आत्मारूपी उन्नत भवन प्रसिद्ध बहिरात्मा आदि भेदोंरूप खण्डों (मंजिलों) से सहित तथा बहुत-सी आत्माके परिणामोंरूप सुन्दर सीढ़ियोंकी शोभासे संयुक्त है उसमें आत्मारूप मित्रके हाथका

---

१ क श्रेष्ठं । २ क भानु भवेत् । ३ क समूहैः गोचर आसक्त, श प्रतौ तु त्रुटितं–जातं पत्रमत्र । ४ श स्फुरतउन्नतोन्नत ।

513) सैवैका सुगतिस्तदेव च सुखं ते एव दृग्बोधने
सिद्धानामपरं यदस्ति सकलं तन्मे प्रियं नेतरत् ।
इत्यालोच्य दृढं त एव च मया चित्ते धृताः सर्वदा
तद्रूपं परमं प्रयातुमनसा हित्वा भवं भीषणम् ॥ २८ ॥

514) ते सिद्धाः[1] परमेष्ठिनो न विषया वाचामतस्तान् प्रति
प्रायो वच्मि यदेव तत्खलु नभस्यालेख्यमालिख्यते ।
तन्नामापि मुदे स्मृतं तत इतो भक्त्याथ वाचालित-
स्तेषां स्तोत्रमिदं तथापि कृतवानम्भोजनन्दी मुनिः ॥ २९ ॥

प्रसिद्धबहिरात्मा-अन्तरात्मा-परमात्माप्रभेदलक्षणम् । पुनः किंलक्षणम् आत्मगृहम् । बहु-आत्म-अध्यवसानसंगतलसत्सोपानशोभान्वितम् । किंलक्षणः आत्मा । विभुः । आत्मसुहृदः[2] परमात्मना । हस्तावलम्बी । सिद्धः निष्पन्नः । आनन्दकलत्रसंगतभुवं परमानन्दम् । सदा[3] मोदते ॥ २७ ॥ सा एका सुगतिः । च पुनः । तदेव सुखम् । ते द्वे एव दृग्बोधने । सिद्धानां यत् अपरं गुणम् (?) अस्ति । मे मम । तत्सकलं प्रियम् इष्टम् । इतरत् अन्यत् । इष्टं न । इति आलोच्य विचार्य । ते एव सिद्धाः । मया सर्वदा चित्ते धृताः । भीषणं भवं संसारं हित्वा परं तद्रूपं मनसा कृत्वा प्रयातु प्राप्नोतु ॥ २८ ॥ ते सिद्धाः वाचां विषया गोचराः न । किंलक्षणाः सिद्धाः । परमेष्ठिनः । अतः कारणात् । तान् सिद्धान् प्रति । प्रायः बाहुल्येन । यदेव वच्मि तत्खलु । नभसि आकाशे । आलेख्यं चित्रम्[4] । आलिख्यते । तथापि[5] । अम्भोजनन्दी मुनिः पद्मनन्दी मुनिः । तेषां सिद्धानाम् । इदं स्तोत्रं कृतवान् । तन्नामापि तेषां सिद्धानां नामापि । मुदे हर्षाय । स्मृतं कथितम् । ततस्तस्माद्धेतोः । अथ भक्त्या कृत्वा । इतः वाचालित्वात् वाचालितः । पद्मनन्दी मुनिः इदं स्तोत्रं कृतवान् ॥ २९ ॥ इति सिद्धस्तुतिः ॥ ८ ॥

आश्रय लेनेवाला यह आत्मारूप राजा आनन्दरूप स्त्रीसे अधिष्ठित पृथिवीपर चढ़कर मुक्त होता हुआ सदा आनन्दित रहता है ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार अनेक सीढ़ियोंसे सुशोभित पांच-सात खण्डोंवाले भवनमें मनुष्य किसी मित्रके हाथका सहारा लेकर उन सीढ़ियों (पायरियों) के आश्रयसे अनायास ही ऊपर अभीष्ट स्थानमें पहुंचकर आनन्दको प्राप्त होता है उसी प्रकार यह जीव अधःप्रवृत्तकरणादि परिणामोंरूप सीढ़ियोंपरसे बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मारूप तीन खण्डोंवाले आत्मारूप भवनमें स्थित होता हुआ अपने आत्मारूप मित्रका हस्तावलम्बन लेकर (आत्मलीन होकर) शाश्वतिक सुखसे संयुक्त उस सिद्धक्षेत्रमें पहुंच जाता है जहां वह अनन्त काल तक अबाध सुखको भोगता है ॥ २७ ॥ सिद्धोंकी जो गति है वही एक उत्तम गति है। उनका जो सुख है वही एक उत्तम सुख है। उनके जो ज्ञान-दर्शन हैं वे ही यथार्थ ज्ञान-दर्शन हैं, तथा और भी जो कुछ सिद्धोंका है वह सब मुझको प्रिय है। इसको छोड़कर और दूसरा कुछ भी मुझे प्रिय नहीं है। इस प्रकार विचार करते हुए मैंने भयानक संसारको छोड़कर और उन सिद्धोंके उत्कृष्ट स्वरूपकी प्राप्तिमें मन लगाकर अपने चित्तमें निरन्तर उन सिद्धोंको ही दृढ़ता पूर्वक धारण किया है। ॥ २८ ॥ वे सिद्ध परमेष्ठी चूंकि वचनोंके विषय नहीं हैं अत एव प्रायः उनको लक्ष्य करके जो कुछ भी मैं कह रहा हूं वह आकाशमें चित्रलेखनके समान है। फिर भी चूंकि उनके नाम मात्रका स्मरण भी आनन्दको उत्पन्न करता है, अत एव भक्तिवश वाचालित (वकवादी) होकर मैंने–पद्मनन्दी मुनिने–उनके इस स्तोत्रको किया है ॥ २९ ॥ इस प्रकार सिद्धस्तुति समाप्त हुई ॥ ८ ॥

---

१ ब सिद्धोः । २ क विभुः राजा आत्म° । ३ अ क निष्पन्नः सदा । ४ श चित्रामं । ५ श तथा ।

[९. आलोचना]

515) यद्यानन्दनिधिं भवन्तममलं तत्त्वं मनो गाहते
त्वन्नामस्मृतिलक्षणो यदि महामन्त्रो ऽस्त्यनन्तप्रभः ।
यानं च त्रितयात्मके यदि भवेन्मार्गे भवद्दर्शिते
को लोके ऽत्र सतामभीष्टविषये विघ्नो जिनेश प्रभो ॥ १ ॥

516) निःसंगत्वमरागिताथ समता कर्मक्षयो बोधनं
विश्वव्यापि समं दृशा तदतुलानन्देन वीर्येण च ।
ईदृग्देव तवैव संसृतिपरित्यागाय जातः क्रमः
शुद्धस्तेन सदा भवच्चरणयोः सेवा सतां संमता ॥ २ ॥

517) यद्येतस्य दृढा मम स्थितिरभूत्त्वत्सेवया निश्चितं
त्रैलोक्येश बलीयसो ऽपि हि कुतः संसारशत्रोर्भयम् ।
प्राप्तस्यामृतवर्षहर्षजनकं सद्यन्त्रधारागृहं
पुंसः किं कुरुते शुचौ खरतरो मध्याह्नकालातपः ॥ ३ ॥

भो जिनेश । भो प्रभो । यदि चेत् । सतां साधूनाम् । मनः । भवन्तम् । अमलं निर्मलम् । तत्वम्[2] आनन्दनिधिम् । गाहते विचारयति । यदि चेत् । त्वन्नामस्मृतिलक्षणः तव नामस्मरणलक्षणः । अनन्तप्रभः महामन्त्रः अस्ति । च पुनः । यदि चेत् । भवद्दर्शिते । त्रितयात्मके मार्गे रत्नत्रयमार्गे[3] । यानं गमनम् । अस्ति तदा । अत्र लोके । सतां साधूनाम् । अभीष्टविषये कल्याणविषये । कः विघ्नः । अपि तु न कोऽपि विघ्नः ॥ १ ॥ भो देव । संसृतिपरित्यागाय संसारनाशाय । ईदृक् शुद्धः । क्रमः मार्गः तवैव । जातः उत्पन्नः । तदेव दर्शयति । निःसंगत्वं अपरिग्रहत्वम् । अथ अरागिता नि[नी]रागत्वम्[4] । समता । कर्मक्षयः । विश्वव्यापि बोधनं ज्ञानम् । च पुनः । तत् ज्ञानम् । अतुल-आनन्देन वीर्येण । दृशा केवलदर्शनेन । समं सार्धम् । तेन कारणेन । सतां साधूनाम् । सदा काले । भवच्चरणयोः तव चरणयोः[5] । सेवा संमता कथिता ॥ २ ॥ भो त्रैलोक्येश । यदि चेत् । एतस्य प्रत्यक्षवर्तमानस्य मम त्वत्सेवया दृढा स्थितिः अभूत् निश्चितम् । तदा संसारशत्रोः । बलीयसः गरिष्ठस्य । अपि । हि यतः । भयं कुतः कस्माद्भवति । अमृतवर्षणेन हर्षजनकम् उत्पादकम् । सत्समीचीनम् । यन्त्रधारागृहं प्राप्तस्य पुंसः पुरुषस्य । शुचौ ज्येष्ठाषाढे । खरतरः अतिशयेन तीक्ष्णः । मध्याह्नकालातपः किं कुरुते । अपि तु किमपि न कुरुते ॥ ३ ॥

हे जिनेन्द्र देव ! यदि साधु जनोंका मन आनन्दके स्थानभूत निर्मल आपके स्वरूपका अवगाहन करता है, यदि अनन्त दीप्तिसे सम्पन्न आपके नामका स्मरणरूप महामंत्र पासमें है, और यदि आपके द्वारा दिखलाये गये रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्गमें गमन है; तो फिर यहां लोकमें उन साधु जनोंको अपने अभीष्ट विषयमें विघ्न कौन-सा हो सकता है ? अर्थात् उनके लिये अभीष्ट विषयमें कोई भी बाधा उपस्थित नहीं होती ॥ १ ॥ हे देव ! परिग्रहत्याग, वीतरागता, समता, कर्मका क्षय, केवलदर्शनके साथ समस्त पदार्थोंको एक साथ विषय करनेवाला ज्ञान (केवलज्ञान), अनन्तसुख और अनन्तवीर्य; इस प्रकारकी यह विशुद्ध प्रवृत्ति संसारसे मुक्त होनेके लिये आपकी ही हुई है । इसीलिये साधु जनोंको सदा आपके चरणोंकी आराधना अभीष्ट है ॥ २ ॥ हे त्रिलोकीनाथ ! यदि आपकी आराधनासे निश्चयतः मेरी ऐसी दृढ़ स्थिति हो गई है तो फिर मुझे अतिशय बलवान् भी संसाररूप शत्रुसे भय क्यों होगा ? अर्थात् नहीं होगा । ठीक है— अमृतवर्षासे हर्षको उत्पन्न करनेवाले ऐसे उत्तम यन्त्रधारागृह (फुव्वारोंसे युक्त गृह) को प्राप्त हुए पुरुषको क्या ग्रीष्म ऋतुमें मध्याह्नकालीन सूर्यका अत्यन्त तीक्ष्ण भी सन्ताप दुःखी कर सकता है ? अर्थात् नहीं

---

१ श शमता । २ अ श अमलं तत्त्वं । ३ श त्रयात्मके रत्नत्रयमार्गे । ४ क 'निरागत्वं' नास्ति । ५ श 'तव चरणयोः' नास्ति ।

518) यः कश्चिन्निपुणो जगत्त्रयगतानर्थानशेषांश्चिरं
सारासारविवेचनैकमनसा मीमांसते निस्तुषम् ।
तस्य त्वं परमेक एव भगवन् सारो ह्यसारं परं
सर्वं मे भवदाश्रितस्य महती तेनाभवन्निर्वृतिः ॥ ४ ॥

519) ज्ञानं दर्शनमप्यशेषविषयं सौख्यं तथात्यन्तिकं
वीर्यं च प्रभुता च निर्मलतरा रूपं स्वकीयं तव ।
सम्यग्योगदृशा जिनेश्वर चिरात्तेनोपलब्धे त्वयि
ज्ञातं किं न विलोकितं न किमथ प्राप्तं न किं योगिभिः ॥ ५ ॥

520) त्वामेकं त्रिजगत्पतिं परमहं मन्ये जिनं स्वामिनं
त्वामेकं प्रणमामि चेतसि दधे सेवे स्तुवे सर्वदा ।
त्वामेकं शरणं गतो ऽस्मि बहुना प्रोक्तेन किंचिद्भवे-
दित्थं तद्भवतु प्रयोजनमतो नान्येन मे केनचित् ॥ ६ ॥

यः कश्चित् । निपुणः चतुरः । जगत्त्रयगतान् प्राप्तान् अशेषान् अर्थान् । सारासारविवेचनैकमनसा कृत्वा । चिरं बहुकालम् । निस्तुषं परिपूर्णम् । मीमांसते विचारयति । तस्य विचारकपुरुषस्य । परमम् एकः[1] त्वमेव सारः प्रतिभासते[सि] । भो भगवन् । हि यतः । परं सर्वम् असारं प्रतिभासते । तेन कारणेन भवदाश्रितस्य । मे मम । महती गरिष्ठा । निर्वृत्तिः सुखम् । अभवत्[2] ॥ ४ ॥ भो जिनेश्वर । तव अशेषविषयं समस्तगोचरम् । ज्ञानं दर्शनम् अपि वर्तते तथा आत्यन्तिकं सौख्यम् । च पुनः । वीर्यं वर्तते । भो जिनेश्वर । तव निर्मलतरा प्रभुता वर्तते । तव स्वकीयं रूपं वर्तते । भो जिनेश्वर । तेन सम्यग्योगदृशा सम्यग्योगनेत्रेण । चिरात् बहुकालेन । त्वयि उपलब्धे सति योगिभिः किं न ज्ञातम् । अथ किं न विलोकितम् । अथ योगिभिः किं न प्राप्तम् । अपि तु सर्वं ज्ञातं सर्वं विलोकितं सर्वं प्राप्तम् ॥ ५ ॥ अहं त्वाम् एकं त्रिजगत्पतिम् । परं श्रेष्ठम् । जिनं स्वामिनं मन्ये । त्वाम् एकम् । सदा प्रणमामि । त्वाम् एकं चेतसि दधे धारयामि । भो जिनेश । त्वाम् एकं सेवे । त्वामेकं सर्वदा स्तुवे । त्वाम् एकं शरणं गतोऽस्मि प्राप्तोऽस्मि । बहुना प्रोक्तेन किम्[3] । इत्थं किंचिद्भवेत् तद्भवतु । अतः कारणात् । मे मम । अन्येन

कर सकता ॥ ३ ॥ हे भगवन् ! जो कोई चतुर पुरुष सार व असार पदार्थोंका विवेचन करनेवाले असाधारण मनके द्वारा निर्दोष रीतिसे तीनों लोकोंके समस्त पदार्थोंका बहुत काल तक विचार करता है उसके लिये केवल एक आप ही सारभूत तथा अन्य सब असारभूत हैं । इसीलिये आपकी शरणमें प्राप्त हुए मुझको महान् आनन्द प्राप्त होता है ॥ ४ ॥ हे जिनेश्वर ! आपका ज्ञान और दर्शन समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाला है, सुख और वीर्य आपका अनन्त है, तथा आपका प्रभुत्व अतिशय निर्मल है; इस प्रकारका आपका निज स्वरूप है । इसलिये जिन योगी जनोंने समीचीन ध्यानरूप नेत्रके द्वारा चिर कालमें आपको प्राप्त कर लिया है उन्होंने क्या नहीं जाना, क्या नहीं देखा, तथा क्या नहीं प्राप्त कर लिया ? अर्थात् एक मात्र आपके जान लेनेसे उन्होंने सब कुछ जान लिया, देख लिया और प्राप्त कर लिया है ॥ ५ ॥ मैं एक तुमको ही तीनों लोकोंका स्वामी, उत्कृष्ट, जिन और प्रभु मानता हूं । मैं एक तुमको ही सर्वदा नमस्कार करता हूं, तुमको ही चित्तमें धारण करता हूं, तुम्हारी ही सेवा करता हूं, तुम्हारी ही स्तुति करता हूं, तथा एक तुम्हारी ही शरणमें प्राप्त हुआ हूं । बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? इस प्रकारसे जो कुछ प्रयोजन सिद्ध हो सकता है वह होवे । मुझे आपके सिवाय अन्य किसीसे भी प्रयोजन नहीं है ॥ ६ ॥

---

१ अ श एक । २ श निर्वृतिः अभवत्, अ-प्रतौ तु त्रुटितं जातं पत्रमत्र । ३ क 'किम्' नास्ति ।

521) पापं कारितवान् यदत्र कृतवानन्यैः कृतं साध्विति
भ्रान्त्याहं प्रतिपन्नवांश्च मनसा वाचा च कायेन च ।
काले संप्रति यच्च भाविनि नवस्थानोद्गतं यत्पुन-
स्तन्मिथ्याखिलमस्तु मे जिनपते स्वं निन्दतस्ते पुरः ॥ ७ ॥

522) लोकालोकमनन्तपर्ययुतं कालत्रयीगोचरं
त्वं जानासि जिनेन्द्र पश्यसि तरां शश्वत्समं सर्वतः ।
स्वामिन् वेत्सि ममैकजन्मजनितं दोषं न किंचित्कुतो
हेतोस्ते पुरतः स वाच्य इति मे शुद्ध्यर्थमालोचितुम् ॥ ८ ॥

523) आश्रित्य व्यवहारमार्गमथ वा मूलोत्तराख्यान् गुणान्
साधोर्धारयतो मम स्मृतिपथप्रस्थायि यद्दूषणम् ।
शुद्ध्यर्थं तदपि प्रभो तव पुरः सज्जो ऽहमालोचितुं
निःशल्यं हृदयं विधेयमजडैर्भव्यैर्यतः सर्वथा ॥ ९ ॥

केनचित् प्रयोजनं कार्यं न ॥ ६ ॥ भो जिनपते । अहं सेवकः । अत्र लोके । यत्पापं कारितवान् । यत्पापम् अहं कृतवान् । अन्यैः कृतं पापं भ्रान्त्या साधु इति प्रतिपन्नवान् अङ्गीकृतम् । च पुनः । मनसा मनोयोगेन । वा[1] वाचा वचोयोगेन । कायेन काययोगेन । पापम् अङ्गीकृतम् । यत्पापं संप्रति पञ्चमकाले । नवस्थानात् उद्गतम् उत्पन्नम् । यत्पापं भाविनि । आगामिकाले भविष्यति । भो जिनपते तत् अखिलं समस्तम् । मे मम पापम् । मिथ्या अस्तु । किंलक्षणस्य मम । ते तव । पुरः अग्रे । स्वम् आत्मानं निन्दतः ॥ ७ ॥ भो जिनेन्द्र । त्वं लोकम् अलोकम् । शश्वत् अनवरतम् । समं युगपत् । सर्वतः । तराम् अतिशयेन । जानासि पश्यसि । किंलक्षणं लोकालोकम् । अनन्तपर्ययुतम् । पुनः कालत्रयीगोचरम् । भो स्वामिन् । मम एकजन्मजनितम् उत्पन्नं दोषं किंचित्कुतो हेतोः । न वेत्सि न जानासि । स दोषः ते तव सर्वज्ञस्य । पुरतः अग्रतः । वाच्यः कथनीयः । इति हेतोः । इतीति[2] किम् । मे मम[3] । शुद्ध्यर्थम् आलोचितुम् ॥ ८ ॥ अथवा व्यवहारमार्गम् आश्रित्य । साधोः मुनीश्वरस्य । मूलगुण-उत्तरगुणान् धारयतो मम । यत्[4] स्मृतिपथं प्रस्थायि स्मर्यमाणमपि । दूषणम् । हे प्रभो । अहं शुद्ध्यर्थं तदपि । तव पुरः अग्रतः । आलोचितुम् । सज्जः सावधानो जातः । यतः । अजडैः चतुरैः भव्यैः सर्वथा हृदयं

हे जिनेन्द्र देव ! मन, वचन और कायसे मैंने यहां जो कुछ भी अज्ञानतावश पाप किया है, अन्यके द्वारा कराया है, तथा दूसरोंके द्वारा किये जानेपर 'अच्छा किया' इस प्रकारसे स्वीकार किया है अर्थात् अनुमोदना की है; इसके अतिरिक्त इन्हीं नौ स्थानों (१ मनःकृत, २ मनःकारित, ३ मनोऽनुमोदित, ४ वचनकृत, ५ वचनकारित, ६ वचनानुमोदित, ७ कायकृत, ८ कायकारित और ९ कायानुमोदित) के द्वारा और भी जो पाप वर्तमान कालमें किया जा रहा है तथा भविष्यमें किया जावेगा वह सब मेरा पाप तुम्हारे सामने आत्मनिन्दा करनेसे मिथ्या होवे ॥ ७ ॥ हे जिनेन्द्र ! तुम त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायोंसे सहित लोक एवं अलोकको सदा सब ओरसे युगपत् जानते और देखते हो । फिर हे स्वामिन् ! तुम मेरे एक जन्ममें उत्पन्न दोषको किस कारणसे नहीं जानते हो ? अर्थात् अवश्य जानते हो । फिर भी मैं आलोचनापूर्वक आत्मशुद्धिके लिये उक्त दोषको आपके सामने प्रगट करता हूं ॥ ८ ॥ व्यवहार मार्गका आश्रय करके अथवा मूल एवं उत्तर गुणोंको धारण करनेवाले मुझ साधुको जो दूषण स्मरणमें आ रहा है उसकी भी शुद्धिके लिये हे प्रभो ! मैं आपके आगे आलोचना करनेके लिये उद्यत हुआ हूं । कारण यह कि विवेकी भव्य जीवोंको सब प्रकारसे अपने हृदयको शल्यरहित करना चाहिये ॥ ९ ॥

१ श 'वा' नास्ति । २ क इति । ३ क मया । ४ क 'यत्' नास्ति ।

524) **सर्वो ऽप्यत्र मुहुर्मुहुर्जिनपते लोकैरसंख्यैर्मित-**
व्यक्ताव्यक्तविकल्पजालकलितः प्राणी भवेत् संसृतौ ।
तत्तावद्भिरयं सदैव निचितो दोषैर्विकल्पानुगैः
प्रायश्चित्तमियत् कुतः श्रुतगतं शुद्धिर्भवत्संनिधेः ॥ १० ॥

525) **भावान्तःकरणेन्द्रियाणि विधिवत्संहृत्य बाह्याश्रया-**
देकीकृत्य पुनस्त्वया सह शुचिज्ञानैकसन्मूर्तिना ।
निःसंगः श्रुतसारसंगतमतिः शान्तो रहः प्राप्तवान्
यस्त्वां देव समीक्षते स लभते धन्यो भवत्संनिधिम् ॥ ११ ॥

526) **त्वामासाद्य पुरा कृतेन महता पुण्येन पूज्यं प्रभुं**
ब्रह्माद्यैरपि यत्पदं न सुलभं तल्लभ्यते निश्चितम् ।
अर्हन्नाथ परं करोमि किमहं चेतो भवत्संनिधा-
वद्यापि ध्रियमाणमप्यतितरामेतद्बहिर्धावति ॥ १२ ॥

527) **संसारो बहुदुःखदः सुखपदं निर्वाणमेतत्कृते**
त्यक्त्वार्थादि तपोवनं वयमितास्तत्रोज्झितः संशयः ।

निःशल्यं विधेयं शल्यरहितं हृदयं करणीयम् ॥ ९ ॥ भो जिनपते । अत्र लोके संसृतौ । सर्वः अपि । प्राणी जीवः । मुहुर्मुहुः वारंवारम् । असंख्यैर्लोकैः संख्यारहितैः लोकप्रमाणैः । मित-प्रमितव्यक्त-अव्यक्तविकल्पजालैः कलितः भवेत् । तत्तस्मात्कारणात् । अयं प्राणी । तावद्भिः प्रमाणैः । दोषैः । सदैव निचितः भृतः । किंलक्षणैः दोषैः । विकल्पानुगैः । इयत्प्रायश्चित्तं[2] कुतः श्रुतगतम् । अपि तु न । तेषां दोषाणां भवत्संनिधेः शुद्धिः ॥ १० ॥ भो देव । यः त्वाम् । समीक्षते[3] पश्यति । स धन्यः । भवत्संनिधिं लभते । किंलक्षणः स भव्यः । निःसंगः परिग्रहरहितः । पुनः श्रुतसारसंगतमतिः । पुनः शान्तः । पुनः रहः एकान्ते[4] । प्राप्तवान् । किं कृत्वा । बाह्याश्रयात् बाह्यपदार्थात् । भावान्तःकरणेन्द्रियाणि[5] विधिवत् संहृत्य इन्द्रियमनोव्यापाराणि [रान्] संकोच्य । पुनः त्वया सह एकीकृत्य । किंलक्षणेन त्वया । शुचिज्ञानैकसन्मूर्तिना ॥ ११ ॥ भो अर्हन् । भो नाथ । पुराकृतेन महता पुण्येन । त्वाम् । आसाद्य प्राप्य । निश्चितं तत्परं पदं[6] लभ्यते प्राप्यते यत्पदं ब्रह्माद्यैरपि सुलभं न । किंलक्षणं त्वाम् । पूज्यं प्रभुम् । अहं किं करोमि । एतच्चेतः अद्यापि । भवत्संनिधौ तव समीपे । ध्रियमाणमपि । अतितराम् अतिशयेन । बहिः बाह्ये । धावति ॥ १२ ॥ संसारः बहुदुःखदः । सुखपदं निर्वाणम् । एतत्कृते निर्वाणकृते कारणाय । वयम् अर्थादि त्यक्त्वा

हे जिनेन्द्र देव ! यहां संसारमें सब ही प्राणी वार वार असंख्यात लोक प्रमाण स्पष्ट और अस्पष्ट विकल्पोंके समूहसे संयुक्त होते हैं । तथा उक्त विकल्पोंके अनुसार ये प्राणी निरन्तर उतने (असंख्यात लोक प्रमाण) ही दोषोंसे व्याप्त होते हैं । इतना प्रायश्चित्त भला आगमानुसार कहांसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता । अत एव उन दोषोंकी शुद्धि आपके संनिधान अथवा आराधनसे होती है ॥ १० ॥ हे देव ! जो भव्य जीव भाव मन और भावेन्द्रियोंको नियमानुसार बाह्य वस्तुओंकी ओरसे हटाकर तथा निर्मल एवं ज्ञानरूप अद्वितीय उत्तम मूर्तिके धारक आपके साथ एकमेक करके परिग्रहरहित, आगमके रहस्यका ज्ञाता, शान्त और एकान्त स्थानको प्राप्त होता हुआ आपको देखता है वह प्रशंसनीय है । वही आपकी समीपताको प्राप्त करता है ॥ ११ ॥ हे अरहंत देव ! पूर्वकृत महान् पुण्यके उदयसे पूजनेके योग्य आप जैसे स्वामीको पा करके जो पद ब्रह्मा आदिके लिये भी दुर्लभ है वह निश्चित ही प्राप्त किया जा सकता है । परन्तु हे नाथ ! मैं क्या करूं ? आपके संनिधानमें बलपूर्वक लगानेपर भी यह चित्त आज भी बाह्य पदार्थोंकी ओर दौड़ता है ॥ १२ ॥ संसार बहुत दुःखदायक है, परन्तु मोक्ष सुखका स्थान है । इस मोक्षको प्राप्त करनेके

---

१ **अ क ब श** समीक्ष्यते । २ **श** दोषैः विकल्पानुगैः सदैव निचितः भृतः इयत्प्रायश्चित्तं । ३ **अ क श** समीक्ष्यते । ४ **श** एकां । ५ **श** भावान्तःकरणानि । ६ **श** निश्चितं परं पदं ।

एतस्मादपि दुष्करव्रतविधेर्नाद्यापि सिद्धिर्यतो
वातालीतरलीकृतं दलमिव भ्राम्यत्यदो मानसम् ॥ १३ ॥

528) झम्पाः कुर्वदितस्ततः परिलसद्वाह्यार्थलाभाद्द-
न्नित्यं व्याकुलतां परां गतवतः कार्यं विनाप्यात्मनः ।
ग्रामं वासयदिन्द्रियं भवकृतो दूरं सुहृत् कर्मणः
क्षेमं तावदिहास्ति कुत्र यमिनो यावन्मनो जीवति ॥ १४ ॥

529) नूनं मृत्युमुपैति यातममलं त्वां शुद्धबोधात्मकं
त्वत्तस्तेन बहिर्भ्रमत्यविरतं चेतो विकल्पाकुलम् ।
स्वामिन् किं क्रियते ऽत्र मोहवशतो मृत्योर्न भीः कस्य तत्
सर्वानर्थपरंपराकृदहितो मोहः स मे वार्यताम् ॥ १५ ॥

तपोवनम् इताः प्राप्ताः। तत्र तपोवने। संशयः उज्झितः त्यक्तः। एतस्मादपि दुष्करव्रतविधेः सकाशात् सिद्धिः अद्यापि न। यतः अदा मानसं भ्राम्यति। कमिव। दलमिव पत्रमिव। किंलक्षणं दलम्। वातालीतरलीकृतं वातानाम् आली पङ्क्तिः तया चञ्चलीकृतम्॥१३॥ इह लोके। यमिनः मुनेः। यावन्मनः यावत्कालं मनः जीवति[१] तावत्कालं क्षेमं कुत्र अस्ति। मनः किं कुर्वत्। इतस्ततः झम्पाः कुर्वत्। पुनः किं कुर्वत्। बाह्य-अर्थलाभात् परिलसत्। पुनः किं कुर्वत्। नित्यं परां व्याकुलतां ददत्। आत्मनः कार्यं विनापि। किंलक्षणस्य आत्मनः। गतवतः ज्ञानयुक्तस्य। पुनः इन्द्रियं ग्रामं[२] वासयद्भवकृतः कर्मणः। दूरम् अतिशयेन। सुहृत् मित्रम्। एवंभूतस्य मुनेः मनः यावत्कालं जीवति तावत्क्षेमं कुत्र। अपि तु न॥ १४॥ हे स्वामिन्। भो श्री-अर्हन्। चेतः मनः। अमलं निर्मलम्। शुद्धबोधात्मकं त्वाम्। यातं प्राप्तम्। नूनं निश्चितम्। मृत्युम् उपैति गच्छति। किंलक्षणं मनः। विकल्पेन आकुलम्। तेन कारणेन। अविरतं निरन्तरम्। त्वत्तः सर्वज्ञतः।

लिये हम धन-सम्पत्ति आदिको छोड़कर तपोवनको प्राप्त हुए हैं और उसके विषयमें हमने सब प्रकारके सन्देहको भी छोड़ दिया है। किन्तु इस कठिन व्रतविधानसे भी अभी तक सिद्धि प्राप्त नहीं हुई। इसका कारण यह है कि वायुसमूहके द्वारा चंचल किये गये पत्तेके समान यह मन भ्रमको प्राप्त हो रहा है॥१३॥ जो मन इधर उधर सपाटा लगाता है, बाह्य पदार्थोंके लाभसे हर्षित होता है, विना किसी प्रयोजनके ही निरन्तर ज्ञानमय आत्माको अतिशय व्याकुल करता है, इन्द्रियसमूहको वासित करता है, तथा संसारके कारणीभूत कर्मका परम मित्र है; ऐसा वह मन जब तक जीवित है तब तक यहां संयमीका कल्याण कहांसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता॥ विशेषार्थ—इसका अभिप्राय यह है कि जब तक मन शान्त नहीं होता तब तक संयमका परिपालन करनेपर भी कभी आत्मका कल्याण नहीं हो सकता है। कारण यह कि मनकी अस्थिरतासे बाह्य इष्टानिष्ट पदार्थोंमें राग-द्वेषकी प्रवृत्ति बनी रहती है, और जब तक राग-द्वेषका परिणमन है तब तक कर्मका बन्ध भी अनिवार्य है। तथा जब तक नवीन नवीन कर्मका बन्ध होता रहेगा तब तक दुःखमय इस जन्म-मरणरूप संसारकी परम्परा भी चालू ही रहेगी। इस अवस्थामें आत्माको कभी शान्तिका लाभ नहीं हो सकता है। अत एव आत्मकल्याणकी इच्छा करनेवाले भव्य जीवोंको सर्वप्रथम अपने चंचल मनको वशमें करना चाहिये। मनके वशीभूत हो जानेपर उसके इशारेपर प्रवृत्त होनेवाली इन्द्रियां स्वयमेव वशंगत हो जाती हैं। तब ऐसी अवस्थामें बन्धका अभाव हो जानेसे मोक्ष भी कुछ दूर नहीं रहता॥ १४॥ हे स्वामिन्! यह चित्त निर्मल एवं शुद्ध चैतन्यस्वरूप आपको प्राप्त होता हुआ निश्चयसे मृत्युको प्राप्त हो जाता है। इसीलिये वह विकल्पोंसे व्याकुल होता हुआ आपकी ओरसे हटकर निरन्तर बाह्य पदार्थोंमें

१ श मुनेः मनः यावत्कालं जीवति। २ क इन्द्रियग्रामं।

530) सर्वेषामपि कर्मणामतितरां मोहो बलीयानसौ
धत्ते चञ्चलतां बिभेति च मृतेस्तस्य प्रभावान्मनः ।
नो चेज्जीवति को म्रियेत क इह द्रव्यत्वतः सर्वदा
नानात्वं जगतो जिनेन्द्र भवता दृष्टं परं पर्ययैः ॥ १६ ॥

531) वातव्याप्तसमुद्रवारिलहरीसंघातवत्सर्वदा
सर्वत्र क्षणभङ्गुरं जगदिदं संचिन्त्य चेतो मम ।
संप्रत्येतदशेषजन्मजनकव्यापारपारस्थितं
स्थातुं वाञ्छति निर्विकारपरमानन्दे त्वयि ब्रह्मणि ॥ १७ ॥

532) एनः स्यादशुभोपयोगत इतः प्राप्नोति दुःखं जनो
धर्मः स्याच्च शुभोपयोगत इतः सौख्यं किमप्याश्रयेत् ।
द्वन्द्वं द्वन्द्वमिदं भवाश्रयतया शुद्धोपयोगात्पुन-
र्नित्यानन्दपदं तदत्र च भवानर्हन्नहं तत्र च ॥ १८ ॥

बहिः बाह्ये भ्रमति । भो स्वामिन । किं क्रियते । अत्र लोके । मोहवशतः । कस्य जीवस्य । मृत्योः मरणतः सकाशात् । भीः भयं न । अपि तु सर्वेषां भयम् अस्ति । तत् तस्मात्कारणात् । मम स मोहः । वार्यतां निवार्यताम् । किंलक्षणः मोहः । सर्वानर्थ-परंपराकृत् । पुनः अहितः शत्रुः ॥ १५ ॥ भो जिनेन्द्र । सर्वेषाम् अपि कर्मणां मध्ये असौ मोहः । अतितराम् अतिशयेन । बलीयान् बलिष्ठः । तस्य मोहस्य । प्रभावान्मनः चञ्चलतां धत्ते । च पुनः । मृतेः मरणात् बिभेति भयं करोति । नो चेत् । इह जगति । द्रव्यत्वतः कः जीवति । कः म्रियेत । जगतः पर्ययैः सर्वदा नानारूपम् अस्ति । परं किंतु । भो जिनेन्द्र[1] । भवता । दृष्टम् अवलोकितं जगत् ॥ १६ ॥ तत् मम चेतः मनः । संप्रति इदानीम् । त्वयि ब्रह्मणि स्थातुं वाञ्छति । इदं जगत् सर्वदा क्षणभङ्गुरं संचिन्त्य । किंवत् । वात-पवन[2]व्याप्तसमुद्रवारिलहरीसंघातवत् समूहवत् । किंलक्षणं मनः । अशेषजन्मजनक-उत्पादक-व्यापारपारे स्थितं विकल्परहितम् । किंलक्षणे त्वयि । निर्विकारपरमानन्दे विकाररहिते ॥ १७ ॥ अशुभोपयोगतः एनः पापं स्यात् भवेत् । इतः पापात् । जनः दुःखं प्राप्नोति । च पुनः । शुभोपयोगतः धर्मः स्यात् । इतः धर्मात् । जनः किमपि

परिभ्रमण करता है । क्या किया जाय, मोहके वशसे यहां मृत्युका भय भला किसको नहीं होता है ? अर्थात् उसका भय प्रायः सभीको होता है । इसलिये हे प्रभो ! समस्त अनर्थोंकी परम्पराके कारणीभूत मेरे इस मोहरूप शत्रुका निवारण कीजिये ॥ १५ ॥ सभी कर्मोंमें वह मोह अतिशय बलवान् है । उसीके प्रभावसे मन चपलताको धारण करता है और मृत्युसे डरता है । यदि ऐसा न होता तो फिर संसारमें द्रव्यकी अपेक्षा कौन जीता है और कौन मरता है ? हे जिनेन्द्र ! आपने केवल पर्यायोंकी अपेक्षासे ही संसारकी विविधताको देखा है ॥ विशेषार्थ– यदि निश्चय नयसे विचार किया जाय तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप यह आत्मा अनादि-निधन है, उसका न कभी जन्म होता है और न कभी मरण भी । उसके जन्म-मरणकी कल्पना व्यवहारी जन पर्यायकी प्रधानतासे केवल मोहके निमित्तसे करते हैं । जिसका वह मोह नष्ट हो जाता है उसका मन चपलताको छोड़कर स्थिर हो जाता है । उसे फिर मृत्युका भय नहीं होता । इस प्रकारसे उसे यथार्थ आत्मस्वरूपकी प्रतीति होने लगती है और तब वह शीघ्र ही परमानन्दमय अविनश्वर पदको प्राप्त कर लेता है ॥ १६ ॥ यह विश्व वायुसे ताड़ित हुए समुद्रके जलमें उठनेवाली लहरोंके समूहके समान सदा और सर्वत्र क्षणनश्वर है, ऐसा विचार करके यह मेरा मन इस समय जन्म-मरणरूप संसारकी कारणीभूत इन समस्त प्रवृत्तियोंके पार पहुंचकर अर्थात् ऐसी क्रियाओंको छोड़कर निर्विकार व परमानन्दस्वरूप आप परमात्मामें स्थित होनेकी इच्छा करता है ॥ १७ ॥ अशुभ उपयोगसे पाप उत्पन्न होता

---

१ क 'भो जिनेन्द्र' नास्ति । २ क 'पवन' नास्ति ।

533) यन्नान्तर्न बहिः स्थितं न च दिशि स्थूलं न सूक्ष्मं पुमान्
नैव स्त्री न नपुंसकं न गुरुतां प्राप्तं न यल्लाघवम् ।
कर्मस्पर्शशरीरगन्धगणनाव्याहारवर्णोज्झितं
स्वच्छज्ञानदृगेकमूर्ति तदहं ज्योतिः परं नापरम् ॥ १९ ॥

534) एतेनैव चिदुन्नतिक्षयकृता कार्यं विना वैरिणा
शश्वत्कर्मखलेन तिष्ठति कृतं नाथावयोरन्तरम् ।
एषो ऽहं स च ते पुरः परिगतो दुष्टो ऽत्र निःसार्यतां
सद्रक्षेतरनिग्रहो नयवतो धर्मः प्रभोरीदृशः ॥ २० ॥

सौख्यम् आश्रयेत् । भवाश्रयतया इदं द्वन्द्वं द्वन्द्वम् । पुनः शुद्धोपयोगात् तत् नित्यानन्दपदं स्यात् । च पुनः । अत्र परमानन्दपदे । भवान् अर्हन्नस्ति । च पुन । तत्र त्वयि विषये[2] अहं लीनः ॥ १८ ॥ अहं तत्परं ज्योतिः अपरं न । यत् ज्योतिः अन्तः न । यज्ज्योतिः बहिः न स्थितम् । यज्ज्योतिः दिशि स्थितं न[3] । यज्ज्योतिः स्थूलं न सूक्ष्मं न । यज्ज्योतिः पुमान् न स्त्री न नपुंसकं न । यज्ज्योतिः गुरुतां न प्राप्तं लाघवं न प्राप्तम् । पुनः किंलक्षणं ज्योतिः । कर्मस्पर्शशरीरगन्धगणनाव्याहारवर्णोज्झितम् इन्द्रियव्यापार[1]-रहितम् । पुनः स्वच्छज्ञानदृगेक[4]मूर्तिः ॥ १९ ॥ हे नाथ । एतेन कर्मखलेन । आवयोः द्वयोः । अन्तरं कृतम् । तिष्ठति दृश्यते[5] । किंलक्षणेन कर्मखलेन । चिदुन्नतिक्षयकृता । पुनः कार्यं विना वैरिणा । शश्वत् निरन्तरम् । अहमेषः स च कर्मशत्रुः[6] । ते तव । पुरतः अग्रतः । परिगतः प्राप्तः । अत्र द्वयोः मध्ये । दुष्टः निःसार्यताम् । नयवतः प्रभो राज्ञः । ईदृशः धर्मः

है और इससे प्राणी दुःखको प्राप्त करता है, तथा शुभ उपयोगसे धर्म होता है और इससे प्राणी किसी विशेष सुखको प्राप्त करता है । सुख और दुःखका यह कलहकारी जोड़ा संसारके सहारेसे चलता है । परन्तु इसके विपरीत शुद्ध उपयोगसे वह शाश्वतिक सुखका स्थान अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है । हे अरहंत जिन ! इस पद (मोक्ष) में तो आप स्थित हैं और मैं उस पदमें, अर्थात् साता-असाता वेदनीयजनित क्षणिक सुख-दुःखके स्थानभूत संसारमें, स्थित हूं ॥ १८ ॥ जो उत्कृष्ट ज्योति (चैतन्य) न तो भीतर स्थित है और न बाहिर स्थित है, जो दिशाविशेषमें स्थित नहीं है, जो न स्थूल है और न सूक्ष्म है; जो न पुरुष है, न स्त्री है और न नपुंसक है; जो न गुरुताको प्राप्त है और न लघुताको प्राप्त है; जो कर्म, स्पर्श, शरीर, गन्ध, गणना, शब्द और वर्णसे रहित है; तथा जो निर्मल ज्ञान एवं दर्शनकी मूर्ति है; उसी उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप मैं हूं– इससे भिन्न और दूसरा कोई भी स्वरूप मेरा नहीं है ॥ विशेषार्थ– अभिप्राय यह है कि भेदबुद्धिके रहनेपर शरीर एवं स्व और परकी कल्पना होती है । भीतर-बाहिर; स्थूल-सूक्ष्म एवं पुरुष-स्त्री आदि उपर्युक्त सब विकल्प एक उस शरीरके आश्रयसे ही हुआ करते हैं । किन्तु जब वह भेदबुद्धि नष्ट हो जाती है और अभेदबुद्धि प्रगट हो जाती है तब वह समस्त भेदव्यवहार भी उसीके साथ नष्ट हो जाता है । उस समय अखण्ड चित्पिण्डस्वरूप एक मात्र आत्मज्योतिका ही प्रतिभास होता है । यहां तक कि इस निर्विकल्प अवस्थामें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदिका भी भेद नष्ट हो जाता है ॥ १९ ॥ हे स्वामिन् ! विना किसी प्रयोजनके ही वैरभावको प्राप्त होकर उन्नत चैतन्य स्वरूपका घात करनेवाले इसी कर्मरूप दुष्ट शत्रुके द्वारा हम दोनोंके बीचमें उत्पन्न किया गया भेद स्थित है । यह मैं और वह कर्म-शत्रु दोनों ही आपके सामने उपस्थित हैं । इनमेंसे आप दुष्टको निकाल कर बाहिर कर दें, क्योंकि, सज्जनकी

१ श व्यापार । २ क तत्र तत्त्वार्थविषये । ३ श 'यज्ज्योतिः दिशि स्थितं न' इति नास्ति । ४ श दृगैक । ५ श दृश्यते तिष्ठति । ६ क एषः च स कर्म ।

535) आधिव्याधिजरामृतिप्रभृतयः संबन्धिनो वर्ष्मण-
स्तद्भिन्नस्य ममात्मनो भगवतः किं कर्तुमीशा जडाः ।
नानाकारविकारकारिण इमे साक्षान्नभोमण्डले
तिष्ठन्तोऽपि न कुर्वते जलमुचस्तत्र स्वरूपान्तरम् ॥ २१ ॥

536) संसारातपदह्यमानवपुषा दुःखं मया स्थीयते
नित्यं नाथ यथा स्थलस्थितिमता मत्स्येन ताम्यन्मनः ।
कारुण्यामृतसंगशीतलतरे त्वत्पादपङ्केरुहे
यावद्देव समर्पयामि हृदयं तावत्परं सौख्यवान् ॥ २२ ॥

537) साक्षग्राममिदं मनो भवति यद्बाह्यार्थसंबन्धभाक्
तत्कर्म प्रविजृम्भते पृथगहं तस्मात्सदा सर्वथा ।
चैतन्यात्तव तत्तथेति यदि वा तत्रापि तत्कारणं
शुद्धात्मन् मम निश्चयात्पुनरिह त्वय्येव देव स्थितिः ॥ २३ ॥

सद्रक्षा इतरनिग्रहः दुष्टनिग्रहः ॥ २० ॥ आधिर्मानसी व्यथा । व्याधिः शरीरोत्पन्नजरामृति–मरणप्रभृतयः । वर्ष्मणः शरीरस्य संबन्धिनः सन्ति । इमे पूर्वोक्ता रोगाः जडाः मम आत्मनः किं कर्तुम् ईशाः समर्थाः । न किमपि । किंलक्षणस्य मम । तद्भिन्नस्य तेभ्यः रोगादिभ्यः भिन्नस्य । पुनः किंलक्षणस्य । भगवतः परमेश्वरस्य । नानाकारविकारकारिणः[3] । जलमुचः मेघाः नभोमण्डले साक्षात् तिष्ठन्तोऽपि । तत्र आकाशमण्डले । स्वरूपान्तरं कर्तुं न समर्थाः भवन्ति आकाशम् अन्यरूपं न कुर्वते ॥ २१ ॥ हे नाथ । मया । नित्यं सदैव । दुःखं स्थीयते । किंलक्षणेन मया । संसारातपदह्यमानवपुषा शरीरेण । यथा स्थलस्थितिमता मत्स्येन ताम्यन्मनः यथा[4] भवति तथा दुःखं स्थीयते । हे देव । यावत्कालम् । त्वत्पादपङ्केरुहे तव चरणकमले । हृदयं समर्पयामि । तावत्कालं परं सौख्यवान् । किंलक्षणे तव चरणकमले । कारुण्यामृतसंगशीतलतरे ॥ २२ ॥ हे देव । भो शुद्धात्मन् । इदं मनः यद् बाह्यार्थसंबन्धभाक्[5] भवति । किंलक्षणं मनः । साक्षग्रामम् इन्द्रियग्रामेण वर्तमानम् । तत्कर्म प्रतिजृम्भते[1] प्रसरति । अहं सदा सर्वदा[2] । तस्मात्कर्मणः पृथक् यदि वा तथा चैतन्यात् तत्कर्म पृथक् । तत्रापि मयि । तत्कर्म ।

रक्षा करना और दुष्टको दण्ड देना, यह न्यायप्रिय राजाका कर्तव्य होता है ॥ २० ॥ आधि (मानसिक कष्ट), व्याधि (शारीरिक कष्ट), जरा और मृत्यु आदि शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं । मैं भगवान् आत्मा उस शरीरसे भिन्न हूं, अत एव उस शरीर सम्बन्धी वे जड़ आधि-व्याधि आदि मेरा क्या कर सकते हैं ? अर्थात् ये आत्माका कुछ भी विगाड़ नहीं कर सकते । ठीक भी है— प्रत्यक्षमें अनेक आकारों और विकारों-को करनेवाले ये बादल आकाशमण्डलमें रहकर भी आकाशके स्वरूपमें कुछ भी अन्तर नहीं करते हैं ॥ २१ ॥ जिस प्रकार जलके सूख जानेपर स्थलमें स्थित हुआ मत्स्य मनमें अतिशय कष्ट पाता है उसी प्रकार संसार-रूप घामसे जलनेवाले शरीरको धारण करता हुआ यहां स्थित होकर मैं भी अतिशय कष्ट पा रहा हूं । हे देव ! जब तक मैं दयारूप अमृतके सम्बन्धसे अतिशय शीतलताको प्राप्त हुए तुम्हारे चरण-कमलोंमें अपने हृदयको समर्पित करता हूं तब तक अतिशय सुखका अनुभव करता हूं ॥ २२ ॥ हे शुद्ध आत्मन् ! इन्द्रिय-समूहके साथ यह मन चूंकि बाह्य पदार्थोंसे सम्बन्ध रखता है, अत एव उससे कर्म बढ़ता है । मैं उस कर्मसे सदा और सब प्रकारसे भिन्न हूं अथवा तुम्हारे चैतन्यसे वह कर्म सर्वथा भिन्न है । यहां भी वही पूर्वोक्त (चेतनाचेतनत्व) कारण है । हे देव ! मेरी स्थिति निश्चयसे यहां तुम्हारे विषयमें ही है ॥ २३ ॥

१ श प्रतिजृम्भते । २ क सर्वदा । ३ श नानाकारकारिणः । ४ क 'यथा' नास्ति । ५ क यतः बाह्यार्थः ।

538) किं लोकेन किमाश्रयेण किमुत द्रव्येण कायेन किं
किं वाग्भिः किमुतेन्द्रियैः किमसुभिः किं तैर्विकल्पैरपि ।
सर्वे पुद्गलपर्यया बत परे त्वत्तः प्रमत्तो भव-
न्नात्मन्नेभिरभिश्रयस्यति तरामालेन किं बन्धनम् ॥ २४ ॥

539) धर्माधर्मनभांसि काल इति मे नैवाहितं कुर्वते
चत्वारोऽपि सहायतामुपगतास्तिष्ठन्ति गत्यादिषु ।
एकः पुद्गल एव संनिधिगतो नोकर्मकर्माकृति-
र्वैरी बन्धकृदेष संप्रति मया भेदासिना खण्डितः ॥ २५ ॥

540) रागद्वेषकृतैर्यथा परिणमेद्रूपान्तरैः पुद्गलो
नाकाशादिचतुष्टयं विरहितं मूर्त्या तथा प्राणिनाम् ।
ताभ्यां कर्मघनं भवेदविरतं तस्मादियं संसृति-
स्तस्यां दुःखपरंपरेति विदुषा त्याज्यौ प्रयत्नेन तौ ॥ २६ ॥

541) किं बाह्येषु परेषु वस्तुषु मनः कृत्वा विकल्पान् बहून्
रागद्वेषमयान् मुधैव कुरुषे दुःखाय कर्माशुभम् ।
आनन्दामृतसागरे यदि वसस्यासाद्य शुद्धात्मनि
स्फीतं तत्सुखमेकतामुपगतं त्वं यासि रे निश्चितम् ॥ २७ ॥

कारणम् । मम निश्चयात्पुनः इह त्वयि एव स्थितिः ॥ २३ ॥ उत अहो । भो आत्मन् । लोकेन किम् । आश्रयेण किम् । द्रव्येण किम् । कायेन किम् । वाग्भिः वचनैः किम् । उत अहो । इन्द्रियैः किम् । असुभिः किं प्राणैः किम् । किं तैः विकल्पैः अपि[1] । न किमपि । सर्वे पुद्गलपर्ययाः । बत इति खेदे । त्वत्तः परे भिन्नाः । प्रमत्तः भवन् । एभिः पूर्वोक्तैः विकल्पैः । अतितराम् अतिशयेन । आलेन वृथैव । बन्धनं किम् अभिश्रयसि आश्रयसि ॥ २४ ॥ धर्म-अधर्म-काल-आकाश इति चत्वारोऽपि । मे मम । अहितं कष्टम् । नैव कुर्वते । गत्यादिषु सहायताम् उपगताः प्राप्ताः तिष्ठन्ति । एकः[2] पुद्गल एव वैरी मम संनिधिगतः नोकर्म-कर्माकृतिः बन्धकृत् । संप्रति इदानीम् । स शत्रुः मया । भेदासिना भेदज्ञानखड्गेन । खण्डितः पीडितः ॥ २५ ॥ यथा पुद्गलः रूपान्तरैः परिणमेत् । किंलक्षणैः रूपान्तरैः । रागद्वेषकृतैः । तथा आकाशादिचतुष्टयं न परिणमेत् । किंलक्षणमाकाशादि-चतुष्टयम् । मूर्त्या विरहितम् । ताभ्यां रागद्वेषाभ्यां प्राणिनाम् अविरतं घनं कर्म भवेत् । तस्मात् कर्मघनात् इयं संसृतिः । तस्यां संसृतौ । दुःखपरंपरा । इति हेतोः । विदुषा पण्डितेन । तौ रागद्वेषौ प्रयत्नेन त्याज्यौ ॥ २६ ॥ रे मनः । बाह्येषु परेषु वस्तुषु

हे आत्मन् ! तुम्हें लोकसे, आश्रयसे, द्रव्यसे, शरीरसे, वचनोंसे, इन्द्रियोंसे, प्राणोंसे और उन विकल्पोंसे भी क्या प्रयोजन है ? अर्थात् इनसे तुम्हारा कुछ भी प्रयोजन नहीं है । कारण यह कि ये सब पुद्गलकी पर्यायें हैं जो तुमसे भिन्न हैं । खेद है कि तुम प्रमादी होकर इनके द्वारा व्यर्थमें ही क्यों बन्धनको प्राप्त होते हो ? ॥ २४ ॥ धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चारों द्रव्य मेरा कुछ भी अहित नहीं करते हैं । वे चारों तो गति आदि (स्थिति, अवकाश और वर्तना) में सहायक होकर स्थित हैं । किन्तु कर्म एवं नोकर्मके स्वरूपसे परिणत हुआ यह एक पुद्गलरूप शत्रु ही मेरे सान्निध्यको प्राप्त होकर बन्धका कारण होता है । सो मैंने उसे इस समय भेद (विवेक) रूप तलवारसे खण्डित कर दिया है ॥ २५ ॥ जिस प्रकार राग और द्वेषके द्वारा किये गये परिणामान्तरोंसे पुद्गल द्रव्य परिणत होता है उस प्रकार वे अमूर्तिक आकाशादि चार द्रव्य उक्त परिणामान्तरोंसे परिणत नहीं होते हैं । उक्त राग और द्वेषसे निरन्तर प्राणियोंके सदा कठोर कर्मका बन्ध होता है, उससे (कर्मबन्धसे) यह संसार होता है, और उस संसारमें दुःखोंकी परम्परा प्राप्त होती है । इस कारण विद्वान् पुरुषको प्रयत्नपूर्वक उक्त राग और द्वेषका परित्याग करना चाहिये ॥ २६ ॥ रे मन ! तू

१ श प्राणैः किं विकल्पैरपि किं । २ श एषः ।

542) **इत्यास्थायं हृदि स्थिरं जिन भवत्पादप्रसादात्सती-**
मध्यात्मैकतुलामयं जन इतः शुद्ध्यर्थमारोहति ।
एनं कर्तुममी च दोषिणमितः कर्मारयो दुर्धरा-
स्तिष्ठन्ति प्रसभं तदत्र भगवन् मध्यस्थसाक्षी भवान् ॥ २८ ॥

543) **द्वैतं संसृतिरेव निश्चयवशादद्वैतमेवामृतं**
संक्षेपादुभयत्र जल्पितमिदं पर्यन्तकाष्ठागतम् ।
निर्गत्यादिपदाच्छनैः शबलितादन्यत्समालम्बते
यः सो ऽसंज्ञ इति स्फुटं व्यवहृतेर्ब्रह्मादिनामेति च ॥ २९ ॥

544) **चारित्रं यदभाणि केवलदृशा देव त्वया मुक्तये**
पुंसा तत्खलु मादृशेन विषमे काले कलौ दुर्धरम् ।
भक्तिर्या समभूदिह त्वयि दृढा पुण्यैः पुरोपार्जितैः
संसारार्णवतारणे जिन ततः सैवास्तु पोतो मम ॥ ३० ॥

विकल्पान् कृत्वा दुःखाय अशुभं कर्म मुधैव किं कुरुषे । किंलक्षणान् विकल्पान् । बहून् रागद्वेषमयान् । यदि वा भेदज्ञानम् आसाद्य प्राप्य । आनन्दामृतसागरे शुद्धात्मनि वससि तदा निश्चितं त्वम् एकताम् उपगतं सुखं स्फीतं यासि ॥ २७ ॥ भो जिन । हृदि इति आस्थाय आरोप्य । स्थिरम् अयं जनः लोकः । भवत्पादप्रसादात् शुद्ध्यर्थम् । इतः एकस्मिन् पक्षे । अध्यात्मैक-तुलां सतीम् आरोहति चटति । इतः[2] द्वितीयपक्षे । अमी कर्मशत्रवः । एनं जनं लोकम् । दोषिणं कर्तुम् तिष्ठन्ति । प्रसभं[3] बलात्कारेण । दुर्धराः । तत्तस्मात्कारणात् । अत्र न्याये । भो भगवन् । त्वम्[4] । मध्यस्थसाक्षी ॥ २८ ॥ निश्चयवशात् द्वैतं संसृतिः एव । अद्वैतम् अमृतम् एव । संक्षेपात् उभयत्र संसारमोक्षयोः । इदं जल्पितम् । पर्यन्तकाष्ठागतम् । यः भव्यः । शनैः[5] मन्दं मन्दम् । आदिपदात् द्वैतपदात् । निर्गत्य शबलितात् एकीभूतात् निर्गत्य । अन्यत् निश्चयपदम् । समालम्बते । इति हेतोः । स निश्चयेन । असंज्ञः नामरहितः । स्फुटं व्यक्तम् । च पुनः । व्यवहृतेः व्यवहारात् । ब्रह्मादि नाम वर्तते ॥ २९ ॥ भो देव । त्वया मुक्तये यत् चरित्रम् अभाणि कथितम् । केन[6] । केवलदृशा केवलज्ञाननेत्रेण[7] । तत् चारित्रम् । खलु निश्चितम् । कलौ काले पञ्चमकाले । मादृशेन पुंसा धर्तुं दुर्धरम् । । किल पञ्चमकाले । त्वयि विषये । । पुरा पूर्वम् । उपार्जितैः पुण्यैः कृत्वा । या भक्तिः समभूत् । दृढा बहुला । हे जिन । ततः कारणात् । संसारसमुद्रतारणे । सा एव भक्तिः मम पोतः प्रोहणसमानम् । अस्तु ॥ ३० ॥

बाह्य पर पदार्थोंमें बहुत-से राग-द्वेषरूप विकल्पोंको करके व्यर्थ ही दुःखके कारणीभूत अशुभ कर्मको क्यों करता है ? यदि तू एकत्व (अद्वैतभाव) को प्राप्त होकर आनन्दरूप अमृतके समुद्रभूत शुद्ध आत्मामें निवास करे तो निश्चयसे ही महान् सुखको प्राप्त हो सकेगा ॥ २७ ॥ हे जिन ! हृदयमें इस प्रकारका स्थिर विचार करके यह जन शुद्धिके लिये आपके चरणोंके प्रसादसे निर्दोष अध्यात्मरूपी अद्वितीय तराजू (कांटा) पर एक ओर चढ़ता है । और दूसरी ओर उसे सदोष करनेके लिये ये दुर्जेय कर्मरूपी शत्रु बलात् स्थित होते हैं । इसलिये हे भगवन् ! इस विषयमें आप मध्यस्थ (निष्पक्ष) साक्षी हैं ॥ २८ ॥ निश्चयसे द्वैत (आत्म-परका भेद) ही संसार तथा अद्वैत ही मोक्ष है । यह इन दोनोंके विषयमें संक्षेपसे कथन है जो चरम सीमाको प्राप्त है । जो भव्य जीव धीरे धीरे इस विचित्र प्रथम (द्वैत) पदसे निकल कर दूसरे (अद्वैत) पदका आश्रय करता है वह यद्यपि निश्चयतः वाच्य-वाचकभावका अभाव हो जानेके कारण संज्ञा (नाम) से रहित हो जाता है; फिर भी व्यवहारसे वह ब्रह्म आदि (परब्रह्म, परमात्मा) नामको प्राप्त करता है ॥ २९ ॥ हे जिन देव ! केवलज्ञानी आपने जो मुक्तिके लिये चारित्र बतलाया है उसे निश्चयसे मुझ जैसा पुरुष इस विषम पंचम कालमें धारण नहीं कर सकता है । इसलिये पूर्वोपार्जित महान्

१ श इत्याध्याय । २ श आरोहति इतः । ३ अ कर्तुं तिष्ठति प्रसभं, क कर्तुं प्रसभं । ४ क भगवन् भवान् त्वम् । ५ श शनैः शनैः । ६ अ श अभाणि केन । ७ श केवलनेत्रेण ।

545) इन्द्रत्वं च निगोदतां च बहुधा मध्ये तथा योनयः
संसारे भ्रमता चिरं यदखिलाः प्राप्ता मयानन्तशः ।
तन्नापूर्वमिहास्ति किंचिदपि मे हित्वा विमुक्तिप्रदां
सम्यग्दर्शनबोधवृत्तिपदवीं तां देव पूर्णां कुरु ॥ ३१ ॥

546) श्रीवीरेण मम प्रसन्नमनसा तत्किंचिदुच्चैः पद-
प्राप्त्यर्थं परमोपदेशवचनं चित्ते समारोपितम् ।
येनास्तामिदमेकभूतलगतं राज्यं क्षणध्वंसि यत्
त्रैलोक्यस्य च तन्न मे प्रियमिह श्रीमज्जिनेश प्रभो ॥ ३२ ॥

547) सूरेः पङ्कजनन्दिनः कृतिमिमामालोचनामर्हता-
मग्रे यः पठति त्रिसंध्यममलश्रद्धानताङ्गो नरः ।
योगीन्द्रैश्चिरकालरूढतपसा यत्नेन यन्मृग्यते
तत्प्राप्नोति परं पदं स मतिमानानन्दसद्म ध्रुवम् ॥ ३३ ॥

यद्यस्मात्कारणात् । इन्द्रत्वं च निगोदता च तथा मध्ये बहुधा अखिला योनयः मया संसारे चिरं भ्रमता अनन्तशः वारान् प्राप्ताः । तत्तस्मात् । मे मम सम्यग्दर्शनबोधवृत्तिपदवीं हित्वा । इह संसारे । किंचिदपि अपूर्वं न अस्ति । तां विमुक्तिप्रदां दृगादित्रयीम् । भो देव । पूर्णां कुरु ॥ ३१ ॥ भो श्रीमज्जिनेश । हे प्रभो । श्रीवीरेण गुरुणा । उच्चैः पदप्राप्त्यर्थं मम चित्ते तत्किंचित्परमोपदेश-वचनं समारोपितम् । किंलक्षणेन वीरेण । प्रसन्नमनसा आनन्दयुक्तेन । येन धर्मोपदेशेन । इदम् एकभूतलगतं राज्यम् । आस्तां दूरे तिष्ठतु । किंलक्षणं राज्यम् । क्षणध्वंसि विनश्वरम् । इह लोके । तन्मे त्रैलोक्यस्य राज्यं प्रियं न ॥ ३२ ॥ यः भव्यः नरः । अर्हताम् अग्रे इमां आलोचनां[1] त्रिसंध्यं पठति । किंलक्षणः भव्यः । अमलश्रद्धानताङ्गः श्रद्धया नम्रशरीरः[2] । किंलक्षणाम् इमाम् आलोचनाम् । सूरेः पङ्कजनन्दिनः कृतिम् । स मतिमान् तत्परं पदं प्राप्नोति यत्पदं योगीन्द्रैः चिरकालरूढतपसा यत्नेन । मृग्यते अवलोक्यते । किंलक्षणं पदम् । आनन्दसद्म । ध्रुवं निश्चितम् ॥ ३३ ॥ इत्यालोचना समाप्ता ॥ ९ ॥

पुण्यसे यहां जो मेरी आपके विषयमें दृढ़ भक्ति हुई है वही मुझे इस संसाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिये जहाज के समान होवे ॥ ३० ॥ हे देव ! मैंने चिर कालसे संसारमें परिभ्रमण करते हुए बहुत वार इन्द्र पद, निगोद पर्याय तथा बीचमें और भी जो समस्त अनन्त भव प्राप्त किये हैं उनमें मुक्तिको प्रदान करनेवाली सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप परिणतिको छोड़कर और कोई भी अपूर्व नहीं है । इसलिये रत्नत्रयस्वरूप जिस पदवीको अभी तक मैंने कभी नहीं प्राप्त किया है उस अपूर्व पदवीको पूर्ण कीजिये ॥ ३१ ॥ हे जिनेन्द्र प्रभो ! श्री वीर भगवान् (अथवा श्री वीरनन्दी गुरु) ने प्रसन्नचित्त हो करके उच्च पद (मोक्ष) की प्राप्तिके लिये जो मेरे चित्तमें थोड़े-से उत्तम उपदेशरूप वचनका आरोपण किया है उसके प्रभावसे क्षणनश्वर जो एक पृथिवीतलका राज्य है वह तो दूर रहे, किन्तु मुझे वह तीनों लोकोंका भी राज्य यहां प्रिय नहीं है ॥ ३२ ॥ जो बुद्धिमान् मनुष्य निर्मल श्रद्धासे अपने शरीरको नम्रीभूत करके तीनों सन्ध्या कालोंमें अरहन्त भगवान्के आगे श्री पद्मनन्दी सूरिके द्वारा विरचित इस आलोचनारूप प्रकरणको पढ़ता है वह निश्चयसे आनन्दके स्थानभूत उस उत्कृष्ट पदको प्राप्त करता है जिसे योगीश्वर तपश्चरणके द्वारा प्रयत्नपूर्वक चिर कालसे खोजा करते हैं ॥ ३३ ॥ इस प्रकार आलोचना अधिकार समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

---

१ श नरः इमां अर्हतां आलोचनां । २ श नम्रदेहः ।

[१०. सद्बोधचन्द्रोदयः]

548) यज्ज्ञानन्नपि बुद्धिमानपि गुरुः शक्तो न वक्तुं गिरा
प्रोक्तं चेन्न तथापि चेतसि नृणां संमाति चाकाशवत् ।
यत्र स्वानुभवस्थिते ऽपि विरला लक्ष्यं लभन्ते चिरा-
त्तन्मोक्षैकनिबन्धनं विजयते चित्तत्त्वमत्यद्भुतम् ॥ १ ॥

549) नित्यानित्यतया महत्तनुतयानेकैकरूपत्ववत्
चित्तत्त्वं सदसत्तया च गहनं पूर्णं च शून्यं च यत् ।
तज्जीयादखिलश्रुताश्रयशुचिज्ञानप्रभाभासुरो
यस्मिन् वस्तुविचारमार्गचतुरो यः सो ऽपि संमुह्यति ॥ २ ॥

550) सर्वस्मिन्नणिमादिपङ्कजवने रम्ये ऽपि हित्वा रतिं
यो दृष्टिं शुचिमुक्तिहंसवनितां प्रत्यादराद्दत्तवान् ।
चेतोवृत्तिनिरोधलब्धपरमब्रह्मप्रमोदाम्बुभृत्-
सम्यक्साम्यसरोवरस्थितिजुषे हंसाय तस्मै नमः ॥ ३ ॥

तच्चित्तत्त्वम् अत्यद्भुतं मोक्षैकनिबन्धनं विजयते । यत् चैतन्यतत्त्वम् । गिरा वाण्या । वक्तुं कथितुम् । गुरुः बृहस्पतिः । शक्तः समर्थः न । किंलक्षणः गुरुः । जानन्नपि बुद्धिमानपि । च पुनः । चेत्[1] यदि । चैतन्यतत्त्वं प्रोक्तं तथापि नृणां चेतसि न संमाति आकाशवत् । यत्र तत्त्वे स्वानुभवस्थितेऽपि विरला नराः । लक्ष्यं ग्राह्यम् । लभन्ते । चिरात् दीर्घकालेन ॥ १ ॥ तच्चित्तत्त्वं जीयात् । यत्तत्त्वं नित्य-अनित्यतया । च पुनः । महत्तनुतया प्रदेशापेक्षया दीर्घलघुतया । अनेक-एकरूपत्वतः । सत्-असत्तया गहनं पूर्णं शून्यं तत्त्वं वर्तते । यस्मिन् तत्त्वे । सोऽपि संमुह्यति । सः कः । यः भव्यः अखिलश्रुत-आश्रय-आधार-शुचिज्ञानप्रभाभासुरः । पुनः वस्तुविचारमार्गचतुरः । सोऽपि संमुह्यति ॥ २ ॥ तस्मै हंसाय नमः । किंलक्षणाय हंसाय । चेतो-

जिस चेतन तत्त्वको जानता हुआ भी और बुद्धिमान् भी गुरु वाणीके द्वारा कहनेके लिये समर्थ नहीं है, तथा यदि कहा भी जाय तो भी जो आकाशके समान मनुष्योंके हृदयमें समाता नहीं है, तथा जिसके स्वानुभवमें स्थित होनेपर भी विरले ही मनुष्य चिर कालमें लक्ष्य (मोक्ष) को प्राप्त कर पाते हैं; वह मोक्षका अद्वितीय कारणभूत आश्चर्यजनक चेतन तत्त्व जयवन्त होवे ॥ १ ॥ जो चेतन तत्त्व नित्य और अनित्य स्वरूपसे, स्थूल और कृश स्वरूपसे, अनेक और एक स्वरूपसे, सत् और असत् स्वरूपसे, तथा पूर्ण और शून्य स्वरूपसे गहन है; तथा जिसके विषयमें समस्त श्रुतको विषय करनेवाली ऐसी निर्मल ज्ञानरूप ज्योतिसे दैदीप्यमान एवं तत्त्वके विचारमें चतुर ऐसा मनुष्य भी मोहको प्राप्त होता है वह चेतन तत्त्व जीवित रहे ॥ विशेषार्थ–वह चिद्रूप तत्त्व बड़ा दुरूह है, कारण कि भिन्न भिन्न अपेक्षासे उसका स्वरूप अनेक प्रकारका है । यथा–उक्त चिद्रूप तत्त्व यदि द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्य है तो पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा वह अनित्य भी है, यदि वह अनन्त पदार्थोंको विषय करनेसे स्थूल है तो मूर्तिसे रहित होनेके कारण सूक्ष्म भी है, यदि वह सामान्यस्वरूपसे एक है तो विशेषस्वरूपसे अनेक भी है, यदि वह स्वकीय द्रव्यादिचतुष्टयकी अपेक्षा सत् है तो परकीय द्रव्यादिचतुष्टयकी अपेक्षा असत् भी है, तथा यदि वह अनन्तचतुष्टय आदि गुणोंसे परिपूर्ण है तो रूप-रसादिसे रहित होनेके कारण शून्य भी है । इस प्रकार उसका स्वरूप गम्भीर होनेसे कभी कभी समस्त श्रुतके पारगामी भी उसके विषयमें मोहको प्राप्त हो जाते हैं ॥ २ ॥ अणिमा-महिमा आदि आठ ऋद्धियोंरूप रमणीय समस्त कमलवनके रहनेपर भी जो

१ क बुद्धिमानपि चेत् ।

551) सर्वभावविलये विभाति यत् सत्समाधिभरनिर्भरात्मनः ।
चित्स्वरूपमभितः प्रकाशकं शर्मधाम नमताद्भुतं महः ॥ ४ ॥

552) विश्ववस्तुविधृतिक्षमं लसज्जालमन्तपरिवर्जितं गिराम् ।
अस्तमेत्यखिलमेकहेलया यत्र तज्जयति चिन्मयं महः ॥ ५ ॥

553) नो विकल्परहितं चिदात्मकं वस्तु जातु मनसो ऽपि गोचरम् ।
कर्मजाश्रितविकल्परूपिणः का कथा तु वपुषो जडात्मनः ॥ ६ ॥

554) चेतसो न वचसो ऽपि गोचरस्तर्हि नास्ति भविता खपुष्पवत् ।
शङ्कनीयमिदमत्र नो यतः स्वानुभूतिविषयस्ततो ऽस्ति तत् ॥ ७ ॥

वृत्तिनिरोधेन मनोव्यापार[1]निरोधेन लब्धं प्राप्तं यत् परमब्रह्मप्रमोदं तदेव अम्बु जलं तं बिभर्ति[2] इति भृत् । सम्यक् साम्यसमता-सरोवरं तस्य सरोवरस्य[3] स्थितिसेवकाय 'जुषप्रीतिसेवनयो, । यः आत्महंस । शुचिमुक्तिहंसवनितां प्रत्यादरात् दृष्टिं दत्तवान् । किं कृत्वा । सर्वस्मिन् अणिमादिपङ्कजवने रम्येऽपि । रतिम् अनुरागं हित्वा त्यक्त्वा ॥ ३ ॥ चित्स्वरूपं महः नमत[4] । यन्महः सत्समाधिभरेण निर्भरात्मनः सत्समाधिना पूर्णयोगिनः[5] मुनेः । सर्वभावविलये सति विभाति समस्तरागादिपरिणामविनाशे सति शोभते । पुनः किंलक्षणं महः । अभितः सर्वतः । प्रकाशकम् । पुनः किंलक्षणं महः । अद्भुतम् । शर्मधाम सुखनि-धानम् ॥ ४ ॥ तत् चिन्मयं महः जयति । किंलक्षणं महः । विश्ववस्तुविधृतिक्षमं समस्तवस्तुप्रकाशकम् । पुनः लसत् उद्द्योतकम् । पुनः अन्तपरिवर्जितं विनाशरहितम् । यत्र महसि । अखिलं समस्तम् । गिरां वाणीनाम् । जालं समूहम्[6] । एकहेलया अस्तम् एति अस्तं गच्छति ॥ ५ ॥ चिदात्मकं वस्तु जातु[7] मनसः अपि गोचरं न । किंलक्षणं चिदात्मकम् । विकल्परहितम् । कर्मजाश्रितविकल्परूपिणः वपुषः शरीरस्य का कथा । पुनः किंलक्षणस्य शरीरस्य । जडात्मनः ॥ ६ ॥ तत् ज्योतिः । चेतसः गोचरं न । वचसोऽपि गोचरं न । तर्हि भविता न अस्ति । खपुष्पवत् आकाशपुष्पवत् । अत्र आत्मनि । इदं नो

आत्मारूप हंस उसके विषयमें अनुरक्त न होकर आदरसे मुक्तिरूप हंसीके ऊपर ही अपनी दृष्टि रखता है तथा जो चित्तवृत्तिके निरोधसे प्राप्त हुए परब्रह्मस्वरूप आनन्दरूपी जलसे परिपूर्ण ऐसे समीचीन समताभावरूप सरोवरमें निवास करता है उस आत्मारूप हंसके लिये नमस्कार हो ॥ ३ ॥ जो आश्चर्यजनक चित्स्वरूप तेज राग-द्वेषादिरूप विभाव परिणामोंके नष्ट हो जानेपर समीचीन समाधिके भारको धारण करनेवाले योगीके शोभायमान होता है, जो सब पदार्थोंका प्रकाशक है, तथा जो सुखका कारण है उस चित्स्वरूप तेजको नमस्कार करो ॥ ४ ॥ जो चिद्रूप तेज समस्त वस्तुओंको प्रकाशित करनेमें समर्थ है, दैदीप्यमान है, अन्तसे रहित अर्थात् अविनश्वर है, तथा जिसके विषयमें समस्त वचनोंका समूह क्रीड़ा-मात्रसे ही नाशको प्राप्त होता है अर्थात् जो वचनका अविषय है; वह चिद्रूप तेज जयवन्त होवे ॥ ५ ॥ वह चैतन्यरूप तत्त्व सब प्रकारके विकल्पोंसे रहित है और उधर वह मन कर्मजनित राग-द्वेषके आश्रयसे होनेवाले विकल्पस्वरूप है । इसीलिये जब वह चैतन्य तत्त्व उस मनका भी विषय नहीं है तब फिर जड़-स्वरूप (अचेतन) शरीरकी तो बात ही क्या है-- उसका तो विषय वह कभी हो ही नहीं सकता है ॥ ६ ॥ जब वह चैतन्य रूप तेज मनका और वचनका भी विषय नहीं है तब तो वह आकाशकुसुमके समान असत् हो जावेगा, ऐसी भी यहां आशंका नहीं करनी चाहिये; क्योंकि, वह स्वानुभवका विषय है । इसीलिये

---

१ अ क चेतोवृत्तिव्यापार । २ क जलं बिभर्ति । ३ श समता सरोवरस्य । ४ क नमतात् । ५ क पूर्णयोगेन । ६ श 'समूहं' नास्ति । ७ श जात ।

555) नूनमत्र परमात्मनि स्थितं स्वान्तमन्तमुपयाति तद्बहिः ।
तं विहाय सततं भ्रमत्यदः को बिभेति मरणान्न भूतले ॥ ८ ॥

556) तत्त्वमात्मगतमेव निश्चितं यो ऽन्यदेशनिहितं समीक्षते ।
वस्तु मुष्टिविधृतं प्रयत्नतः कानने मृगयते स मूढधीः ॥ ९ ॥

557) तत्परः परमयोगसंपदां पात्रमत्र न पुनर्बहिर्गतः ।
नापरेण चलि[ल]तो यथेप्सितः स्थानलाभविभवो विभाव्यते ॥ १० ॥

558) साधुलक्ष्यमनवाप्य चिन्मये यत्र सुष्ठु गहने तपस्विनः ।
अप्रतीतिभुवमाश्रिता जडा भान्ति नाट्यगतपात्रसंनिभाः ॥ ११ ॥

559) भूरिधर्मयुतमप्यबुद्धिमानन्धहस्तिविधिनावबुध्य यत् ।
भ्राम्यति प्रचुरजन्मसंकटे पातु वस्तदतिशायि चिन्महः ॥ १२ ॥

शङ्कनीयम् । यतः सकाशात् । स्वानुभूतिविषयः गोचरः । ततः कारणात् । खपुष्पवत् नास्ति इति न ॥ ७ ॥ नूनं निश्चितम् । स्वान्तं मनः । अत्र परमात्मनि । स्थितम् । अन्तं विनाशम् उपयाति । तत्तस्मात्कारणात् । तं परमात्मानम् । विहाय त्यक्त्वा । अदः मनः । सततं निरन्तरम् । बहिः बाह्ये । भ्रमति । भूतले मरणात् कः न बिभेति ॥८॥ यः आत्मगतं तत्वम् अन्यदेशनिहितं निश्चितं[1] समीक्षते । सः । मूढधीः मूर्खः । मुष्टिविधृतं वस्तु । कानने वने । प्रयत्नतः । मृगयते अवलोकयति ॥९॥ अत्र परमात्मनि । तत्परः सावधानः[2] भव्यः । परमयोगसंपदां पात्रं भवेत् । पुनः बहिर्गतः न भवेत् । आत्मरहितः आत्मपात्रं न भवेत् । अपरेण यथा च– लि [ल] तः सामान्यमार्गेचलितः । ईप्सितः स्थानलाभविभवः । न विभाव्यते न प्राप्यते ॥ १० ॥ यत्र चिन्मये । तपस्विनः मुनीश्वराः । साधु लक्ष्यं समीचीनस्वभावम् । अनवाप्य अप्राप्य । अप्रतीतिभुवम् आश्रिताः मुनीश्वराः । जडा मूर्खाः । भान्ति । के इव । नाट्यगतपात्रसंनिभाः सदृशाः शोभन्ते ॥ ११ ॥ तत् चिन्महः । वः युष्मान् । पातु रक्षतु । किंलक्षणं महः । अतिशायि अतिशययुक्तम् । यत् चैतन्यतत्त्वम् । भूरिधर्मयुतम् अपि । अबुद्धिमान् मूर्खः । अन्धहस्तिविधिना । आत्मानम् ।

वह सत् ही है, न कि असत् ॥ ७ ॥ यहां परमात्मामें स्थित हुआ मन निश्चयसे मरणको प्राप्त हो जाता है । इसीलिये वह उसे (परमात्माको) छोड़कर निरन्तर बाह्य पदार्थोंमें विचरता है । ठीक है– इस पृथिवी-तलपर मृत्युसे कौन नहीं डरता है ? अर्थात् उससे सब ही डरते हैं ॥ ८ ॥ चैतन्य तत्त्व निश्चयसे अपने आपमें ही स्थित है, उस चैतन्यरूप तत्त्वको जो अन्य स्थानमें स्थित समझता है वह मूर्ख मुट्ठीमें रखी हुई वस्तुको मानों प्रयत्नपूर्वक वनमें खोजता है ॥ ९ ॥ जो भव्य जीव इस परमात्मतत्त्वमें तल्लीन होता है वह समाधिरूप सम्पत्तियोंका पात्र होता है, किन्तु जो बाह्य पदार्थोंमें मुग्ध रहता है वह उनका पात्र नहीं होता है । ठीक है– जो दूसरे मार्गसे चल रहा है उसे इच्छानुसार स्थानकी प्राप्तिरूप सम्पत्ति नहीं प्राप्त हो सकती है ॥ १० ॥ जो तपस्वी अतिशय गहन उस चैतन्यस्वरूप तत्त्वके विषयमें लक्ष्य (वेध्य) को न पाकर अतत्त्वश्रद्धान (मिथ्यात्व) रूप भूमिकाका आश्रय लेते हैं वे मूढबुद्धि नाटकके पात्रोंके समान प्रतीत हैं ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार नाटकके पात्र राजा, रंक एवं साधु आदिके भेषको ग्रहण करके और तदनुसार ही उनके चरित्रको दिखला करके दर्शक जनोंको यद्यपि मुग्ध कर लेते हैं, फिर भी वे यथार्थ राजा आदि नहीं होते । ठीक इसी प्रकारसे जो बाह्य तपश्चरणादि तो करते हैं, किन्तु सम्यग्दर्शनसे रहित होनेके कारण उस चैतन्य तत्त्वका अनुभव नहीं कर पाते हैं वे योगीका भेष ले करके भी वास्तविक योगी नहीं हो सकते ॥ ११ ॥ अज्ञानी प्राणी बहुत धर्मोंवाले जिस चेतन तत्त्वको अन्ध-हस्ती न्यायसे जान करके अनेक जन्म-मरणोंसे भयानक इस संसारमें परिभ्रमण करता है वह अनुपम चेतन तत्त्वरूप तेज आप सबकी रक्षा

१ क श निश्चितं । २ श 'सावधानः' नास्ति ।

560) कर्मबन्धकलितो ऽप्यबन्धनो रागद्वेषमलिनो ऽपि निर्मलः ।
देहवानपि च देहवर्जितश्चित्रमेतदखिलं किलात्मनः ॥ १३ ॥

561) निर्विनाशमपि नाशमाश्रितं शून्यमप्यतिशयेन संभृतम् ।
एकमेव गतमप्यनेकतां तत्त्वमीदृगपि नो विरुध्यते ॥ १४ ॥

562) विस्मृतार्थपरिमार्गणं यथा यस्तथा सहजचेतनाश्रितः ।
स क्रमेण परमेकतां गतः स्वस्वरूपपदमाश्रयेद्ध्रुवम् ॥ १५ ॥

563) यद्यदेव मनसि स्थितं भवेत् तत्तदेव सहसा परित्यजेत् ।
इत्युपाधिपरिहारपूर्णता सा यदा भवति तत्पदं तदा ॥ १६ ॥

अवबुध्य ज्ञात्वा। प्रचुरजन्मसंकटे भ्राम्यति ॥ १२ ॥ किल इति सत्ये। आत्मनः एतत् । चित्रम् अखिलम् आश्चर्यम् । तत्किम् । कर्मबन्धकलितः व्याप्तः अपि आत्मा । अबन्धनः बन्धरहितः । रागद्वेषमलिनः आत्मा अपि[1] निर्मलः । च पुनः । देहवानपि आत्मा देहवर्जितः । एतत्सर्वं चित्रम् ॥ १३ ॥ ईदृक् अपि तत्त्वं नो विरुध्यते । महः निर्विनाशमपि नाशम् आश्रितम् । शून्यम् अपि अतिशयेन संभृतम् । एकमपि आत्मतत्त्वम् अनेकतां गतम् । ईदृग् अपि तत्त्वं नो विरुध्यते ॥ १४ ॥ सः भव्यः । क्रमेण स्वस्वरूपपदम् आश्रयेत् । किंलक्षणः स[3] भव्यः । ध्रुवं परम् एकतां गतः यः भव्यः । तथा[4] सहजचेतनाश्रितः यथा विस्मृतार्थ-परिमार्गणं विस्मृत–अर्थ–अवलोकनं विचारणं वा ॥ १५ ॥ यत् यत् विकल्पं मनसि स्थितं भवेत् तत्तदेव विकल्पं सहसा शीघ्रेण परित्यजेत् । इति उपाधिपरिहारपूर्णता संकल्पविकल्पपरिहारः त्यागः यदा भवति तदा तत्पदं मोक्षपदं भवति ॥ १६ ॥

करे ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार अन्धा मनुष्य हाथीके यथार्थ आकारको न जानकर उसके जिस अवयव (पांव या सूंड आदि) का स्पर्श करता है उसको ही हाथी समझ बैठता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव अनेक धर्म युक्त उस चेतन तत्त्वको यथार्थ स्वरूपसे न जानकर एकान्ततः किसी एक ही धर्मस्वरूप समझ बैठता है । इसी कारण वह जन्म-मरण स्वरूप इस संसारमें ही परिभ्रमण करके दुख सहता है ॥ १२ ॥ यह आत्मा कर्मबन्धसे सहित होकर भी बन्धनसे रहित है, राग-द्वेषसे मलिन होकर भी निर्मल है, तथा शरीरसे सम्बद्ध होकर भी उस शरीरसे रहित है । इस प्रकार यह सब आत्माका स्वरूप आश्चर्यजनक है ॥ विशेषार्थ– अभिप्राय यह है कि शुद्ध निश्चयनयसे इस आत्माके न राग-द्वेष परिणाम हैं, न कर्मोंका बन्ध है, और न शरीर ही है । वह वास्तवमें वीतराग, स्वाधीन एवं अशरीर होकर सिद्धके समान है । परन्तु पर्यायस्वरूपसे वह कर्मबन्धसे सहित होकर राग-द्वेषसे मलिन एवं शरीरसे सहित माना जाता है ॥ १३ ॥ वह आत्मतत्त्व विनाशसे रहित होकर भी नाशको प्राप्त है, शून्य होकर भी अतिशयसे परिपूर्ण है, तथा एक होकर भी अनेकताको प्राप्त है । इस प्रकार नयविवक्षासे ऐसा माननेमें कुछ भी विरोध नहीं आता है ॥ १४ ॥ जिस प्रकार मूर्छित मनुष्य स्वाभाविक चेतनाको पाकर (होशमें आकर) अपनी भूली हुई वस्तुकी खोज करने लगता है उसी प्रकार जो भव्य प्राणी अपने स्वाभाविक चैतन्यका आश्रय लेता है वह क्रमसे एकत्वको प्राप्त होकर अपने स्वाभाविक उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को निश्चित ही प्राप्त कर लेता है ॥ १५ ॥ जो जो विकल्प आकर मनमें स्थित होता है उस उसको शीघ्र ही छोड़ देना चाहिये । इस प्रकार जब वह विकल्पोंका त्याग परिपूर्ण हो जाता है तब वह मोक्षपद भी प्राप्त हो जाता है ॥ १६ ॥

१ क चित्रं आश्चर्यं अखिलं । २ क 'अपि' नास्ति । ३ श 'स' नास्ति । ४ श यथा ।

564) संहृतेषु खमनो ऽनिलेषु यद्भाति तत्त्वममलात्मनः परम्।
तद्गतं परमनिस्तरङ्गतामग्निरुग्र इह जन्मकानने ॥ १७ ॥

565) मुक्त इत्यपि न कार्यमञ्जसा कर्मजालकलितो ऽहमित्यपि।
निर्विकल्पपदवीमुपाश्रयन् संयमी हि लभते परं पदम् ॥ १८ ॥

566) कर्म चाहमिति च द्वये सति द्वैतमेतदिह जन्मकारणम्।
एक इत्यपि मतिः सती न यत्साप्युपाधिरचिता तदङ्गभृत्[2] ॥ १९ ॥

567) संविशुद्धपरमात्मभावना संविशुद्धपदकारणं भवेत्।
सेतरेतरकृते सुवर्णतो लोहतश्च विकृतीस्तदाश्रिते[3] ॥ २० ॥

568) कर्म भिन्नमनिशं स्वतो ऽखिलं पश्यतो विशदबोधचक्षुषा।
तत्कृते ऽपि परमार्थवेदिनो योगिनो न सुखदुःखकल्पना ॥ २१ ॥

569) मानसस्य गतिरस्ति चेन्निरालम्ब एव पथि भास्वतो यथा।
योगिनो दृगवरोधकारकः संनिधिर्न तमसां कदाचन ॥ २२ ॥

खमनोऽनिलेषु[1] इन्द्रियमन-उच्छ्वासनिःश्वासेषु[4]। संहृतेषु संकोचितेषु। यत्। परम् उत्कृष्टम्। अमलात्मनः तत्त्वम्। भाति शोभते। तत्परमनिस्तरङ्गतां गतं विकल्परहितं तत्त्वं विद्धि। तत्तत्त्वम् इह जन्मकानने वने उग्रः अग्निः ॥ १७ ॥ अहं कर्मजालकलितः इत्यपि[5] शोकं योगी न करोति। अञ्जसा सामस्त्येन। अहं कर्मजालरहितः मुक्तः इति हर्षं न कार्यं करणीयम्। संयमी निर्विकल्पपदवीम् उपाश्रयन्। हि यतः[6]। परं पदं लभते प्राप्नोति ॥ १८ ॥ कर्म च पुनः अहम् एतच्चिन्तने द्वये सति। इह लोके। एतत् द्वैतम्। अहमेव कर्म इति बुद्धिः चिन्तनं संसारकारणम्। कर्म एव अहम् इति मतिः सती न। अङ्गभृत् जीवः। तस्य जीवस्य। इति[7] मतिः सापि[8] उपाधिरचिता ॥ १९ ॥ संविशुद्धपरमात्मभावना संविशुद्धपदकारणं भवेत्। सा भावना इतरा अशुद्धा। इतरकृते अशुद्धपदकारणाय भवेत्। लोहतः विकृतिः लोहमयी भवेत्। च पुनः। सुवर्णतः विकृतिः सुवर्णमयी भवेत्। लोहाश्रिता लोहमयी। सुवर्णाश्रिता सुवर्णमयी ॥ २० ॥ विशदबोधचक्षुषा निर्मलज्ञाननेत्रेण[9]। अखिलं समस्तम्। कर्म। अनिशम्। स्वतः आत्मनः सकाशात्। भिन्नं पश्यतः योगिनः मुनेः। सुखदुःखकल्पना न भवेत्। क्व सति। तत्कृतेऽपि तैः रागादिभिः सुखे वा दुःखे वा[10] कृतेऽपि। किंलक्षणस्य मुनेः। परमार्थवेदिनः ॥ २१ ॥ चेद्यदि। योगिनः मुनेः। मानसस्य गतिः निरालम्बे

इन्द्रिय, मन एवं श्वासोच्छ्वासके नष्ट हो जानेपर जो निर्मल आत्माका उत्कृष्ट स्वरूप प्रतिभासित होता है वह अतिशय स्थिरताको प्राप्त होकर यहां जन्म (संसार) रूप वनको जलानेके लिये तीक्ष्ण अग्निके समान होता है ॥ १७ ॥ वास्तवमें 'मैं मुक्त हूं' इस प्रकारका भी विकल्प नहीं करना चाहिये, तथा 'मैं कर्मोंके समूहसे सम्बद्ध हूं' ऐसा भी विकल्प नहीं करना चाहिये। कारण यह है कि संयमी पुरुष निर्विकल्प पदवीको प्राप्त होकर ही निश्चयसे उत्कृष्ट मोक्षपदको प्राप्त करता है ॥ १८ ॥ हे प्राणी! 'कर्म और मैं' इस प्रकार दो पदार्थोंकी कल्पनाके होनेपर जो यहां द्वैतबुद्धि होती है वह संसारका कारण है। तथा 'मैं एक हूं' इस प्रकारका भी विकल्प योग्य नहीं है, क्योंकि, वह भी उपाधिसे निर्मित होनेके कारण संसारका ही कारण होता है ॥ १९ ॥ अतिशय विशुद्ध परमात्मतत्त्वकी जो भावना है वह अतिशय निर्मल मोक्षपदकी कारण होती है। तथा इससे विपरीत जो भावना है वह संसारका कारण होती है। ठीक है— सुवर्णसे जो पर्याय उत्पन्न होती है वह सुवर्णमय तथा लोहसे जो पर्याय उत्पन्न होती है वह लोहमय ही हुआ करती है ॥ २० ॥ समस्त कर्म मुझसे भिन्न हैं, इस प्रकार निरन्तर निर्मल ज्ञानरूप नेत्रसे देखनेवाले एवं यथार्थ स्वरूपके वेत्ता योगीके कर्मकृत सुख-दुखके होनेपर भी उसके उक्त सुख-दुखकी कल्पना नहीं होती है ॥ २१ ॥ यदि योगीके मनकी गति सूर्यके समान निराधार मार्गमें ही हो तो उसके देखनेमें बाधा

---

१ क स्व। २ ब तदङ्गभृतः। ३ क विकृतिस्तदाश्रिता। ४ श मनउस्वासेषु। ५ क यत्। ६ श इति। ७ श जीवः तस्य संबुद्धिः हे जीव इति। ८ श सा उपाधि। ९ क चक्षुषा ज्ञाननेत्रेण। १० श 'वा' नास्ति।

570) रुग्जरादिविकृतिर्न मे ऽञ्जसा सा तनोरहमितः सदा पृथक् ।
मीलिते ऽपि सति खे विकारिता जायते न जलदैर्विकारिभिः ॥ २३ ॥
571) व्याधिनाङ्गमभिभूयते परं तद्गतो ऽपि न पुनश्चिदात्मकः ।
उत्थितेन गृहमेव दह्यते वह्निना न गगनं तदाश्रितम् ॥ २४ ॥
572) बोधरूपमखिलैरुपाधिभिर्वर्जितं किमपि यत्तदेव नः ।
नान्यदल्पमपि तत्त्वमीदृशं मोक्षहेतुरिति योगनिश्चयः ॥ २५ ॥
573) योगतो हि लभते विबन्धनं योगतो ऽपि किल मुच्यते नरः ।
योगवर्त्म विषमं गुरोर्गिरा बोध्यमेतदखिलं मुमुक्षुणा ॥ २६ ॥
574) शुद्धबोधमयमस्ति वस्तु यद् रामणीयकपदं तदेव नः ।
स प्रमाद इह मोहजः क्वचित्कल्प्यते वद परो[रे]ऽपि रम्यता ॥ २७ ॥

पथि मार्गे संचरति गतिरस्ति तदा कदाचन । तमसाम् अज्ञानानाम् । संनिधिर्नैकट्यं न भवेत् । किंलक्षणः तमसां संनिधिः । दृग्-दर्शन-अवरोधकारकः । तत्र दृष्टान्तमाह । यथा भास्वतः सूर्यस्य । मार्गे संचरतः जनस्य अन्धकाराणां नैकट्यं न भवेत् ॥२२॥ रुग्जरादिविकृतिः । अञ्जसा सामस्त्येन । मे मम न । सा विकृतिः । तनोः शरीरस्य अस्ति । इतः शरीरात् । अहं सदा पृथक् भिन्नः । खे आकाशे । विकारिभिः जलदैः विकारकरणशीलैः मेघैः । मीलिते[2]ऽपि एकीभूतेऽपि सति[3] आकाशद्रव्यस्य विकारिता न जायते ॥ २३ ॥ व्याधिना अङ्गम् । परं केवलम् । अभिभूयते पीड्यते । पुनः चिदात्मकः न अभिभूयते । किंलक्षणः चिदात्मकः । तद्गतः तस्मिन् शरीरे गतः प्राप्तः । उत्थितेन [वह्निना] अग्निना । गृहमेव दह्यते । तदाश्रितं[4] गृहाश्रितम् । गगनम् आकाशम् । न दह्यते ॥ २४ ॥ यत्किमपि बोधरूपम् अखिलैः उपाधिभिः वर्जितं तदेव । नः अस्माकम् । तत्त्वम् । अन्यत् अल्पम् अपि न । ईदृशं तत्त्वं मोक्षहेतुः इति योगनिश्चयः ॥ २५ ॥ हि यतः । योगतः नरः विबन्धनं[5] लभते । योगतोऽपि । किल इति सत्ये । नरः मुच्यते । योगवर्त्म विषमम् । मुमुक्षुणा मुनिना । एतत् योगमार्गम् । गुरोः गिरा वाण्या कृत्वा । बोध्यं ज्ञातव्यम् ॥ २६ ॥ यत् वस्तु शुद्धबोधमयमस्ति तदेव । नः अस्माकं रामणीयकपदं रम्यपदम्[6] । इह जगति ।

पहुंचानेवाली अन्धकार (अज्ञान) की समीपता कभी भी नहीं हो सकती है ॥ विशेषार्थ— जिस प्रकार निराधार आकाशमार्गमें गमन करनेवाले सूर्यके रहनेपर अन्धकार किसी प्रकारसे बाधा नहीं पहुंचा सकता है उसी प्रकार समस्त मानसिक विकल्पोंसे रहित आत्मतत्त्वमें संचार करनेवाले योगीके तत्त्वदर्शनमें अज्ञान-अन्धकार भी बाधा नहीं पहुंचा सकता है ॥ २२ ॥ रोग एवं जरा आदि रूप विकार वास्तवमें मेरा नहीं है, वह तो शरीरका विकार है और मैं उस शरीरसे सम्बद्ध होकर भी वस्तुतः उससे सर्वदा भिन्न हूं । ठीक है— विकारको उत्पन्न करनेवाले मेघोंके साथ आकाशका मिलाप होनेपर भी उसमें किसी प्रकारका विकारभाव नहीं उदित होता ॥ २३ ॥ रोग केवल शरीरका अभिभव करता है, किन्तु वह उसमें स्थित होनेपर भी चेतन आत्माका अभिभव नहीं करता । ठीक है— उत्पन्न हुई अग्नि केवल घरको ही जलाती है, किन्तु उसके आश्रयभूत आकाशको नहीं जलाती है ॥ २४ ॥ समस्त उपाधियोंसे रहित जो कुछ भी ज्ञानरूप है वही हमारा स्वरूप है, उससे भिन्न थोड़ा-सा भी तत्त्व हमारा नहीं है; इस प्रकारका योगका निश्चय मोक्षका कारण होता है ॥ २५ ॥ मनुष्य योगके निमित्तसे विशेष बन्धनको प्राप्त करता है, तथा योगके निमित्तसे ही वह उससे मुक्त भी होता है । इस प्रकार योगका मार्ग विषम है । मोक्षाभिलाषी भव्य जीवको इस समस्त योगमार्गका ज्ञान गुरुके उपदेशसे प्राप्त करना चाहिये ॥ २६ ॥ जो शुद्ध ज्ञानस्वरूप वस्तु है वही हमारा रमणीय पद है । इसके विपरीत जो अन्य

---

१ अ श उच्छ्रितेन । २ श विकारिभिर्मेघैः विकारकरणशीलैः जलदैः । संमीलिते । ३ श 'सति' नास्ति । ४ श 'तदाश्रितं' नास्ति । ५ श निबंधनं । ६ श अतोऽग्रे 'रम्यता कल्प्यते' पर्यन्तः पाठः स्खलितः जातः ।

575) आत्मबोधशुचितीर्थमद्भुतं स्नानमत्र कुरुतोत्तमं बुधाः ।
यन्न यात्यपरतीर्थकोटिभिः क्षालयत्यपि मलं तदान्तरम्[1] ॥ २८ ॥

576) चित्समुद्रतटबद्धसेवया जायते किमु न रत्नसंचयः ।
दुःखहेतुरमुतस्तु दुर्गतिः किं न विप्लवमुपैति योगिनः ॥ २९ ॥

577) निश्चयावगमनस्थितित्रयं रत्नसंचितिरियं परात्मनि ।
योगदृष्टिविषयीभवन्नसौ निश्चयेन पुनरेक एव हि ॥ ३० ॥

स मोहजः मोह-उत्पन्नः । प्रमादः । यत्र प्रमादे । क्वचित् समये । अपरेऽपि वस्तुनि रम्यता कल्प्यते[2] सा मोहशक्तिः ॥ २७ ॥ आत्मबोधः आत्मज्ञानम् । शुचितीर्थम् अद्भुतम् उत्तमम् अस्ति । भो बुधाः पण्डिताः । अत्र आत्मतीर्थे । स्नानं कुरुत । यन्मलम् अपरतीर्थकोटिभिः न याति । तन्मलं अन्तरङ्गमलम् । आत्मतीर्थस्नानेन कृत्वा याति ॥ २८ ॥ चित्समुद्रतटबद्धसेवया चैतन्यसमुद्रसेवया कृत्वा । योगिनः रत्नसंचयः किमु न जायते । अपि तु दर्शनादिरत्नसंचयैः जायते । तु पुनः । अमुतः दर्शनादिरत्नसंचयात्[4] । दुर्गतिः । विप्लवं विनाशम् । किं न उपैति । अपि तु विनाशम् उपैति । किंलक्षणा दुर्गतिः । दुःखहेतुः ॥ २९ ॥ परात्मनि विषये निश्चय-अवगमन-स्थितिदर्शनज्ञानचारित्रत्रयं रत्नसंचितिः इयं कथ्यते । पुनः । असौ रत्नसंचितिः[3] ।

किसी बाह्य जड वस्तुमें भी रमणीयताकी कल्पना की जाती है वह केवल मोहजनित प्रमाद है ॥ २७ ॥ आत्मज्ञानरूप पवित्र तीर्थ आश्चर्यजनक है । हे विद्वानो ! आप इसमें उत्तम रीतिसे स्नान करें । जो अभ्यन्तर मल दूसरे करोड़ों तीर्थोंसे भी नहीं जाता है उसे भी यह तीर्थ धो डालता है ॥ २८ ॥ चैतन्य-रूप समुद्रके तटसे सम्बन्धित सेवाके द्वारा क्या रत्नोंका संचय नहीं होता है ? अवश्य होता है । तथा उससे दुखकी कारणीभूत योगीकी दुर्गति क्या नाशको नहीं प्राप्त होती है ? अर्थात् अवश्य ही वह नाशको प्राप्त होती है ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार समुद्रके तटपर रहनेवाले मनुष्यके पास कुछ बहुमूल्य रत्नोंका संचय हो जाता है तथा इससे उसकी दुर्गति (निर्धनता) नष्ट हो जाती है । उसी प्रकार चैतन्य-रूप समुद्रके तटकी आराधना करनेवाले योगीके भी अमूल्य रत्नों (सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र आदि) का संचय हो जाता है और इससे उसकी दुर्गति (नारक पर्याय आदि) भी नष्ट हो जाती है । इस प्रकार उसे नारकादि पर्यायजनित दुखके नष्ट हो जानेसे अपूर्व शान्तिका लाभ होता है ॥२९॥ परमात्माके विषयमें जो निश्चय, ज्ञान और स्थिरता होती है; इन तीनोंका नाम ही रत्नसंचय है । वह परमात्मा योगरूप नेत्रका विषय है । निश्चिय नयकी अपेक्षा वह रत्नत्रयस्वरूप आत्मा एक ही है, उसमें सम्यग्दर्शनादिका भेद भी दृष्टिगोचर नहीं होता ॥ विशेषार्थ– सम्यग्दर्शनादिके स्वरूपका विचार निश्चय और व्यवहारकी अपेक्षा दो प्रकारसे किया जाता है । यथा– जीवादि सात तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान करना, यह व्यवहार सम्यग्दर्शन है । उक्त जीवादि तत्त्वोंका जो यथार्थ ज्ञान होता है, इसे व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहते हैं । पापरूप क्रियाओंके परित्यागको व्यवहार सम्यक्चारित्र कहा जाता है । यह व्यवहारकी अपेक्षा उनके स्वरूपका विचार हुआ । निश्चय नयकी अपेक्षा उनका स्वरूप इस प्रकार है– शुद्ध आत्माके विषयमें रुचि उत्पन्न होना निश्चय सम्य-ग्दर्शन, उसी आत्माके स्वरूपका जानना निश्चय सम्यग्ज्ञान, और उक्त आत्मामें ही लीन होना यह निश्चय चारित्र कहा जाता है। इनमें व्यवहार जहां तक निश्चयका साधक है वहां तक ही वह उपादेय है, वस्तुतः वह असत्यार्थ होनेसे हेय ही है । उपादेय केवल निश्चय ही है, क्योंकि, वह यथार्थ है । यहां निश्चय रत्नत्रयके

१ क तदन्तरं । २ अ श कल्पयेत् । ३ श रत्नत्रयसंचयो । ४ श रत्नत्रयसंचयात् ।

578) प्रेरिताः श्रुतगुणेन शेमुषीकार्मुकेण शरवद् दृगादयः।
बाह्यवेध्यविषये कृतश्रमाश्चिद्रणे प्रहृतकर्मशात्रवः ॥ ३१ ॥

579) चित्तवाच्यकरणीयवर्जिता निश्चयेन मुनिवृत्तिरीदृशी।
अन्यथा भवति कर्मगौरवात् सा प्रमादपदवीमुपेयुषः ॥ ३२ ॥

580) सत्समाधिशशलाञ्छनोदयादुल्लसत्यमलबोधवारिधिः।
योगिनो ऽणुसदृशं विभाव्यते यत्र मग्नमखिलं चराचरम् ॥ ३३ ॥

581) कर्मशुष्कतृणराशिरुन्नतो ऽप्युद्गते शुचिसमाधिमारुतात्।
भेदबोधदहने हृदि स्थिते योगिनो झटिति[2] भस्मसाद्भवेत् ॥ ३४ ॥

582) चित्तमत्तकरिणा न चेद्धतो दुष्टबोधवनवह्निनाथवा।
योगकल्पतरुरेष निश्चितं वाञ्छितं फलति मोक्षसत्फलम् ॥ ३५ ॥

योगदृष्टिविषयी[3] भवन् निश्चयेन एकः आत्मा ॥ ३० ॥ शेमुषीकार्मुकेण श्रेष्ठबुद्धिधनुषा। श्रुतगुणेन श्रुतपणचेन (?) दर्शनज्ञानचारित्रशराः। प्रेरिताः। क्व। बाह्यवेध्यविषये परपदार्थे[4]। चिद्रणे चैतन्यरणे। कृतश्रमाः प्रहृतकर्मशत्रवः जाताः कर्मशत्रवः हताः ॥ ३१ ॥ निश्चयेन मुनिवृत्तिरीदृशी। किंलक्षणा। चित्तवाच्यकरणीयवर्जिता मनो-इन्द्रिय-रहिताः। प्रमादपदवीम् उपेयुषः प्राप्तवतः। मुनेः कर्मगौरवात्। सा वृत्तिः अन्यथा भवति सा मुनिवृत्तिः विपरीता भवेत् ॥ ३२ ॥ सत्समाधिशशलाञ्छनोदयात् उपशमचन्द्रोदयात्। योगिनः मुनेः। अमलबोधवारिधिः बोधसमुद्रः। उल्लसति। यत्र ज्ञानसमुद्रे। मग्नम् अखिलं चराचरम् अणुसदृशं विभाव्यते ॥ ३३ ॥ योगिनः कर्मशुष्कतृणराशिः। झटिति[5] शीघ्रेण। भस्मसात् भस्मीभावम्[6]। भवेत्। क्व सति। शुचिसमाधिमारुतात्। उद्गतेऽपि भेदबोधदहने हृदि स्थिते सति। किंलक्षणा तृणराशिः। उन्नतः ॥ ३४ ॥ [7]योगकल्पतरुः वृक्षः। निश्चितं वाञ्छितं मोक्षफलं फलति। चेद्यदि। चित्तमत्तकरिणा मनोहस्तिना। न हतः न पीडितः। अथ। चेद्यदि। दुष्टबोध-कुज्ञान-वह्निना-अग्निना न भस्मीकृतः। तदा वाञ्छितं फलति ॥ ३५ ॥

स्वरूपका ही दिग्दर्शन कराया गया है। वह निर्मल ध्यानकी अपेक्षा रखता है ॥ ३० ॥ आगमरूप डोरीसे संयुक्त ऐसे बुद्धिरूप धनुषसे प्रेरित सम्यग्दर्शनादिरूप बाण चैतन्यरूप रणके भीतर बाह्य पदार्थरूप लक्ष्यके विषयमें परिश्रम करके कर्मरूप शत्रुओंको नष्ट कर देते हैं ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार रणभूमिमें डोरीसे सुसज्जित धनुषके द्वारा छोड़े गये बाण लक्ष्यभूत शत्रुओंको वेधकर उन्हें नष्ट कर देते हैं उसी प्रकार यहां चैतन्यरूपी रणभूमिमें आगमाभ्यासरूपी डोरीसे बुद्धिरूपी धनुषको सुसज्जित कर उसकी प्रेरणासे प्राप्त हुए सम्यग्दर्शनादिरूपी बाणोंके द्वारा कर्मरूपी शत्रु भी नष्ट कर दिये जाते हैं ॥ ३१ ॥ निश्चयसे मुनिकी वृत्ति मन, वचन एवं कायकी प्रवृत्तिसे रहित ऐसी होती है। तात्पर्य यह कि वह मनोगुप्ति, वचनगुप्ति एवं कायगुप्तिसे सहित होती है। परन्तु प्रमाद अवस्थाको प्राप्त हुए मुनिके कर्मकी अधिकताके कारण वह (मुनिवृत्ति) इससे विपरीत अर्थात् उपर्युक्त तीन गुप्तियोंसे रहित होती है ॥ ३२ ॥ समीचीन समाधिरूप चन्द्रमाके उदयसे हर्षित होकर योगीका निर्मल ज्ञानरूप समुद्र वृद्धिको प्राप्त होता है, जिसमें डूबा हुआ यह समस्त चराचर विश्व अणुके समान प्रतिभासित होता है ॥ ३३ ॥ पवित्र समाधिरूप वायुके द्वारा योगीके हृदयमें स्थित भेदज्ञानरूपी अग्निके प्रज्वलित होनेपर उसमें ऊंचा भी कर्मरूपी सूखे तृणोंका ढेर शीघ्र ही भस्म हो जाता है ॥ ३४ ॥ यदि यह योगरूपी कल्पवृक्ष उन्मत्त हाथीके द्वारा

---

१ क वेद्य। २ क ब झगिति। ३ श दृष्टिः। ४ क विषये पदार्थे। ५ क झगिति। ६ क भस्मभावं। ७ क चेद्यदि। चित्तमत्तकरिणा मनोहस्तिना। न हतः न पीडितः। अथवा। चेद्यदि। दुष्टबोध-कुज्ञानवह्निना अग्निना न भस्मीकृतः। तदा एषः योगकल्पतरुः वृक्षः निश्चितं वांछितं मोक्षफलं फलति ॥ ३५ ॥

583) तावदेव मतिवाहिनी सदा धावति श्रुतगता पुरः पुरः ।
यावदत्र परमात्मसंविदा भिद्यते न हृदयं मनीषिणः ॥ ३६ ॥
584) यः कषायपवनैरचुम्बितो बोधवह्निरमलोल्लसद्दशः[1] ।
किं न मोहतिमिरं विखण्डयन्[2] भासते जगति चित्प्रदीपकः ॥ ३७ ॥
585) बाह्यशास्त्रगहने विहारिणी या मतिर्बहुविकल्पधारिणी ।
चित्स्वरूपकुलसद्मनिर्गता सा सती न सदृशी कुयोषिता ॥ ३८ ॥
586) यस्तु हेयमितरच्च भावयन्नाद्यतो हि परमाप्तुमीहते ।
तस्य बुद्धिरुपदेशतो गुरोराश्रयेत्स्वपदमेव निश्चलम् ॥ ३९ ॥
587) सुप्त एष बहुमोहनिद्रया लङ्घितः स्वमबलादि पश्यति ।
जाग्रतोच्चवचसा गुरोर्गतं संगतं सकलमेव दृश्यते ॥ ४० ॥

अत्र लोके । मनीषिणः मतिवाहिनी पण्डितस्य बुद्धिनदी । तावदेव तावत्कालम् । श्रुतगता सिद्धान्ते प्राप्ता । पुरः पुरः अग्रे अग्रे । सदा धावति । यावत्कालम् । परमात्मसंविदा परमात्मज्ञानेन । हृदयं न भिद्यते ॥ ३६ ॥ चित्प्रदीपकः मोहतिमिरं विखण्डयन्[2] जगति विषये किं न भासते । अपि तु भासते । यः चैतन्यदीपकः कषायपवनैः अचुम्बितः । किंलक्षणः चैतन्यदीपकः । बोधवह्निः । अमल-निर्मल-उल्लसद्दशः अचलयोगवर्ति[4]ः ॥ ३७ ॥ या मतिः बाह्यशास्त्रगहने वने । विहारिणी स्वेच्छाचरणशीला । किंलक्षणा मतिः । बहुविकल्पधारिणी । पुनः चित्स्वरूपकुलसद्मनिर्गता । सा मतिः सती साध्वी न । कुयोषिता सदृशी सा मतिः ॥ ३८ ॥ यः भव्यः । हेयं त्याज्यम्[5] । तु पुनः । इतरत् अहेयम् उपादेयम् । द्वयम् । भावयन् विचारयन् । आद्यतः हेयात् । परम् उपादेयम् । आप्तुं प्राप्तुम्[6] । ईहते वाञ्छति । तस्य बुद्धिः गुरोः उपदेशतः[7] । निश्चलं स्वपदम् आश्रयेत् ॥ ३९ ॥ एष जीवः सुप्तः बहुमोहनिद्रया लङ्घितः । अबलादि स्वं पश्यति कलत्रादि आत्मीयं पश्यति । गुरोः उच्चवचसा[8] उच्चवचनेन । जाग्रता

अथवा मिथ्याज्ञानरूपी अग्निके द्वारा नष्ट नहीं किया जाता है तो वह निश्चयसे अभीष्ट मोक्षरूपी उत्तम फलको उत्पन्न करता है ॥ ३५ ॥ यहां विद्वान् साधुकी बुद्धिरूपी नदी आगममें स्थित होकर निरन्तर तब तक ही आगे आगे दौड़ती है जब तक कि उसका हृदय उत्कृष्ट आत्मतत्त्वके ज्ञानसे भेदा नहीं जाता ॥ विशेषार्थ– इसका अभिप्राय यह है कि विद्वान् साधुके लिये जब उत्कृष्ट आत्माका स्वरूप समझमें आ जाता है तब उसे श्रुतके परिशीलनकी विशेष आवश्यकता नहीं रहती । कारण यह कि आत्मतत्त्वका परिज्ञान प्राप्त करना यही तो आगमके अभ्यासका फल है, सो वह उसे प्राप्त हो ही चुका है । अब उसके लिये मोक्षपद कुछ दूर नहीं है ॥ ३६ ॥ जो चैतन्यरूपी दीपक कषायरूपी वायुसे नहीं छुआ गया है, ज्ञानरूपी अग्निसे सहित है, तथा प्रकाशमान निर्मल दशाओं (द्रव्यपर्यायों) रूप दशा (बत्ती) से सुशोभित है, वह क्या संसारमें मोहरूपी अन्धकारको नष्ट करता हुआ नहीं प्रतिभासित होता है ? अर्थात् अवश्य ही प्रतिभासित होता है ॥ ३७ ॥ जो बुद्धिरूपी स्त्री बाह्य शास्त्ररूपी वनमें घूमनेवाली है, बहुतसे विकल्पोंको धारण करती है, तथा चैतन्यरूपी कुलीन घरसे निकल चुकी है; वह पतिव्रताके समान समीचीन नहीं है, किन्तु दुराचारिणी स्त्रीके समान है ॥ ३८ ॥ जो भव्य जीव हेय और उपादेयका विचार करता हुआ पहले (हेय) की अपेक्षा दूसरे (उपादेय) को प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है उसकी बुद्धि गुरुके उपदेशसे स्थिर आत्मपद (मोक्ष) को ही प्राप्त करती है ॥ ३९ ॥ मोहरूपी गाढ़ निद्राके वशीभूत होकर सोया हुआ यह प्राणी स्त्री-पुत्रादि बाह्य वस्तुओंको अपनी समझता है । वह जब गुरुके ऊंचे वचन अर्थात् उपदेशसे जाग उठता है तब संयोगको प्राप्त हुए उन

---

१ अ क सदृशः । २ अ विषंडयन्, क विडम्बयन् । ३ च सुप्त एतदिह मोह० । ४ अ वर्ति, क वर्तिनः । ५ क 'त्याज्यं' नास्ति । ६ क 'प्राप्तुं' नास्ति । ७ क उपदेशात् । ८ श गुरोर्वचसा ।

588) जल्पितेन बहुना किमाश्रयेद्
बुद्धिमानमलयोगसिद्धये ।
साम्यमेव सकलैरुपाधिभिः
कर्मजालजनितैर्विवर्जितम् ॥ ४१ ॥

589) नाममात्रकथया परात्मनो
भूरिजन्मकृतपापसंक्षयः ।
बोधवृत्तरुचयस्तु तद्गताः
कुर्वते हि जगतां पतिं नरम् ॥ ४२ ॥

590) चित्स्वरूपपदलीनमानसो
यः सदा स किल योगिनायकः[1] ।
जीवराशिरखिलश्चिदात्मको
दर्शनीय इति चात्मसंनिभः ॥ ४३ ॥

591) अन्तरङ्गबहिरङ्गयोगतः
कार्यसिद्धिरखिलेति योगिना ।
आसितव्यमनिशं प्रयत्नतः
स्वं परं सदृशमेव पश्यता ॥ ४४ ॥

पुरुषेण सकलं संगतं मिलितं वस्तु । गतं विनश्वरम् । दृश्यते ॥४०॥ बहुना जल्पितेन किम् । बुद्धिमान् अमलयोगसिद्धये साम्यमेव आश्रयेत् । किंलक्षणं साम्यम् । सकलैः कर्मजालजनितैः उपाधिभिः । वर्जितं रहितम् ॥ ४१ ॥ परमात्मनः नाममात्रकथया कृत्वा भूरिजन्मकृतपापसंक्षयः विनाशः भवति । बोधवृत्तरुचयः दर्शनज्ञानचारित्राणि । तद्गताः तस्मिन्नात्मनि गताः । नरं जगतां पतिं कुर्वते ॥ ४२ ॥ यः मुनिः । सदा चित्स्वरूपपदलीनमानसः । किल इति सत्ये । स योगिनायकः भवेत् । च पुनः । अखिलः जीवराशिः चिदात्मकः आत्मसंनिभः । दर्शनीयः अवलोकनीयः ॥ ४३ ॥ अन्तरङ्गबहिरङ्गयोगतः अखिला कार्यसिद्धिः अस्ति इति हेतोः । योगिना मुनिना । अनिशम् । प्रयत्नतः । आसितव्यं स्थातव्यम् । किंलक्षणेन मुनिना । स्वं परम् । सदृशं

सब ही बाह्य पदार्थोंको नश्वर समझने लगता है ॥ ४० ॥ बहुत कहनेसे क्या ? बुद्धिमान् मनुष्यको निर्मल योगकी सिद्धिके लिये कर्मसमूहसे उत्पन्न हुई समस्त उपाधियोंसे रहित एक मात्र समताभावका ही आश्रय करना चाहिये ॥ ४१ ॥ परमात्माके नाम मात्रकी कथासे ही अनेक जन्मोंमें संचित किये हुए पापोंका नाश होता है तथा उक्त परमात्मामें स्थित ज्ञान, चारित्र और सम्यग्दर्शन मनुष्यको जगत्का अधीश्वर बना देता है ॥ ४२ ॥ जिस मुनिका मन चैतन्य स्वरूपमें लीन होता है वह योगियोंमें श्रेष्ठ हो जाता है । चूंकि समस्त जीवराशि चैतन्यस्वरूप है अतएव उसे अपने समान ही देखना चाहिये ॥ ४३ ॥ सब कार्योंकी सिद्धि अन्तरंग और बहिरंग योगसे होती है । इसलिये योगीको निरन्तर प्रयत्नपूर्वक स्व और परको समदृष्टिसे देखते हुए रहना चाहिये ॥ विशेषार्थ—योग शब्दके दो अर्थ हैं—मन, वचन एवं कायकी प्रवृत्ति और समाधि । इनमें मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिरूप जो योग है वह दो प्रकारका है—शुभ और अशुभ । इनमें शुभ योगसे पुण्य तथा अशुभ योगसे पापका आस्रव होता है और तदनुसार ही जीवको सांसारिक सुख व दुखकी प्राप्ति होती है । यह दोनों ही प्रकारका योग शरीरसे सम्बद्ध होनेके कारण बहिरंग कहा जाता है । अन्तरंग योग समाधि है । इससे जीवको अविनश्वर पदकी प्राप्ति होती है । यहां

१ ब-प्रतिपाठोऽयम्, अ क योगनायकः ।

592) लोक एष बहुभावभावितः
स्वार्जितेन विविधेन कर्मणा ।
पश्यतो ऽस्य विकृतीर्जडात्मनः
क्षोभमेति हृदयं न योगिनः ॥ ४५ ॥

593) सुप्त एष बहुमोहनिद्रया
दीर्घकालमविरामया जनः ।
शास्त्रमेतदधिगम्य सांप्रतं
सुप्रबोध इह जायतामिति ॥ ४६ ॥

594) चित्स्वरूपगगने जयत्यसा-
वेकदेशविषयापि रम्यता ।
ईषदुद्गतवचःकरैः परैः[२]
पद्मनन्दिवदनेन्दुना कृता ॥ ४७ ॥

595) त्यक्ताशेषपरिग्रहः शमधनो गुप्तित्रयालंकृतः
शुद्धात्मानमुपाश्रितो भवति यो योगी निराशस्ततः ।
मोक्षो हस्तगतो ऽस्य निर्मलमतेरेतावतैव ध्रुवं
प्रत्यूहं कुरुते स्वभावविषमो मोहो न वैरी यदि ॥ ४८ ॥

समानम् । पश्यता ॥ ४४ ॥ एष लोकः स्वार्जितेन । विविधेन नानारूपेण । कर्मणा । बहुभावभावितः संकल्पविकल्पयुक्तः । अस्य जडात्मनः लोकस्य । विकृतीः विकारान् । पश्यतः । योगिनः मुनेः । हृदयं क्षोभं न एति व्याकुलं न गच्छति ॥ ४५ ॥ एष जनः दीर्घकालं बहुमोहनिद्रया सुप्तः । किंलक्षणया निद्रया । अविरामया अन्तररहितया । इति हेतोः । इह जगति विषये । सांप्रतम् एतत् शास्त्रम् । अधिगम्य ज्ञात्वा । भो लोक । सुप्रबोधः जायतां जागरूकः जायताम् ॥ ४६ ॥ चित्स्वरूपगगने चैतन्य-आकाशे । असौ रम्यता जयति । किंलक्षणा रम्यता । एकदेशविषया । पद्मनन्दिवदनेन्दुना वदनचन्द्रेण । ईषत्-उद्गतवचः करैः परैः कृता ॥ ४७ ॥ यः योगी त्यक्ताशेषपरिग्रहः भवति । पुनः किंलक्षणः योगी । शमधनः क्षमाधनः । ततः कारणात् । गुप्तित्रयालंकृतः । पुनः किंलक्षणः योगी । शुद्धात्मानम् उपाश्रितः । निराशः आशारहितः । अस्य निर्मलमतेः योगिनः । एतावता हेतुना । ध्रुवं निश्चितम् । मोक्षः हस्तगतः प्राप्तः भवेत् । यदि चेत् मोहः वैरी स्वभावविषमः । प्रत्यूहं विघ्नम् ।

ग्रन्थकर्ताने स्व और परमें समबुद्धि रखते हुए योगीको इस अन्तरंग योगमें स्थित रहनेकी ओर संकेत किया है ॥ ४४ ॥ यह जनसमुदाय अपने कमाये हुए अनेक प्रकारके कर्मके अनुसार बहुत अवस्थाओंको प्राप्त होता है । उस अज्ञानीके विकारोंको देखकर योगीका मन क्षोभको नहीं प्राप्त होता ॥ ४५ ॥ यह प्राणी निरन्तर रहनेवाली मोहरूप गाढ़ निद्रासे बहुत काल तक सोया है । अब उसे यहां इस शास्त्रका अभ्यास करके जागृत (सम्यग्ज्ञानी) हो जाना चाहिये ॥ ४६ ॥ पद्मनन्दी मुनिके मुखरूप चन्द्रमाके द्वारा किंचित् उदयको प्राप्त हुई उत्कृष्ट वचनरूप किरणोंसे की गई वह रमणीयता एक देशको विषय करती हुई भी चैतन्यरूप आकाशमें जयवन्त होवे ॥ ४७ ॥ जिस योगीने समस्त परिग्रहका परित्याग कर दिया है, जो शान्तिरूप सम्पत्तिसे सहित है, तीन गुप्तियोंसे अलंकृत है, तथा शुद्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त करके आशा (इच्छा या तृष्णा) से रहित हो चुका है उसके मार्गमें स्वभावसे दुष्ट वह मोहरूपी शत्रु यदि विघ्न नहीं करता है तो इतने मात्रसे ही मोक्ष इस निर्मलबुद्धि योगीके

१ ब विश्वरूप । २ क श करैः करैः । ३ क वचःकरैः किरणैः कृता ।

596) **त्रैलोक्ये किमिहास्ति को ऽपि स सुरः किं वा नरः किं फणी**
यस्माद्भीर्मम यामि कातरतया यस्याश्रयं चापदि ।
उक्तं यत्परमेश्वरेण गुरुणा निःशेषवाञ्छाभयं
भ्रान्तिक्लेशहरं हृदि स्फुरति चेत्तत्त्वमत्यद्भुतम् ॥ ४९ ॥

597) **तत्त्वज्ञानसुधार्णवं लहरिभिर्दूरं समुल्लासयन्**
तृष्णापत्रविचित्रचित्तकमले संकोचमुद्रां दधत् ।
सद्विद्याश्रितभव्यकैरवकुले कुर्वन् विकासश्रियं
योगीन्द्रोदयभूधरे विजयते सद्बोधचन्द्रोदयः ॥ ५० ॥

न कुरुते ॥ ४८ ॥ यत्तत्त्वम् । परमेश्वरेण गुरुणा उक्तम् । चेत् यदि । तत्त्वम् अत्यद्भुतं मे हृदि स्फुरति तदा इह त्रैलोक्ये स कोऽपि । सुरः देवः । किम् अस्ति । वा अथवा । स नरः किम् अस्ति । अथ सः फणी शेषनागः । किम् अस्ति । यस्मात् मम भीः भयं भवति । च पुनः । आपदि सत्यां कातरतया यस्य आश्रयं यामि । किंलक्षणं तत्त्वम् । निःशेषवाञ्छाभयभ्रान्ति-क्लेशहरम् ॥ ४९ ॥ योगीन्द्रोदयभूधरे योगीन्द्र एव उदयभूधरः उदयाचलः तस्मिन् योगीन्द्रोदयभूधरे । सद्बोधचन्द्रोदयः विजयते । चन्द्रोदयः किं कुर्वन् । तत्त्वज्ञानसुधार्णवं तत्त्वज्ञानसुधासमुद्रम्[2] । लहरिभिः । दूरम् अतिशयेन । समुल्लासयन् आनन्दयन् । पुनः तृष्णापत्रविचित्रचित्तकमले संकोचमुद्रां दधत् । सद्विद्याश्रितभव्यकैरवकुले विकाशश्रियं कुर्वन् विजयते ॥ ५० ॥ इति सद्बोधचन्द्रोदयः ॥ १० ॥

हाथमें ही स्थित समझना चाहिये ॥ ४८ ॥ महान् परमेश्वरके द्वारा कहा हुआ जो चैतन्य तत्त्व समस्त इच्छा, भय, भ्रान्ति और क्लेशको दूर करता है वह आश्चर्यजनक चैतन्य तत्त्व यदि हृदयमें प्रकाशमान है तो फिर तीनों लोकोंमें यहां क्या ऐसा कोई देव है, ऐसा कोई मनुष्य है, अथवा ऐसा कोई सर्प है; जिससे मुझे भय उत्पन्न हो अथवा आपत्तिके आनेपर मैं कातर होकर जिसकी शरणमें जाऊं? अर्थात् उपर्युक्त चैतन्य स्वरूपके हृदयमें स्थित रहनेपर कभी किसीसे भय नहीं हो सकता है और इसीलिये किसीकी शरणमें भी जानेकी आवश्यकता नहीं होती है ॥ ४९ ॥ जो सद्‌बोधचन्द्रोदय (सम्यग्ज्ञानरूपी चन्द्रका उदय) तत्त्वज्ञानरूपी अमृतके समुद्रको तत्त्वविचाररूप लहरोंके द्वारा दूरसे ही प्रगट करता है, तृष्णारूपी पत्तोंसे विचित्र ऐसे चित्तरूपी कमलको संकुचित करता है, तथा सम्यग्ज्ञानके आश्रित हुए भव्यजीवोंरूप कुमुदोंके समूहको विकसित करता है; वह सद्‌बोधचन्द्रोदय (यह प्रकरण) मुनीन्द्ररूपी उदयाचल पर्वतपर जयवन्त होता है ॥ ५० ॥ इस प्रकार सद्बोधचन्द्रोदय अधिकार समाप्त हुआ ॥ १० ॥

१ श चेत्तित्तत्त्व । २ क तत्त्वज्ञानसमुद्रम् ।

[११. निश्चयपञ्चाशत्]

598) दुर्लक्ष्यं जयति परं ज्योतिर्वाचां गणः कवीन्द्राणाम् ।
जलमिव वज्रे यस्मिन्नलब्धमध्यो बहिर्लुठति ॥ १ ॥

599) मनसो ऽचिन्त्यं वाचामगोचरं यन्महस्तनोर्भिन्नम् ।
स्वानुभवमात्रगम्यं चिद्रूपममूर्तमव्याद्वः ॥ २ ॥

600) वपुरादिपरित्यक्ते मज्जत्यानन्दसागरे मनसि ।
प्रतिभाति यत्तदेकं जयति परं चिन्मयं ज्योतिः ॥ ३ ॥

601) स जयति गुरुर्गरीयान् यस्यामलवचनरश्मिभिर्झगिति[1] ।
नश्यति तन्मोहतमो यदविषयो दिनकरादीनाम् ॥ ४ ॥

602) आस्तां जरादिदुःखं सुखमपि विषयोद्भवं सतां दुःखम् ।
तैर्मन्यते सुखं यत्तन्मुक्तौ सा च दुःसाध्या ॥ ५ ॥

603) श्रुतपरिचितानुभूतं सर्वं सर्वस्य जन्मने सुचिरम् ।
न तु मुक्तये ऽत्र सुलभा शुद्धात्मज्योतिरुपलब्धिः ॥ ६ ॥

तत्[2] परं दुर्लक्ष्यं ज्योतिर्जयति । यस्मिन् ज्योतिषि । कवीन्द्राणां वाचां गणः समूहः । बहिः बाह्ये लुठति । किंलक्षणः वाचां गणः । अलब्धमध्यः । कस्मिन् कमिव । वज्रे जलमिव । बहिर्लुठति ॥ १ ॥ चिद्रूपं महः । वः युष्मान् । अव्यात् रक्षतु । यन्महः । मनसः अचिन्त्यम् अगम्यम् । यन्महः वाचाम् अगोचरं तनोर्भिन्नम् । यन्महः स्वानुभवमात्रगम्यम् । यन्महः अमूर्तम्[3] । तज्ज्योतिः रक्षतु ॥ २ ॥ तदेकं चिन्मयं परं ज्योतिः जयति[4] । यत् ज्योतिः प्रतिभाति आनन्दसागरे मनसि मज्जति । किंलक्षणे आनन्दसागरे । वपुरादिपरित्यक्ते शरीरादिरहिते ॥ ३ ॥ सः गरीयान् गरिष्ठः गुरुः जयति यस्य गुरोः अमलवचन-रश्मिभिः तन्मोहतमः झगिति नश्यति यन्मोहतमः दिनकरादीनां अविषयः अगोचरः ॥ ४ ॥ जरादिदुःखम् आस्तां दूरे तिष्ठतु । विषयोद्भवम् अपि सुखम् । सतां साधूनाम् । दुःखम् । तैः साधुभिः यत्सुखम् । अभिलष्यते तत्सुखम् । मुक्तौ मोक्षे । मन्यते । च पुनः । सा मुक्तिः । दुःसाध्या ॥ ५ ॥ अत्र संसारे । सर्वस्य जीवस्य । सर्वं वस्तु सर्वं विषयादिवस्तु । सुचिरं चिरकालम् ।

जिस प्रकार जल वज्रके मध्यमें प्रवेश न पाकर बाहिर ही लुढक जाता है उसी प्रकार जिस उत्कृष्ट ज्योतिके मध्यमें महाकवियोंके वचनोंका समूह भी प्रवेश न पाकर बाहिर ही रह जाता है, अर्थात् जिसका वर्णन महाकवि भी अपनी वाणीके द्वारा नहीं कर सकते हैं, तथा जो बहुत कठिनतासे देखी जा सकती है वह उत्कृष्ट ज्योति जयवन्त होवे ॥ १ ॥ जिस चैतन्यरूप तेजके विषयमें मनसे कुछ विचार नहीं किया जा सकता है, वचनसे कुछ कहा नहीं जा सकता है, तथा जो शरीरसे भिन्न, अनुभव मात्रसे गम्य एवं अमूर्त है; वह चैतन्यरूप तेज आप लोगोंकी रक्षा करे ॥ २ ॥ मनके बाह्य शरीरादिकी ओरसे हटकर आनन्दरूप समुद्रमें डूब जानेपर जो ज्योति प्रतिभासित होती है वह उत्कृष्ट चैतन्यस्वरूप ज्योति जयवन्त होवे ॥ ३ ॥ जो अज्ञानरूप अन्धकार सूर्यादिकोंके द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता है वह जिस गुरुकी निर्मल वचनरूप किरणोंके द्वारा शीघ्र ही नष्ट हो जाता है वह श्रेष्ठ गुरु जयवन्त होवे ॥ ४ ॥ वृद्धत्व आदिके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाला दुख तो दूर ही रहे, किन्तु विषयभोगोंसे उत्पन्न हुआ सुख भी साधु जनोंको दुखरूप ही प्रतिभासित होता है । वे जिसको वास्तविक सुख मानते हैं वह सुख मुक्तिमें है और वह बहुत कठिनतासे सिद्ध की जा सकती है ॥ ५ ॥ लोकमें सब ही प्राणियोंने चिर कालसे

---

१ श झटिति । २ श प्रतौ एवंविधा टीका वर्तते– तत्परं ज्योतिः जयति । यत्परं ज्योतिः कवीन्द्राणां वाचां दुर्लक्षं यत्परं ज्योतिः वाचां गणः यस्मिन् मध्यः लब्धः बहिर्लुठति कमिव वज्रे जलमिव ॥ १ ॥ ३ श अमूर्ति । ४ श ज्योतिःपरं जयति ।

604) बोधो ऽपि यत्र विरलो वृत्तिर्वाचामगोचरे[1] बाढम् ।
अनुभूतिस्तत्र पुनर्दुर्लक्ष्यात्मनि परं गहनम् ॥ ७ ॥
605) व्यवहृतिरबोधजनबोधनाय कर्मक्षयाय शुद्धनयः ।
स्वार्थं मुमुक्षुरहमिति वक्ष्ये तदाश्रितं किंचित् ॥ ८ ॥
606) व्यवहारो ऽभूतार्थो भूतार्थो देशितस्तु शुद्धनयः ।
शुद्धनयमाश्रिता ये प्राप्नुवन्ति यतयः पदं परमम्[3] ॥ ९ ॥
607) तत्त्वं वागतिवर्ति व्यवहृतिमासाद्य जायते वाच्यम् ।
गुणपर्ययादिविवृतेः प्रसरति तच्चापि शतशाखम् ॥ १० ॥
608) मुख्योपचारविवृतिं व्यवहारोपायतो यतः सन्तः ।
ज्ञात्वा श्रयन्ति शुद्धं तत्त्वमिति व्यवहृतिः पूज्या ॥ ११ ॥
609) आत्मनि निश्चयबोधस्थितयो रत्नत्रयं भवक्षतये ।
भूतार्थपथप्रस्थितबुद्धेरात्मैव तत्त्रितयम् ॥ १२ ॥

श्रुतं परिचितम् अनुभूतम् अस्ति । कस्मै हेतवे । जन्मने संसाराय । तु पुनः । मुक्तये मोक्षाय । या शुद्धात्मज्योतिरुपलब्धिः सा उपलब्धिः सुलभा न ॥ ६ ॥ तत् ज्योतिः परं गहनम् । यत्र आत्मनि । बोधोऽपि विरलः अप्राप्यः । अत्र आत्मनि वृत्तिः विवरणम्[4] । बाढम् अतिशयेन । वाचां वाणीनाम् । अगोचरः । तत्र आत्मनि । अनुभूतिः दुर्लक्ष्या ॥ ७ ॥ व्यवहृतिः व्यवहारः । अबोधजनबोधनाय मूर्खजनप्रतिबोधनाय भवति । शुद्धनयः कर्मक्षयाय भवति । अहं मुमुक्षुः । इति हेतोः । किंचित् तदाश्रितं शुद्धनयाश्रितम् । स्वार्थम् आत्मार्थम् । किंचित् वक्ष्ये कथयिष्यामि ॥ ८ ॥ व्यवहारः भूतार्थः भूतानां प्राणिनाम् अर्थः भूतार्थः (?) व्यवहारः देशितः कथितः । शुद्धनयः भूतार्थः सत्यार्थः देशितः कथितः । ये यतयः मुनयः शुद्धनयम् आश्रिताः ते[5] मुनयः । परमं पदं प्राप्नुवन्ति[6] ॥ ९ ॥ तत्त्वं वाक्-अतिवर्ति वचनरहितम् । तत्त्वम् । व्यवहृतिं व्यवहारम् । आसाद्य प्राप्य । वाच्यं वचनगोचरम् । जायते । च पुनः । तत्तत्त्वम् । गुणपर्ययादिविवृतेः व्यवहारात् शतशाखं प्रसरति ॥ १० ॥ यतः यस्माद्धेतोः । सन्तः साधवः । व्यवहार-उपायतः, मुख्य-उपचारविवृतिं शुद्धनिश्चयव्यवहरणं ज्ञात्वा । शुद्धं तत्त्वम् आश्रयन्ति । इति हेतोः । व्यवहृतिः पूज्या व्यवहारनयः पूज्यः ॥ ११ ॥ आत्मनि विषये । निश्चयबोधस्थितयः दर्शनज्ञानचारित्राणि रत्नत्रयम् । भवक्षतये

जन्म-मरणरूप संसारकी कारणीभूत वस्तुओंके विषयमें सुना है, परिचय प्राप्त किया है, तथा अनुभव भी किया है । किन्तु जो शुद्ध आत्माकी ज्योति मुक्तिकी कारणभूत है उसकी उपलब्धि उन्हें सुलभ नहीं हुई ॥ ६ ॥ जो आत्मा वचनोंके अगोचर है– विकल्पातीत है– उस आत्मतत्त्वके विषयमें प्रायः ज्ञान ही नहीं होता है, उसके विषयमें स्थिति और भी कठिन है, तथा उसका अनुभव तो दुर्लभ ही है । वह आत्मतत्त्व अत्यन्त दुर्गम है ॥ ७ ॥ व्यवहारनय अज्ञानी जनको प्रतिबोधित करनेके लिये है, किन्तु शुद्ध निश्चयनय कर्मोंके नाशका कारण है । इसीलिये मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाला मैं (पद्मनन्दी) स्वके निमित्त शुद्ध निश्चयनयके आश्रयसे प्रयोजनीभूत आत्मस्वरूपका वर्णन करता हूं ॥ ८ ॥ व्यवहारनय असत्य पदार्थको विषय करनेवाला तथा निश्चयनय यथार्थ वस्तुको विषय करनेवाला कहा गया है । जो मुनि शुद्ध निश्चयनयका आश्रय लेते हैं वे उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं ॥ ९ ॥ वस्तुका यथार्थ स्वरूप वचनके अगोचर है अर्थात् वह वचनके द्वारा कहा नहीं जा सकता है । वह व्यवहारका आश्रय ले करके ही वचनके द्वारा कहनेके योग्य होता है । वह भी गुणों और पर्यायों आदिके विवरणसे सैकड़ों शाखाओंमें विस्तारको प्राप्त होता है ॥ १० ॥ चूंकि सज्जन मनुष्य व्यवहारनयके आश्रयसे ही मुख्य और उपचारभूत कथनको जानकर शुद्ध स्वरूपका आश्रय लेते हैं, अतएव वह व्यवहार पूज्य (ग्राह्य) है ॥ ११ ॥ आत्माके विषयमें दृढ़ता (सम्यग्दर्शन),

---

१ श विवृत्तिर्वाचा° । २ क °मगोचरो । ३ क परमं पदम् । ४ श विवृतिर्विवरणं । ५ क ते । ६ श देशितः ये मुनयः परमं पदं प्राप्नुवन्ति ।

610) सम्यक्सुखबोधदृशां त्रितयमखण्डं परात्मनो रूपम् ।
तत्तत्र तत्परो यः स एव तल्लब्धिकृतकृत्यः ॥ १३ ॥

611) अग्नाविवोष्णभावः सम्यग्बोधो ऽस्ति[1] दर्शनं शुद्धम् ।
ज्ञातं प्रतीतै[2]माभ्यां सत्स्वास्थ्यं भवति चारित्रम् ॥ १४ ॥

612) विहिताभ्यासा बहिरर्थवेध्यसंबन्धिनो दृगादिशराः[3] ।
सफलाः शुद्धात्मरणे छिन्दितकर्मारिसंघाताः ॥ १५ ॥

613) हिंसोज्झित एकाकी सर्वोपद्रवसहो वनस्थो ऽपि ।
तरुरिव नरो न सिध्यति सम्यग्बोधादृते जातु ॥ १६ ॥

संसारनाशाय भवति । भूतार्थपथप्रस्थितबुद्धेः निश्चयमार्गचलितबुद्धेः मुनेः । आत्मैव तत्त्रितयम् ॥ १२ ॥ सम्यक्सुखबोधदृशां दर्शनज्ञानचारित्राणाम् । त्रितयं परात्मनः रूपम् । अखण्डं परिपूर्णम् । तत्तस्मात्कारणात् । यः भव्यः । तत्र आत्मनि विषये तत्परः स एव भव्यः तल्लब्धिकृतकृत्यः तस्य आत्मनः लब्धिना कृतकृत्यः ॥ १३ ॥ शुद्धं दर्शनं ज्ञातं प्रतीतम् अस्ति । अग्नौ विषये यथा उष्णभावः तथा सम्यग्भावबोधोऽस्ति । आभ्यां द्वाभ्याम् । स्वास्थ्यं सत् चारित्रं भवति ॥ १४ ॥ दृगादिशराः दर्शनादिबाणाः । शुद्धात्मरणे संग्रामे सफला भवन्ति । किंलक्षणाः शराः । छिन्दितकर्म-अरिसंघाताः छिन्दितकर्मशत्रु-समूहाः । पुनः किंलक्षणा बाणाः । बहिरर्थवेध्यसंबन्धिनः विहित-अभ्यासाः ॥ १५ ॥ नरः सम्यग्बोधात् ऋते रहितः । जातु कदाचित् । न सिध्यति । स नरः तरुः इव । किंलक्षणः नरः । हिंसोज्झितः हिंसारहितः । पुनः एकाकी । पुनः किंलक्षणः

ज्ञान और स्थिति (चारित्र) रूप रत्नत्रय संसारके नाशका कारण है । किन्तु जिसकी बुद्धि शुद्ध निश्चय-नयके मार्गमें प्रवृत्त हो चुकी है उसके लिये वे तीनों (सम्यग्दर्शनादि) एक आत्मस्वरूप ही हैं— उससे भिन्न नहीं हैं ॥ १२ ॥ समीचीन सुख (चारित्र), ज्ञान और दर्शन इन तीनोंकी एकता परमात्माका अखण्ड स्वरूप है । इसीलिये जो जीव उपर्युक्त परमात्मस्वरूपमें लीन होता है वही उनकी प्राप्तिसे कृतकृत्य होता है ॥ १३ ॥ जिस प्रकार अभेदस्वरूपसे अग्निमें उष्णता रहती है उसी प्रकारसे आत्मामें ज्ञान है, इस प्रकारकी प्रतीतिका नाम शुद्ध सम्यग्दर्शन और उसी प्रकारसे जाननेका नाम सम्यग्ज्ञान है । इन दोनोंके साथ उक्त आत्माके स्वरूपमें स्थित होनेका नाम सम्यक्चारित्र है ॥ १४ ॥ जो सम्यग्दर्शन आदिरूप बाण बाह्य वस्तुरूप वेध्य (लक्ष्य) से सम्बन्ध रखते हैं तथा जिन्होंने इस कार्यका अभ्यास भी किया है वे सम्यग्दर्शनादिरूप बाण शुद्ध आत्मारूप रणमें कर्मरूप शत्रुओंके समूहको नष्ट करके सफल होते हैं ॥ १५ ॥ जो मनुष्य वृक्षके समान हिंसाकर्मसे रहित है, अकेला है अर्थात् किसी सहायककी अपेक्षा नहीं करता है, समस्त उपद्रवोंको सहन करनेवाला है, तथा वनमें स्थित भी है, फिर भी वह सम्यग्ज्ञानके विना कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता है ॥ विशेषार्थ— वनमें अकेला स्थित जो वृक्ष शैत्य एवं गर्मी आदिके उप-द्रवोंको सहता है तथा स्थावर होनेके कारण हिंसाकर्मसे भी रहित है, फिर भी सम्यग्ज्ञानसे रहित होनेके कारण जिस प्रकार वह कभी मुक्ति नहीं पा सकता है उसी प्रकार जो मनुष्य साधु हो करके सब प्रकारके उपद्रवों एवं परीषहोंको सहन करता है, घरको छोड़कर वनमें एकाकी रह रहा है, तथा प्राणि-घातसे विरत है; फिर भी यदि उसने सम्यग्ज्ञानको नहीं प्राप्त किया है तो वह भी कभी मुक्त नहीं हो

१ ब बोधोस्ति । २ श प्रतीति । ३ क कर्मसमूहाः ।

614) अस्पृष्टमबद्धमनन्यमयुतमविशेषमभ्रमोपेतः ।
यः पश्यत्यात्मानं स पुमान् खलु शुद्धनयनिष्ठः ॥ १७ ॥
615) शुद्धाच्छुद्धमशुद्धं ध्यायन्नाप्नोत्यशुद्धमेव स्वम् ।
जनयति हेम्नो हैमं लोहाल्लो[लौ]हं नरः कटकम् ॥ १८ ॥
616) सानुष्ठानविशुद्धे दृग्बोधे जृम्भिते कुतो जन्म ।
उदिते गभस्तिमालिनि किं न विनश्यति तमो नैशम् ॥ १९ ॥
617) आत्मभुवि कर्मबीजाच्चित्ततरुर्यत्फलं फलति जन्म ।
मुक्त्यर्थिना स दाह्यो भेदज्ञानोग्रदावेन ॥ २० ॥
618) अमलात्मजलं समलं करोति मम कर्मकर्दमस्तदपि ।
का भीतिः सति निश्चितभेदकरज्ञानकतकफले ॥ २१ ॥

नरः । सर्व-उपद्रवसहः सहनशीलः । पुनः वनस्थः वने तिष्ठति इति वनस्थः ॥ १६ ॥ खलु इति निश्चितम् । स पुमान् शुद्धनयनिष्ठः । यः भव्यः । आत्मानम् अस्पृष्टं पश्यति । किंवत् । कमलिनीदलवत् । कस्मात् । नीरात् कमलिनीदलं भिन्नम् । किंलक्षणम्[2] आत्मानम् । अबद्धं[1] बन्धनरहितम् । पुनः किंलक्षणम् आत्मानम् । अनन्यम् अद्वितीयम् । पुनः किंलक्षणम् आत्मानम् । अयुतं भिन्नम् । पुनः किंलक्षणम् आत्मानम् । अविशेषं पूर्णम् । किंलक्षणः भव्यः । अभ्रमोपेतः भ्रमरहितः ॥ १७ ॥ शुद्धात् शुक्लादिध्यानात् । स्वम् आत्मानम् । ध्यायन् । शुद्धं तत्त्वम् आप्नोति । अशुद्धं ध्यायन् अशुद्धं तत्त्वम् आप्नोति । नरः हेम्नः सुवर्णात् । हैमं सुवर्णमयम् । कटकं जनयति उत्पादयति । लोहात् लोहमयं कटकम् उत्पादयति ॥ १८ ॥ दृग्बोधे । जृम्भिते सति प्रसरिते सति । कुतो जन्म संसारः कुतः । किंलक्षणे दृग्बोधे । सानुष्ठानेन चारित्रेण विशुद्धे पवित्रे । तत्र दृष्टान्तम् आह । गभस्तिमालिनि सूर्ये उदिते सति । नैशं तमः रात्रिसंबन्धितमः । किं न विनश्यति । अपि तु नश्यति ॥ १९ ॥ आत्मभुवि आत्मभूमौ । कर्मबीजात् चित्ततरुः वृक्षः । जन्मसंसारफलं फलति । मुक्त्यर्थिना स चित्ततरुः[4] । भेदज्ञानोग्रदावेन । दाह्यः दहनीयः ॥ २० ॥ मम अमलम् आत्मजलं कर्मकर्दमः । समलं मलयुक्तम् । करोति । तदपि निश्चितभेदकरज्ञानकतकफले

सकता है ॥ १६ ॥ जो भव्य जीव भ्रमसे रहित होकर अपनेको कर्मसे अस्पृष्ट, बन्धसे रहित, एक, परके संयोगसे रहित तथा पर्यायके सम्बन्धसे रहित शुद्ध द्रव्यस्वरूप देखता है उसे निश्चयसे शुद्ध नयपर निष्ठा रखनेवाला समझना चाहिये ॥ १७ ॥ जीव शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध आत्माका ध्यान करता हुआ शुद्ध ही आत्मस्वरूपको प्राप्त करता है तथा व्यवहारनयका अवलम्बन लेकर अशुद्ध आत्माका विचार करता हुआ अशुद्ध ही आत्मस्वरूपको प्राप्त करता है । ठीक है– मनुष्य सुवर्णसे सुवर्णमय कड़ेको तथा लोहसे लोहमय ही कड़ेको उत्पन्न करता है ॥ १८ ॥ चारित्रसहित विशुद्ध सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके वृद्धिंगत होनेपर भला जन्म-मरणरूप संसार कहांसे रह सकता है ? अर्थात् नहीं रह सकता । ठीक है– सूर्यके उदित होनेपर क्या रात्रिका अन्धकार नष्ट नहीं होता है ? अवश्य ही वह नष्ट हो जाता है ॥ १९ ॥ आत्मारूप पृथिवीके ऊपर कर्मरूप बीजसे आविर्भूत हुआ यह चित्तरूप वृक्ष जिस संसाररूप फलको उत्पन्न करता है उसे मोक्षाभिलाषी जीवको भेदज्ञानरूप तीक्ष्ण तीव्र अग्निके द्वारा जला देना चाहिये ॥ २० ॥ यद्यपि कर्मरूपी कीचड़ मेरे निर्मल आत्मारूप जलको मलिन करता है तो भी निश्चित भेदको प्रगट करनेवाले ज्ञान (भेदज्ञान) रूप निर्मली फलके होनेपर मुझे उससे क्या भय है ! अर्थात् कुछ भी भय नहीं है ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार कीचड़से मलिन किया गया पानी निर्मली फलके डाल देनेपर स्वच्छ हो जाता है उसी प्रकार कर्मके उदयसे उत्पन्न दुष्ट क्रोधादि विकारोंके द्वारा मलिनताको प्राप्त हुई आत्मा स्व-परभेदज्ञानके द्वारा निश्चयसे निर्मल हो जाती है । इसीलिये विवेकी (भेदज्ञानी) जीवको कर्मकृत उस मलिनताका कुछ भी भय नहीं रहता है ॥ २१ ॥

१ श °मबंध । २ श कस्मात् नीरात् । किं लक्षणं । ३ श अबंधं । ४ श स दाह्यः चित्ततरुः ।

619) अन्यो ऽहमन्यमेतच्छरीरमपि[1] किं पुनर्न बहिरर्थाः ।
व्यभिचारी यत्र सुतस्तत्र किमरयः स्वकीयाः स्युः ॥ २२ ॥

620) व्याधिस्तुदति शरीरं न माममूर्तं विशुद्धबोधमयम् ।
अग्निर्दहति कुटीरं न कुटीरासक्तमाकाशम् ॥ २३ ॥

621) वपुराश्रितमिदमखिलं [2]क्षुधादिभिर्भवति किमपि यदसातम् ।
नो निश्चयेन तन्मे यदहं बाधाविनिर्मुक्तः ॥ २४ ॥

622) नैवात्मनो विकारः क्रोधादिः किंतु कर्मसंबन्धात् ।
स्फटिकमणेरिव रक्तत्वमाश्रितात्पुष्पतो रक्तात् ॥ २५ ॥

623) कुर्यात्कर्म विकल्पं किं मम तेनातिशुद्धरूपस्य ।
मुखसंयोगजविकृतेर्न विकारी दर्पणो भवति ॥ २६ ॥

624) आस्तां बहिरुपधिचयस्तनुवचनविकल्पजालमप्यपरम् ।
कर्मकृतत्वान्मत्तः कुतो विशुद्धस्य मम किंचित् ॥ २७ ॥

सति । मम का भीतिः भयं किम् । किमपि भयं न ॥ २१ ॥ अहम् अन्यः । एतत् शरीरम् अपि अन्यत् । पुनः बहिरर्थाः बाह्यपदार्थाः । अन्यानि [न्ये] किं न सन्ति । अपि तु अन्यानि [न्ये] सन्ति । यत्र मयि । सुतः पुत्रः । व्यभिचारी भवति । तत्र स्वकीयाः आत्मीयाः । अरयः शत्रवः । किं स्युः भवेयुः । अपि तु आत्मीयाः न भवेयुः ॥ २२ ॥ व्याधिः शरीरं तुदति व्यथयति पीडयति । माम् अमूर्तं विशुद्धबोधमयं न पीडयति । यथा[3] अग्निः कुटीरं दहति । कुटीरासक्तम् आकाशं न दहति ॥ २३ ॥ यत्किमपि । असातं दुःखम् । क्षुदादिभिर्भवति । इदम्[4] अखिलम् । वपुः आश्रितं शरीराश्रितम् । तद्वपुः । निश्चयेन । मे मम[5] । नो । यत् अहं बाधाविनिर्मुक्तः ॥ २४ ॥ क्रोधादिः आत्मनो विकारः नैव । किंतु कर्मसंबन्धात्[6] कर्मणः संबन्धात् क्रोधादिविकारः भवेत् । रक्तात् पुष्पतः आश्रितात् यथा स्फटिकमणेः रक्तत्वं तथा[7] क्रोधादिः ॥ २५ ॥ कर्म विकल्पं कुर्यात् । अतिशुद्धरूपस्य मम । तेन कर्मणा किं प्रयोजनम् । न किमपि । यथा[8] मुखसंयोगजविकृतेः मुखसंयोगजात् विकारात् । दर्पणः आदर्शः । विकारी न भवति ॥ २६ ॥ बहिरुपधिचयः । आस्तां दूरे तिष्ठतु । तनुवचनविकल्पजालम् । अपि मत्तः अपरं भिन्नम् । कस्मात् ।

जब मैं अन्य हूं और यह शरीर भी अन्य है तब क्या प्रत्यक्षमें भिन्न दिखनेवाले बाह्य पदार्थ (स्त्री-पुत्र आदि) मुझसे भिन्न नहीं हैं ? अर्थात् वे तो अवश्य ही भिन्न हैं । ठीक है– जहां अपना पुत्र ही व्यभिचारी हो अर्थात् अपने अनुकूल न हो वहां क्या शत्रु अपने अनुकूल हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं हो सकते ॥ २२ ॥ रोग शरीरको पीडित करता है, वह अमूर्त एवं निर्मल ज्ञानस्वरूप मुझको (आत्माको) पीडित नहीं करता है । ठीक है– आग झोंपडीको ही जलाती है, न कि झोंपडीसे संयुक्त आकाशको भी ॥ २३ ॥ भूख-प्यास आदिके द्वारा जो कुछ भी दुख होता है वह सब शरीरके आश्रित है । निश्चयसे वह (दुख) मेरे लिये नहीं होता है, क्योंकि, मैं स्वभावतः बाधासे रहित हूं ॥ २४ ॥ क्रोध आदि विकार आत्माके नहीं हैं, किन्तु वे कर्मसे सम्बद्ध होनेके कारण उससे भिन्न हैं । जैसे– लाल पुष्पके आश्रयसे स्फटिक मणिके प्राप्त हुई लालिमा वास्तवमें उसकी नहीं होती है ॥ २५ ॥ कर्म विकल्पको करता रहे, अतिशय शुद्ध स्वरूपसे संयुक्त मेरी उसके द्वारा क्या हानि हो सकती है ? कुछ भी नहीं । ठीक है– मुखके संयोगसे उत्पन्न विकारके कारण कुछ दर्पण विकारयुक्त नहीं हो जाता है ॥ २६ ॥ बाहिरी उपाधियोंका समूह (स्त्री-पुत्र-धनादि) तो दूर ही रहे, किन्तु शरीर एवं वचन सम्बन्धी विकल्पोंका समूह भी कर्मकृत होनेके कारण मुझसे भिन्न है । मैं स्वभावसे शुद्ध हूं, अत एव कुछ भी विकार मेरा कहांसे हो सकता है ?

---

१ श °मन्यदेच्छरीर [°मन्यदेतच्छरीर°] । २ क क्षुदादिभि° । ३ क 'यथा' नास्ति । ४ श तदिदं । ५ श 'मम' नास्ति । ६ श 'कर्मसंबन्धात्' नास्ति । ७ श रक्तत्वमिव तथा । ८ क 'यथा' नास्ति ।

625) कर्म परं तत्कार्यं सुखमसुखं वा तदेव परमेव ।
तस्मिन् हर्षविषादौ मोही विदधाति खलु नान्यः ॥ २८ ॥

626) कर्म न यथा स्वरूपं न तथा तत्कार्यकल्पनाजालम् ।
तत्रात्ममतिविहीनो मुमुक्षुरात्मा सुखी भवति ॥ २९ ॥

627) कर्मकृतकार्यजाते कर्मैव विधौ तथा निषेधे च ।
नाहमतिशुद्धबोधो विधूतविश्वोपधिर्नित्यम् ॥ ३० ॥

628) बाह्यायामपि विकृतौ मोही जागर्ति सर्वदात्मेति ।
किं नोपभुक्तहेमो[1] हेम ग्रावाणमपि मनुते ॥ ३१ ॥

629) सति द्वितीये चिन्ता कर्म ततस्तेन वर्तते जन्म ।
एको ऽस्मि सकलचिन्तारहितो ऽस्मि मुमुक्षुरिति नियतम् ॥ ३२ ॥

कर्मकृतत्वात् । मम विशुद्धस्य किंचित् अपि कुतः ॥ २७ ॥ कर्म परं भिन्नम् । तत्कार्यं[2] तस्य कर्मणः कार्यं परं भिन्नम् । सुखम् । वा अथवा । असुखं दुःखम् । तदेव परं भिन्नम् । तस्मिन् सुखदुःखे । मोही जीवः हर्षविषादौ विदधाति करोति । खलु निश्चितम् । अन्यः न भव्यः हर्षविषादौ न करोति ॥ २८ ॥ यथा कर्मस्वरूपं ममेदं न तथा तत्कार्यकल्पनाजालं तस्य कर्मणः कार्य[3]-कल्पनाजालम् । ममेदं न । रागद्वेषादिविकल्पं मम न । तत्र कर्मकार्ये आत्ममतिविहीनः ममत्वरहितः । मुमुक्षुः आत्मा सुखी भवति ॥ २९ ॥ कर्मकृतकार्य-रागद्वेषादिः तयोः रागद्वेषयोः जाते उत्पन्ने[4] कारणे[5]विधौ कर्मैव । तथा कर्म कार्यनिषेधविधौ कर्मैव । कर्मणः बन्धमोक्षयोः कारणं निश्चयेन अहम् न । किंलक्षणोऽहम् । अतिशुद्धबोधः । नित्यं सदैव । विधूतविश्व–उपधिः स्फेटित[6]उपधिः ॥ ३० ॥ मोही जीवः सर्वदा बाह्यायामपि विकृतौ आत्मा इति विचार्य जागर्ति । तत्र दृष्टान्तमाह । उपभुक्तहेमः धत्तूरभक्षकः हेमफलभक्षकः नरः । ग्रावाणं पाषाणम् । अपि । हेम सुवर्णम् । किं न मनुते । अपि तु मनुते ॥ ३१ ॥ द्वितीये वस्तुनि सति चिन्ता भवेत् । ततः चिन्तायाः सकाशात् कर्म । तेन कर्मणा कृत्वा जन्म संसारः वर्तते । इति हेतोः । नियतं निश्चितम् ।

नहीं हो सकता है ॥ २७ ॥ कर्म भिन्न है तथा उसके कार्यभूत जो सुख और दुख हैं वे भी भिन्न हैं । कर्मके कार्यभूत उन सुख और दुखमें निश्चयसे अज्ञानी जीव ही हर्ष और विषाद करता है, न कि ज्ञानी जीव ॥ २८ ॥ जिस प्रकार कर्म आत्माका स्वरूप नहीं है उसी प्रकार उसके कार्यभूत विकल्पोंका समूह भी आत्माका स्वरूप नहीं है । इसीलिये उनमें आत्ममति अर्थात् ममत्वबुद्धिसे रहित हुआ मोक्षाभिलाषी जीव सुखी होता है ॥ २९ ॥ कर्मकृत कार्यसमूह (राग-द्वेषादि) व उसकी विधि और निषेधमें कर्म ही कारण है, मैं (आत्मा) नहीं हूं । मैं तो सदा अतिशय निर्मल ज्ञानस्वरूप होकर समस्त उपाधिसे रहित हूं ॥ ३० ॥ अज्ञानी जीव कर्मकृत बाह्य भी विकारमें निरन्तर 'आत्मा' ऐसा मानता है । ठीक है–जिसने धतूरेके फलको खाया है वह क्या पत्थरको भी सुवर्ण नहीं मानता है ? मानता ही है । विशेषार्थ–जिस प्रकार धतूरेके फलको खाकर मनुष्य उसके उन्मादसे पत्थरको भी सुवर्ण मानता है उसी प्रकार मिथ्याज्ञानी जीव मिथ्यात्वके प्रभावसे जो बाह्य विकार (राग-द्वेष, स्त्री, पुत्र एवं धन आदि) कर्मजनित होकर आत्मासे भिन्न हैं उन्हें वह अपने मानता है ॥ ३१ ॥ आत्मासे भिन्न किसी दूसरे पदार्थके होनेपर उसके लिये चिन्ता उत्पन्न होती है, उससे कर्मका बन्ध होता है, तथा उस कर्मबन्धसे फिर जन्मपरम्परा चलती है । परन्तु मैं निश्चयसे एक हूं और इसीलिये समस्त चिन्ताओंसे रहित होता हुआ मोक्षका अभिलाषी हूं ॥ ३२ ॥

---

१ क हेमं । २ श 'तत्कार्यं' नास्ति । ३ श 'कार्यं' नास्ति । ४ क उत्पन्न । ५ श करण । ६ श स्फोटित ।

630) यादृश्यपि तादृश्यपि परतश्चिन्ता करोति खलु बन्धम् ।
किं मम तया मुमुक्षोः परेण किं सर्वदैकस्य[1] ॥ ३३ ॥

631) मयि चेतः परजातं तच्च परं कर्म विकृतिहेतुरतः ।
किं तेन निर्विकारः केवलमहममलबोधात्मा ॥ ३४ ॥

632) त्याज्या सर्वा चिन्तेति बुद्धिराविष्करोति तत्तत्त्वम् ।
चन्द्रोदयायते यच्चैतन्यमहोदधौ झगिति[2] ॥ ३५ ॥

633) चैतन्यमसंपृक्तं कर्मविकारेण यत्तदेवाहम् ।
तस्य च संसृतिजन्मप्रभृति न किंचित्कुतश्चिन्ता ॥ ३६ ॥

634) चित्तेन कर्मणा त्वं बद्धो यदि बध्यते त्वया तदतः ।
प्रतिबन्दीकृतमात्मन् मोचयति त्वां न संदेहः ॥ ३७ ॥

635) नृत्वतरोर्विषयसुखच्छायालाभेन किं मनःपान्थ ।
भवदुःखक्षुत्पीडित तुष्टो ऽसि गृहाण फलममृतम् ॥ ३८ ॥

अहम् । एकोऽस्मि सकलचिन्तारहितोऽस्मि । अहं मुमुक्षुः[3] मुक्तिवाञ्छकः ॥ ३२ ॥ यादृशी अपि तादृशी अपि । परतः परस्मात् । चिन्ता । खलु इति निश्चितम् । बन्धं करोति । मम तया चिन्तया किं प्रयोजनम् । किमपि कार्यं न । एकस्य मम मुमुक्षोः परेण वस्तुना किं प्रयोजनम् । किमपि प्रयोजनं न[4] ॥ ३३ ॥ मयि विषये चेतः परजातं परोत्पन्नम् । च पुनः । तच्चित्तं परम् । तत् कर्म परम् । अतः कारणात् । तच्चित्तं कर्म च । विकृतिहेतुः विकारमयम् । तेन चित्तेन तेन कर्मणा किं प्रयोजनम् । किमपि प्रयोजनं न । अहं केवलं निर्विकारः अमलबोधात्मा ॥ ३४ ॥ सर्वा चिन्ता त्याज्या । इति हेतोः । बुद्धिः तत्तत्त्वम् । आविष्करोति प्रकटी करोति । यत्तत्त्वं चैतन्यमहोदधौ चैतन्यसमुद्रे । झगिति शीघ्रेण । चन्द्रोदयायते चन्द्रोदय इवाचरति ॥ ३५ ॥ यत् चैतन्यं कर्मविकारेण । असंपृक्तम् अमिलितम् । तदेव अहम् । च पुनः । तस्य मम चैतन्यस्य । संसृतिजन्मप्रभृति किंचित् न । मम कुतश्चिन्ता ॥ ३६ ॥ भो आत्मन् । चित्तेन कर्मणा त्वं बद्धः । अतः कारणात् यदि चेत् । तत् मनः त्वया बध्यते तदा भो आत्मन् । प्रतिबन्दीकृतं त्वां मोचयति न संदेहः ॥ ३७ ॥ भो मनःपान्थ भो भवदुःखक्षुत्पीडित । नृत्वतरोः मनुष्यपद-

अन्य पदार्थके निमित्तसे जिस किसी भी प्रकारकी चिन्ता होती है वह निश्चयसे कर्मबन्धको करती है। मोक्षके इच्छुक मुझको उस चिन्तासे तथा पर वस्तुओंसे भी क्या प्रयोजन है? अर्थात् इनसे मुझे कुछ भी प्रयोजन नहीं है। कारण यह कि मैं इनसे भिन्न होकर सर्वदा एकस्वरूप हूं ॥ ३३ ॥ मुझमें जो चित्त है वह परसे उत्पन्न हुआ है और वह पर (जिससे चित्त उत्पन्न हुआ है) कर्म है जो कि विकारका कारण है। इसलिये मुझे उससे क्या प्रयोजन है? कुछ भी नहीं। कारण कि मैं विकारसे रहित, एक और निर्मल ज्ञान स्वरूप हूं ॥ ३४ ॥ सब चिन्ता त्यागनेके योग्य है, इस प्रकारकी बुद्धि उस तत्त्वको प्रगट करती है जो कि चैतन्यरूप महासमुद्रकी वृद्धिमें शीघ्र ही चन्द्रमाका काम करता है ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार चन्द्रमाका उदय होनेपर समुद्र वृद्धिको प्राप्त होता है उसी प्रकार 'सब प्रकारकी चिन्ता हेय है' इस भावनासे चैतन्य स्वरूप भी वृद्धिको प्राप्त होता है ॥ ३५ ॥ जो चेतन तत्त्व कर्मकृत विकारके संसर्गसे रहित है वही मैं हूं। उसके (चैतन्यस्वरूप आत्माके) संसार एवं जन्म-मरणादि कुछ भी नहीं है। फिर भला मुझे (आत्माके) चिन्ता कहां से हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती है ॥ ३६ ॥ हे आत्मन्! तुम मनके द्वारा कर्मसे बांधे गये हो। यदि तुम उस मनको बांध देते हो अर्थात् उसे वशमें कर लेते हो तो इससे वह प्रतिबन्दीस्वरूप होकर तुमको छुड़ा देगा, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ३७ ॥ हे सांसारिक दुखरूप क्षुधासे पीड़ित मनरूप पथिक! तू मनुष्य पर्यायरूप वृक्षकी विषयसुखरूप छायाकी प्राप्तिसे ही क्यों सन्तुष्ट होता है? उससे तू अमृतरूप फलको ग्रहण कर ॥ विशेषार्थ—

१ क परेण किं प्रयोजनं न। २ श झटिति। ३ श 'मुमुक्षुः' नास्ति। ४ श वस्तुना किं प्रयोजनं न।

636) स्वान्तं ध्वान्तमशेषं दोषोज्झितमर्कबिम्बमिव मार्गे।
विनिहन्ति निरालम्बे संचरदनिशं यतीशानाम् ॥ ३९ ॥
637) संविच्छिखिना गलिते तनुमूषाकर्ममदनमयवपुषि।
स्वमिव स्वं चिद्रूपं पश्यन् योगी भवति सिद्धः ॥ ४० ॥
638) अहमेव चित्स्वरूपश्चिद्रूपस्याश्रयो मम स एव।
नान्यत् किमपि जडत्वात्प्रीतिः सदृशेषु कल्याणी ॥ ४१ ॥
639) स्वपरविभागावगमे जाते सम्यक् परे परित्यक्ते।
सहजैकबोधरूपे तिष्ठत्यात्मा स्वयं सिद्धः ॥ ४२ ॥

वृक्षस्य। विषयसुखच्छायालाभेन किं तुष्टोऽसि। अमृतफलं गृहाण मोक्षफलं गृहाण ॥ ३८ ॥ यतीशानां स्वान्तं मनः। निरालम्बे मार्गे अनिशं संचरत्। अशेषं समस्तम्। ध्वान्तम् अन्धकारम्। विनिहन्ति स्फेटयति[1]। किंलक्षणं मनः। दोषोज्झितम्। अर्कबिम्बमिव सूर्यबिम्बमिव ॥ ३९ ॥ योगी स्वं चिद्रूपं पश्यन् सिद्धः भवति। क सति। तनु-शरीर-मूषा-मूसि (?)। कर्ममदनमयवपुषि कर्ममयणमयैशरीरे। संविच्छिखिना ज्ञानाग्निना। गलिते सति योगी सिद्धः भवति ॥ ४० ॥ अहं चिद्रूपः एव चित्स्वरूपः। मम चिद्रूपस्य। स एव चित्स्वरूपः आश्रयः। किमपि अन्यत् न। कस्मात्। जडत्वात्। प्रीतिः सदृशेषु कल्याणी ॥ ४१ ॥ स्वपरविभाग-अवगमे भेदज्ञाने जाते सति उत्पन्ने सति। परवस्तुनि परित्यक्ते सति।

जिस प्रकार सूर्यके तापसे सन्तप्त कोई पथिक मार्गमें छायायुक्त वृक्षको पाकर उसकी केवल छायासे ही सन्तुष्ट हो जाता है, यदि वह उसमें लगे हुए फलोंको ग्रहण करनेका प्रयत्न करता तो उसे इससे भी कहीं अधिक सुख प्राप्त हो सकता था। ठीक इसी प्रकारसे यह जीव मनुष्य पर्यायको पाकर उससे प्राप्त होनेवाले विषयसुखका अनुभव करता हुआ इतने मात्रसे ही सन्तुष्ट हो जाता है। परन्तु वह अज्ञानतावश यह नहीं सोचता कि इस मनुष्य पर्यायसे तो वह अजर-अमर पद (मोक्ष) प्राप्त किया जा सकता है जो कि अन्य देवादि पर्यायसे दुर्लभ है। इसीलिये यहां मनको सम्बोधित करके यह उपदेश दिया गया है कि तू इस दुर्लभ मनुष्य पर्यायको पाकर उस अस्थिर विषयसुखमें ही सन्तुष्ट न हो, किन्तु स्थिर मोक्षसुखको प्राप्त करनेका उद्यम कर ॥ ३८ ॥ मुनियोंका मन सूर्यबिम्बके समान आलम्बन रहित मार्गमें निरन्तर संचार करता हुआ दोषोंसे रहित होकर समस्त अज्ञानरूप अन्धकारको नष्ट करता है॥ विशेषार्थ—जिस प्रकार सूर्यका बिम्ब निराधार आकाशमार्गमें गमन करता हुआ दोषा (रात्रि) के सम्बन्धसे रहित होकर समस्त अन्धकारको नष्ट कर देता है उसी प्रकार मुनियोंका मन अनेक प्रकारके सकल्प-विकल्पोंरूप आश्रयसे रहित मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होकर दोषोंके संसर्गसे रहित होता हुआ समस्त अज्ञानको नष्ट कर देता है॥ ३९ ॥ सम्यग्ज्ञानरूप अग्निके निमित्तसे शरीररूप सांचेमेंसे कर्मरूप मैनमय शरीरके गल जानेपर आकाशके समान अपने चैतन्य स्वरूपको देखनेवाला योगी सिद्ध हो जाता है॥ विशेषार्थ—जिस प्रकार अग्निके सम्बन्धसे सांचेके भीतर स्थित मैनेके गल जानेपर वहां शुद्ध आकाश ही शेष रह जाता है उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानके द्वारा शरीरमेंसे कार्मण पिण्डके निर्जीर्ण हो जानेपर अपना शुद्ध चैतन्य स्वरूप प्रगट हो जाता है। उसका अवलोकन करता हुआ योगी सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हो जाता है॥ ४० ॥ मैं ही चित्स्वरूप हूं, और चित्स्वरूप जो मैं हूं सो मेरा आश्रय भी वही चित्स्वरूप है। उसको छोड़कर जड़ होनेसे और कोई दूसरा मेरा आश्रय नहीं हो सकता है। यह ठीक भी है, क्योंकि, समान व्यक्तियोंमें जो प्रेम होता है वही कल्याणकारक होता है॥ ४१ ॥ स्व और परके विभाग (भेद) का ज्ञान हो जानेपर यह आत्मा भली भांति परको छोड़कर स्वयं सिद्ध

१ श स्फोटयति। २ श कर्ममय, क-प्रतिपाठोऽयम्।

640) हेयोपादेयविभागभावनाकथ्यमानमपि तत्त्वम् ।
हेयोपादेयविभागभावनावर्जितं विद्धि ॥ ४३ ॥

641) प्रतिपद्यमानमपि च श्रुताद्विशुद्धं परात्मनस्तत्त्वम् ।
उररीकरोतु चेतस्तदपि न तच्चेतसो गम्यम् ॥ ४४ ॥

642) अहमेकाक्यद्वैतं द्वैतमहं कर्मकलित इति बुद्धेः ।
आद्यमनपायि मुक्तेरितरविकल्पं[1] भवस्य परम् ॥ ४५ ॥

643) बद्धो मुक्तो ऽहमथ द्वैते सति जायते ननु द्वैतम् ।
मोक्षायेत्युभयमनोविकल्परहितो भवति मुक्तः ॥ ४६ ॥

644) गतभाविभवद्भावाभावप्रतिभावभावितं चित्तम् ।
अभ्यासाच्चिद्रूपं परमानन्दान्वितं कुरुते ॥ ४७ ॥

स्वयं सिद्धः आत्मा सहजैकबोधरूपे तिष्ठति ॥ ४२ ॥ हेयं त्याज्यम् उपादेयं ग्रहणीयं तयोः द्वयोः हेयोपादेययोः द्वयोः विभागभावनया भेदभावनया कृत्वा कथ्यमानम् अपि । तत्त्वं हेयोपादेयभेदभावनया वर्जितम् । तत्त्वं विद्धि ॥ ४३ ॥ च पुनः । परात्मनः विशुद्धं तत्त्वम् । श्रुतात् शास्त्रात् । प्रतिपद्यमानमपि कथ्यमानमपि । चेतः उररीकरोतु अङ्गीकरोतु[2] । तदपि तत्त्वम् । चेतसः गम्यं गोचरं न ॥ ४४ ॥ अहम् एकाकी इति बुद्धेः सकाशात् अद्वैतम् । अहं कर्मकलितः इति बुद्धेर्द्वैतम् । आद्यं मुक्तेः[3] अनपायि विघ्नरहितम् । इतरत् द्वैतं परं भवस्य संसारस्य कारणं विकल्पम्[4] ॥ ४५ ॥ अहं बद्धः अथ[5] अहं मुक्तः द्वैते सति ननु द्वैतं जायते । इति हेतोः । मोक्षाय उभयमनोविकल्परहितः मुक्तः भवति ॥ ४६ ॥ गतभाविभवद्भावाः तेषाम् अभावः अतीतभविष्यद्वर्तमानाः भावाः तेषाम् अभावः तस्य प्रतिभावः संभावनं तेन भावितं चित्तं भेद-

होता हुआ एक अपने स्वाभाविक ज्ञानस्वरूपमें स्थित हो जाता है ॥ ४२ ॥ हेय और उपादेयके विभागकी भावनासे कहा जानेवाला भी तत्त्व उस हेय-उपादेयविभागकी भावनासे रहित है, ऐसा जानना चाहिये ॥ विशेषार्थ– पर पदार्थ हेय हैं और चैतन्यमय आत्माका स्वरूप उपादेय है, इस प्रकार व्यवहारनयकी अपेक्षा हेय-उपादेयविभागकी भावनासे ही यद्यपि आत्मतत्त्वका वर्णन किया जाता है; फिर भी निश्चयनयकी अपेक्षा वह समस्त विकल्पोंसे रहित होनेके कारण उक्त हेय-उपादेयविभागकी भावनासे भी रहित है ॥ ४३ ॥ यद्यपि मन आगमकी सहायतासे विशुद्ध परमात्माके स्वरूपको जानकर ही उसे स्वीकार करता है, फिर भी वह आत्मतत्त्व वास्तवमें उस मनका विषय नहीं है ॥ विशेषार्थ– अभिप्राय यह है कि आत्मतत्त्वका परिज्ञान आगमके द्वारा होता है और उस आगमके विचारमें मन कारण है, क्योंकि, मनके विना किसी प्रकारका भी विचार सम्भव नहीं है । इस प्रकार उस आत्मतत्त्वके स्वीकार करनेमें यद्यपि मन कारण होता है, फिर भी निश्चयनयकी अपेक्षा वह आत्मतत्त्व केवल स्वानुभवके द्वारा ही गम्य है, न कि अन्य मन आदिके द्वारा ॥ ४४ ॥ 'मैं अकेला हूं' इस प्रकारकी बुद्धिसे अद्वैत तथा 'मैं कर्मसे संयुक्त हूं' इस प्रकारकी बुद्धिसे द्वैत होता है । इन दोनोंमेंसे प्रथम विकल्प (अद्वैत) अविनश्वर मुक्तिका कारण और द्वितीय (द्वैत) विकल्प केवल संसारका कारण है ॥ ४५ ॥ मैं बद्ध हूं अथवा मुक्त हूं, इस प्रकार द्वित्वबुद्धिके होनेपर निश्चयसे द्वैत होता है । इसलिये जो योगी मोक्षके निमित्त इन दोनों विकल्पोंसे रहित हो गया है वह मुक्त हो जाता है ॥ ४६ ॥ भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान पदार्थोंके अभावकी भावनासे परिपूर्ण चित्त अभ्यासके बलसे चैतन्य स्वरूपको उत्कृष्ट आनन्दसे युक्त कर देता है ॥ विशेषार्थ– निश्चयसे मैं शुद्ध

१ क मुक्तेतरविकल्पं, अ श मुक्तेतरविकल्पं । २ श 'अङ्गीकरोतु' नास्ति । ३ अ श मुक्तः । ४ श कारणविकल्पं । श 'अथ' इति नास्ति ।

645) बद्धं पश्यन् बद्धो मुक्तं मुक्तो भवेत्सदात्मानम् ।
याति यदीयेन पथा तदेव पुरमश्नुते पान्थः ॥ ४८ ॥
646) मा गा बहिरन्तर्वा साम्यसुधापानवर्धितानन्द ।
आस्स्व यथैव तथैव च विकारपरिवर्जितः सततम् ॥ ४९ ॥
647) तज्जयति यत्र लब्धे श्रुतभुवि मत्यापगातिधावन्ती ।
विनिवृत्ता दूरादपि झगिति[2] स्वस्थानमाश्रयति ॥ ५० ॥
648) तन्नमत गृहीताखिलकालत्रयगतजगत्त्रयव्याप्ति ।
यत्रास्तमेति सहसा सकलो ऽपि हि वाक्परिस्पन्दः ॥ ५१ ॥
649) तन्नमत विनष्टाखिलविकल्पजालद्रुमाणि परिकलिते ।
यत्र वहन्ति विदग्धा दग्धवनानीव हृदयानि ॥ ५२ ॥

ज्ञान[3]-अभ्यासात् चिद्रूपं परमानन्दान्वितं कुरुते ॥ ४७ ॥ सदा सर्वदा आत्मानं बद्धं पश्यन् बद्धः भवेत् । मुक्तं पश्यन् मुक्तः भवेत् । पान्थः पथिकः । यदीयेन पथा मार्गेण याति तदेव पुरं नगरम् । अश्नुते प्राप्नोति ॥ ४८ ॥ बहिः बाह्यम् । अन्तः अभ्यन्तरम् । मा गाः मा गच्छ । भो साम्यसुधापानवर्धितानन्द । तथा आस्स्व तिष्ठ । तथा कथम् । यथा विकारपरिवर्जितः सततं भवसि ॥ ४९ ॥ तत्तत्त्वं जयति । यत्र तत्त्वे लब्धे सति । मत्यापगा मतिर्[4]नदी । श्रुतभुवि आगमभूमौ । अतिधावन्ती, दूरादपि विनिवृत्ता व्याघुटिता । झगिति वेगेन । स्वस्थानम् आश्रयति ॥ ५० ॥ तत् आत्मज्योतिः भो लोकाः यूयं नमत । यत्र आत्मज्योतिषि । सकलोऽपि वाक्परिस्पन्दः वचनसमूहः । सहसा अस्तम् एति अ[5]स्तं गच्छति । किंलक्षणं ज्योतिः । गृहीत-अखिलकालत्रयगतजगत्त्रयस्य व्याप्तिः यस्मिन् तत् व्याप्ति ॥ ५१ ॥ भो भव्याः । तत्तत्त्वम् । यूयं नमत । यत्र आत्मनि तत्त्वे परिकलिते सति ज्ञाते सति । विदग्धाः पण्डिताः । दग्धवनानि इव हृदयानि वहन्ति धारयन्ति । [6]कथंभूतानि हृदयवनानि ।

चैतन्यस्वरूप हूं, उसके सिवाय दूसरा कोई भी पदार्थ मेरा न तो भूत कालमें था, न वर्तमानमें है, और न भविष्यमें होगा; इस प्रकार जब यह मन अद्वैतकी भावनासे दृढ़ताको प्राप्त हो जाता है तब जीवको परमानन्दस्वरूप पद प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥ जो जीव आत्माको निरन्तर कर्मसे बद्ध देखता है वह कर्मबद्ध ही रहता है, किन्तु जो उसे मुक्त देखता है वह मुक्त हो जाता है । ठीक है– पथिक जिस नगरके मार्गसे जाता है उसी नगरको वह प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥ हे समतारूप अमृतके पानसे वृद्धिंगत आनन्दको प्राप्त आत्मन् ! तू बाह्य तत्त्व अथवा अन्तस्तत्त्वमें मत जा । तू जिस प्रकारसे भी निरन्तर विकारोंसे रहित होता है उसी प्रकारसे स्थित हो जा ॥ ४९ ॥ जिस चैतन्यस्वरूपके प्राप्त होनेपर आगमरूप पृथिवीके ऊपर वेगसे दौड़नेवाली बुद्धिरूपी नदी दूरसे लौटकर शीघ्र ही अपने स्थानका आश्रय लेती है वह चैतन्य स्वरूप जयवन्त रहे ॥ विशेषार्थ– अभिप्राय यह है कि जब तक चैतन्य स्वरूपकी उपलब्धि नहीं होती है तभी तक बुद्धि आगमके अभ्यासमें प्रवृत्त होती है । किन्तु जैसे ही उक्त चैतन्य स्वरूपका अनुभव प्राप्त होता है वैसे ही वह बुद्धि आगमकी ओरसे विमुख होकर उस चैतन्य स्वरूपमें ही रम जाती है । इसीसे जीवको शाश्वतिक सुखकी प्राप्ति होती है ॥ ५० ॥ जिस आत्मज्योतिमें तीनों काल और तीनों लोकोंके सब ही पदार्थ प्रतिभासित होते हैं तथा जिसके प्रगट होनेपर समस्त ही वचनप्रवृत्ति सहसा नष्ट हो जाती है उस आत्मज्योतिको नमस्कार करो ॥ ५१ ॥ जिस आत्मतेजके जान लेनेपर चतुर जन जले हुए वनोंके समान विनाशको प्राप्त हुए समस्त विकल्पसमूहरूप वृक्षोंसे युक्त हृदयोंको धारण करते हैं उस आत्मतेजके लिये नमस्कार करो ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार वनमें अग्निके लग जानेपर सब वृक्ष जलकर नष्ट

१ श मुक्तो । २ श झटिति । ३ श 'भेदज्ञान' इति नास्ति । ४ श 'मति' नास्ति । ५ श 'अस्तं' नास्ति । ६ क श 'कथंभूतानि' इत्यादि संदर्भो नास्ति ।

650) बद्धो वा मुक्तो वा चिद्रूपो नयविचारविधिरेषः ।
सर्वनयपक्षरहितो भवति हि साक्षात्समयसारः ॥ ५३ ॥
651) नयनिक्षेपप्रमितिप्रभृतिविकल्पोज्झितं परं शान्तम् ।
शुद्धानुभूतिगोचरमहमेकं धाम चिद्रूपम् ॥ ५४ ॥
652) ज्ञाते ज्ञातमशेषं दृष्टे दृष्टं च शुद्धचिद्रूपे ।
निःशेषबोध्यविषयौ दृग्बोधौ यन्न तद्भिन्नौ ॥ ५५ ॥
653) भावे मनोहरे ऽपि च काचिन्नियता च जायते प्रीतिः ।
अपि सर्वाः परमात्मनि दृष्टे तु स्वयं समाप्यन्ते ॥ ५६ ॥
654) सन्नप्यसन्निव विदां जनसामान्यो ऽपि कर्मणो योगः ।
तरणपटूनामृद्धः पथिकानामिव सरित्पूरः ॥ ५७ ॥
655) मृगयमाणेन सुचिरं रोहणभुवि रत्नमीप्सितं प्राप्य ।
हेयाहेयश्रुतिरपि विलोक्यते लब्धतत्त्वेन ॥ ५८ ॥

विनष्टाखिलविकल्पजालद्रुमाणि ॥ ५२ ॥ चिद्रूपः बद्धः वा मुक्तः वा[1] एषः नयविचारविधिः । हि यतः । साक्षात्समयसारः सर्वनयपक्षरहितः भवति ॥ ५३ ॥ अहम् एकं[2] चिद्रूपम् । धाम गृहम् । किंलक्षणं चिद्रूपम् । नयनिक्षेपप्रमिति-प्रमाणप्रभृति-आदिविकल्पोज्झितं रहितम् । पुनः किंलक्षणं चिद्रूपम् । शान्तम् । परं श्रेष्ठम् । पुनः शुद्धानुभूतिगोचरम् ॥ ५४ ॥ शुद्धचिद्रूपे ज्ञाते सति अशेषं ज्ञातम् । च पुनः । शुद्धचिद्रूपे दृष्टे सति अशेषं दृष्टम् । यद्यस्मात्कारणात् । दृग्बोधौ । तद्भिन्नौ न तस्मात् चिद्रूपात् भिन्नौ न । किंलक्षणौ दृग्बोधौ । निःशेषबोध्यविषयौ निःशेषज्ञेयगोचरौ ॥ ५५ ॥ च पुनः । मनोहरेऽपि भावे[3] सति । काचित् नियता निश्चिता । प्रीतिः । जायते उत्पद्यते । अपि । स्वयम् आत्मना परमात्मनि दृष्टे सति सर्वाः प्रीतयः समाप्यन्ते । यस्मिन् परमात्मनि दृष्टे सति सर्वपदार्थाः दृश्यन्ते । सर्वो मोहो[4] विनाशं गच्छति ॥ ५६ ॥ विदां पण्डितानाम् । कर्मणो योगः सन् अपि असन् इव । तरणपटूनां पथिकानां सरित्पूरः इव । किंलक्षणः सरित्पूरः । जनसामान्योऽपि जनतुल्यः अपि । समृद्धः ॥ ५७ ॥ लब्धतत्त्वेन मुनिना । हेय-अहेयश्रुतिः अपि विलोक्यते । रोहणभुवि रोहणाचले । सुचिरं चिरकालम् । मृगयमाणेन

हो जाते हैं उसी प्रकार विवेकी जनके हृदयमें आत्मतेजके प्रगट हो जानेपर समस्त विकल्पसमूह नष्ट हो जाते हैं । ऐसे आत्मतेजको नमस्कार करना चाहिये ॥ ५२ ॥ चैतन्यस्वरूप बद्ध है अथवा मुक्त है, यह तो नयोंके आश्रित विचारका विधान है । वास्तवमें समयसार (आत्मस्वरूप) साक्षात् इन सब नयपक्षोंसे रहित है ॥ ५३ ॥ जो चैतन्यरूप तेज नय, निक्षेप और प्रमाण आदि विकल्पोंसे रहित; उत्कृष्ट, शान्त, एक एवं शुद्ध अनुभवका विषय है वही मैं हूं ॥ ५४ ॥ शुद्ध चैतन्यस्वरूपके ज्ञात हो जानेपर सब कुछ ज्ञात हो जाता है तथा उसके देख लेनेपर सब कुछ देखनेमें आ जाता है । कारण यह कि समस्त ज्ञेय पदार्थोंको विषय करनेवाले दर्शन और ज्ञान उक्त चैतन्य स्वरूपसे भिन्न नहीं हैं ॥ ५५ ॥ मनोहर भी पदार्थके विषयमें कुछ नियमित ही प्रीति उत्पन्न होती है । परन्तु परमात्माका दर्शन होनेपर सब ही प्रकारकी प्रीति स्वयमेव नष्ट हो जाती है ॥ ५६ ॥ जिस प्रकार तैरनेमें निपुण पथिकोंके लिये वृद्धिंगत नदीका प्रवाह हो करके भी नहींके समान होता है— उसे वे कुछ भी बाधक नहीं मानते हैं— उसी प्रकार विद्वज्जनोंके लिये जनसाधारणमें रहनेवाला कर्मका सम्बन्ध विद्यमान होकर भी अविद्यमानके समान प्रतीत होता है ॥ ५७ ॥ जिस प्रकार चिर कालसे रोहण पर्वतकी भूमिमें इच्छित रत्नको खोजनेवाला मनुष्य उसे प्राप्त करके हेय और उपादेयकी श्रुतिका भी अवलोकन करता है— यह ग्रहण करनेके योग्य है या त्यागनेके योग्य, इस प्रकारका विचार करता है— उसी प्रकार तत्त्वज्ञ पुरुष आत्मारूप रोहणभूमिमें चिर कालसे इच्छित आत्मतत्त्वरूप रत्नको खोजता हुआ उसे प्राप्त करके हेय-उपादेय श्रुतिका भी

१ क 'वा' नास्ति । २ श एकं अहम् । ३ श मनोहरे भावे । ४ क सर्वं मोहं ।

656) कर्मकलितो ऽपि मुक्तः सश्रीको दुर्गतो ऽप्यहमतीव ।
तपसा दुःख्यपि च सुखी श्रीगुरुपादप्रसादेन ॥ ५९ ॥

657) बोधादस्ति न किंचित्कार्यं यद्दृश्यते मलात्तन्मे ।
आकृष्टयन्त्रसूत्राद्दारुनरः[1] स्फुरति नटकानाम् ॥ ६० ॥

658) निश्चयपञ्चाशत् पद्मनन्दिनं सूरिमाश्रिभिः कैश्चित् ।
शब्दैः स्वशक्तिसूचितवस्तुगुणैर्विरचितेयमिति ॥ ६१ ॥

659) तृणं नृपश्रीः किमु वच्मि तस्यां न कार्यमाखण्डलसंपदो ऽपि ।
अशेषवाञ्छाविलयैकरूपं तत्त्वं परं चेतसि चेन्ममास्ते ॥ ६२ ॥

अवलोक्यमानेन । ईप्सितं रत्नं प्राप्य विलोक्यते ॥ ५८ ॥ श्रीगुरुपादप्रसादेन अहं कर्मकलितोऽपि मुक्तः । श्रीगुरुपादप्रसादेन अहं दुर्गतोऽपि दरिद्रोऽपि अतीव सश्रीकः श्रीमान् । च पुनः । तपसा दुःखी अपि श्रीगुरुपादप्रसादेन अहं सुखी ॥ ५९ ॥ मे मम बोधात् ज्ञानात् । किंचित् अपरम् । कार्यं न अस्ति । यत् दृश्यते तत् । मलात् कर्ममलात् दृश्यते । नटकानाम् । दारुनरः काष्ठपुत्तलिका । आकृष्टयन्त्रसूत्रात् आकर्षितसूत्रात् । नटति नृत्यति ॥ ६० ॥ इति अमुना प्रकारेण । इयं निश्चयपञ्चाशत् कैश्चित् शब्दैः । विरचिता कृता । किंलक्षणैः शब्दैः । पद्मनन्दिनम् । सूरिम् आचार्यम् । आश्रिभिः आश्रितैः । पुनः किंलक्षणैः शब्दैः । [2]स्वशक्तिसूचितवस्तुगुणैः ॥ ६१ ॥ चेद्यदि । मम चेतसि । परम्[5] आत्मतत्त्वम् । आस्ते[6] तिष्ठति । किंलक्षणं परं तत्त्वम् । अशेषवाञ्छाविलयैकरूपं सर्ववाञ्छारहितम् । नृपश्रीः तृणम् । तस्यां राजलक्ष्म्याम् । किमु वच्मि किं कथयामि । मम आखण्डलसंपदोऽपि न कार्यम् ॥ ६२ ॥ इति निश्चयपञ्चाशत् समाप्ता ॥ ११ ॥

अवलोकन करता है ॥ ५८ ॥ मैं कर्मसे संयुक्त हो करके भी श्रीगुरुदेवके चरणोंके प्रसादसे मुक्त जैसा ही हूं, अत्यन्त दरिद्र होकर भी लक्ष्मीवान् हूं, तथा तपसे दुःखी होकर भी सुखी हूं ॥ विशेषार्थ– तत्त्वज्ञ जीव विचार करता है कि यद्यपि मैं पर्यायकी अपेक्षा कर्मसे सम्बद्ध हूं, दरिद्री हूं, और तपसे दुःखी भी हूं तथापि गुरुने जो मुझे शुद्ध आत्मस्वरूपका बोध कराया है उससे मैं यह जान चुकाहूं कि वास्तवमें न मैं कर्मसे सम्बद्ध हूं, न दरिद्री हूं, और न तपसे दुःखी ही हूं। कारण यह कि निश्चयसे मैं कर्मबन्धसे रहित, अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीसे सहित, एवं परमानन्दसे परिपूर्ण हूं। ये पर पदार्थ शुद्ध आत्मस्वरूपपर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकते हैं ॥ ५९ ॥ मुझे ज्ञानके सिवाय अन्य कुछ भी कार्य नहीं है। अन्य जो कुछ भी दिखता है वह कर्ममलसे दिखता है । जैसे–नटोंका काष्ठमय पुरुष (कठपुतली) यंत्रकी डोरीके खींचनेसे नाचता है ॥ विशेषार्थ–जिस प्रकार नटके द्वारा कठपुतलीके यंत्रकी डोरीके खींचे जानेपर वह कठपुतली नाचा करती है उसी प्रकार प्राणी कर्मरूप डोरीसे प्रेरित होकर चतुर्गतिस्वरूप संसारमें परिभ्रमण किया करता है, निश्चयसे देखा जाय तो जीव कर्मबन्धसे रहित शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा है, उसका किसी भी बाह्य पर पदार्थसे प्रयोजन नहीं है ॥ ६० ॥ पद्मनन्दी सूरिका आश्रय लेकर अपनी शक्ति (वाचक शक्ति) से वस्तुके गुणोंको सूचित करनेवाले कुछ शब्दोंके द्वारा यह 'निश्चयपंचाशत्' प्रकरण रचा गया है ॥ ६१ ॥ यदि मेरे मनमें समस्त इच्छाओंके अभावरूप अनुपम स्वरूपवाला उत्कृष्ट आत्मतत्त्व स्थित है तो फिर राजलक्ष्मी तृणके समान तुच्छ है। उसके विषयमें तो क्या कहूं, किन्तु मुझे तो तब इन्द्रकी सम्पत्तिसे भी कुछ प्रयोजन नहीं है ॥ ६२ ॥ इस प्रकार निश्चयपंचाशत् अधिकार समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

---

१ क आकृष्टियन्त्र, ब आकृष्यन्त्र । २ श स्वभक्ति । ३ श चेन्ममास्ति । ४ क आकृष्टि । ५ श चेतसि मम अन्तःकरणे परं । ६ श अस्ति ।

[१२. ब्रह्मचर्यरक्षावर्तिः]

660) भ्रूक्षेपेण जयन्ति ये रिपुकुलं लोकाधिपाः केचन
द्राक् तेषामपि येन वक्षसि दृढं रोपः समारोपितः ।
सो ऽपि प्रोद्गतविक्रमः स्मरभटः शान्तात्मभिर्लीलया
यैः शस्त्रग्रहवर्जितैरपि जितस्तेभ्यो यतिभ्यो नमः ॥ १ ॥

661) आत्मा ब्रह्म विविक्तबोधनिलयो यत्तत्र चर्यं परं
स्वाङ्गासंगविवर्जितैकमनसस्तद्ब्रह्मचर्यं मुनेः ।
एवं सत्यबलाः स्वमातृभगिनीपुत्रीसमाः प्रेक्षते
वृद्धाद्या विजितेन्द्रियो यदि तदा स ब्रह्मचारी भवेत् ॥ २ ॥

662) स्वप्ने स्यादतिचारिता यदि तदा तत्रापि शास्त्रोदितं
प्रायश्चित्तविधिं करोति रजनीभागानुगत्या मुनिः ।

तेभ्यः यतिभ्यः । नमः नमस्कारोऽस्तु । यैः यतिभिः । सोऽपि । प्रोद्गतविक्रमः उत्पन्नविक्रमः । स्मरभटः लीलया जितः । किं लक्षणैर्यतिभिः । शान्तात्मभिः क्षमायुक्तैः । पुनः किंलक्षणैः । शस्त्रग्रहवर्जितैः[1] अपि कामो जितः । येन कामेन । तेषां राज्ञाम् । अपि । वक्षसि हृदये । दृढं कठिनं रोपः बाणः । समारोपितः स्थापितः । तेषां केषाम्[2] । ये केचन राजानः । भ्रूक्षेपेण रिपुकुलं जयन्ति । किंलक्षणाः राजानः लोकाधिपाः ॥ १ ॥ आत्मा ब्रह्म विविक्तबोधनिलयः । तत्र आत्मनि । यन्मुनेः । चर्यं प्रवर्तनम् । तत्परं ब्रह्मचर्यम् । किंलक्षणस्य मुनेः । स्व-अङ्गस्य शरीरस्य । आसंगात् निकटात् । विवर्जितैकमनसः । एवं सति अबलाः वृद्धाद्याः यदि स्वमातृभगिनीपुत्रीसमाः प्रेक्षते तदा स मुनिः ब्रह्मचारी भवेत् । किंलक्षणः मुनिः विजितेन्द्रियः ॥ २ ॥ तत्र ब्रह्मचर्ये । यदि स्वप्नेऽपि अतिचारिता । स्याद्भवेत् । तदा मुनिः । रजनीभागानुगत्या रात्रिप्रहर–अनुसारेण शास्त्रोदितं प्रायश्चित्तविधिं करोति । पुनः । यदि चेत् । जाग्रतोऽपि हि रागोद्रेकतया दुराशयतया

जो कितने ही राजा भृकुटिकी कुटिलतासे ही शत्रुसमूहको जीत लेते हैं उनके भी वक्षःस्थलमें जिसने दृढ़तासे बाणका आघात किया है ऐसे उस पराक्रमी कामदेवरूप सुभटको जिन शान्त मुनियोंने विना शस्त्रके ही अनायास जीत लिया है उन मुनियोंके लिये नमस्कार हो ॥ १ ॥ ब्रह्म शब्दका अर्थ निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्मा है, उस आत्मामें लीन होनेका नाम ब्रह्मचर्य है । जिस मुनिका मन अपने शरीरके भी सम्बन्धमें निर्ममत्व हो चुका है उसीके वह ब्रह्मचर्य होता है । ऐसा होनेपर यदि इन्द्रियविजयी होकर वृद्धा आदि (युवती, बाला) स्त्रियोंको क्रमसे अपनी माता, बहिन और पुत्रीके समान समझता है तो वह ब्रह्मचारी होता है ॥ विशेषार्थ–व्यवहार और निश्चयकी अपेक्षा ब्रह्मचर्यके दो भेद किये जा सकते हैं । इनमें मैथुन क्रियाके त्यागको व्यवहार ब्रह्मचर्य कहा जाता है । वह भी अणुव्रत और महाव्रतके भेदसे दो प्रकारका है । अपनी पत्नीको छोड़ शेष सब स्त्रियोंको यथायोग्य माता, बहिन और पुत्रीके समान मानकर उनमें रागपूर्ण व्यवहार न करना; इसे ब्रह्मचर्याणुव्रत अथवा स्वदारसन्तोष भी कहा जाता है । तथा शेष स्त्रियोंके समान अपनी पत्नीके विषयमें भी अनुरागबुद्धि न रखना, यह ब्रह्मचर्यमहाव्रत कहलाता है जो मुनिके होता है । अपने विशुद्ध आत्मस्वरूपमें ही रमण करनेका नाम निश्चय ब्रह्मचर्य है । यह उन महामुनियोंके होता है जो अन्य बाह्य पदार्थोंके विषयमें तो क्या, किन्तु अपने शरीरके भी विषयमें निःस्पृह हो चुके हैं । इस प्रकारके ब्रह्मचर्यका ही स्वरूप प्रस्तुत श्लोकमें निर्दिष्ट किया गया है ॥ २ ॥ यदि स्वप्नमें भी कदाचित् ब्रह्मचर्यके विषयमें अतिचार (दोष) उत्पन्न होता है तो मुनि उसके

---

१ श शस्त्रग्रहणवर्जितैः । २ श 'तेषां केषाम्' नास्ति ।

रागोद्रेकतया दुराशयतया सा गौरवात् कर्मणः
तस्य स्याद्यदि जाग्रतो ऽपि हि पुनस्तस्यां महच्छोधनम् ॥ ३ ॥

663) नित्यं खादति हस्तिसूकरपलं सिंहो बली तद्रति-
र्वर्षेणैकदिने शिलाकणचरे पारावते सा सदा ।
न ब्रह्मव्रतमेति नाशमथवा स्यान्नैव भुक्तेर्गुणा-
त्तद्रक्षां दृढ एक एव कुरुते साधोर्मनःसंयमः ॥ ४ ॥

664) चेतःसंयमनं यथावदवनं मूलव्रतानां मतं
शेषाणां च यथाबलं प्रभवतां बाह्यं[1] मुनेर्ज्ञानिनः ।
तज्जन्यं पुनरान्तरं समरसीभावेन चिच्चेतसो
नित्यानन्दविधायि कार्यजनकं[2] सर्वत्र हेतुर्द्वयम् ॥ ५ ॥

665) चेतोभ्रान्तिकरी नरस्य मदिरापीतिर्यथा स्त्री तथा
तत्संगेन कुतो मुनेर्व्रतविधिः स्तोको ऽपि संभाव्यते ।

वा कर्मणः गौरवात् । सा[3] अतिचारिता । तस्य मुनेः । स्यात् भवेत् । तदा । तस्याम् अतिचारितायाम् । महत् शोधनम् ॥ ३ ॥ सिंहो बली नित्यं सदैव हस्तिसूकरपलं मांसं खादति । तद्रतिः तस्य सिंहस्य रतिः कामः । वर्षेण एकदिने भवति । सा रतिः । पारावते कपोतयुगले सदा । किंलक्षणे पारावते । शिलाकणचरे पाषाणखण्डचरे । ततः भुक्तेः आहारस्य गुणात् ब्रह्मव्रतं नाशं न एति न गच्छति । अथवा अभुक्तेर्गुणात् अभोजनात् ब्रह्मव्रतं न भवेत् । साधोः मुनेः । एक एव मनः–संयमः मनोनिरोधः । तद्रक्षां[4] तस्य कामस्य रक्षां कुरुते ॥ ४ ॥ ज्ञानिनः मुनेः मूलव्रतानाम् । च पुनः । शेषाणाम् उत्तर-गुणानाम् । यथावत् यथोक्तम् अवनं रक्षणम् । बाह्यं चेतःसंयमनं मतम्[5] । किंलक्षणानाम् उत्तरगुणानाम् । यथाबलं प्रभवतां यथोक्त–उत्पद्यमानानाम् । पुनः । चिच्चेतसः समरसीभावेन एकीभावेन[6] । आन्तरम् अभ्यन्तरम् । तज्जन्यं तस्मात् मूलोत्तरगुण-प्रतिपालनात् । किंलक्षणम् अभ्यन्तरसमरसम् । नित्यानन्दविधायिकार्यजनकम् । सर्वत्र विधौ । हेतुर्द्वयं बाह्य-अभ्यन्तरकारणम् ॥ ५ ॥ नरस्य यथा मदिरापीतिः मदिरापानम् । चेतोभ्रान्तिकरी भवेत् तथा स्त्री चेतोभ्रान्तिकरी भवेत् । मुनेः । तत्संगेन तस्याः स्त्रियाः संगेन निकटेन । स्तोकोऽपि व्रतविधिः कुतः संभाव्यते । अपि तु न संभाव्यते । तत्तस्मात्कारणात् । व्रतिभिः समस्त-

विषयमें भी रात्रिविभागके अनुसार विधिपूर्वक प्रायश्चित्तको करते हैं । फिर यदि कर्मोदयवश रागकी प्रबलतासे अथवा दुष्ट अभिप्रायसे जागृत अवस्थामें वैसा अतिचार होता है तब तो उन्हें महान् प्रायश्चित्त करना पड़ता है ॥ ३ ॥ जो बलवान् सिंह निरन्तर हाथी और शूकरके मांसको खाता है उसका अनुराग (संभोग) वर्षमें केवल एक दिनके लिये होता है । इसके विपरीत जो कबूतर कंकड़ोंको खाता है उसका वह अनुराग निरन्तर बना रहता है । अथवा, भोजनके गुणसे– गरिष्ठ भोजन या रूखा-सूखा भोजन करने अथवा उपवास करनेसे– उस ब्रह्मचर्यका न तो नाश होता है और न रक्षा ही होती है । उसकी रक्षा तो दृढ़तासे निग्रहको प्राप्त कराया गया एक साधुका मन ही करता है ॥ ४ ॥ मूलगुणोंका तथा शक्तिके अनुसार उत्पन्न होनेवाले शेष (उत्तर) गुणोंका विधिपूर्वक रक्षण करना, यह ज्ञानी मुनिका बाह्य मनःसंयम कहा जाता है । इससे फिर वह अन्तरंग संयम उत्पन्न होता है जो चैतन्य और चित्तके एकरूप हो जानेसे शाश्वतिक सुखको उत्पन्न करता है । ठीक है– सर्वत्र बाह्य और आभ्यन्तर ये दोनों ही कारण कार्यके जनक होते हैं ॥ ५ ॥ जिस प्रकार मद्यपान मनुष्यके चित्तको भ्रान्तियुक्त कर देता है उसी प्रकार स्त्री भी उसके चित्तको भ्रान्तियुक्त कर देती है । फिर भला उसकी संगतिसे मुनिके थोड़े-से भी व्रताचरणकी सम्भावना कहांसे हो सकती है ? नहीं हो सकती है । इसलिये जिनकी बुद्धि संसारपरिभ्रमणसे भयको

१ क बाह्ये । २ क कर्मजनकं । ३ श 'सा' नास्ति । ४ क 'तद्रक्षां' नास्ति । ५ क 'मतम्' नास्ति । ६ श 'एकीभावेन' नास्ति ।

तस्मात्संसृतिपातभीतमतिभिः प्राप्तैस्तपोभूमिकां
कर्तव्यो व्रतिभिः समस्तयुवतित्यागे प्रयत्नो महान् ॥ ६ ॥

666) मुक्तेर्द्वारि दृढार्गला भवतरोः सेके ऽङ्गना सारिणी
मोहव्याधविनिर्मिता नरमृगस्याबन्धने वागुरा[2]।
यत्संगेन सतामपि प्रसरति प्राणातिपातादि तत्
तद्वार्तापि यतेर्यतित्वहतये कुर्यान्न किं सा पुनः[1] ॥ ७ ॥

667) तावत्पूज्यपदस्थितिः परिलसत्तावद्यशो जृम्भते
तावच्छुभ्रतरा गुणाः शुचिमनस्तावत्तपो निर्मलम् ।
तावद्धर्मकथापि राजति यतेस्तावत्स दृश्यो भवेद्
यावन्न स्मरकारि हारि युवते रागान्मुखं वीक्षते ॥ ८ ॥

668) तेजोहानिमपूततां व्रतहतिं पापं प्रपातं पथो
मुक्ते रागितयाङ्गनास्मृतिरपि क्लेशं करोति ध्रुवम् ।

युवतित्यागे महान् प्रयत्नः कर्तव्यः । किंलक्षणैः व्रतिभिः । संसृतिपातेन भीतमतिभिः । पुनः किंलक्षणैः व्रतिभिः । तपोभूमिकां प्राप्तैः ॥ ६ ॥ अङ्गना स्त्री । मुक्तेर्द्वारि दृढार्गला । अङ्गना भवतरोः संसारवृक्षस्य । सेके सिञ्चने । सारिणी जलधोरिणी । अङ्गना । नरमृगस्य आबन्धने । मोहव्याधेन भिल्लेन विनिर्मिता वागुरा । यत्संगेन यस्याः स्त्रियाः संगेन । सतामपि । तत् प्राणातिपातादि प्रसरति प्राणनाशोद्भवं पापं प्रसरति । तद्वार्तापि । यतेः मुनेः । यतित्वहतये भवेत् । पुनः सा स्त्री प्रत्यक्षं यतित्वपदनाशं किं न कुर्यात् । अपि तु कुर्यात् ॥ ७ ॥ यावत् कालम् । रागात् युवतेः मुखं न वीक्षते । किंलक्षणं मुखम् । स्मरकारि कामोत्पादकम् । पुनः हारि मनोहरम् । तावत्कालम् । पूज्यपदस्थितिः । परिलसत् दीप्तियुक्तं यशः तावत् जृम्भते । शुभ्रतराः गुणाः तावत् सन्ति । तावत् मनः शुचिः । तावत् तपो निर्मलम् । तावत्कालं यतेः धर्मकथापि । राजते शोभते । स यतिः । तावत्कालम् । दृश्यः द्रष्टुं योग्यः भवेत् । यावत्कालं युवतेः मुखम् । न वीक्षते न अवलोकयति ॥ ८ ॥ रागितया अङ्गनास्मृतिः स्त्रीस्मरणम् । अपि ध्रुवं निश्चितम् । तेजोहानिं करोति अपवित्रतां करोति । व्रतहतिं करोति व्रतविनाशं करोति । पापं करोति । स्त्रीस्मरणं मुक्तेः पथः

प्राप्त हुई है तथा जो तपका अनुष्ठान करनेवाले हैं उन संयमी जनोंको समस्त स्त्रीजनके त्यागमें महान् प्रयत्न करना चाहिये ॥ ६ ॥ जो स्त्री मोक्षरूप महलके द्वारकी दृढ़ अर्गला (दोनों कपाटोंको रोकनेवाला काष्ठविशेष– बेंडा) के समान है, जो संसाररूप वृक्षके सींचनेके लिये सारिणी (छोटी नदी या सिंचनपात्र) के सदृश है, जो पुरुषरूप हिरणके बांधनेके लिये वागुरा (जाल) के समान है, तथा जिसकी संगतिसे सज्जनोंके भी प्राणघातादि (हिंसादि) दोष विस्तारको प्राप्त होते हैं; उस स्त्रीका नाम लेना भी जब मुनिव्रतके नाशका कारण होता है तब भला वह स्वयं क्या नहीं कर सकती है ? अर्थात् वह सभी व्रत-नियमादिको नष्ट करनेवाली है ॥ ७ ॥ जब तक कामको उद्दीपित करनेवाला युवती स्त्रीका मनोहर मुख अनुरागपूर्ण दृष्टिसे नहीं देखता है तब तक ही मुनिकी पूज्य पदमें स्थिति रह सकती है, तब तक ही उसकी मनोहर कीर्तिका विस्तार होता है, तब तक ही उसके निर्मल गुण विद्यमान रहते हैं, तब तक ही उसका मन पवित्र रहता है, तब तक ही निर्मल तप रहता है, तब तक ही धर्मकी कथा सुशोभित होती है, और तब तक ही वह दर्शनके योग्य होता है ॥ ८ ॥ रागबुद्धिसे किया गया स्त्रीका स्मरण भी जब निश्चयसे मुनिके तेजकी हानि, अपवित्रता, व्रतका विनाश, पाप, मोक्षमार्गसे पतन तथा क्लेशको करता है तब भला उसकी समीपता, दर्शन, वार्तालाप और स्पर्श आदि क्या अनर्थोंकी परम्पराको नहीं करते हैं ? अर्थात्

१ श कुर्यान्न सा किं पुनः । २ श वागुरा विनिर्मिता ।

तत्सांनिध्यविलोकनप्रतिवचःस्पर्शादयः कुर्वते
किं नानर्थपरंपरामिति यतेस्त्याज्याबला दूरतः ॥ ९ ॥

669) वेश्या स्याद्धनतस्तदस्ति न यतेश्चेदस्ति सा स्यात् कुतो
नात्मीया युवतिर्यतित्वमभवत्तत्त्यागतो यत्पुरा ।
पुंसो ऽन्यस्य च योषितो यदि रतिश्छिन्नो नृपात्तत्पतेः
स्यादापज्जननद्वयक्षयकरी त्याज्यैव योषा यतेः ॥ १० ॥

670) दारा एव गृहं न चेष्टकचितं तत्तैर्गृहस्थो भवेत्
तत्त्यागे यतिरादधाति नियतं स ब्रह्मचर्यं परम् ।
वैकल्यं किल तत्र चेत्तदपरं सर्वं विनष्टं व्रतं
पुंसस्तेन विना तदा तदुभयभ्रष्टत्वमापद्यते ॥ ११ ॥

671) संपद्येत दिनद्वयं यदि सुखं नो भोजनादेस्तदा
स्त्रीणामप्यतिरूपगर्वितधियामङ्गं शवाङ्गायते ।

मार्गात् प्रपातं करोति । क्लेशं करोति । तत्सांनिध्यविलोकनप्रतिवचःस्पर्शादयः तस्याः युवत्याः निकटविलोकनप्रतिवचनस्पर्शादयः । अनर्थपरंपरां पापपरंपराम् । किं न कुर्वते । अपि तु कुर्वते[1] । इति हेतोः । भो यते[2] । अबला दूरतः त्याज्या त्यजनीया ॥ ९ ॥ वेश्या धनतः स्यात् भवेत्[3] । तद्धनं यतेः नास्ति । चेत् यदि । कलिप्रभावात् यतिभिः धनं गृहीतं तद्धनं यतेः अस्ति तदा सा वेश्या कुतः कस्मात् प्राप्यते । तस्य यतेः आत्मीया अपि युवतिः न । सैव त्यक्ता । यत् यस्मात् । पुरा पूर्वम् । तत्त्यागतः स्त्रीत्यागतः । यतित्वम् अभवत् । च पुनः । अन्यस्य पुंसः पुरुषस्य । योषितः सकाशात् । यदि । रतिः क्रीडा । स्यात् भवेत् । तदा तत्पतेः तस्याः स्त्रियाः पतेः [पत्युः] वल्लभात् । अथवा नृपात् । छिन्नः हस्तपादइन्द्रियादिछेदितः । आपत् स्यात् भवेत् । ततः कारणात् । योषा जननद्वयक्षयकरी इहलोकपरलोकद्वयक्षयकरी । यतेः त्याज्या ॥ १० ॥ दाराः स्त्री एव गृहम् । च पुनः । इष्टकचितं व्याप्तं गृहं गृहं न । लोके ईटः[4] । तत्तस्मात्कारणात् । तैः कलत्रैः कृत्वा । गृहस्थः भवेत् । तत्त्यागे स्त्रीत्यागे सति । सः यतिः नियतं निश्चितम् । परं ब्रह्मचर्यम् आदधाति आचरति । चेत् यदि । तत्र ब्रह्मचर्ये वैकल्यम् । किल इति सत्ये । अपरं सर्वं सकलं[6] व्रतम् । विनष्टम् । तेन ब्रह्मचर्येण विना तदा पुंसः पुरुषस्य । तदुभयभ्रष्टत्वम् आपद्यते प्राप्यते इहलोके परलोके भ्रष्टं[7] भवेत् ॥ ११ ॥ यदि स्त्रीणाम् । भोजनादेः सकाशात् । दिनद्वयं सुखं नो संपद्येत सुखं न उत्पद्यते । तदा स्त्रीणाम्

अवश्य करते हैं । इसलिये साधुको ऐसी स्त्रीका दूरसे ही त्याग करना चाहिये ॥ ९ ॥ वेश्या धनसे प्राप्त होती है, सो वह धन मुनिके पास है नहीं । यदि कदाचित् वह धन भी उसके पास हो तो भी वह प्राप्त कहांसे होगी ? अर्थात् उसकी प्राप्ति दुर्लभ है । इसके अतिरिक्त यदि अपनी ही स्त्री मुनिके पास हो, सो यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि, पूर्वमें उसका त्याग करके ही तो मुनिधर्म स्वीकार किया है । यदि किसी दूसरे पुरुषकी स्त्रीसे अनुराग किया जाय तो राजाके द्वारा तथा उस स्त्रीके पतिके द्वारा भी इन्द्रियछेदन आदिके कष्टको प्राप्त होता है । इसलिये साधुके लिये दोनों लोकोंको नष्ट करनेवाली उस स्त्रीका त्याग ही करना चाहिये ॥ १० ॥ स्त्री ही घर है, ईंटोंसे निर्मित घर वास्तवमें घर नहीं है । उस स्त्रीरूप गृहके सम्बन्धसे ही श्रावक गृहस्थ होता है । और उसका त्याग करके साधु नियमित उत्कृष्ट ब्रह्मचर्यको धारण करता है । यदि उस ब्रह्मचर्यके विषयमें विकलता (दोष) हो तो फिर अन्य सब व्रत नष्ट हो जाता है । इस प्रकार उस ब्रह्मचर्यके विना पुरुष दोनों ही लोकोंसे भ्रष्ट होता है, अर्थात् उसके यह लोक और परलोक दोनों ही बिगड़ते हैं ॥ ११ ॥ यदि दो दिन ही भोजन आदिका सुख न प्राप्त हो तो अपने सौन्दर्यपर अत्यन्त अभिमान करनेवाली उन स्त्रियोंका शरीर मृत शरीरके समान हो जाता है । स्त्रीके शरीरमें सम्बद्ध लावण्य

१ श 'अपि तु कुर्वते' नास्ति। २ श 'भो यते' नास्ति। ३ श 'भवेत्' नास्ति। ४ श इष्टः। ५ क 'स' नास्ति। ६ श 'सकलं' नास्ति। ७ श इहलोकपरलोकभ्रष्टं।

लावण्याद्यपि तत्र चञ्चलमिति श्लिष्टं च तत्तद्गतां
दृष्ट्वा कुङ्कुमकज्जलादिरचनां मा गच्छ मोहं मुने ॥ १२ ॥

672) रम्भास्तम्भमृणालहेमशशभृन्नीलोत्पलाद्यैः पुरा
यस्य स्त्रीवपुषः पुरः परिगतैः प्राप्ता प्रतिष्ठा न हि ।
तत्पर्यन्तदशां गतं विधिवशात्क्षिप्तं क्षतं पक्षिभि-
र्भीतैश्छादितनासिकैः पितृवने दृष्टं लघु त्यज्यते ॥ १३ ॥

673) अङ्गं यद्यपि योषितां प्रविलसत्तारुण्यलावण्यवद्
भूषावत्तदपि प्रमोदजनकं मूढात्मनां नो सताम् ।
उच्छूनैर्बहुभिः शवैरतितरां कीर्णं श्मशानस्थलं
लब्ध्वा तुष्यति कृष्णकाकनिकरो नो राजहंसव्रजः ॥ १४ ॥

674) यूकाधाम कचाः कपालमजिनाच्छन्नं मुखं योषितां
तच्छिद्रे नयने कुचौ पलभरौ बाहू तते कीकसे ।

अङ्गं शरीरम् । शवाङ्गायते शवमृतक-अङ्गम् इव आचरति । किंलक्षणानां स्त्रीणाम् । अतिरूपगर्वितधियाम् । च पुनः । तत्र स्त्रियाः अङ्गे । लावण्यादि अपि चञ्चलम् । श्लिष्टं बद्धम् । तत्तस्मात्कारणात् । भो मुने कुङ्कुमकज्जलादिरचनाम् । तद्गतां[4] तस्यां स्त्रियां गतां प्राप्ताम् । दृष्ट्वा मोहं मा गच्छ ॥ १२ ॥ यस्याः[स्य] स्त्रीवपुषः । पुरः अग्रे । रम्भास्तम्भमृणालहेमशशभृन्नीलो-त्पलाद्यैः पुरः[5]परिगतैः प्राप्तैः । प्रतिष्ठा[6] न हि प्राप्ता[7] । तच्छरीरम् । विधिवशात् कर्मवशात् । पर्यन्तदशां गतं मरणं प्राप्तम् । पितृवने क्षिप्तम् । पक्षिभिः क्षतं खण्डितम् । दृष्टम् । जनैः लघु त्यज्यते । किंलक्षणैः जनैः । भीतैः छादितनासिकैः ॥ १३ ॥ योषितां स्त्रीणाम् अङ्गं यद्यपि प्रविलसत्तारुण्यलावण्यवद्भूषावत् आभरणयुक्तशरीरं मूढात्मनां प्रमोदजनकं भवति । सतां साधूनां प्रमोदजनकं नो । यथा[8] श्मशानस्थलं लब्ध्वा कृष्णकाकनिकरः तुष्यति । राजहंसव्रजः नो तुष्यति । किंलक्षणं श्मशानम् । उच्छूनैः बहुभिः शवैः मृतकैः । अतितराम् । कीर्णं व्याप्तम् ॥ १४ ॥ योषितां स्त्रीणाम् । कचाः केशाः । यूकाधाम गृहम् । स्त्रीणां मुखं कपालम् अजिनेन आच्छन्नम् आच्छादितम् । नयने द्वे तच्छिद्रे तस्य मुखस्य छिद्रे । स्त्रीणां कुचौ पलभरौ मांसपिण्डौ । बाहू तते भुजौ दीर्घे कीकसे[9] अस्थिस्वरूपे । स्त्रीणां तुन्दम् उदरम् । मूत्रमलादिसद्म विष्ठागृहम् । जघनं प्रस्यन्दि क्षरणस्वभावं

आदि भी विनश्वर हैं । इसलिये हे मुने ! उसके शरीरमें संलग्न कुंकुम और काजल आदिकी रचनाको देखकर तू मोहको प्राप्त मत हो ॥ १२ ॥ पूर्व समयमें जिस स्त्रीशरीरके आगे कदलीस्तम्भ, कमलनाल, सुवर्ण, चन्द्रमा और नील कमल आदि प्रतिष्ठाको नहीं प्राप्त हो सके हैं वह शरीर जब दैववश मरण अवस्थाको प्राप्त होनेपर स्मशानमें फेंक दिया जाता है और पक्षी उसे इधर उधर नोंचकर क्षत-विक्षत कर डालते हैं तब ऐसी अवस्थामें उसे देखकर भयको प्राप्त हुए लोग नाकको बंद करके शीघ्र ही छोड़ देते हैं— तब उससे अनुराग करना तो दूर रहा किन्तु उस अवस्थामें वे उसे देख भी नहीं सकते हैं ॥ १३ ॥ यद्यपि शोभायमान यौवन एवं सौन्दर्यसे परिपूर्ण स्त्रियोंका शरीर आभूषणोंसे विभूषित है तो भी वह मूर्खजनोंके लिये ही आनन्दको उत्पन्न करता है, न कि सज्जन मनुष्योंके लिये । ठीक है— बहुत-से सड़े-गले मृत शरीरोंसे अतिशय व्याप्त स्मशानभूमिको पाकर काले कौवोंका समुदाय ही सन्तुष्ट होता है, न कि राजहंसोंका समुदाय ॥ १४ ॥ स्त्रियोंके बाल जुओंके घर हैं, मस्तक एवं मुख चमड़ेसे आच्छादित है, दोनों नेत्र उस मुखके छिद्र हैं, दोनों स्तन मांससे परिपूर्ण हैं, दोनों भुजायें लंबी हड्डियां हैं, उदर मल-मूत्रादिका स्थान है । जघन

---

१ क तद्गताम्, च ब तद्गतम् । २ अ क श यस्याः । ३ अ श प्राप्ताः प्रतिष्ठां, क प्राप्ताः प्रतिष्ठा । ४ क तद्गतां । ५ क श 'पुरः' नास्ति । ६ अ श प्रतिष्ठां । ७ क प्राप्ताः । ८ क 'यथा' नास्ति । ९ श दीर्घकीकसे ।

तुन्दं मूत्रमलादिसद्म जघनं प्रस्यन्दिवर्चोगृहं
पादस्थूणमिदं किमत्र महतां रागाय संभाव्यते ॥ १५ ॥

675) कार्याकार्यविचारशून्यमनसो लोकस्य किं ब्रूमहे
यो रागान्धतयादरेण वनितावक्त्रस्य लालां पिबेत् ।
श्लाघ्यास्ते कवयः शशाङ्कवदिति प्रव्यक्तवाग्डम्बरै-
श्चर्मानद्धकपालमेतदपि यैरग्रे सतां वर्ण्यते ॥ १६ ॥

676) एष स्त्रीविषये विनापि हि परप्रोक्तोपदेशं भृशं
रागान्धो मदनोदयादनुचितं किं किं न कुर्याज्जनः ।
अप्येतत्परमार्थबोधविकलः प्रौढं करोति स्फुरत्-
शृङ्गारं प्रविधाय काव्यमसकृल्लोकस्य कश्चित्कविः ॥ १७ ॥

677) दारार्थादिपरिग्रहः कृतगृहव्यापारसारो ऽपि सन्
देवः सो ऽपि गृही नरः परधनस्त्रीनिस्पृहः सर्वदा ।

वीर्यनिःसरणस्थानम् । वर्चोगृहं पुरीषगृहम् । पादस्थूणम् । अत्र शरीरे । महतां रागाय इदं किं संभाव्यते । स्त्रीशरीरे रागाय[३] किमपि न संभाव्यते ॥ १५ ॥ तस्य लोकस्य वयं किं ब्रूमहे । किंलक्षणस्य लोकस्य । कार्याकार्यविचारे शून्यमनसः । यः अयं लोकः । रागान्धतया आदरेण वनितावक्त्रस्य लालां पिबेत् । ते कवयः श्लाघ्याः इति कोऽर्थः निन्द्याः । यैः कविभिः । एतदपि स्त्रीमुखम् । सतां साधूनाम् अग्रे शशाङ्कवत् चन्द्रवत्[४] इति वर्ण्यते । किंलक्षणं मुखम् । चर्मानद्धकपालम् । किंलक्षणैः कविभिः । प्रव्यक्तवाग्डम्बरैः ॥ १६ ॥ एष जनः लोकः । मदनोदयात् कामोदयात् । भृशम् अतिशयेन । रागान्धः अपि परप्रोक्त-उपदेशं विनापि हि स्त्रीविषये किं किम् अनुचितम् अयोग्यकार्यं न कुर्यात् । अपि तु कुर्यात् । कश्चित्कविः एतत् स्फुरच्छृङ्गारं काव्यं प्रौढम् । प्रविधाय कृत्वा । असकृत् निरन्तरम् । लोकस्य परमार्थबोधविकलः[१] करोति ॥ १७ ॥ सोऽपि गृही नरः भव्यः देवः कथ्यते । किंलक्षणः भव्यः । दारा स्त्री अर्थ-द्रव्य-परिग्रहयुक्तः । पुनः कृतगृहव्यापारसारः[५] अपि सन् स भव्यः परधनपरस्त्रीनिःस्पृहः । सर्वदा । तु पुनः । स मुनिः । देवानाम् अपि देवः एव । अत्र लोके । केन[६] पुंसा पुरुषेण नो मन्यते । अपि तु सर्वैः मन्यते । यस्य

बहते हुए मलका घर है, तथा पैर स्तम्भ (थुनिया) के समान है । ऐसी अवस्थामें यह स्त्रीका शरीर यहां क्या महान् पुरुषोंके लिये अनुरागका कारण हो सकता है? अर्थात् उनके लिये वह अनुरागका कारण कभी भी नहीं होता है ॥ १५ ॥ जिसका मन कर्तव्य और अकर्तव्यके विचारसे रहित है, तथा इसीलिये जो रागमें अन्धा होकर उत्सुकतासे स्त्रीके मुखकी लारको पीता है, उस मनुष्यके विषयमें हम क्या कहें? किन्तु जो कविजन अपने स्पष्ट वचनोंके विस्तारसे सज्जनोंके आगे चमड़ेसे आच्छादित इस कपाल युक्त मुखको चन्द्रमाके समान सुन्दर बतलाते हैं वे भी प्रशंसनीय समझे जाते हैं— जो वास्तवमें निन्दाके पात्र हैं ॥ १६ ॥ यह जनसमूह दूसरोंके उपदेशके विना भी कामके उद्दीप्त होनेसे रागसे अन्धा होकर स्त्रीके विषयमें कौन कौन-सा निन्द्य कार्य नहीं करता है? अर्थात् विना उपदेशके ही वह स्त्रीके साथ अनेक प्रकारकी निन्दनीय चेष्टाओंको करता है । फिर हेय-उपादेयके ज्ञानसे रहित कोई कवि निरन्तर शृंगार रससे परिपूर्ण काव्यको रचकर उन लोगोंके चित्तको और भी रागसे पुष्ट करता है ॥ १७ ॥ जो गृहस्थ स्त्री एवं धन आदि परिग्रहसे सहित होकर घरके उत्तम व्यापार आदि कार्योंको करता हुआ भी कभी परधन और परस्त्रीकी इच्छा नहीं करता है वह गृहस्थ मनुष्य भी देव (प्रशंसनीय) है । फिर

---

१ क विकलं । २ श परिग्रहकृतग्रह । ३ श रागादयः । ४ श 'चन्द्रवत्' इति नास्ति । ५ श परिग्रहव्यापारसारः । ६ श 'केन' नास्ति ।

यस्य स्त्री न तु सर्वथा न च धनं रत्नत्रयालङ्कृतो
देवानामपि देव एव स मुनिः केनात्र नो मन्यते ॥ १८ ॥

678) कामिन्यादि विनात्र दुःखहतये स्वीकुर्वते तच्च ये
लोकास्तत्र सुखं पराश्रिततया तद्दुःखमेव ध्रुवम् ।
हित्वा तद्विषयोत्थमन्तविरसं स्तोकं यदाध्यात्मिकं
तत्तत्त्वैकदृशां सुखं निरुपमं नित्यं निजं नीरजम् ॥ १९ ॥

679) सौभाग्यादिगुणप्रमोदसदनैः पुण्यैर्युतास्ते हृदि
स्त्रीणां ये सुचिरं वसन्ति विलसत्तारुण्यपुण्यश्रियाम् ।
ज्योतिर्बोधमयं तदन्तरदृशा कायात्पृथक् पश्यतां
येषां ता न तु जातु तेऽपि कृतिनस्तेभ्यो नमः कुर्वते ॥ २० ॥

680) दुष्प्रापं बहुदुःखराशिरशुचि स्तोकायुरल्पज्ञता-
ज्ञातप्रान्तदिनं जराहतमतिः प्रायो नरत्वं भवे ।

मुनेः । सर्वथा प्रकारेण । न तु स्त्री न च धनम् । स मुनिः रत्नत्रय–अलङ्कृतः ॥ १८ ॥ लोकाः कामिन्यादि विना । अत्र लोके । दुःखहतये दुःखनाशाय । तत् स्त्री आदि । स्वीकुर्वते अङ्गीकुर्वन्ति । च पुनः । तत्र स्त्रीषु[1] यत्सुखं तत्सुखं पराश्रिततया दुःखमेव ध्रुवम् । तत् विषयोत्थं विषयोद्भवम् । अन्तविरसं स्तोकम् । हित्वा परित्यज्य । भव्यः । यत्सुखम् तत्त्वैकदृशाम् आध्यात्मिकं तत्सुखम्[2] । अङ्गीकुरुते । तत्सुखं तत्त्वैकदृशां सुखम् । किंलक्षणं सुखम् । निरुपमम् । निजं स्वकीयम् । नित्यं शाश्वतम् । नीरजं रजोरहितम् ॥१९॥ ये नराः स्त्रीणां हृदि । सुचिरं चिरकालं वसन्ति । ते नराः पुण्यैः युता वर्तन्ते । किंलक्षणैः पुण्यैः । सौभाग्यादिगुणप्रमोदसदनैः सौभाग्यमन्दिरैः । किंलक्षणानां स्त्रीणाम् । विलसत्तारुण्यपुण्यश्रियाम् । येषां यतीनां हृदि । ताः स्त्रियः । जातु कदाचित् । न वसन्ति । तेऽपि यतयः । कृतिनः पुण्ययुक्ताः । तेभ्यः नमः कुर्वते । तद्बोधमयं ज्योतिः । अन्तरदृशा कायात् पृथक् पश्यतां ज्ञाननेत्रेण पश्यताम् ॥ २० ॥ भवे संसारे । नरत्वं मनुष्यपदम् । प्रायः बाहुल्येन । दुष्प्रापम् । इदं नरत्वम् । बहुदुःखराशिः अशुचिः । इदं नरत्वं स्तोकायुः । अल्पज्ञतया अज्ञातप्रान्तदिनम् अज्ञातमरणदिनम् । इदं नरत्वम् । जराहतमतिः । अस्मिन्

जिसके पास सर्वथा न तो स्त्री है और न धन ही है तथा जो रत्नत्रयसे विभूषित है वह मुनि तो देवोंका भी देव (देवोंसे भी पूज्य) है । वह भला यहां किसके द्वारा नहीं माना जाता है ? अर्थात् उसकी सब ही पूजा करते हैं ॥ १८ ॥ यहां स्त्री आदिके विना जो दुःख होता है उसको नष्ट करनेके लिये लोग उक्त स्त्री आदिको स्वीकार करते हैं । परन्तु उन स्त्री आदिके निमित्तसे जो सुख होता है वह वास्तवमें परके अधीन होनेसे दुःख ही है । इसलिये विवेकी जन परिणाममें अहितकारक एवं प्रमाणमें अल्प उस विषयजन्य सुखको छोड़कर तत्त्वदर्शियोंके उस अनुपम सुखको स्वीकार करते हैं जो आत्माधीन, नित्य, आत्मीक (स्वाधीन) एवं पापसे रहित है ॥ १९ ॥ जो मनुष्य शोभायमान यौवनकी पवित्र शोभासे सम्पन्न ऐसी स्त्रियोंके हृदयमें चिर काल तक निवास करते हैं वे सौभाग्य आदि गुणों एवं आनन्दके स्थानभूत पुण्यसे युक्त होते हैं, अर्थात् जिन्हें उत्तम स्त्रियां चाहती हैं वे पुण्यात्मा पुरुष हैं । किन्तु अभ्यन्तर नेत्रसे ज्ञानमय ज्योतिको शरीरसे भिन्न देखनेवाले जिन साधुओंके हृदयमें वे स्त्रियां कभी भी निवास नहीं करती हैं उन पुण्यशाली मुनियोंके लिये वे पूर्वोक्त (स्त्रियोंके हृदयमें रहनेवाले) पुण्यात्मा पुरुष भी नमस्कार करते हैं ॥ २० ॥ संसारमें जो मनुष्यपर्याय दुर्लभ है, बहुत दुःखोंके समूहसे व्याप्त है, अपवित्र है, अल्प आयुसे सहित है, जिसके अन्त (मरण) का दिन अल्पज्ञताके कारण ज्ञात नहीं किया जा सकता

---

१ क 'स्त्रीषु' नास्ति । २ क यत्सुखम् आध्यात्मिकं यत्सुखं ।

अस्मिन्नेव तपस्ततः शिवपदं तत्रैव साक्षात्सुखं
सौख्यार्थीति[1] विचिन्त्य चेतसि तपः कुर्यान्नरो[2] निर्मलम् ॥ २१ ॥

681) उक्तेयं मुनिपद्मनन्दिभिषजा द्वाभ्यां युतायाः शुभा
सद्वृत्तौषधविंशतेरुचितवागर्थाम्भसा वर्तिता ।
निर्ग्रन्थैः परलोकदर्शनकृते प्रोद्यत्तपोवार्धकैः-
श्चेतश्चक्षुरनङ्गरोगशमनी वर्तिः सदा सेव्यताम् ॥ २२ ॥

नरत्वे । तपः कार्यम् । ततः तपसः सकाशात् । शिवपदं भवेत् । तत्र शिवपदे । साक्षात् सुखम् । सौख्यार्थी नरैः । चेतसि इति विचिन्त्य निर्मलं तपः कुर्यात् ॥ २१ ॥ प्रोद्यत्तपोवार्धकैः प्रकाशतपोवृद्धैः । निर्ग्रन्थैः मुनिभिः । परलोकदर्शनकृते कारणाय । सद्वृत्तौषधविंशतेः वर्तिः सदा सेव्यताम् । किंलक्षणायाः सच्चारित्रौषधविंशतेः । द्वाभ्यां युतायाः । सा इयं वर्तिः । मुनिपद्मनन्दि-भिषजा वैद्येन । उक्ता कथिता । शुभा श्रेष्ठा । पुनः किंलक्षणा वर्तिः । उचितवाक् अर्थाम्भसा वर्तिता मर्दिता । पुनः किंलक्षणा वर्तिः । चेतश्चक्षुरनङ्गरोगशमनी मनोनेत्रसंबन्धिनं कन्दर्पं विनाशनशीला ॥ २२ ॥ इति श्रीब्रह्मचर्यरक्षावर्तिः समाप्ता ॥ १२ ॥

है, तथा जिसमें वृद्धावस्थाके कारण बुद्धि प्रायः कुण्ठित हो जाती है; उस मनुष्य पर्यायमें ही तप किया जा सकता है । तथा मोक्षपदकी प्राप्ति इस तपसे होती है और वास्तविक सुख उस मोक्षमें ही है । यह मनमें विचार करके मोक्षसुखाभिलाषी मनुष्यको इस दुर्लभ मनुष्य पर्यायमें निर्मल तप करना चाहिये ॥ २१ ॥ दोसे अधिक उत्तम बीस छन्दों (पद्यों) रूप औषधि (बाईस श्लोकोंमें रचित यह ब्रह्मचर्य प्रकरण) की जो यह बत्ती मुनि पद्मनन्दीरूप वैद्यके द्वारा बतलायी गई है, श्रेष्ठ है, योग्य शब्द एवं अर्थरूप जलसे जिसका उद्वर्तन किया गया है, तथा जो चित्तरूप चक्षुके कामरूप रोगको शान्त करनेवाली है उसका सेवन तपोवृद्ध साधुओंको परलोकके दर्शनके लिये निरन्तर करना चाहिये ॥ विशेषार्थ— यहां श्री पद्मनन्दी मुनिने जो यह बाईस श्लोकमय ब्रह्मचर्य प्रकरण रचा है उसके लिये उन्होंने औषधिकी बत्ती (रुईमें औषधिका प्रयोग कर आंखमें लगानेके लिये बनाई गई बत्ती अथवा अंजन लगानेकी शलाई) की उपमा दी है । अभिप्राय उसका यह है कि जिस प्रकार उत्तम वैद्यके द्वारा बतलाये गये श्रेष्ठ अंजनको शलाकाके द्वारा आखोंमें लगानेपर मनुष्यकी आखोंका रोग (फुली आदि) दूर हो जाता है और तब वह दूसरे लोगोंको स्पष्ट देखने लगता है, इसी प्रकार जो भव्य जीव मुनि पद्मनन्दीके द्वारा उत्तमोत्तम शब्दों और अर्थका आश्रय लेकर रचे गये इस ब्रह्मचर्य प्रकरणका मनन करते हैं उनके चित्तका कामरोग (विषयवांछा) नष्ट हो जाता है और तब वे मुनिव्रतको धारण करके परलोक (दूसरे भव) के देखनेमें समर्थ हो जाते हैं । तात्पर्य यह कि ऐसा करनेसे दुर्गतिका दुःख नष्ट होकर उन्हें या तो मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है या फिर दूसरे भवमें देवादिकी उत्तम पर्याय प्राप्त होती है ॥ २२ ॥ इस प्रकार ब्रह्मचर्य-रक्षावर्ती नामका अधिकार समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

---

१ क मोक्षार्थीति । २ मोक्षार्थीनरम् ।

[१३. ऋषभस्तोत्रम्]

682) जय उसह णाहिणंदण तिहुवणणिलएक्कदीव तित्थयर ।
जय सयलजीववच्छल णिम्मलगुणरयणणिहि णाह ॥ १ ॥

683) सयलसुरासुरमणिमउडकिरणकब्बुरियपायपीढं तुमं ।
धण्णा पेच्छंति थुणंति जवंति झायंति जिणणाह ॥ २ ॥

684) चम्मच्छिणा वि दिट्ठे तइ तइलोए ण माइ महहरिसो ।
णाणच्छिणा उणो जिण ण-याणिमो किं परिप्फुरइ ॥ ३ ॥

685) तं जिण णाणमणंतं विसईकयसयलवत्थुवित्थारं ।
जो थुणइ सो पयासइ समुद्दकहमवडसालूरो ॥ ४ ॥

686) अम्हारिसाण तुह गोत्तकित्तणेण वि जिणेस संचरइ ।
आएसं मग्गंती पुरओ हियइच्छिया लच्छी ॥ ५ ॥

भो उसह भो ऋषभ । भो णाहिणंदण भो नाभिनन्दन । भो त्रिभुवननिलयएकदीप त्रिभुवनगृहदीप । भो तीर्थंकर । भो सकलजीववत्सल । भो निर्मलगुणरत्ननिधे । भो नाथ । त्वं जय ॥ १ ॥ भो जिननाथ । भो सकलसुरासुरमणिमुकुटकिरणैः कर्बुरितपादपीठ । त्वां जिनं धन्या नराः प्रेक्षन्ते स्तुवन्ति जपन्ति ध्यायन्ति ॥ २ ॥ भो जिन । त्वयि चर्मनेत्रेणापि दृष्टे सति महाहर्षः त्रैलोक्ये न माति । पुनः ज्ञाननेत्रेण त्वयि दृष्टे सति कियत् आनन्दं परिस्फुरति तद् वयं न जानीमः ॥ ३ ॥ भो जिन । यः पुमान् सर्वोपदेशेन त्वां स्तौति । किंलक्षणं त्वाम् । ज्ञानमयम् अनन्तम् । पुनः किंलक्षणं त्वाम् । विषयीकृतसकल-वस्तुविस्तारं गोचरीकृतसकलपदार्थम् । स पुमान् अवटकूपमण्डूकः दर्दुरः । समुद्रकथां प्रकाशयति ॥ ४ ॥ भो जिनेश । भो श्रीसर्वज्ञ । मम सदृशानां [अस्मादृशानां] जनानाम् । तव गोत्रकीर्तनेन तव नामस्मरणेन । हृदयस्थिता [हृदयेप्सिता] मनो-

हे ऋषभ जिनेन्द्र ! नाभि राजाके पुत्र आप तीन लोकरूप गृहको प्रकाशित करनेके लिये अद्वितीय दीपकके समान हैं, धर्मतीर्थके प्रवर्तक हैं, समस्त प्राणियोंके विषयमें वात्सल्य भावको धारण करते हैं, तथा निर्मल गुणोंरूप रत्नोंके स्थान हैं । आप जयवन्त होवें ॥ १ ॥ नमस्कार करते हुए समस्त देवों एवं असुरोंके मणिमय मुकुटोंकी किरणोंसे जिनका पादपीठ (पैर रखनेका आसन) विचित्र वर्णका हो रहा है ऐसे हे ऋषभ जिनेन्द्र ! पुण्यात्मा जीव आपका दर्शन करते हैं, स्तुति करते हैं, जप करते हैं, और ध्यान भी करते हैं ॥ २ ॥ हे जिन ! चर्ममय नेत्रसे भी आपका दर्शन होनेपर जो महान् हर्ष उत्पन्न होता है वह तीनों लोकोंमें नहीं समाता है । फिर ज्ञानरूप नेत्रसे आपका दर्शन होनेपर कितना आनन्द प्राप्त होगा, यह हम नहीं जानते हैं ॥ ३ ॥ हे जिनेन्द्र ! जो जीव समस्त वस्तुओंके विस्तारको विषय करनेवाले आपके अनन्त ज्ञानकी स्तुति करता है वह अपनेको उस कूपमण्डूक (कुएँमें रहनेवाला मेंढक) के समान प्रगट करता है जो कुएँमें रहता हुआ भी समुद्रके वृत्तान्त (विस्तारादि) को बतलाता है ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार कुएँमें रहनेवाला क्षुद्र मेंढक कभी समुद्रके विस्तार आदिको नहीं बतला सकता है उसी प्रकार अल्पज्ञ मनुष्य आपके उस अनन्त ज्ञानकी स्तुति नहीं कर सकता है जिसमें कि समस्त द्रव्यें एवं उनके अनन्त गुण और पर्यायें युगपत् प्रतिभासित हो रही हैं ॥ ४ ॥ हे जिनेन्द्र ! आपके नामके कीर्तनसे– केवल नामके स्मरण मात्रसे– भी हम जैसे मनुष्योंके सामने मनचाही लक्ष्मी आज्ञा मांगती

१ श उज्झायन्ति ।

687) जासि[1] सिरी तइ संते तुव अवइण्णम्मि[2] तीए[3] णट्ठाए[3] ।
संके जणियाणिट्ठा दिट्ठा सव्वट्ठसिद्धी वि[4] ॥ ६ ॥
688) णाहिघरे वसुहारावडणं जं सुइरमिहं[5] तुहोयरणा[6] ।
आसि णहाहि जिणेसर तेण धरा वसुमई जाया ॥ ७ ॥
689) स च्चिय सुरणवियपया मरुएवी पहु ठिओ सि जंगब्भे ।
पुरओ पट्टो बज्झइ मज्झे से पुत्तवंतीणं ॥ ८ ॥
690) अंकत्थे तइ दिट्ठे जं तेण सुराँयलं[7] सुरिंदेण ।
अणिमेसत्तबहुत्तं सयलं णयणाण पडिवण्णं ॥ ९ ॥

वाञ्छिता लक्ष्मीः । मम पुरतः अग्रे । आदेशं प्रार्थयन्ती संचरति प्रवर्तते ॥ ५ ॥ शङ्के अहम् । एवं मन्ये । भो श्रीसर्वज्ञ । या श्रीः लक्ष्मीः तथा श्रीः शोभा । त्वयि सति सर्वार्थसिद्धौ । आसि पूर्वम् आसीत्[8] । त्वयि अवतीर्णे सति तस्याः लक्ष्म्याः नष्टा शोभा[9] सर्वार्थसिद्धौ अपि न दृष्टा । जनितानिष्टा ॥ ६ ॥ भो जिनेश्वर । तव अवतरणात् । नाभिगृहे [इह] पृथिव्याम् । नभसः आकाशात् । यद्यस्मात् । सुचिरं चिरकालम् । वसुधारापतनम् आसीत् तेन हेतुना सा पृथ्वी वसुमती जाता द्रव्यवतीत्वम् उपगता ॥ ७ ॥ भो प्रभो । मरुदेवी सैंची[10] सुर-देव-इन्द्राणी च पुनः [स च्चिय सा एव] देवैः नमितपदा जाता । सत्यं यस्याः मरुदेव्याः गर्भे त्वं स्थितोऽसि तस्याः मरुदेव्याः मस्तके पुत्रवतीनां मध्ये अग्रतः पट्टः बध्यते । पुत्रवती मरुदेवी प्रधाना तत्सदृशा अन्या न ॥ ८ ॥ भो जिनेश । अङ्कस्थे त्वयि दृष्टे सति सुरेन्द्रेण । नेत्राणाम् अनिमेषनानात्वं सफलं प्रतिपन्नं सफलं ज्ञातम् । किंलक्षणेन

हुई उपस्थित होती है ॥ ५ ॥ हे भगवन् ! आपके सर्वार्थसिद्धिमें स्थित रहनेपर जो उस समय उसकी शोभा थी वह आपके यहां अवतार लेनेपर नष्ट हो गई । इससे मुझे ऐसी आशंका होती है कि इसीलिये उस समय सर्वार्थसिद्धि भी ऐसी देखी गई मानों उनका अनिष्ट ही हो गया है ॥ विशेषार्थ– जिस समय भगवान् ऋषभ जिनेन्द्रका जीव सर्वार्थसिद्धिमें विद्यमान था उस समय भावी तीर्थंकरके वहां रहनेसे उसकी शोभा निराली ही थी । फिर जब वह वहांसे च्युत होकर माता मरुदेवीके गर्भमें अवतीर्ण हुआ तब सर्वार्थसिद्धिकी वह शोभा नष्ट हो गई थी । इसपर यहां यह उत्प्रेक्षा की गई है कि भगवान् ऋषभ जिनेन्द्रके च्युत होनेपर वह सर्वार्थसिद्धि मानो विधवा ही हो गई थी, इसीलिये वह उस समय सौभाग्यश्रीसे रहित देखी गई ॥ ६ ॥ हे जिनेश्वर ! आपके अवतार लेनेसे नाभि राजाके घरपर आकाशसे जो चिर काल (पन्द्रह मास) तक धनकी धाराका पतन हुआ– रत्नोंकी वर्षा हुई– उससे यह पृथिवी 'वसुमती (धनवाली)' इस सार्थक नामसे युक्त हुई ॥ ७ ॥ हे भगवन् ! जिस मरुदेवीके गर्भमें तुम जैसा प्रभु स्थित था उसीके चरणोंमें उस समय देवोंने नमस्कार किया था । तब पुत्रवती स्त्रियोंके मध्यमें उनके समक्ष उसके लिये पट्ट बांधा गया था, अर्थात् समस्त पुत्रवती स्त्रियोंके बीचमें तीर्थंकर जैसे पुत्ररत्नको जन्म देनेवाली एक वही मरुदेवी पुत्रवती प्रसिद्ध की गई थी ॥ ८ ॥ हे जिनेन्द्र ! सुमेरुपर जाते हुए इन्द्रको गोदमें स्थित आपका दर्शन होनेपर उसने अपने नेत्रोंकी निर्निमेषता (झपकनका अभाव) और अधिकता (सहस्र संख्या) को सफल समझा ॥ विशेषार्थ– यह आगमप्रसिद्ध बात है कि देवोंके नेत्र निर्निमेष (पलकोंकी झपकनसे रहित) होते हैं । तदनुसार इन्द्रके नेत्र निर्निमेष तो थे ही, साथमें वे संख्यामें भी एक हजार थे । इन्द्रने जब इन नेत्रोंसे प्रभुका दर्शन किया तब उसने उनको सफल समझा । यह सुयोग अन्य मनुष्य आदिको प्राप्त नहीं होता है । कारण कि उनके दो ही नेत्र होते हैं और वे भी सनिमेष । इसलिये वे जब त्रिलोकीनाथका दर्शन करते हैं तब उन्हें बीच बीचमें पलकोंके झपकनेसे व्यवधान भी होता है । वे उन देवोंके समान बहुत समय तक टकटकी लगाकर भगवान्का दर्शन नहीं कर पाते हैं ॥ ९ ॥

१ क श यासि । २ अ अवयण्णमि तीये, क अवयणमि त्तिये, श अवयणमित्तीये । ३ अ क श णट्ठाये । ४ क श सिद्धावि । ५ क सुइरमइ, च सुइरमिहं, श सुइरमहि । ६ क श अरणी । ७ च-प्रतिपाठोऽयम्, अ क श सुरालयं । ८ क आसीत् पूर्वे आसीत् । ९ श नष्टा या शोभा । १० श शची ।

691) तित्थत्तणमावण्णो मेरू तुह जम्मण्हाणजलजोए ।
तं तस्स सूरपमुहा पयाहिणं जिण कुणंति सया ॥ १० ॥
692) मेरुसिरे पडणुच्छलियणीरताडणपणट्ठदेवाणं ।
तं वित्तं तुह ण्हाणं तह जह णहमासि संकिण्णं ॥ ११ ॥
693) णाह तुह जम्मण्हाणे हरिणो मेरुम्मि णच्चमाणस्स ।
वेल्लिरभुयाहि भग्गा तह अज्ज वि भंगुरा मेहा ॥ १२ ॥
694) जाण बहुएहिं वित्ती जाया कप्पदुमेहिं तेहिं विणा ।
एक्केण वि ताण तए पयाण परिकप्पिया णाह ॥ १३ ॥

इन्द्रेण । सुरालयं मन्दिरं [सुराचलं] गच्छता ॥ ९ ॥ भो जिन । तव जन्मस्नानजलयोगेन मेरुस्तीर्थत्वम् आपन्नः प्राप्तः । तत तस्मात् कारणात् । सूर-सूर्यप्रमुखाः देवाः सदाकाले तस्य मेरोः प्रदक्षिणां कुर्वन्ति ॥ १० ॥ मेरुशिरसि मस्तके तव तत् जन्म स्नानं तथा वृत्तं जातं यथा पतनोच्छलननीरताडनवशात् प्रणष्टदेवानां नभः कीर्णम् आश्रितं व्याप्तं जातम् ॥ ११ ॥ भो नाथ। तव जन्मस्नाने मेरौ हरेः इन्द्रस्य नृत्यमानस्य स्फालितभुजाभिः तदा भग्नाः मेघाः अद्यापि भङ्गुराः खण्डिता दृश्यन्ते ॥ १२ ॥ भो नाथ । यासां प्रजानां बहुभिः कल्पद्रुमैः वृत्तिर्जाता उदरपूर्णं जातम् । तैर्विना कल्पद्रुमैः विना । तासां प्रजानाम् । एकेनापि

हे जिन ! उस समय चूंकि मेरु पर्वत आपके जन्माभिषेकके जलके सम्बन्धसे तीर्थस्वरूपको प्राप्त हो चुका था, इसीलिये ही मानो सूर्य-चन्द्रादि ज्योतिषी देव निरन्तर उसकी प्रदक्षिणा किया करते हैं ॥ १० ॥ जन्माभिषेकके समय मेरु पर्वतके शिखरपर नीचे गिरकर ऊपर उच्छलते हुए जलके अभिघातसे कुछ खेदको प्राप्त हुए देवोंके द्वारा आपका वह जन्माभिषेक इस प्रकारसे सम्पन्न हुआ, कि जिससे आकाश उन देवों और जलसे व्याप्त हो गया ॥ ११ ॥ हे नाथ ! आपके जन्माभिषेकमहोत्सवमें मेरुके ऊपर नृत्य करनेवाले इन्द्रकी कम्पित (चंचल) भुजाओंसे नाशको प्राप्त हुए मेघ इस समय भी भंगुर (विनश्वर) देखे जाते हैं ॥ १२ ॥ हे नाथ ! भोगभूमिके समय जिन प्रजाजनोंकी आजीविका बहुत-से कल्पवृक्षोंके द्वारा सम्पन्न हुई थी उनकी वह आजीविका उन कल्पवृक्षोंके अभावमें एक मात्र आपके द्वारा सम्पन्न (प्रदर्शित) की गई थी ॥ विशेषार्थ– पूर्वमें यहां (भरतक्षेत्रमें) जब भोगभूमिकी प्रवृत्ति थी तब प्रजाजनकी आजीविका बहुत-से (दस प्रकारके) कल्पवृक्षोंके द्वारा सम्पन्न होती थी । परन्तु जब तीसरे कालका अन्त होनेमें पल्यका आठवां भाग शेष रहा था तब वे कल्पवृक्ष धीरे धीरे नष्ट हो गये थे । उस समय भगवान् आदि जिनेन्द्रने उन्हें कर्मभूमिके योग्य असि-मसि आदि आजीविकाके साधनोंकी शिक्षा दी थी । जैसा कि स्वामी समन्तभद्राचार्यने कहा भी है– प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः । प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ॥ अभिप्राय यह है कि जिन ऋषभ जिनेन्द्रने पहिले कल्पवृक्षोंके नष्ट हो जानेपर आजीविकाके निमित्त व्याकुलताको प्राप्त हुई प्रजाको प्रजापतिके रूपमें कृषि आदि छह कर्मोंकी शिक्षा दी थी वे ही ऋषभ जिनेन्द्र फिर वस्तुस्वरूपको जानकर संसार, शरीर एवं भोगोंसे विरक्त होते हुए आश्चर्यजनक अभ्युदयको प्राप्त हुए और समस्त विद्वानोंमें अग्रेसर हो गये ॥ बृ. स्व. स्तो. २. इस प्रकारसे जो प्रजाजन भोगभूमिके कालमें अनेक कल्पवृक्षोंसे आजीविकाको सम्पन्न करते थे उन्होंने कर्मभूमिके प्रारम्भमें एक मात्र उक्त ऋषभ जिनेन्द्रसे ही उस आजीविकाको सम्पन्न किया था– वे ऋषभ जिनेन्द्रसे असि, मसि व कृषि आदि कर्मोंकी शिक्षा पाकर आनन्दपूर्वक आजीविका करने लगे

१ क श तत्तस्स । २ क सुरपमुहा । ३ ब-प्रतिपाठोऽयम् । अ श °मासियं किन्नं, क °मासियं किण्णं; च °मासियं किणं । ४ अ श भुवाहि । ५ क सुरसूर्यप्रमुखाः ।

695) पहुणा तए सणाहा धरासि तीए कहण्णहा वूढो ।
णवघणसमयसमुल्लसियसासछम्मेण रोमंचो ॥ १४ ॥
696) विज्जु व्व घणे रंगे दिट्ठपणट्ठा पणच्चिरी अमरी ।
जइया तइया वि तए रायसिरी तारिसी दिट्ठा ॥ १५ ॥
697) वेरग्गदिणे सहसा वसुहा जुण्णं तिणं व जं मुक्का ।
देव तए सा अज्ज वि विलवइ सरिजलरवा वराई ॥ १६ ॥
698) अइसोहिओ सि तइया काउस्सग्गट्ठिओ तुमं णाह ।
धम्मिक्कघरारंभे उब्भीकयमूलखंभो व्व ॥ १७ ॥
699) हिययत्थझाणसिहिडज्झमाण सहसा सरीरधूमो व्व ।
सहई जिण तुज्झ सीसे महुयरकुलसंणिहो केसभरो ॥ १८ ॥

त्वया वृत्तिः परिकल्पिता ॥ १३ ॥ भो प्रभो त्वया प्रभुणा कृत्वा धरा पृथ्वी सनाथा आसीत् । अन्यथा तस्या धरायाः नवघन-मेघ[5]समयसमुल्लसितश्वास[6]-[सस्य-] छद्मेन [च्छद्मना] प्रादुर्भूतः रोमाञ्चः कथं भवेत् ॥ १४ ॥ यदा यस्मिन् काले । त्वया नृत्यशालायां प्रनृत्यन्ती अमरी देवाङ्गना नीलांजसा दृष्टप्रणष्टा दृष्टा तदा काले राजश्रीः अपि तारिसी तादृशी[7] देवाङ्गनासदृशी विनश्वरा दृष्टा । कस्मिन् केव । मेघे विद्युदिव ॥ १५ ॥ भो देव । वैराग्यदिने त्वया सहसा या वसुधा जीर्णतृणम् इव मुक्ता सा वसुधा अद्यापि सरिताजलरवात् व्याजेन वराकिनी [वराकी] विलपति रुदनं करोति[8] ॥ १६ ॥ भो नाथ । त्वं तदा कायोत्सर्ग-स्थितः[9] अतिशोभितः आसीत् [असि] धर्मैकगृहारम्भे ऊर्ध्वीकृतमूलस्तम्भवत् त्वं राजसे[10] ॥ १७ ॥ भो जिन । तव शीर्षे मस्तके केशसमूहः शोभते । किंलक्षणः केशभरः । मधुकरकुलसंनिभः केशभरः । किंवत् । हृदयस्थध्यानशिखिदह्यमानशरीरधूम्रवत्[11] ॥ १८ ॥

थे ॥ १३ ॥ हे भगवन् ! उस समय पृथिवी आप जैसे प्रभुको पाकर सनाथ हुई थी । यदि ऐसा न हुआ होता तो फिर वह नवीन वर्षाकालके समय प्रगट हुए धान्यांकुरोंके छलसे रोमांचको कैसे धारण कर सकती थी ? ॥ १४ ॥ हे भगवन् ! जब आपने मेघके मध्यमें क्षणमें नष्ट होनेवाली बिजलीके समान रंगभूमिमें देखते ही देखते मरणको प्राप्त होनेवाली नृत्य करती हुई नीलांजना अप्सराको देखा था तभी आपने राजलक्ष्मीको भी इसी प्रकार क्षणभंगुर समझ लिया था ॥ विशेषार्थ— किसी समय भगवान् ऋषभ जिनेन्द्र अनेक राजा-महाराओंसे वेष्टित होकर सिंहासनपर विराजमान थे । उस समय उनकी सेवा करनेके लिये इन्द्र अनेक गन्धर्वों और अप्सराओंके साथ वहां आया । उसने भक्तिवश वहां अप्सराओंका नृत्य प्रारम्भ कराया । उसने भगवान्को राज्य-भोगसे विरक्त करनेकी इच्छासे इस कार्यमें ऐसे पात्र (नीलांजना) को नियुक्त किया जिसकी कि आयु शीघ्र ही समाप्त होनेवाली थी । तदनुसार नीलांजना रस, भाव और लयके साथ नृत्य कर ही रही थी कि इतनेमें उसकी आयु समाप्त हो गई और वह देखते ही देखते क्षणभरमें अदृश्य हो गई । यद्यपि इन्द्रने रसभंगके भयसे वहां दूसरी वैसी ही अप्सराको तत्काल खड़ा कर दिया था, फिर भी भगवान् ऋषभ जिनेन्द्र इससे अनभिज्ञ नहीं रहे । इससे उनके हृदयमें बड़ा वैराग्य हुआ (आ. पु. १७, १-११.) ॥ १५ ॥ हे देव ! आपने वैराग्यके दिन चूंकि पृथिवीको जीर्ण तृणके समान अकस्मात् ही छोड़ दिया था, इसीलिये वह बेचारी आज भी नदीजलकी ध्वनिके मिषसे विलाप कर रही है ॥ १६ ॥ हे नाथ ! आप कायोत्सर्गसे स्थित होकर ऐसे अतिशय शोभायमान होते थे जैसे मानो धर्मरूपी अद्वितीय प्रासादके निर्माणमें ऊपर खड़ा किया गया मूल खम्भा ही हो ॥ १७ ॥ हे जिन ! आपके शिरपर जो भ्रमरसमूहके समान काले केशोंका भार है वह ऐसा शोभित होता है

१ क कहं णहो, ब कहंण्णहं । २ ब वरइ । ३ च-प्रतिपाठोऽयम् । अ क श उज्झीकय । ४ क श सोहइ, ब सुहइ । ५ क नवमेघ । ६ अ क स्वास । ७ क अपि तादृशी । ८ अ श 'रुदनं करोति' नास्ति । ९ क कायोत्सर्गे स्थितः । १० अ क राजते । ११ अ दग्धमानशीघ्रशरीरवत् धूम्रवत्, क दग्धमानशरीरधूम्रवत्, श दग्धमानशीघ्रशरीरधूम्रवत् ।

700) कम्मकलंकचउक्के णट्ठे णिम्मलसमाहिभूईए ।
तुह णाणदप्पणे च्चिय लोयालोयं पडिप्फलियं ॥ १९ ॥

701) आवरणाईणि तए समूलमुम्मूलियाइ दट्ठूण ।
कम्मचउक्केण मुयं[1] व णाह भीएण सेसेण ॥ २० ॥

702) णाणामणिणिम्माणे देव ठिओ सहसि[2] समवसरणम्मि ।
उवरिं व[3] संणिविट्ठो जियाण जोईण सव्वाणं ॥ २१ ॥

703) लोउत्तरा वि सा समवसरणसोहा जिणेस तुह पाए ।
लहिऊण लहइ महिमं रविणो णलिणि व्व कुसुमट्ठा[ट्ठा] ॥ २२ ॥

704) णिद्दोसो अकलंको अजडो चंदो व्व सहसि तं तह वि ।
सीहासणायलत्थो जिणिंद[4] कयकुवलयाणंदो ॥ २३ ॥

भो अर्च्य पूज्य । निर्मलसमाधिभूत्या कर्मकलङ्कचतुष्के नष्टे सति तव ज्ञानदर्पणे लोकालोकं प्रतिबिम्बितम् ॥ १९ ॥ भो नाथ । आवरणादीनि त्वया समूलम् उन्मूलितानि उत्पादितानि । भीतेन शेषेण अघातिकर्मचतुष्केन दृष्ट्वा स अघातिचतुष्कः मृतगवत्[5] [तत् अघातिचतुष्कं मृतवत्] त्वयि विषये स्थितम् ॥ २० ॥ भो देव । समवसरणे नानामणिनिर्माणे त्वं स्थितः शोभसे । किंलक्षणस्त्वम् । यावतां [जितानां] सर्वेषां[6] योगिनाम् उपरि निविष्टः सन् विराजसे शोभसे ॥ २१ ॥ भो जिनेश[7] । सा समवसरणशोभा लोकोत्तरा अपि तव पादौ लब्ध्वा प्राप्य महिमानं लभते । यथा सूर्यस्य पादपान् [पादान्] लब्ध्वा कमलिनी विराजते । किंलक्षणा कमलिनी । कुसुमस्था कुसुमेषु तिष्ठतीति कुसुमस्था ॥ २२ ॥ भो जिनेन्द्र । त्वं चन्द्रवत् शोभसे तथापि चन्द्रात् अधिकः । यतस्त्वं निर्दोषः । पुनः किंलक्षणः त्वम् । अकलङ्कः कलङ्करहितः । अजडः ज्ञानवान् । पुनः किं-

मानो हृदयमें स्थित ध्यानरूपी अग्निसे सहसा जलनेवाले शरीरका धुआं ही हो ॥ १८ ॥ हे भगवन् ! निर्मल ध्यानरूप सम्पदासे चार घातिया कर्मरूप कलंकके नष्ट होजानेपर प्रगट हुए आपके ज्ञान (केवलज्ञान) रूप दर्पणमें ही लोक और अलोक प्रतिबिम्बित होने लगे थे ॥ १९ ॥ हे नाथ ! उस समय ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मोंको समूल नष्ट हुए देखकर शेष (वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र) चार अघातिया कर्म भयसे ही मानो मरे हुएके समान (अनुभागसे क्षीण) हो गये थे ॥ २० ॥ हे देव ! विविध प्रकारकी मणियोंसे निर्मित समवसरणमें स्थित आप जीते गये सब योगियोंके ऊपर बैठे हुएके समान सुशोभित होते हैं ॥ विशेषार्थ— भगवान् जिनेन्द्र समवसरणसभामें गन्धकुटीहीं भीतर स्वभावसे ही सर्वोपरि विराजमान रहते हैं । इसके ऊपर यहां यह उत्प्रेक्षा की गई है कि उन्होंने चूंकि अपनी आभ्यन्तर व बाह्य लक्ष्मीके द्वारा सब ही योगीजनोंको जीत लिया था, इसीलिये वे मानो उन सब योगियोंके ऊपर स्थित थे ॥ २१ ॥ हे जिनेश ! वह समवसरणकी शोभा यद्यपि अलौकिक थी, फिर भी वह आपके पादों (चरणों) को प्राप्त करके ऐसी महिमाको प्राप्त हुई जैसी कि पुष्पोंसे व्याप्त कमलिनी सूर्यके पादों (किरणों) को प्राप्त करके महिमाको प्राप्त होती है ॥ २२ ॥ हे जिनेन्द्र ! सिंहासनरूप उदयाचलपर स्थित आप चूंकि चन्द्रमाके समान कुवलय (पृथिवीमण्डल, चन्द्रपक्षमें कुमुद) को आनन्दित करते हैं; अत एव उस चन्द्रमाके समान सुशोभित होते हैं, तो भी आपमें उस चन्द्रमाकी अपेक्षा विशेषता है— कारण कि जिस प्रकार आप अज्ञानादि दोषोंसे रहित होनेके कारण निर्दोष हैं उस प्रकार चन्द्रमा निर्दोष नहीं है— वह सदोष है, क्योंकि वह दोषा (रात्रि) से सम्बन्ध रखता है । आप कर्ममलसे रहित होनेके कारण अकलंक हैं, परन्तु चन्द्रमा कलंक (काला चिह्न) से ही सहित है । तथा आप जडता (अज्ञानता) से रहित होनेके कारण अजड हैं । परन्तु चन्द्रमा अजड नहीं है,

१ क मूअं, अ श मुअं । २ ब सुहसि, श सोहसि । ३ क उवरिव्व, ब श उवरि व । ४ च-प्रतिपाठोऽयम् । अ क श जिणंद । ५ क मृगवत् । ६ क लक्षणस्त्वं सर्वेषां । ७ श जिन ।

705) अच्छंतु[1] ताव इयरा फुरियविवेया णमंतसिरसिहरा ।
होइ असोओ[2] रुक्खो वि णाह तुह संणिहाणत्थो ॥ २४ ॥

706) छत्तत्तयमालंबियणिम्मलमुत्ताहलच्छला तुज्झ ।
जणलोयणेसु वरिसइ अमयं पि व णाह बिंदूहिं ॥ २५ ॥

707) कयलोयलोयणुप्पलहरिसाइ सुरेसहत्थचलियाइं ।
तुह देव सरयससहरकिरणकयाइं व चमराइं ॥ २६ ॥

708) विहलीकयपंचसरे[3] पंचसरो जिण तुमम्मि काऊण ।
अमरकयपुप्फविट्ठि[4]च्छला बहु मुवइ कुसुमसरे[3] ॥ २७ ॥

लक्षणस्त्वम् । सिंहासनाचलस्थः । पुनः किंलक्षणस्त्वम् । कृतकुवलयानन्दः ॥ २३ ॥ भो नाथ । तावत् इतरे भव्याः दूरे तिष्ठन्तु । किंविशिष्टा भव्याः । स्फुरितविवेकाः । पुनः नम्रीभूतशिरःशिखराः । तव संनिधानस्थः तव निकटस्थवृक्षः अशोकः शोकरहितः भवति । भव्यजीवस्य का वार्ता ॥ २४ ॥ भो नाथ । तव छत्रत्रयम् आलम्बितनिर्मलमुक्ताफलच्छलात् जनलोचनेषु अमृतं बिन्दुभिः वर्षति इव ॥ २५ ॥ भो देव । तव चमराणि शशधरकिरणकृतानि इव । पुनः किंलक्षणानि चमराणि । कृतलोकलोचनोत्पलहर्षाणि । पुनः किंलक्षणानि चमराणि । इन्द्रहस्तै[5]चालितानि ॥ २६ ॥ भो जिन । पञ्चशरः कामः त्वयि विषये अमरदेवकृतपुष्पवृष्टिच्छलात् । बहून् कुसुमशरान् पुष्पस्तबकान् मुञ्चति । किंलक्षणस्त्वम् । विफलीकृतपञ्चशरः निर्जितकामः ॥ २७ ॥

किन्तु जड है—हिमसे ग्रस्त है ॥ २३ ॥ हे नाथ ! जिनके विवेक प्रगट हुआ है तथा जिनका शिररूप शिखर आपको नमस्कार करनेमें नम्रीभूत होता है ऐसे दूसरे भव्य जीव तो दूर ही रहें, किन्तु आपके समीपमें स्थित वृक्ष भी अशोक हो जाता है ॥ विशेषार्थ—यहां ग्रन्थकर्ता भगवान् ऋषभ जिनेन्द्रकी स्तुति करते हुए उनके समीपमें स्थित आठ प्रातिहार्योंमेंसे प्रथम अशोक वृक्षका उल्लेख करते हैं । वह वृक्ष यद्यपि नामसे ही 'अशोक' प्रसिद्ध है, फिर भी वे अपने शब्दचातुर्यसे यह व्यक्त करते हैं कि जब जिनेन्द्र भगवान्‌की केवल समीपताको ही पाकर वह स्थावर वृक्ष भी अशोक (शोक रहित) हो जाता है तब भला जो विवेकी जीव उनके समीपमें स्थित होकर उन्हें भक्तिपूर्वक नमस्कार आदि करते हैं वे शोक रहित कैसे न होंगे ? अवश्य ही वे शोकसे रहित होकर अनुपम सुखको प्राप्त करेंगे ॥ २४ ॥ हे नाथ ! आपके तीन छत्र लटकते हुए निर्मल मोतियोंके छलसे मानो बिन्दुओंके द्वारा भव्यजनोंके नेत्रोंमें अमृतकी वर्षा ही करते हैं ॥ विशेषार्थ— भगवान् ऋषभ जिनेन्द्रके शिरके ऊपर जो तीन छत्र अवस्थित थे उनके सब ओर जो सुन्दर मोती लटक रहे थे वे लोगोंके नेत्रोंमें ऐसे दिखते थे जैसे कि मानो वे तीन छत्र उन मोतियोंके मिषसे अमृतबिन्दुओंकी वर्षा ही कर रहे हों ॥ २५ ॥ हे देव ! लोगोंके नेत्रोंरूप नील कमलोंको हर्षित करनेवाले जो चमर इन्द्रके हाथोंसे आपके ऊपर ढोरे जा रहे थे वे शरत्कालीन चन्द्रमाकी किरणोंसे किये गयेके समान प्रतीत होते थे ॥२६॥ हे जिन ! आपके विषयमें अपने पांच बाणोंको व्यर्थ देखकर वह कामदेव देवोंके द्वारा की जानेवाली पुष्पवृष्टिके छलसे मानो आपके ऊपर बहुत-से पुष्पमय बाणोंको छोड़ रहा है ॥ विशेषार्थ—कामदेवका एक नाम पंचशर भी है, जिसका अर्थ होता है पांच बाणोंवाला । ये बाण भी उसके लोहमय न होकर पुष्पमय माने जाते हैं । वह इन्हीं बाणोंके द्वारा कितने ही अविवेकी प्राणियोंको जीतकर उन्हें विषयासक्त किया करता है । प्रकृतमें यहां भगवान् ऋषभ जिनेन्द्रके उपर जो देवोंके द्वारा पुष्पोंकी वर्षा की जा रही थी उसके ऊपर यह उत्प्रेक्षा की गई है कि वह पुष्पवर्षा नहीं है, बल्कि जब भगवान्‌को अपने वशमें करनेके लिये उस कामदेवने उनके ऊपर अपने पांचों बाणोंको चला दिया और फिर भी वे उसके वशमें नहीं हुए, तब उसने मानो उनके ऊपर एक साथ बहुत-से बाणोंको ही छोड़ना प्रारम्भ कर दिया था ॥ २७ ॥

१ श इच्छंतु । २ क असोहो, अ श असोवो । ३ ब-प्रतिपाठोऽयम् । अ क प श सरो । ४ अ श विट्ठी । ५ क हस्तेन ।

709) एस जिणो परमप्पा णाणी अण्णाणं[1] सुणह मा वयणं ।
तुह दुंदुही रसंतो कहइ[5] व तिजयस्स मिलियस्स ॥ २८ ॥

710) रविणो संतावयरं ससिणो उण जडुयायरं[2] देव ।
संतावजडत्तहरं तुज्झ च्चिय पहु पहावलयं ॥ २९ ॥

711) मंदर[3]महिज्जमाणंबु[4]रासिणिग्घोससंणिहा तुज्झ ।
वाणी सुहा ण अण्णा संसारविसस्स णासयरी ॥ ३० ॥

712) पत्ताण सारणिं पिव तुज्झ गिरं सा गई जडाणं पि ।
जा मोक्खतरुट्ठाणे असरिसफलकारणं होइ ॥ ३१ ॥

तव दुन्दुभिः रसन् शब्दं कुर्वन् सन् मिलितस्य त्रिजगत एवं कथयतीव[5] । एवं किं कथयति । एष जिनः परमात्मा ज्ञानी । भो लोकाः अन्येषां कुदेवानां वचनं मा शृणुत ॥ २८ ॥ भो देव अर्च्य । भो प्रभो । रवेः सूर्यस्य प्रभावलयं संतापकरम् । पुनः शशिनः चन्द्रस्य प्रभावलयं जडताकरं शीतकरम् । भो जिन । तव प्रभावलयं संतापजडत्वहरम् ॥ २९ ॥ भो देव । तव वाणी सुधा अमृतम् । संसारविषस्य नाशकरी । अन्या कुदेवस्य वाणी संसारविनाशकरी न भवति । किंलक्षणा तव वाणी । मन्दरेण[6] मेरुणा मथ्यमान-अम्बुराशिनिर्घोषसंनिभा सदृशी ॥ ३० ॥ भो जिन । तव गिरं वाणीं प्राप्तानां जडानाम् अपि सा तव गीः वाणी । तेषां जडानां गतिः सुमार्गगा । तव वाणी मोक्षतरुस्थाने असदृशफलकारणं भवति । सा वाणी केवलजलधोरणीव ॥३१॥

हे भगवन् ! शब्द करती हुई तुम्हारी भेरी तीनों लोकोंके सम्मिलित प्राणियोंको मानो यह कर रही थी कि हे भव्य जीवो ! यह जिनदेव ही ज्ञानी परमात्मा है, दूसरा कोई परमात्मा नहीं है; अत एव एक जिनेन्द्र देवको छोड़कर तुम लोग दूसरोंके उपदेशको मत सुनो ॥ २८ ॥ हे देव ! सूर्यका प्रभामण्डल तो सन्तापको करनेवाला है और चन्द्रका प्रभामण्डल जडता (शैत्य) को उत्पन्न करनेवाला है । किन्तु हे प्रभो ! सन्ताप और जडता (अज्ञानता) इन दोनोंको दूर करनेवाला प्रभामण्डल एक आपका ही है ॥ २९ ॥ मेरु पर्वतके द्वारा मथे जानेवाले समुद्रकी ध्वनिके समान गम्भीर आपकी उत्तम वाणी अमृतस्वरूप होकर संसाररूप विषको नष्ट करनेवाली है, इसको छोड़कर और किसीकी वाणी उस संसाररूप विषको नष्ट नहीं कर सकती है ॥ विशेषार्थ– जिनेन्द्र भगवान्‌की जो दिव्यध्वनि खिरती है वह तालु, कण्ठ एवं ओष्ठ आदिके व्यापारसे रहित निरक्षर होती है । उसकी आवाज समुद्र अथवा मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर होती है । उसमें एक यह विशेषता होती है कि जिससे श्रोता-गणोंको ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् हमारी भाषामें ही उपदेश दे रहे हैं । कहींपर ऐसा भी उल्लेख पाया जाता है कि वह दिव्यध्वनि होती तो निरक्षर ही है, किन्तु उसे मागध देव अर्धमागधी भाषामें परिणमाता है । वह दिव्यध्वनि स्वभावतः तीनों सन्ध्याकालोंमें नौ मुहूर्त तक खिरती है । परन्तु गणधर, इन्द्र एवं चक्रवर्ती आदिके प्रश्नके अनुसार कभी वह अन्य समयमें भी खिरती है । वह एक योजन तक सुनी जाती है । भगवान् जिनेन्द्र चूंकि वीतराग और सर्वज्ञ होते हैं अत एव उनके द्वारा निर्दिष्ट तत्त्वके विषयमें किसी प्रकारका सन्देह आदि नहीं किया जा सकता है । कारण यह कि वचनमें असत्यता या तो कषायवश देखी जाती है या अल्पज्ञताके कारण, सो वह जिनेन्द्र भगवान्‌में रही नहीं है । अत एव उनकी वाणीको यहां अमृतके समान संसारविषनाशक बताया गया है ॥३०॥ हे जिनेन्द्र देव ! क्यारीके समान तुम्हारी वाणीको प्राप्त हुए अज्ञानी जीवोंकी भी वह अवस्था होती है जो मोक्षरूप वृक्षके स्थानमें अनुपम फलका कारण होती है ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार उत्तम क्यारीको बनाकर उसमें लगाया गया वृक्ष जलसिंचनको पाकर अभीष्ट फल देता है उसी प्रकार जो भव्य जीव मोक्षरूप वृक्षकी क्यारीके समान उस जिनवाणीको पाकर (सुनकर) तदनुसार मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होते हैं उन्हें

१ क ब णाणो णाणं, च णणगोण्णाणं, अ श णाणोण्णाणं । २ अ ब जडुयारयं, श जडयारयं । ३ अ श मंदिर । ४ क श °माणांबु । ५ श कथयति । ६ अ श मंदिरेण ।

713) पोयं पिव तुह वयणं संलीणा फुडमहोकयजडोहं ।
हेलाए च्चिय जीवा तरंति भवसायरमणंतं ॥ ३२ ॥

714) तुह वयणं चिय साहइ णूणमणेयंतवायवियडवहं ।
तह हिययपईइअरं[2] सव्वत्तणमप्पणो णाह ॥ ३३ ॥

715) विप्पडिवज्जइ जो तुह गिराए मइसुइबलेण केवलिणो ।
वरदिट्ठिदिट्ठणहजंतपक्खि[3]गणणे वि सो अंधो ॥ ३४ ॥

716) भिण्णाण परणयाणं एक्केक्कमसंगया णया तुज्झ ।
पावंति जयम्मि जयं मज्झम्मि रिऊण किं चित्तं ॥ ३५ ॥

717) अण्णस्स जए जीहा कस्स सयाणस्स वण्णणे तुज्झ ।
जत्थ जिण ते वि जाया सुरगुरुपमुहा कई कुंठा ॥ ३६ ॥

अहो इत्याश्चर्ये । भो पूज्य । स्फुटं व्यक्तम् । जीवाः हेलया अनन्तभवसागरं तरन्ति । किंलक्षणा भव्याः । तव प्रवचने संलग्नाः । यथा नराः पोतं प्रवहणम् आश्रित्य जलौघं समुद्रं तरन्ति ॥ ३२ ॥ भो नाथ । भो अर्च्य । तव वचनं नूनं निश्चितम् अनेकान्तवादविकटपथं साधयति । तथा आत्मज्ञानिनां सर्वेषां हृदयप्रदीपकरं तव वचनम् ॥ ३३ ॥ भो देव । यः मूढः तव केवलिनः वाण्यां मतिश्रुतिबलेन विप्रतिपद्यते संशयं करोति । स अन्धः वरदृष्टिदृष्टनभोयान्तपक्षिगणने संशयं करोति ॥ ३४ ॥ भो देव । तव नयाः भिन्नानां परनयानां रिपूणां मध्ये जगत्त्रये जयं पावंति प्राप्नुवन्ति । तत्किं चित्रम् । किंलक्षणास्तव नयाः । एकम् एकम् असंगताः अमिलिताः ॥ ३५ ॥ भो जिन । जगति संसारे । तव वर्णने अन्यस्य सज्ञानस्य प्रवीणस्य कस्य जिह्वा वर्तते । अपि तु न कस्यापि । यत्र तव वर्णने सुरगुरुप्रमुखाः कवयः देवाः कुण्ठा मूर्खाः जाताः । अन्यस्य

अवश्य ही उससे अनुपम फल (मोक्षसुख) प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥ जिस प्रकार जडौघ (जलौघ) अर्थात् जलकी राशिको अधःकृत (नीचे करनेवाली) नावका आश्रय लेकर प्राणी अनायास ही अपार समुद्रके पार हो जाते हैं, उसी प्रकार जडौघ अर्थात् अज्ञानसमूहको अधःकृत (तिरस्कृत) करनेवाली आपकी वाणीरूप नावका आश्रय लेकर भव्य जीव भी अनायास ही अनन्त संसाररूप समुद्रके पार हो जाते हैं, यह स्पष्ट है ॥ ३२ ॥ हे नाथ ! हृदयमें प्रतीतिको उत्पन्न करनेवाली आपकी वाणी ही निश्चयसे अनेकान्तवादरूप कठिन मार्गको तथा अपने सर्वज्ञत्वको भी सिद्ध करती है ॥ ३३ ॥ हे भगवन् ! जो मनुष्य अपने मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके बलपर आप जैसे केवलीकी वाणीके विषयमें— उसके द्वारा निरूपित तत्त्वस्वरूपमें— विवाद (सन्देहादि) को प्राप्त होता है, उसका यह आचरण उस अन्धे मनुष्यके समान है जो किसी निर्मल नेत्रोंवाले अन्य मनुष्यके द्वारा देखे गये ऐसे आकाशमें संचार करते हुए पक्षियोंकी गणना (संख्या) में विवाद करता है ॥ ३४ ॥ हे भगवन् ! जगत्में आपके पृथक् पृथक् एक एक नय शत्रुभूत भिन्न भिन्न परमतोंके मध्यमें यदि जयको प्राप्त करते हैं तो इसमें आश्चर्य क्या है ? कुछ भी नहीं ॥ ३५ ॥ हे जिन ! जगत्में जिस तुम्हारे वर्णनमें बृहस्पति आदि कवि भी कुण्ठित (असमर्थ) हो चुके हैं उसमें भला अन्य किस बुद्धिमान्की जिह्वा समर्थ हो सकती है ? अर्थात् आपके गुणोंका कीर्तन जब बृहस्पति आदि भी नहीं कर सके हैं तब फिर अन्य कौन-सा ऐसा कवि है जो आपके उन गुणोंका पूर्णतया कीर्तन कर सके ? ॥ ३६ ॥

---

१ सर्वास्वपि प्रतिषु 'पवयणम्मि' पाठः । २ च-प्रतिपाठोऽयम् । अ क श पईयअरं । ३ श पक्ख । ४ अ ब श कस्साइसयाण वण्णणे, च कस्सायसयाण वण्णणे ।

718) सो मोहथेणरहिओ पयासिओ पहु सुपहो तए तइया ।
तेणज्ज वि रयणजुया णिव्विग्घं जंति णिव्वाणं ॥ ३७ ॥

719) उग्घुडियम्मि तम्मि हु मोक्खणिहाणम्मि गुणणिहाण तए ।
केहिं ण जुण्णतिणाइ व इयरणिहाणेहिं भुवणम्मि ॥ ३८ ॥

720) मोहमहाफणिडक्को जणो विरायं तुमं पमुत्तूण ।
इयराणाए कह पहु विचेयणो चेयणं लहइ ॥ ३९ ॥

721) भवसायरम्मि धम्मो धरइ पडंतं जणं तुह च्चेय ।
सवरस्स व परमारणकारणमियराण जिणणाह ॥ ४० ॥

का वार्ता ॥ ३६ ॥ भो प्रभो । तदा तस्मिन् काले । त्वया सुपथः सुमार्गः । प्रकाशितः । किंलक्षणः मार्गः । मोहचोरेण रहितः । तेन पथा मार्गेण । भव्यजीवाः अद्यापि रत्नयुताः दर्शनादियुताः । निर्विघ्नं विघ्नरहितम् । निर्वाणं मोक्षं प्रयान्ति ॥ ३७ ॥ भो गुणनिधान । त्वया । हुं स्फुटम् । तस्मिन् मोक्षनिधाने उद्घाटिते सति । कैः भव्यजीवैः । भुवने त्रैलोक्ये । इतरनिधानानि सुवर्णादिजीर्णतृण इव न त्यक्तानि । अपि तु भव्यैः इतरद्रव्याणि त्यक्तानि ॥ ३८ ॥ हे प्रभो । मोहमहाफणिदष्टः विचेतनः गतचेतनः जनः । त्वां वीतरागगरुडं प्रमुक्त्वा [प्रमुच्य] इतरकुदेवाज्ञया चेतनां कथं लभते ॥ ३९ ॥ भो जिननाथ । तवैव धर्मः भवसागरे संसारसमुद्रे पतन्तं जनं धारयति । इतरेषां मिथ्यादृष्टीनां धर्मः परमारणकारणं शबराणां भिल्लानां धर्म

हे प्रभो ! उस समय आपने मोहरूप चोरसे रहित उस सुमार्ग (मोक्षमार्ग) को प्रगट किया था कि जिससे आज भी मनुष्य रत्नों (रत्नत्रय) से युक्त होकर निर्बाध मोक्षको जाते हैं ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार शासनके सुप्रबन्धसे चोरोंसे रहित किये गये मार्गमें मनुष्य इच्छित धनको लेकर निर्बाध गमनागमन करते हैं, उसी प्रकार भगवान् ऋषभ देवने अपने दिव्य उपदेशके द्वारा जिस मोक्षमार्गको मोहरूप चोरसे रहित कर दिया था उससे संचार करते हुए साधुजन अभी भी सम्यग्दर्शनादिरूप अनुपम रत्नोंके साथ निर्विघ्न अभीष्ट स्थान (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं ॥३७॥ हे गुणनिधान ! आपके द्वारा उस मोक्षरूप निधि (खजाना) के खोल देनेपर लोकमें किन भव्य जीवोंने रत्न-सुवर्णादिरूप दूसरी निधियोंको जीर्ण तृणके समान नहीं छोड़ दिया था ? अर्थात् बहुतोंने उन्हें छोड़ कर जिनदीक्षा स्वीकार की थी ॥ ३८ ॥ हे प्रभो ! मोहरूपी महान् सर्पके द्वारा काटा जाकर मूर्छाको प्राप्त हुआ मनुष्य आप वीतरागको छोड़कर दूसरेकी आज्ञा (उपदेश) से कैसे चेतनाको प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार सर्पके काटनेसे मूर्छाको प्राप्त हुआ मनुष्य मान्त्रिकके उपदेशसे निर्विष होकर चेतनताको पा लेता है उसी प्रकार मोहसे ग्रसित संसारी प्राणी आपके सदुपदेशसे अविवेकको छोड़कर अपने चैतन्यस्वरूपको पा लेते हैं ॥ ३९ ॥ हे जिनेन्द्र ! संसाररूप समुद्रमें गिरते हुए प्राणीकी रक्षा आपका ही धर्म करता है । दूसरोंका धर्म तो भीलके धर्म (धनुष) के समान अन्य जीवोंके मारनेका ही कारण होता है ॥ ४० ॥ हे जिन !

१ च-प्रतिपाठोऽयम् । अ क श मोहत्थेण । २ क श तेणाज्ज । ३ अ श न जुण्णतणाइयमियर, क ण जुणतिणा इव, च ब ण जुण्णतणाइअमियर । ४ च दिट्ठो, ब डंको । ५ श कायर । ६ श त्वया सः सुपथः । ७ क मोहवैरिणा । ८ क हि । ९ क द्रव्यादि । १० श प्रमुक्ता । ११ श तवैव ।

722) अण्णो को तुह पुरओ वग्गइ गरुयत्तणं पयासंतो।
जम्मि तइ परमियत्तं केसणहाणं पि जिण जायं ॥ ४१ ॥
723) सहइ सरीरं तुह पहु तिहुयणजणणयणबिंबविच्छुरियं।
पडिसमयमच्चियं चारुतरलणीलुप्पलेहिं वे ॥ ४२ ॥
724) अहमहमियाए णिवडंति णाह छुहियालिणो व्व हरिचक्खू।
तुज्झ च्चिय णहपहसरमज्झट्ठियंचलणकमलेसुं ॥ ४३ ॥
725) कणयकमलाणमुवरिं सेवा तुह विबुहकप्पियाण तुहं।
अहियसिरीणं तत्तो जुत्तं चरणाण संचरणं ॥ ४४ ॥
726) सइ-हरिकयकण्णसुहो गिज्जइ अमरेहिं तुह जसो सग्गे।
मण्णे तं सोउमणो हरिणो हरिणंकमल्लीणो ॥ ४५ ॥

इव ॥ ४० ॥ भो जिन। तव पुरतः अग्रे अन्यः कः वल्गति गुरुत्वं प्रकाशयन् यस्मिन् त्वयि केशनखानाम् अपि प्रमाणत्वं जातम् ॥ ४१ ॥ भो प्रभो। तव शरीरं शोभते। किंलक्षणं शरीरम्। त्रिभुवनजननयनबिम्बेषु विस्फुरितं प्रतिबिम्बितम्। च पुनः। किंलक्षणं शरीरम्। चारुतरलनीलोत्पलैः कमलैः प्रतिसमयम् अर्चितम् ॥ ४२ ॥ भो नाथ भो अर्च्य। तव नखप्रभा-सरोमध्यस्थितचरणकमलेषु। हरिचक्षूंषि इन्द्रनयनानि। अहमहमिकया अहं प्रथमम् आगतम्। निपतन्ति। किंलक्षणानि नयनानि। क्षुधिता भ्रमरा इव ॥ ४३ ॥ तत्तस्मात्कारणात्। तव चरणानां कनककमलानाम् उपरि संचरणं गमनं युक्तम्। किंलक्षणानां चरणानाम्। अधिकश्रीणाम्। पुनः किंलक्षणानाम्। कनककमलानां तव सेवानिमित्तं विबुधदेवकल्पितानां रचितानाम्। विबुधैः देवैः स्थापितानाम् ॥ ४४ ॥ भो देव। तव यशः देवैः स्वर्गे गीयते। किंलक्षणं यशः। शची-इन्द्रकृतकर्णसुखं शचीइन्द्रयोः कृतकर्णसुखम्। अहम् एवं मन्ये। तद्यशः श्रोतुमनाः हरिणः मृगः चन्द्रकमलीनः [चन्द्रमालीनः] ॥ ४५ ॥

जिन आपमें बाल और नख भी परिमितताको प्राप्त अर्थात् वृद्धिसे रहित हो गये थे उन आपके आगे दूसरा कौन अपनी महिमाको प्रगट करते हुए जा सकता है? अर्थात् कोई नहीं॥ विशेषार्थ—केवलज्ञानके प्रगट हो जानेपर नख और बालोंकी वृद्धि नहीं होती। इसके ऊपर यहां यह उत्प्रेक्षा की गई है कि वह नख-केशोंकी वृद्धिका अभाव मानो यह सूचना ही करता था कि ये जिनेन्द्र भगवान् सर्वश्रेष्ठ हैं, इनके आगे किसी दूसरेका प्रभाव नहीं रह सकता है॥ ४१॥ हे प्रभो! आपके शरीरपर जो तीनों लोकोंके प्राणियोंके नेत्रोंका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था उससे व्याप्त वह शरीर ऐसा प्रतीत होता था मानो वह निरन्तर सुन्दर एवं चंचल नील कमलोंके द्वारा पूजाको ही प्राप्त हो रहा है॥ ४२॥ हे नाथ! तुम्हारे ही नखोंकी कान्तिरूप सरोवरके मध्यमें स्थित चरणरूप कमलोंके ऊपर जो इन्द्रके नेत्र गिरते हैं वे ऐसे दिखते हैं जैसे मानो अहमहमिका अर्थात् मैं पहिले पहुंचूं, मैं पहिले पहुंचूं, इस रूपसे भूखे भ्रमर ही उनपर गिर रहे हैं॥ ४३॥ हे भगवन्! तुम्हारी सेवाके लिये देवोंके द्वारा रचे गये सुवर्णमय कमलोंके ऊपर जो आपके चरणोंका संचार होता था वह योग्य ही था, क्योंकि, आपके चरणोंकी शोभा उन कमलोंसे अधिक थी॥ ४४॥ हे जिनेन्द्र! स्वर्गमें इन्द्राणी और इन्द्रके कानोंको सुख देनेवाला जो देवोंके द्वारा आपका यशोगान किया जाता है उसको सुननेके लिये उत्सुक होकर ही मानो हिरणने चन्द्रका आश्रय लिया है, ऐसा मैं समझता हूं॥ ४५॥ हे जिनेन्द्र! कमलमें लक्ष्मी रहती है, यह कहना असत्य है; कारण कि वह तो आपके चरणकमलमें रहती है। तभी तो नमस्कार करते हुए जनोंके ऊपर

१ क श मोल्हइ। २ च-प्रतिपाठोऽयम्। अ क श 'च'। ३ क मज्झट्ठिय। ४ अ 'अहं प्रथमं आगतं' नास्ति। ५ क 'विबुधदेवकल्पितानां रचितानां' नास्ति। ६ श चन्द्रकमालीनः।

727) अलियं कमले कमला कमकमले तुह जिणिंद सा वसइ ।
णहकिरणणिहेण घडंति णयजणे से कडक्खछडा ॥ ४६ ॥

728) जे कयकुवलयहरिसे तुमम्मि विद्देसिणो स ताणं पि ।
दोसो ससिम्मि वा आहयाण जह वाहिआवरणं ॥ ४७ ॥

729) को इह हि उव्वरंतो जिण जयसंहरणमरणवणसिहिणो ।
तुह पयथुइणिज्झरणी वारणमिणमो ण जइ होंति ॥ ४८ ॥

730) करजुवलकमलमउले भालत्थे तुह पुरो कए वसइ ।
सग्गापवग्गकमला कुणंति[1] तं तेण सप्पुरिसा ॥ ४९ ॥

भो जिनेन्द्र । कमला लक्ष्मीः कमले वसति इति अलीकम् असत्यम् । सा कमला लक्ष्मीः तव क्रमकमले वसति, अन्यथा नतजने तस्याः लक्ष्म्याः कटाक्षच्छटाः नखकिरणव्याजेन कथं घडन्ति ॥ ४६ ॥ भो जिन । कृतकुवलय-भूवलयहर्षे त्वयि ये विद्वेषिणः वर्तन्ते स दोषस्तेषां विद्वेषिणाम् अपि अस्ति । यथा शशिनि चन्द्रे धूली[2]-आहतानां पुरुषाणां तद्धूली[3] आवरणं तेषाम् अपि भवेत् ॥४७॥ भो जिन । हि यतः । इह जगति जगत्संहरणमरणवनशिखिनः अग्नेः सकाशात् कः उद्धरेत् । यदि चेत् । इदं तव पदस्तुति-निर्झरणीवारि जलं न भविष्यति ॥ ४८ ॥ भो जिन । भालस्थे करयुगलकमलमुकुले स्वर्गापवर्गकमला लक्ष्मीः वसति । किंलक्षणे करकमले । तव पुरतः अग्रे मुकुलीकृते[4] । तेन कारणेन सत्पुरुषाः तत्करकमलं तव अग्रतः कुर्वन्ति ॥४९॥ भो जिन । तव पुरतः

आपके नखोंकी किरणोंके छलसे उसके नेत्रकटाक्षोंकी कान्ति संगतिको प्राप्त हो सकती है ॥ ४६ ॥ हे जिनेन्द्र ! कुवलय अर्थात् भूमण्डलको हर्षित करनेवाले आपके विषयमें जो विद्वेष रखते हैं वह उनका ही दोष है । जैसे–कुवलय (कुमुद) को प्रफुलित करनेवाले चन्द्रके विषयमें जो मूर्ख बाहिरी आवरण करते हैं तो वह उनका ही दोष होता है, न कि चन्द्रका । अभिप्राय यह है कि जैसे कोई चन्द्रके प्रकाश (चांदनी) को रोकनेके लिये यदि बाह्य आवरण करता है तो वह उसका ही दोष समझा जाता है, न कि उस चन्द्रका । कारण कि वह तो स्वभावतः प्रकाशक व आल्हादजनक ही है । इसी प्रकार यदि कोई अज्ञानी जीव आपको पा करके भी आत्महित नहीं करता है तो यह उसका ही दोष है, न कि आपका । कारण कि आप तो स्वभावतः सब ही प्राणियोंके हितकारक हैं ॥ ४७ ॥ हे जिन ! यदि आपके चरणोंकी स्तुतिरूप यह नदी रोकनेवाली (बुझानेवाली) न होती तो फिर यहां जगत्का संहार करनेवाली मृत्युरूप दावाग्निसे कौन बच सकता था ? अर्थात् कोई नहीं शेष रह सकता था ॥ ४८ ॥ हे भगवन् ! तुम्हारे आगे नमस्कार करते समय मस्तकके ऊपर स्थित दोनों हाथोंरूप कमलकी कलीमें चूंकि स्वर्ग और मोक्षकी लक्ष्मी निवास करती है, इसीलिये सज्जन पुरुष उसे (दोनों हाथोंको भालस्थ) किया करते हैं ॥४९॥ हे जिनेन्द्र ! तुम्हारे आगे नम्रीभूत हुए सिरसे चूंकि मोहरूप ठगके द्वारा स्थापित की गई मोहनधूलि (मोहको प्राप्त कराने-वाली धूलि) नाशको प्राप्त हो जाती है, इसीलिये विद्वान् जन शिर झुकाकर आपको नमस्कार किया करते हैं ॥ ५० ॥ हे भगवन् ! जो लोग तुम्हारे ब्रह्मा आदि सब नामोंको दूसरों (विधाता आदि) के बतलाते हैं वे मूर्ख मानो चन्द्रकी चांदनीको जुगुनूमें जोडते हैं ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार जुगुनूका प्रकाश कभी चांदनीके समान नहीं हो सकता है उसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और महेश इत्यादि जो आपके सार्थक नाम हैं वे देवस्वरूपसे माने जानेवाले दूसरोंके कभी नहीं हो सकते– वे सब तो आपके ही नाम हैं । यथा—

१ क ब कुणंति । २ अ श धूलि । ३ अ श तत् धूलि । ४ क कृतेन ।

731) वियलइ मोहणधूली तुह पुरओ मोहठगेंपरिट्ठविया ।
पणवियसीसाओ तओ पणवियसीसा बुहा होंति ॥ ५० ॥

732) बंभप्पमुहा सण्णा सव्वा तुह जे भणंति अण्णस्स ।
ससिजोण्हा खज्जोए जडेहि जोडिज्जए तेहिं ॥ ५१ ॥

733) तं चेव मोक्खपयवी तं चिय सरणं जणस्स सव्वस्स ।
तं णिक्कारणविज्जो[2] जाइजरामरणवाहिहरो ॥ ५२ ॥

734) किच्छाहिं समुवलद्धे कयकिच्चा जम्मि जोइणो होंति ।
तं परमकारणं जिण ण[3] तुमाहिंतो परो अत्थि ॥ ५३ ॥

735) सुहमो सि तह ण दीससि जह पहु परमाणुपेच्छएहिं[4] पि ।
गुरुवो[5] तह बोहमए जह तई सव्वं पि संमायं ॥ ५४ ॥

736) णीसेसँवत्थुसत्थे हेयमहेयं णिरूवमाणस्स ।
तं परमप्पा सारो सेसमसारं पलालं वा ॥ ५५ ॥

अग्रतः प्रणमितशीर्षात् मोहनधूलिः विगलति पतति। किंलक्षणा धूलिः । मोहठगस्थापिता । तत्तस्मात्कारणात् । बुधाः पण्डिताः प्रणमितशीर्षा भवन्ति ॥ ५० ॥ भो जिन ये पुमांसः अन्यदेवस्य ब्रह्मा [ह्म] प्रमुखाः सर्वाः संज्ञाः नाम्नः [नामानि] तवैव भणन्ति । तैः जडैः शशिज्योत्स्नाकिरणाः खद्योते योज्यते [योज्यन्ते] ॥ ५१ ॥ भो जिन । त्वमेव मोक्षपदवी । भो जिन । त्वमेव जनस्य शरणम् । सर्वस्य जनस्य शरणम् । भो जिन । त्वमेव निःकारणवैद्यः । त्वमेव जातिजरामरणव्याधिहरः ॥ ५२ ॥ भो जिन । यस्मिन् त्वयि कृच्छ्रात्समुपलब्धे सति योगिनः कृतकृत्या भवन्ति । तत्तस्मात्कारणात् । त्वत्तः सकाशात् । अपरः परमपदकारणं न अस्ति ॥ ५३ ॥ भो प्रभो । तथा तेन प्रकारेण सूक्ष्मोऽसि यथा परमाणुप्रेक्षकैः मुनिभिः न दृश्यसे । भो जिन त्वं तथा गरिष्ठः यथा त्वयि ज्ञानमये सर्वं प्रतिबिम्बितं संमातम् ॥ ५४ ॥ भो देव । निःशेषवस्तुशास्त्रे । हेयं त्याज्यम् । अहेयं ग्राह्यम् । निरूप्यमाणस्य मध्ये त्वं परमात्मा सारः ग्राह्यः । शेषं वस्तु त्वत्तः अन्यत् असारं वा । पलालं तृणम् ॥ ५५ ॥ भो देव ।

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम् । योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥ बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात् । धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानाद् व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि [भक्तामर० २४-२५] ॥ ५१ ॥ हे जिनेन्द्र ! तुम ही मोक्षके मार्ग हो, तुम ही सब प्राणियोंके लिये शरणभूत हो; तथा तुम ही जन्म, जरा और मरणरूप व्याधिको नष्ट करनेवाले निःस्वार्थ वैद्य हो ॥ ५२ ॥ हे अर्हन् ! जिस आपको कष्टपूर्वक प्राप्त (ज्ञात) करके योगीजन कृतकृत्य हो जाते हैं वह तुम ही उस कृतकृत्यताके उत्कृष्ट कारण हो, तुम्हारे सिवाय दूसरा कोई उसका कारण नहीं हो सकता है ॥ ५३ ॥ हे प्रभो ! तुम ऐसे सूक्ष्म हो कि जिससे परमाणुको देखनेवाले भी तुम्हें नहीं देख पाते हैं । तथा तुम ऐसे स्थूल हो कि जिससे अनन्तज्ञानस्वरूप आपमें सब ही विश्व समा जाता है ॥ ५४ ॥ हे भगवन् ! समस्त वस्तुओंके समूहमें यह हेय है और यह उपादेय है, ऐसा निरूपण करनेवाले शास्त्रका सार तुम परमात्मा ही हो । शेष सब पलाल (पुआल) के समान निःसार है ॥ ५५ ॥ हे सर्वज्ञ ! जिस आकाशके गर्भमें तीनों ही लोक परमाणुकी लीलाको धारण करते हैं, अर्थात् परमाणुके समान प्रतीत होते हैं, वह आकाश भी आपके ज्ञानके भीतर

---

१ ब ठअ । २ अ क विद्यो, श विद्दो । ३ श 'ण' नास्ति । ४ क पच्छएहिं । ५ श गरुवो । ६ क तए, श तह । ७ क णिस्सेस ।

737) धरइ परमाणुलीलं जग्गब्भे[1] तिहुयणं पि तं पि णहं[2] ।
अंतो णाणस्स तुह इयरस्स ण एरिसी महिमा ॥ ५६ ॥

738) भुवणत्थुय थुणइ जइ जए सरस्सई संतयं तुहं तह वि ।
ण गुणंतं लहइ तहिं को तरइ जडो जणो अण्णो ॥ ५७ ॥

739) खयरि व्व संचरंती तिहुयणगुरु तुह गुणोहगयणम्मि ।
दूरं पि गया सुइरं कस्स गिरा पत्तपेरंता ॥ ५८ ॥

740) जत्थ असक्को सक्को अणीसरो ईसरो फणीसो वि ।
तुह थोत्ते तत्थ कई अहममई तं खमिज्जासु ॥ ५९ ॥

741) तं भव्वपोमणंदी तेयणिही णेसरु[3] व्व णिद्दोसो ।
मोहंधयारहरणे तुह पाया मम पसीयंतु ॥ ६० ॥

यस्य[4] आकाशस्य गर्भे मध्ये त्रिभुवनमपि[5] परमाणुलीलां मर्यादां[6] धरति। तत् नभः तव ज्ञानस्य अन्तः मध्ये परमाणुलीलां धरति। इतरस्य कुदेवस्य ईदृशी महिमा न ॥ ५६ ॥ भो भुवनस्तुत्य । जगत्त्रये सरस्वती सततं स्तौति तव स्तुतिं करोति । तथापि तव गुणान्तं पारं न लभते । तस्मिन् तव गुणसमुद्रे अन्यः जडः मूढः कः तरति । अपि तु न कोऽपि ॥ ५७ ॥ भो त्रिभुवनगुरो । तव गुणौघगगने आकाशे । कस्य गीः वाणी । प्राप्तपर्यन्ता । सुचिरं चिरकालम् । संचरन्ती गच्छन्ती दूरं गता अपि । का इव । खचरी इव पक्षिणी इव। अपि तु न कस्यापि गीः प्राप्तपर्यन्ता ॥ ५८ ॥ भो देव। यत्र तव स्तोत्रे । शक्रः इन्द्रः अशक्तः असमर्थः । ईश्वरोऽपि अनीश्वरः । फणीशोऽपि नागाधिपोऽपि स्तोतुम् अनीश्वरः असमर्थः । तस्मिन् स्तोत्रे अहं कविः[7] अमतिः मतिरहितः । तदपराधं क्षमस्व ॥ ५९ ॥ भो देव। तव पादौ मम प्रसीदताम् । किंलक्षणः त्वम् । भव्यपद्मनन्दी । पुनः किंलक्षणः त्वम् । तेजोनिधिः । पुनः किंलक्षणः त्वम् । सूर्यवत् निर्दोषः । क । मोहंधयारहरणे मोहान्धकारहरणे ज्ञानसूर्यः ॥ ६० ॥ इति ऋषभस्तोत्रम् ॥ १३ ॥

परमाणु जैसा प्रतीत होता है। ऐसी महिमा ब्रह्मा-विष्णु आदि किसी दूसरेकी नहीं है ॥ ५६ ॥ हे भुवनस्तुत ! यदि संसारमें तुम्हारी स्तुति सरस्वती भी निरन्तर करे तो वह भी जब तुम्हारे गुणोंका अन्त नहीं पाती है तब फिर अन्य कौन-सा मूर्ख मनुष्य उस गुणसमुद्रके भीतर तैर सकता है? अर्थात् आपके सम्पूर्ण गुणोंकी स्तुति कोई भी नहीं कर सकता है ॥ ५७ ॥ हे त्रिभुवनपते ! आपके गुणसमूहरूप आकाशमें पक्षिणी (अथवा विद्याधरी) के समान चिर कालसे संचार करनेवाली किसीकी वाणीने दूर जाकर भी क्या उसके (आकाशके, गुणसमूहके) अन्तको पाया है? अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार पक्षी चिर काल तक गमन करके भी आकाशके अन्तको नहीं पाता है उसी प्रकार चिर काल तक स्तुति करके भी किसीकी वाणी आपके गुणोंका अन्त नहीं पा सकती है ॥ ५८ ॥ हे भगवन् ! जिस तेरे स्तोत्रके विषयमें इन्द्र अशक्त (असमर्थ) है, ईश्वर (महादेव) अनीश्वर (असमर्थ) है, तथा धरणेन्द्र भी असमर्थ है; उस तेरे स्तोत्रके विषयमें मैं निर्बुद्धि कवि [कैसे] समर्थ हो सकता हूं? अर्थात् नहीं हो सकता। इसलिये क्षमा करो ॥ ५९ ॥ हे जिन ! तुम सूर्यके समान पद्मनन्दी अर्थात् भव्य जीवोंरूप कमलोंको आनन्दित करनेवाले, तेजके भण्डार और निर्दोष अर्थात् अज्ञानादि दोषोंसे रहित (सूर्यपक्षमें–दोषासे रहित) हो। तुम्हारे पाद (चरण) सूर्यके पादों (किरणों) के समान मेरे मोहरूप अन्धकारके नष्ट करनेमें प्रसन्न होवें ॥ ६० ॥ इस प्रकार ऋषभस्तोत्र समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

---

१ क श जं गब्भे। २ क श णह। ३ अ श तेयणिही णेसरुव्व, ब तेयणीही इणं सरूव्व। ४ क 'यस्य' नास्ति। ५ क त्रिभुवनपतिः। ६ श 'मर्यादां' नास्ति। ७ क 'कवि' नास्ति।

[१४. जिनवरस्तवनम्]

742) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर सहलीहूआइं मज्झ णयणाइं ।
चित्तं गत्तं च लहुं अमिएणं[1] व सिंचियं जायं ॥ १ ॥

743) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दिट्ठिहरासेसमोहतिमिरेण ।
तह णट्ठं जह दिट्ठं जहट्ठियं तं मए तच्चं ॥ २ ॥

744) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर परमाणंदेण पूरियं हिययं ।
मज्झ तहा जह मण्णे मोक्खं पिव पत्तमप्पाणं ॥ ३ ॥

745) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर णट्ठं चिय मण्णियं महापावं ।
रविउग्गमे णिसाए ठाइ तमो कित्तियं कालं ॥ ४ ॥

746) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर सिज्झइ सो को वि पुण्णपब्भारो ।
होइ जणो जेण पहू इहपरलोयत्थसिद्धीणं ॥ ५ ॥

747) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर मण्णे तं अप्पणो सुकयलाहं ।
होही सो जेणासरिससुहणिही अक्खओ मोक्खो ॥ ६ ॥

748) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर संतोसो मज्झ तह परो जाओ ।
इंदविहवो वि जणइ ण तण्हा[2]लेसं पि जह हियए ॥ ७ ॥

भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति मम नेत्राणि सफलीभूतानि । मम चित्तं मनः । च पुनः । गात्रम् अमृतेन सिञ्चितमिव जातम् ॥ १ ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति दृष्टिहर-चक्षुह[ह]र-अशेषमोहतिमिरेण तथा नष्टं यथा मया यथास्थितं तत्त्वं दृष्टम् ॥ २ ॥ भो जिनवर त्वयि दृष्टे सति मम हृदयं तथा परमानन्देन पूरितं यथा आत्मानं मोक्षं प्राप्तम् इव मन्ये ॥ ३ ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति महापापं नष्टमिव मन्ये । यथा रवि-उद्गमे सति नैशं तमः निशोद्भवं तमः अन्धकारः कियन्तं कालं तिष्ठति ॥ ४ ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति सः[3] कोऽपि पुण्यप्राग्भारः सिध्यति येन पुण्यसमूहेन जनः प्रभुः भवति । इहलोकपरलोकसिद्धीनां पात्रं भवति ॥ ५ ॥ भो जिनवर त्वयि दृष्टे सति आत्मनः तं सुकृतलाभं मन्ये । येन सुकृतलाभेन पुण्यलाभेन स मोक्षः भविष्यति । किंलक्षणः मोक्षः । असदृशसुखनिधिः । पुनः अक्षयः विनाशरहितः ॥ ६ ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति मम तथा परः श्रेष्ठः संतोषः जातः यथा इन्द्रविभवोऽपि हृदये तृष्णालेशं न जनयति नोत्पादयति[4] ॥ ७ ॥

हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होनेपर मेरे नेत्र सफल हो गये तथा मन और शरीर शीघ्र ही अमृतसे सींचे गयेके समान शान्त हो गये हैं ॥ १ ॥ हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होनेपर दर्शनमें बाधा पहुंचानेवाला समस्त मोह (दर्शनमोह) रूप अन्धकार इस प्रकार नष्ट हो गया कि जिससे मैंने यथावस्थित तत्त्वको देख लिया है—सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर लिया है ॥ २ ॥ हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होनेपर मेरा अन्तःकरण ऐसे उत्कृष्ट आनन्दसे परिपूर्ण हो गया है कि जिससे मैं अपनेको मुक्तिको प्राप्त हुआ ही समझता हूं ॥ ३ ॥ हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होनेपर मैं महापापको नष्ट हुआ ही मानता हूं । ठीक है—सूर्यका उदय हो जानेपर रात्रिका अन्धकार भला कितने समय ठहर सकता है? अर्थात् नहीं ठहरता, वह सूर्यके उदित होते ही नष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥ हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होनेपर वह कोई अपूर्व पुण्यका समूह सिद्ध होता है कि जिससे प्राणी इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी अभीष्ट सिद्धियोंका स्वामी हो जाता है ॥ ५ ॥ हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होनेपर मैं अपने उस पुण्यलाभको मानता हूं जिससे कि मुझे अनुपम सुखके भण्डारस्वरूप वह अविनश्वर मोक्ष प्राप्त होगा ॥ ६ ॥ हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होनेपर मुझे ऐसा उत्कृष्ट सन्तोष उत्पन्न हुआ है कि जिससे मेरे हृदयमें इन्द्रका वैभव भी लेशमात्र तृष्णाको नहीं

१ **अ श** अमएण । २ **श** तण्ही । ३ **श क** 'सः' नास्ति । ४ तृष्णालेशमपि न कारयति ।

749) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर वियारपडिवज्जिए परमसंते ।
जस्स ण हिट्ठी[1] दिट्ठी तस्स ण णवजम्मविच्छेओ[2] ॥ ८ ॥
750) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर जं मह कज्जंतराउलं हिययं ।
कइया वि हवइ पुव्वज्जियस्स कम्मस्स सो दोसो ॥ ९ ॥
751) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर अच्छउ जम्मंतरं ममेहावि ।
सहसा सुहेहिं घडियं दुक्खेहिं पलाइयं दूरं ॥ १० ॥
752) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर बज्झइ पट्टो दिणम्मि अज्जयणे ।
सहलत्तणेण मज्झे सव्वदिणाणं पि सेसाणं ॥ ११ ॥
753) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर भवणमिणं तुज्झ मह महग्घतरं ।
सव्वाणं पि सिरीणं संकेयघरं व पडिहाइ ॥ १२ ॥
754) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर भत्तिजलोल्लं समासियं छेत्तं ।
जं तं पुलयमिसा पुण्णबीयमंकुरियमिव सहइ ॥ १३ ॥
755) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर समयामयसायरे गहीरम्मि ।
रायाइदोसकलुसे देवे को मण्णए सयाणो ॥ १४ ॥

भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति यस्य दृष्टिः हर्षिता न तस्य नवजन्मविच्छेदः न । किंलक्षणे त्वयि । विकारपरिवर्जिते परमशान्ते ॥ ८ ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति कदापि यन्मम हृदयं कार्यान्तराकुलं भवति स पूर्वार्जितकर्मणो दोषः ॥ ९ ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति जन्मान्तरेऽपि मम वाञ्छा दूरे तिष्ठतु । इदानीं सहसा शीघ्रम् । अहं सुखैः घटितम् आश्रितम् । दूरम् अतिशयेन । दुःखैः पलायितं त्यक्तम् ॥ १० ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति जनः लोकैः[4] अद्यदिने [अद्यतने] सर्वदिनानां शेषाणां मध्ये सफलत्वेन पट्टं बध्नाति ॥ ११ ॥ [5]भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति इदं तव भवनं समवसरणं महत् मह [हा] र्घतरं प्रतिभाति शोभते । किंलक्षणं समवसरणम् । सर्वासां श्रीणां संकेतगृहमिव ॥ १२ ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति यत् शरीरं भक्तिजलेन व्याप्तं समाश्रितम् । तत् शरीरं पुलकितमिषेण व्याजेन पुण्यबीजम् अङ्कुरितम् इव सहइ शोभते पुण्याङ्कुरमिव ॥ १३ ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति रागादिदोषकलुषे देवे कः सज्ञानः अनुरागं प्रीतिं मन्यते । अपि तु सज्ञानः

उत्पन्न करता है ॥ ७ ॥ हे जिनेन्द्र ! रागादि विकारोंसे रहित एवं अतिशय शान्त ऐसे आपका दर्शन होनेपर जिसकी दृष्टि हर्षको प्राप्त नहीं होती है उसके नवीन जन्मका नाश नहीं हो सकता है, अर्थात उसकी संसारपरम्परा चलती ही रहेगी ॥ ८ ॥ हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होनेपर यदि मेरा हृदय कभी दूसरे किसी महान् कार्यसे व्याकुल होता है तो वह पूर्वोपार्जित कर्मके दोषसे होता है ॥ ९ ॥ हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होनेपर जन्मान्तरके सुखकी इच्छा तो दूर रहे, किन्तु उससे इस लोकमें भी मुझे अकस्मात सुख प्राप्त हुआ है और दुख सब दूर भाग गये हैं ॥ १० ॥ हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होनेपर शेष सब ही दिनोंके मध्यमें आजके दिन सफलताका पट्ट बांधा गया है । अभिप्राय यह है कि इतने दिनोंमें आजका यह मेरा दिन सफल हुआ है, क्योंकि, आज मुझे चिरसंचित पापको नष्ट करनेवाला आपका दर्शन प्राप्त हुआ है ॥ ११ ॥ हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होनेपर यह तुम्हारा महा–मूल्यवान् घर (जिनमन्दिर) मुझे सभी लक्ष्मियोंके संकेतगृहके समान प्रतिभासित होता है । अभिप्राय यह कि यहां आपका दर्शन करनेपर मुझे सब प्रकारकी लक्ष्मी प्राप्त होनेवाली है ॥ १२ ॥ हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होनेपर भक्तिरूप जलसे आर्द्र हुए खेत (शरीर) को जो पुण्यरूप बीज प्राप्त हुआ था वह मानो रोमांचके मिषसे अंकुरित होकर ही शोभायमान हो रहा है ॥ १३ ॥ हे जिनेन्द्र ! सिद्धान्तरूप अमृतके समुद्र एवं गम्भीर ऐसे आपका दर्शन होनेपर

१ ख हिट्ठि । २ श ण णियजम्म० । ३ श निजजन्म० । ४ श जनैः लोकैः । ५ क-प्रतावस्या गाथायाष्टीकैवंविधास्ति— दृष्टे त्वयि जिनवर भवनमिदं तव मम महर्घ्यतरं प्रतिभाति शोभते समवशरणं सर्वासामपि श्रीणां संकेतगृहमिव ।

756) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर मोक्खो अइदुल्लहो वि संपडइ ।
मिच्छत्तमलकलंकी मणो ण जइ होइ पुरिसस्स ॥ १५ ॥

757) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर चम्ममएणच्छिणा वि तं पुण्णं ।
जं जणइ पुरो केवलदंसणणाणाइं णयणाइं ॥ १६ ॥

758) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर सुकयत्थो मण्णिओ ण जेणप्पा ।
सो बहुयबुड्डणुब्बुड्डणाइं[2] भवसायरे काही ॥ १७ ॥

759) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर णिच्छयदिट्ठीए होइ जं किं पि ।
ण गिराए गोचरं तं साणुभवत्थं पि किं भणिमो ॥ १८ ॥

760) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दट्ठव्वावहि[3]विसेसरूवम्मि ।
दंसणसुद्धीए[4] गयं दाणिं मह णत्थि सव्वत्था ॥ १९ ॥

761) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर अहियं सुहिया समुज्जला होइ ।
जणदिट्ठी को पेच्छइ तद्दंसणसुहयरं सूरं ॥ २० ॥

762) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर बुहम्मि दोसोज्झियम्मि वीरम्मि ।
कस्स किर रमइ दिट्ठी जडम्मि दोसायरे खत्थे ॥ २१ ॥

न । किंलक्षणे त्वयि । समयामृतसागरे गंभीरे ॥ १४ ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति पुरुषस्य अतिदुर्लभोऽपि मोक्षः संपद्यते उत्पद्यते । यदि चेन्मनः मिथ्यात्वमलकलङ्कितं न भवति ॥ १५ ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति चर्ममयनेत्रेणापि तत्पुण्यं जन्यते उत्पद्यते यत्पुण्यं पुरः अग्रे केवलदर्शनज्ञानानि नयनानि जनयति उत्पादयति ॥ १६ ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति येन जनेन आत्मा सुकृतार्थः न मानितः स नरः भवसागरे समुद्रे मज्जनोन्मज्जनानि करिष्यति ॥ १७ ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति निश्चयदृष्ट्या यत्किमपि भवति तत्स्वानुभवस्थमपि[6] स्वकीयअनुभवगोचरमपि गिरा वाण्या कृत्वा गोचरं न । तत्किं कथ्यते ॥ १८ ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति । इदानीं दर्शनशुद्ध्या एकत्वं गतं प्राप्तं सर्वथा न अस्ति । अपि तु अस्ति । किंलक्षणे त्वयि । अवधि-विशेषरूपे केवलयुक्ते ॥ १९ ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति जनदृष्टिः अधिकं सुहिता समुज्ज्वला भवति । तत्तस्मात्कारणात् । तव दर्शने सुखकरं सूर्यं कः न प्रेक्षते । अपि तु सर्वैः प्रेक्षते ॥ २० ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति । किल इति सत्ये । कस्य जनस्य[7]

कौन-सा बुद्धिमान् मनुष्य रागादि- दोषोंसे मलिनताको प्राप्त हुए देवोंको मानता है ? अर्थात् कोई भी बुद्धिमान् पुरुष उन्हें देव नहीं मानता है ॥ १४ ॥ हे जिनेन्द्र ! यदि पुरुषका मन मिथ्यात्वरूप मलसे मलिन नहीं होता है तो आपका दर्शन होनेपर अत्यन्त दुर्लभ मोक्ष भी प्राप्त हो सकता है ॥ १५ ॥ हे जिनेन्द्र ! चर्ममय नेत्रसे भी आपका दर्शन होनेपर वह पुण्य प्राप्त होता है जो कि भविष्यमें केवलदर्शन और केवलज्ञान रूप नेत्रोंको उत्पन्न करता है ॥ १६ ॥ हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होनेपर जो जीव अपनेको अतिशय कृतार्थ (कृतकृत्य) नहीं मानता है वह संसाररूप समुद्रमें बहुत बार गोता लगावेगा ॥ १७ ॥ हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होनेपर जो कुछ भी होता है वह निश्चयदृष्टिसे वचनका विषय नहीं है, वह तो केवल स्वानुभवका ही विषय है । अत एव उसके विषयमें भला हम क्या कह सकते हैं ? अर्थात् कुछ नहीं कह सकते हैं— वह अनिर्वचनीय है ॥ १८ ॥ हे जिनेन्द्र ! देखने योग्य पदार्थोंके सीमाविशेष स्वरूप (सर्वाधिक दर्शनीय) आपका दर्शन होनेपर जो दर्शनविशुद्धि हुई है उससे इस समय यह निश्चय हुआ है कि सब बाह्य पदार्थ मेरे नहीं हैं ॥ १९ ॥ हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होनेपर लोगोंकी दृष्टि अतिशय सुखयुक्त और उज्ज्वल हो जाती है । फिर भला कौन-सा बुद्धिमान् मनुष्य उस दृष्टिको सुखकारक ऐसे सूर्यका दर्शन करता है ? अर्थात् कोई नहीं करता ॥ २० ॥ हे जिनेन्द्र ! ज्ञानी,

---

१ क मण्णई, श पश्चात् संशोधने कृते मूलप्रतिपाठो विस्खलितो जातः । २ अ श बहुबुड्डणबुड्डणाइं, क बहुवड्डुणबुड्डुणाई । ३ ब वहै, क विहि । ४ अ च ब सद्धाए । ५ ब इदाणमहं । ६ श अतोऽग्रे 'गिरो वाण्याः कृत्वा गोचरं स्वकीयानुभवगोचरमपि न' इत्येवं विधः पाठोऽस्ति । ७ क 'जनस्य' नास्ति ।

763) **दिट्ठे तुमम्मि जिणवर चिंतामणिकामधेणुकप्पतरू ।**
खज्जोय व्व पहाए मज्झ मणे णिप्पहा जाया ॥ २२ ॥

764) **दिट्ठे तुमम्मि जिणवर रहसरसो मह मणम्मि जो जाओ ।**
आणंदंसुमिसा¹ सो तत्तो णीहरइ बहिरंतो ॥ २३ ॥

765) **दिट्ठे तुमम्मि जिणवर कल्लाणपरंपरा पुरो पुरिसे ।**
संचरइ अणाहूया वि ससहरे किरणमाल व्व ॥ २४ ॥

766) **दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दिसवल्लीओ फलंति सव्वाओ ।**
इट्ठं अफुल्लिया वि हु वरिसइ सुण्णं पि रयणेहिं ॥ २५ ॥

767) **दिट्ठे तुमम्मि जिणवर भव्वो भयवज्जिओ हवे णवरं ।**
गयणिद्दं चियं² जायइ जोण्हापसरे³ सरे कुमुयं⁴ ॥ २६ ॥

768) **दिट्ठे तुमम्मि जिणवर हियएणं मह सुहं समुल्लसियं ।**
सरिणाहेणिव सहसा उग्गमिए पुण्णिमाइंदे ॥ २७ ॥

दृष्टिः । दोषाकरे । जडे । खस्थे आकाशस्थे । चन्द्रे रमते । किंलक्षणे त्वयि । ज्ञानवति ज्ञानयुक्ते । पुनः दोषोज्झिते सुभटे ॥ २१ ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति चिन्तामणिरत्नकामधेनुकल्पतरवः मम मनसि निःप्रभा जाताः । खद्योत इव प्रभाते ज्योतिरिंगण इव ॥ २२ ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति । मम मनसि यः रहस्य [रभस] रसः । जातः उत्पन्नः । स रहस्यरसः⁵ । तत्तस्मात्कारणात् । आनन्दाश्रुमिषात् व्याजात् बहिरन्तः निःसरति ॥ २३ ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति कल्याणपरम्परा अनाहूतापि अचिन्तिता अपि पुरुषस्य अग्रे संचरति आगच्छति । शशधरे चन्द्रे किरणमालावत् ॥ २४ ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति सर्वाः दिग्वल्लयः फलन्ति इष्टं सुखं फलन्ति । किंलक्षणा दिग्वल्यः⁶ । अफुल्लिता अपि । हु स्फुटम् । आकाशं रत्नैः वर्षति ॥ २५ ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति भव्यः भयवर्जितो भवेत् । नवरं शीघ्रम् । सरे सरोवरे । कुमुदं चन्द्रोदये सति गतनिद्रं जायते ॥ २६ ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति मम हृदयेन सुखं समुल्लसितं शीघ्रेण । यथा पूर्णिमाचन्द्रे उद्गमिते सति प्रकटिते सति । सरिन्नाथेन इव

दोषोंसे रहित और वीर ऐसे आपको देख लेनेपर फिर किसकी दृष्टि चन्द्रमाकी ओर रमती है ? अर्थात् आपका दर्शन करके फिर किसीको भी चन्द्रमाके दर्शनकी इच्छा नहीं रहती । कारण कि उसका स्वरूप आपसे विपरीत है— आप ज्ञानी हैं, परन्तु वह जड (मूर्ख, शीतल) है । आप दोषोज्झित अर्थात् अज्ञानादि दोषोंसे रहित हैं, परन्तु वह दोषाकर (दोषोंकी खान, रात्रिका करनेवाला) है । तथा आप वीर अर्थात् कर्म-शत्रुओंको जीतनेवाले सुभट हैं, परन्तु वह खस्थ (आकाशमें स्थित) अर्थात् भयभीत होकर आकाशमें छिपकर रहनेवाला है ॥ २१ ॥ हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होनेपर मेरे मनमें चिन्तामणि, कामधेनु और कल्पवृक्ष भी इस प्रकार कान्तिहीन (फीके) हो गये हैं जिस प्रकार कि प्रभातके हो जानेपर जुगनू कान्तिहीन हो जाती है ॥ २२ ॥ हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होनेपर मेरे मनमें जो हर्षरूप जल उत्पन्न हुआ है वह मानो हर्षके कारण उत्पन्न हुए आंसुओंके मिषसे भीतरसे बाहिर ही निकल रहा है ॥ २३ ॥ हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होनेपर कल्याणकी परम्परा (समूह) विना बुलाये ही पुरुषके आगे इस प्रकारसे चलती है जिस प्रकार कि चन्द्रमाके आगे उसकी किरणोंका समूह चलता है ॥ २४ ॥ हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होनेपर सब दिशारूप बेलें फूलोंके विना भी अभीष्ट फल देती हैं, तथा रिक्त भी आकाश रत्नोंकी वर्षा करता है ॥ २५ ॥ हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होनेपर भव्य जीव सहसा भय और निद्रासे इस प्रकार रहित (प्रबुद्ध) हो जाता है जिस प्रकार कि चांदनीका विस्तार होनेपर सरोवरमें कुमुद (सफेद कमल) निद्रासे रहित (प्रफुल्लित) हो जाता है ॥ २६ ॥ हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होनेपर मेरा हृदय सहसा इस प्रकार सुखपूर्वक हर्षको प्राप्त हुआ है जिस प्रकार कि पूर्णिमाके चन्द्रका

१ **च**-प्रतिपाठोऽयम् । **अ क श** आणंदासुमिसा । २ **अ श** गयणिद्दचिय, **ब** गयणिद्दोव्वय । ३ **अ क श** जोण्हं पसरे । ४ **अ** कुसुवं, **क** कुसुयं, **श** कुमुदव्व । ५ **श** 'जातः उत्पन्नः स रहस्यरसः' नास्ति । ६ **क** किंलक्षणा दिशः ।

769) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दोहिमि चक्खूहिं तह सुही अहियं ।
हियए जइ सहसक्खोहोमि[1] त्ति मणोरहो जाओ ॥ २८ ॥

770) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर भवो वि मित्तत्तणं गओ एसो ।
एयम्मि ठियस्स जओ जायं तुह दंसणं मज्झ ॥ २९ ॥

771) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर भव्वाणं भूरिभत्तिजुत्ताणं ।
सव्वाओ सिद्धीओ होंति[2] पुरो एक्कलीलाए ॥ ३० ॥

772) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर सुहगइसंसाहणेक्कबीयम्मि ।
कंठगयजीवियस्स वि धीरं संपज्जए[3] परमं ॥ ३१ ॥

773) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर कमम्मि सिद्धे ण किं पुणो सिद्धं[4] ।
सिद्धियरं को णाणी महइ ण तुह दंसणं तम्हा ॥ ३२ ॥

774) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर पोम्मकयं दंसणत्थुइं[5] तुज्झ ।
जो पढइ तियालं भवजालं सो समोसरइ ॥ ३३ ॥

775) दिट्ठे तुमम्मि जिणवर भणियमिणं जणियजणमणाणंदं ।
सव्वेहिं पढिज्जंतं[6] णंदउ सुइरं धरावीढे ॥ ३४ ॥

समुद्रेण इव । सुखं समुल्लसितम् ॥ २७ ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति सहस्राक्षः द्वाभ्यां चक्षुर्भ्यां तथा अधिकं सुखी जातः यथा हृदयेन अतिमनोरथो जातः अत्यानन्दो जातः ॥ २८ ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति एष भवः संसारोऽपि मित्रत्वं गतः । यतः यस्मात्कारणात् । एतस्मिन् भवे संसारे स्थितस्य मम तव दर्शनं जातं प्राप्तम् ॥२९॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति भूरिभक्ति-युक्तानां भव्यानां सर्वाः सिद्धयः एकलीलया पुरः अग्रे भवन्ति ॥ ३० ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति कण्ठगतजीवितस्यापि परमं धैर्यं संपद्यते । किंलक्षणे त्वयि । सुगतिसंसाधनैकबीजे ॥ ३१ ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति तव क्रमकमले सिद्धे सति किं न सिद्धम् । अपि तु सर्वं सिद्धम् । तस्मात् कारणात् कः ज्ञानी तव दर्शनं न महति वाञ्छति ॥ ३२ ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति । भो प्रभो पद्मनन्दिकृतं तव दर्शनस्तवं यः त्रिकालं पठति स भव्यः भवजालं संसारसमूहं स्फेटयति ॥ ३३ ॥ भो जिनवर । त्वयि दृष्टे सति इदं भणितं कथितं तव स्तोत्रम् । सुचिरं बहुकालम् । धरापीठे भूमण्डले । नन्दतु वृद्धिं गच्छतु । कथंभूतं स्तोत्रम् । जनित-जनमनो-आनन्दम् । पुनः किंलक्षणं स्तोत्रम् । सर्वैः भव्यैः पठ्यमानम् ॥ ३४ ॥ इति जिनवरदर्शनस्तवनम् ॥ १४ ॥

उदय होनेपर समुद्र आनन्द (वृद्धि) को प्राप्त होता है ॥ २७ ॥ हे जिनेन्द्र ! दो ही नेत्रोंसे आपका दर्शन होनेपर मैं इतना अधिक सुखी हुआ हूं कि जिससे मेरे हृदयमें ऐसा मनोरथ उत्पन्न हुआ है कि मैं सहस्राक्ष (हजार नेत्रोंवाला) अर्थात् इन्द्र होऊंगा ॥ २८ ॥ हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होनेपर यह संसार भी मित्रताको प्राप्त हुआ है । यही कारण है जो इसमें स्थित रहनेपर भी मेरे लिये आपका दर्शन प्राप्त हुआ है ॥ २९ ॥ हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होनेपर अतिशय भक्तिसे युक्त भव्य जीवोंके आगे सब सिद्धियां एक क्रीड़ामात्रसे (अनायास) ही आकर प्राप्त होती हैं ॥ ३० ॥ हे जिनेन्द्र ! शुभ गतिके साधनेमें अनुपम बीजभूत ऐसे आपका दर्शन होनेपर मरणोन्मुख प्राणीको भी उत्कृष्ट धैर्य प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥ हे जिनेन्द्र ! आपके दर्शनसे आपके चरणके सिद्ध हो जानेपर क्या नहीं सिद्ध हुआ ? अर्थात् आपके चरणोंके प्रसादसे सब कुछ सिद्ध हो जाता है । इसलिये कौन-सा ज्ञानवान् पुरुष सिद्धिको करनेवाले आपके दर्शनको नहीं चाहता है ? अर्थात् सब ही विवेकी जन आपके दर्शनकी अभिलाषा करते हैं ॥ ३२ ॥ हे जिनेन्द्र ! आपका दर्शन होनेपर जो भव्य जीव पद्मनन्दी मुनिके द्वारा रची गई आपकी इस दर्शनस्तुतिको तीनों संध्याकालोंमें पढ़ता है वह हे प्रभो ! अपने संसारसमूहको नष्ट करता है ॥ ३३ ॥ हे जिनेन्द्र आपका दर्शन करके मैंने भव्य जनोंके मनको आनन्दित करनेवाले जिस दर्शनस्तोत्रको कहा है वह सबके पढ़नेका विषय बनकर पृथिवीतलपर चिर काल तक समृद्धिको प्राप्त हो ॥ ३४ ॥ इस प्रकार जिनदर्शनस्तुति समाप्त हुई ॥ १४ ॥

१ क होही । २ च-प्रतिपाठोऽयम् । अ क श होदि । ३ ब वि हरिमं संपज्जए । ४ अ क श सिद्धे ण किं सिद्धं, च सिद्धे ण किं पुरा सिद्धं । ५ क थुई, च थुवं, ब थुयं, श थुइ । ६ क श पढज्जंतं ।

[१५. श्रुतदेवतास्तुतिः]

776) **जयत्यशेषामरमौलिलालितं सरस्वति त्वत्पदपङ्कजद्वयम् ।**
हृदि स्थितं यज्जनजाड्यनाशनं रजोविमुक्तं श्रयतीत्यपूर्वताम् ॥ १ ॥

777) **अपेक्षते यन्न दिनं न यामिनीं न चान्तरं नैव बहिश्च भारति ।**
न तापकृज्जाड्यकरं न तन्महः स्तुवे भवत्याः सकलप्रकाशकम् ॥ २ ॥

778) **तव स्तवे यत्कविरस्मि सांप्रतं भवत्प्रसादादपि लब्धपाटवः ।**
सवित्रि गङ्गासरिते ऽर्घदायको भवामि तत्तज्जलपूरिताञ्जलिः ॥ ३ ॥

भो सरस्वति । त्वत्पदपङ्कजद्वयं चरणकमलद्वयम्[2] । जयति । किंलक्षणं चरणकमलद्वयम् । अशेष-अमराणां देवानां मौलिभिः मुकुटैः लालितं चुम्बितम् । यत्तव चरणकमलद्वयं हृदि स्थितम् । जनजाड्यनाशनं जनस्य मूर्खत्वनाशनम् । इति हेतोः । अपूर्वतां श्रयति । इतीति किम् । रजोविमुक्तं तव चरणकमलद्वयं[1] पापरजोरहितम् ॥ १ ॥ भो भारति भो सरस्वति । भवत्याः तव महः स्तुवे । यन्महः दिनं न अपेक्षते दिनं न वाञ्छते । यन्महः यामिनीं न अपेक्षते रात्रिं न वाञ्छते । यन्महः अन्तरम् अभ्यन्तरं न । यन्महः । बहिः बाह्ये न । यत्तव महः तापकृत् न । च पुनः । यत्तव महः जाड्यकरं मूर्खत्वकारकम् । न । किंलक्षणं महः । सकलप्रकाशकम् । भो मातः । भवत्याः तन्महः । स्तुवे अहं स्तौमि ॥ २ ॥ भो सवित्रि भो मातः । यत् यस्मात्कारणात् । अहं तव स्तवे । कविः अस्मि कविर्भवामि । सांप्रतम् इदानीम् । अहम् । लब्धपाटवः प्राप्तपाण्डित्यः । भवत्प्रसादात् । तत्र दृष्टान्तमाह । अहं गङ्गासरिते नद्यै[3] अर्घदायको भवामि । किंलक्षणः अहम् । तज्जलेन तस्याः गङ्गायाः जलेन पूरिताञ्जलिः ॥ ३ ॥

हे सरस्वती ! जो तेरे दोनों चरण-कमल हृदयमें स्थित होकर लोगोंकी जड़ता (अज्ञानता) को नष्ट करनेवाले तथा रज (पापरूप धूलि) से रहित होते हुए उस जड़ और धूलियुक्त कमलकी अपेक्षा अपूर्वता (विशेषता) को प्राप्त होते हैं वे तेरे दोनों चरण-कमल समस्त देवोंके मुकुटोंसे स्पर्शित होते हुए जयवन्त होवें ॥ १ ॥ हे सरस्वती ! जो तेरा तेज न दिनकी अपेक्षा करता है और न रात्रिकी भी अपेक्षा करता है, न अभ्यन्तरकी अपेक्षा करता है और न बाह्यकी भी अपेक्षा करता है, तथा न सन्तापको करता है और न जड़ताको भी करता है; उस समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाले तेरे तेजकी मैं स्तुति करता हूं ॥ विशेषार्थ— अभिप्राय यह है कि सरस्वतीका तेज सूर्य और चन्द्रके तेजकी अपेक्षा भी अधिक श्रेष्ठ है । इसका कारण यह है कि सूर्यका तेज जहां दिनकी अपेक्षा करता है वहां चन्द्रमाका तेज रात्रिकी अपेक्षा करता है, इसी प्रकार सूर्यका तेज यदि सन्तापको करता है तो चन्द्रका तेज जड़ता (शीतलता) को करता है । इसके अतिरिक्त ये दोनों ही तेज केवल बाह्य अर्थको और उसे भी अल्प मात्रामें ही प्रकाशित करते हैं, न कि अन्तस्तत्त्वको भी । परन्तु सरस्वतीका तेज दिन और रात्रिकी अपेक्षा न करके सर्वदा ही वस्तुओंको प्रकाशित करता है । वह न तो सूर्यतेजके समान जनको सन्तप्त करता है और न चन्द्रतेजके समान जड़ताको ही करता है, बल्कि वह लोगोंके सन्तापको नष्ट करके उनकी जड़ता (अज्ञानता) को भी दूर करता है । इसके अतिरिक्त वह जैसे बाह्य पदार्थोंको प्रकाशित करता है वैसे ही अन्तस्तत्त्वको भी प्रगट करता है । इसीलिये वह सरस्वतीका तेज सूर्य एवं चन्द्रके तेजकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ होनेके कारण स्तुति करनेके योग्य है ॥ २ ॥ हे सरस्वती माता ! तेरे ही प्रसादसे निपुणताको प्राप्त करके जो मैं इस समय तेरी स्तुतिके विषयमें कवि हुआ हूं अर्थात् कविता करनेके लिये उद्यत हुआ हूं वह इस प्रकार है जैसे कि मानो मैं

---

१ क त्वत्पादपंकजं तव चरणकमलं । २ क कमलम् । ३ श सरिते नद्याः, क सरितः नद्याः ।

779) श्रुतादिकेवल्यपि तावकीं श्रियं स्तुवन्नशक्तो ऽहमिति प्रपद्यते ।
जयेति वर्णद्वयमेव मादृशा वदन्ति यद्देवि तदेव साहसम् ॥ ४ ॥

780) त्वमत्र लोकत्रयसद्मनि स्थिता प्रदीपिका बोधमयी सरस्वती ।
तदन्तरस्थाखिलवस्तुसंचयं जनाः प्रपश्यन्ति सदृष्टयो ऽप्यतः ॥ ५ ॥

781) नभःसमं वर्त्म तवातिनिर्मलं पृथु प्रयातं विबुधैर्न कैरिह ।
तथापि देवि प्रतिभासते तरां यदेतदक्षुण्णमिव क्षणेन तु ॥ ६ ॥

भो देवि । भो मातः । श्रुतादिकेवली अपि तावकीं श्रियं स्तुवन् सन् अहम् अशक्तः, स श्रुतकेवली इति प्रतिपद्यते इति ब्रवीति । यस्मात्कारणात् । भो देवि । मादृशाः पुरुषाः । त्वं जय इति वर्णद्वयम् । एव निश्चयेन । वदन्ति । तदेव साहसम् अद्भुतं गरिष्ठम् ॥ ४ ॥ भो सरस्वति भो मातः । त्वम् अत्र लोकत्रयसद्मनि गृहे । बोधमयी ज्ञानमयी । प्रदीपिका स्थिता अपि वर्तते । अतः बोधमयीदीपिकायाः सकाशात् । जनाः लोकाः । तदन्तरस्थाखिलवस्तुसंचयं तस्य लोकत्रयस्य अन्तरस्थम् अखिलवस्तुसंचयं समूहम् । प्रपश्यन्ति अवलोकयन्ति । किंलक्षणा जनाः । सदृष्टयः दर्शनयुक्ताः भव्याः ॥ ५ ॥ भो देवि । तव वर्त्म मार्गः । नभःसमम् आकाशवत् अतिनिर्मलम् । तु पुनः । यत् तव अतिनिर्मलं मार्गं [र्गः] । पृथु विस्तीर्णं वर्तते । इह तव वर्त्मनि मार्गे । कैर्विबुधैः न प्रयातं गुरुनां प्राप्तम् । तथापि क्षणेन । तराम् अतिशयेन । एतत् तव मार्गम् अक्षुण्णम् अवाहितम् इव प्रतिभासते ।

गंगा नदीके पानीको अंजुलीमें भरकर उससे उसी गंगा नदीको अर्घ देनेके लिये ही उद्यत हुआ हूं ॥ ३ ॥ हे देवी ! जब तेरी लक्ष्मीकी स्तुति करते हुए श्रुतकेवली भी यह स्वीकार करते हैं कि ' हम स्तुति करनेमें असमर्थ हैं ' तब फिर मुझ जैसे अल्पज्ञ मनुष्य जो तेरे विषयमें ' जय ' अर्थात् तू जयवन्त हो, ऐसे दो ही अक्षर कहते हैं उसको भी साहस ही समझना चाहिये ॥ ४ ॥ हे सरस्वती ! तुम तीन लोकरूप भवनमें स्थित वह ज्ञानमय दीपक हो कि जिसके द्वारा दृष्टिहीन (अन्धे) मनुष्योंके साथ दृष्टियुक्त (सूझता) मनुष्य भी उक्त तीन लोकरूप भवनके भीतर स्थित समस्त वस्तुओंके समूहको देखते हैं ॥ विशेषार्थ— यहां सरस्वतीके लिये दीपककी उपमा दे करके उससे भी कुछ विशेषता प्रगट की गई है । वह इस प्रकारसे— दीपकके द्वारा केवल सदृष्टि (नेत्रयुक्त) प्राणियोंको ही पदार्थका दर्शन होता है, न कि दृष्टिहीन मनुष्योंको भी । परन्तु सरस्वतीमें यह विशेषता है कि उसके प्रसादसे जैसे दृष्टियुक्त मनुष्य पदार्थका ज्ञान प्राप्त करते हैं वैसे ही दृष्टिहीन (अन्ध) मनुष्य भी उसके द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं । यहां तक कि सरस्वतीकी उत्कर्षतासे केवलज्ञानको प्राप्त करके जीव समस्त विश्वके भी देखनेमें समर्थ हो जाता है जो कि दीपकके द्वारा सम्भव नहीं है ॥ ५ ॥ हे देवी ! तेरा मार्ग आकाशके समान अत्यन्त निर्मल एवं विस्तृत है, इस मार्गसे कौन-से विद्वानोंने गमन नहीं किया है ? अर्थात् उस मार्गसे बहुत-से विद्वान् जाते रहे हैं । फिर भी यह क्षणभरके लिये अतिशय अक्षुण्ण-सा (अनभ्यस्त-सा) ही प्रतिभासित होता है ॥ विशेषार्थ— जब किसी विशिष्ट नगर आदिके पार्थिव मार्गसे जनसमुदाय गमनागमन करता है तब वह अक्षुण्ण न रहकर उनके पादचिह्नादिसे अंकित हो जाता है । इसके अतिरिक्त उसके संकुचित होनेसे कुछ ही मनुष्य उस परसे आ-जा सकते हैं, न कि एक साथ बहुत-से । किन्तु सरस्वतीका मार्ग आकाशके समान निर्मल एवं विशाल है । जिस प्रकार आकाशमार्गसे यद्यपि अनेकों विबुध (देव) व पक्षी आदि एक साथ प्रतिदिन निर्बाधस्वरूपसे गमनागमन करते हैं, फिर भी वह टूटने-फूटने आदिसे रहित होनेके कारण विकृत नहीं होता, और इसीलिये ऐसा प्रतिभास होता है कि मानो यहांसे किसीका संचार ही नहीं हुआ है । इसी प्रकार सरस्वतीका भी मार्ग इतना विशाल है कि उस परसे अनेक विद्वज्जन कितनी भी दूर तक क्यों न जावें, फिर भी उसका न तो अन्त ही

782) तदस्तु तावत्कवितादिकं नृणां तव प्रभावात्कृतलोकविस्मयम् ।
भवेत्तदप्याशु पदं यदीक्षते तपोभिरुग्रैर्मुनिभिर्महात्मभिः ॥ ७ ॥

783) भवत्कला यत्र न वाणि मानुषे न वेत्ति शास्त्रं स चिरं पठन्नपि ।
मनागपि प्रीतियुतेन चक्षुषा यमीक्षसे कैर्न गुणैः स भूष्यते ॥ ८ ॥

784) स सर्ववित्पश्यति वेत्ति चाखिलं न वा भवत्या रहितो ऽपि बुध्यते ।
तदत्र तस्यापि जगत्त्रयप्रभोस्त्वमेव देवि प्रतिपत्तिकारणम् ॥ ९ ॥

785) चिरादतिक्लेशशतैर्भवाम्बुधौ परिभ्रमन् भूरि नरत्वमश्नुते ।
तनूभृदेतत्पुरुषार्थसाधनं त्वया विना देवि पुनः प्रणश्यति ॥ १० ॥

786) कदाचिदम्ब त्वदनुग्रहं विना श्रुते ह्यधीते ऽपि न तत्त्वनिश्चयः ।
ततः कुतः पुंसि भवेद्विवेकिता त्वया विमुक्तस्य तु जन्म निष्फलम् ॥ ११ ॥

787) विधाय मातः प्रथमं त्वदाश्रयं श्रयन्ति तन्मोक्षपदं महर्षयः ।
प्रदीपमाश्रित्य गृहे तमस्तते यदीप्सितं वस्तु लभेत मानवः ॥ १२ ॥

एतावता किं सूचितम् । तव मार्गो गहन इत्यर्थः ॥ ६ ॥ भो देवि । तव प्रभावात् नृणां कवितादिकं भवेत् । किंलक्षणं कवितादिकम् । कृतलोकविस्मयम् । तत्कवितादिकं तावत् दूरे तिष्ठतु । तव प्रभावात् । तत्पदम् अपि । आशु शीघ्रेण । भवेत् । यत्पदं महात्मभिः मुनिभिः । उग्रैः तपोभिः । ईक्ष्यते अवलोक्यते ॥ ७ ॥ भो वाणि भो देवि । यत्र यस्मिन् मानुषे भवत्कला न वर्तते स नरः । चिरं चिरकालम् । पठन्नपि शास्त्रं न वेत्ति न जानाति । भो देवि । प्रीतियुतेन चक्षुषा मनाग् अपि यं नरम् ईक्षसे त्वं विलोकयसि स नरः कैः गुणैर्न भूष्यते । अपि तु सर्वैः भूष्यते ॥ ८ ॥ भो देवि । अत्र लोके । स पुमान् सर्ववित् यः त्वां स्मरति । भवत्या त्वया । रहितः सर्ववित् न । त्वया युक्तः अखिलं समस्तं पश्यति । च पुनः । अखिलं वेत्ति जानाति । वा तस्यापि जगत्प्रभोः वीतरागस्य । प्रतिपत्तिकारणं ज्ञानस्य कारणं त्वमेव ॥ ९ ॥ भो देवि । तनुभृत् जीवः । भवाम्बुधौ संसारसमुद्रे । भूरि चिरकालम् । परिभ्रमन् चिरात् अतिक्लेशशतैः कृत्वा नरत्वम् अश्नुते प्राप्नोति । पुनः त्वया विना एतत्पुरुषार्थसाधनम् । प्रणश्यति विनाशं गच्छति ॥ १० ॥ भो अम्ब भो मातः । त्वदनुग्रहं विना तव प्रसादेन विना । हि यतः । श्रुते अधीतेऽपि शास्त्रे पठिते अपि । तत्त्वनिश्चयः कदाचित् न भवेत् । ततः कारणात् । पुंसि पुरुषे विवेकिता कुतः भवेत् । तु पुनः । त्वया विमुक्तस्य जीवस्य । जन्म मनुष्यपदम् । निष्फलं भवेत ॥ ११ ॥ भो मातः । महर्षयः प्रथमं त्वदा-

---

आता है और न उसमें किसी प्रकारका विकार भी हो पाता है । इसीलिये वह सदा अक्षुण्ण बना रहता है ॥ ६ ॥ हे देवी ! तेरे प्रभावसे मनुष्य जो लोगोंको आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली कविता आदि करते हैं वह तो दूर ही रहे, कारण कि उससे तो वह पद (मोक्ष) भी शीघ्र प्राप्त हो जाता है जिसे कि महात्मा मुनिजन तीव्र तपश्चरणके द्वारा देख पाते हैं ॥ ७ ॥ हे वाणी ! जिस मनुष्यमें आपकी कला नहीं है वह चिर काल तक पढ़ता हुआ भी शास्त्रको नहीं जान पाता है । और तुम जिसकी ओर प्रीतियुक्त नेत्रसे थोड़ा भी देखती हो वह किन किन गुणोंसे विभूषित नहीं होता है, अर्थात् वह अनेक गुणोंसे सुशोभित हो जाता है ॥ ८ ॥ हे देवी ! जो सर्वज्ञ समस्त पदार्थोंको देखता और जानता है वह भी तुमसे रहित होकर नहीं जानता-देखता है । इसलिये तीनों लोकोंके अधिपति उस सर्वज्ञके भी ज्ञानका कारण तुम ही हो ॥ ९ ॥ हे देवी ! चिर कालसे संसाररूप समुद्रमें परिभ्रमण करता हुआ प्राणी सैकडों महान् कष्टोंको सहकर पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष) की साधनभूत जिस मनुष्य पर्यायको प्राप्त करता है वह भी तेरे विना नष्ट हो जाती है ॥ १० ॥ हे माता ! यदि कदाचित् मनुष्य तेरे अनुग्रहके विना शास्त्रका अध्ययन भी करता है तो भी उसे तत्त्वका निश्चय नहीं हो पाता । तब ऐसी अवस्थामें भला उसे विवेकबुद्धि कहांसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती । हे देवी ! तुझसे रहित प्राणीका जन्म निष्फल होता है ॥ ११ ॥ हे माता !

788) त्वयि प्रभूतानि पदानि देहिनां पदं तदेकं तदपि प्रयच्छसि ।
समस्तशुक्लापि सुवर्णविग्रहा त्वमत्र मातः कृतचित्रचेष्टिता ॥ १३ ॥

789) समुद्रघोषाकृतिरर्हति प्रभौ यदा त्वमुत्कर्षमुपागता भृशम् ।
अशेषभाषात्मतया त्वया तदा कृतं न केषां हृदि मातरद्भुतम् ॥ १४ ॥

790) सचक्षुरप्येष जनस्त्वया विना यदन्ध एवेति विभाव्यते बुधैः ।
तदस्य लोकत्रितयस्य लोचनं सरस्वति त्वं परमार्थदर्शने ॥ १५ ॥

श्रयम् । विधाय कृत्वा । मोक्षपदं श्रायन्ति[1] प्राप्नुवन्ति । यत् मानवः नरः । तमस्तते तमोव्याप्ते गृहे प्रदीपम् आश्रित्य । ईप्सितं वाञ्छितं वस्तु । लभेत प्राप्नोति ॥ १२ ॥ भो मातः । अत्र जगति । त्वं कृतचित्रचेष्टिता वर्तसे । त्वयि विषये । प्रभूतानि पदानि तदपि देहिनां जीवानां तदेकं पदं प्रयच्छसि ददासि । किंलक्षणा त्वम् । समस्तशुक्लापि सुवर्णविग्रहा सुष्टं[ष्ठु] वर्णं सुवर्णं[2] शरीरं यस्याः सा । व्यवहारेण सुवर्णमयच्छविशरीरा इत्यर्थः ॥ १३ ॥ भो मातः । यदा काले त्वम् । अर्हति प्रभौ सर्वज्ञे । भृशम् अत्यर्थम् । उत्कर्षम् उपागता उत्कर्षतां प्राप्ता । किंलक्षणा त्वम् । समुद्रघोषाकृतिः । तदा त्वया अशेषभाषात्मतया सर्वभाषास्वरूपेण । केषां जीवानां हृदि अद्भुतम् आश्चर्यं न कृतम् । अपि तु सर्वेषां हृदि आश्चर्यं कृतम् ॥ १४ ॥ भो सरस्वति । यत् एष जनः । त्वया विना । सचक्षुरपि नेत्रयुक्तोऽपि जनः बुधैः अन्ध इति विभाव्यते कथ्यते । तत्तस्मात्कारणात् । अस्य

महामुनि जब पहिले तेरा अवलम्बन लेते हैं तब कहीं उस मोक्षपदका आश्रय ले पाते हैं । ठीक भी है— मनुष्य अन्धकारसे व्याप्त घरमें दीपकका अवलम्बन लेकर ही इच्छित वस्तुको प्राप्त करता है ॥ १२ ॥ हे माता ! तुम्हारे विषयमें प्राणियोंके बहुत-से पद हैं, अर्थात् प्राणी अनेक पदोंके द्वारा तुम्हारी स्तुति करते हैं, तो भी तुम उन्हें उस एक ही पद (मोक्ष)को देती हो । तुम पूर्णतया धवल हो करके भी उत्तम वर्णमय (अकारादि अक्षर स्वरूप) शरीरवाली हो । हे देवी ! तुम्हारी यह प्रवृत्ति यहां आश्चर्यको उत्पन्न करती है ॥ विशेषार्थ— सरस्वतीके पास मनुष्योंके बहुत पद हैं, परंतु वह उन्हें एक ही पद देती है; इस प्रकार यद्यपि यहां शब्दसे विरोध प्रतीत होता है, परन्तु यथार्थतः विरोध नहीं है । कारण यह कि यहां 'पद' शब्दके दो अर्थ हैं— शब्द और स्थान । इससे यहां वह भाव निकलता है कि मनुष्य बहुत-से शब्दोंके द्वारा जो सरस्वतीकी स्तुति करते हैं उससे वह उन्हें अद्वितीय मोक्षपदको प्रदान करती है । इसी प्रकार जो सरस्वती पूर्णतया धवल (श्वेत) है वह सुवर्ण जैसे शरीरवाली कैसे हो सकती है ? यह भी यद्यपि विरोध प्रतीत होता है, परन्तु वास्तवमें विरोध यहां कुछ भी नहीं है । कारण यह कि शुक्ल शब्दसे अभिप्राय यहां निर्मलका तथा वर्ण शब्दसे अभिप्राय अकारादि अक्षरोंका है । अत एव भाव इसका यह हुआ कि अकारादि उत्तम वर्णोंरूप शरीरवाली वह सरस्वती पूर्णतया निर्मल है ॥ १३ ॥ हे माता ! जब तुम भगवान् अरहन्तके विषयमें समुद्रके शब्दके समान आकारको धरण करके अतिशय उत्कर्षको प्राप्त होती हो तब समस्त भाषाओंमें परिणत होकर तुम किन जीवोंके हृदयमें आश्चर्यको नहीं करती हो ? अर्थात् सभी जीवोंको आश्चर्यान्वित करती हो ॥ विशेषार्थ— जिनेन्द्र भगवान्की जो समुद्रके शब्द समान गम्भीर दिव्यध्वनि खिरती है यही वास्तवमें सरस्वतीकी सर्वोत्कृष्टता है । इसे ही गणधर देव बारह अंगोंमें ग्रथित करते हैं । उसमें यह अतिशयविशेष है कि जिससे वह समुद्रके शब्दके समान अक्षरमय न होकर भी श्रोताजनोंको अपनी अपनी भाषास्वरूप प्रतीत होती है और इसीलिये उसे सर्वभाषात्मक कहा जाता है ॥ १४ ॥ हे सरस्वति ! चूंकि यह मनुष्य तुम्हारे विना आंखोंसे सहित होकर

१ श आश्रयन्ति । २ श सुष्टं सुवण सुष्ठु वर्णे ।

791) **गिरा नरप्राणितमेति सारतां कवित्ववक्तृत्वगुणेन सा च गीः ।**
इदं द्वयं दुर्लभमेव ते पुनः प्रसादलेशादपि जायते नृणाम् ॥ १६ ॥
792) **नृणां भवत्संनिधिसंस्कृतं श्रवो विहाय नान्यद्धितमक्षयं च तत् ।**
भवेद्विवेकार्थमिदं परं पुनर्विमूढतार्थं विषयं स्वमर्पयत् ॥ १७ ॥
793) **कृतापि ताल्वोष्ठपुटादिभिर्नृणां त्वमादिपर्यन्तविवर्जितस्थितिः ।**
इति त्वयापीदृशधर्मयुक्तया स सर्वथैकान्तविधिर्विचूर्णितः ॥ १८ ॥
794) **अपि प्रयाता वशमेकजन्मनि द्युधेनुचिन्तामणिकल्पपादपाः ।**
फलन्ति हि त्वं पुनरत्र वा परे[1] भवे कथं तैरुपमीयसे बुधैः ॥ १९ ॥

लोकत्रितयस्य । परमार्थदर्शने त्वं लोचनम् ॥ १५ ॥ भो देवि । तव गिरा वाण्या कृत्वा । नरस्य प्राणितं जीवितम् । सारतां सफलताम् । एति गच्छति । च पुनः । सा गीः । कवित्ववक्तृत्वगुणेन श्रेष्ठा वर्तते । इदं द्वयं कवित्व-वक्तृत्वम् । दुर्लभम् एव । पुनः । ते तव । प्रसादात् प्रसादलेशात्[2] अपि नृणां द्वयं जायते ॥ १६ ॥ नृणां पुरुषाणाम् । भो देवि । भवत्संनिधिसंस्कृतम् । तव नैकट्यं तत्र समीपम् । श्रवः तव श्रवणम् । विहाय त्यक्त्वा । अन्यत् श्रवणम् । अक्षयम् । हितं हितकारकं न । तत्तस्मात्कारणात् । तव श्रवणेन इदं विवेकार्थं भवेत् । पुनः परम् अन्यत् श्रवणम् । विमूढतार्थम् । स्वम् आत्मानं विषयं जडत्व-गोचरम् । अर्पयत् ददत् ॥ १७ ॥ इति अमुना प्रकारेण । त्वं नृणां ताल्वोष्ठपुटादिभिः कृतापि । भो देवि । त्वम् आदि-पर्यन्त-अन्तविवर्जित-रहित-स्थितिः वर्तसे । त्वया ईदृशधर्मयुक्तया आद्यन्तरहितया । स सर्वथा एकान्तविधिः विचूर्णितः स्फेटितः ॥१८॥ भो देवि । द्युधेनुचिन्तामणिकल्पपादपाः कामधेनुचिन्तामणिरत्नकल्पवृक्षाः । वशं प्रयाताः । एकजन्मनि फलन्ति । पुनः त्वम् ।

भी विद्वानोंके द्वारा अन्धा (अज्ञान) ही समझा जाता है, इसीलिये तीनों लोकोंके प्राणियोंके लिये यथार्थ तत्त्वका दर्शन (ज्ञान) करानेमें तुम अनुपम नेत्रके समान हो ॥ १५ ॥ जिस प्रकार वाणीके द्वारा मनुष्योंका जीवन श्रेष्ठताको प्राप्त होता है उसी प्रकार वह वाणी भी कवित्व और वक्तृत्व गुणोंके द्वारा श्रेष्ठताको प्राप्त होती है । ये दोनों (कवित्व और वक्तृत्व) यद्यपि दुर्लभ ही हैं, तो भी हे देवी! तेरी थोड़ी-सी भी प्रसन्नतासे वे दोनों गुण मनुष्योंको प्राप्त हो जाते हैं ॥ १६ ॥ हे सरस्वती ! तुम्हारी समीपतासे संस्कारको प्राप्त हुए श्रवण (कान) को छोड़कर मनुष्योंका दूसरा कोई अविनश्वर हित नहीं है । तुम्हारी समीपतासे संस्कृत यह श्रवण विवेकका कारण होता है तथा अपनेको विषयकी ओर प्रवृत्त करानेवाला दूसरा श्रवण अविवेकका कारण होता है ॥ विशेषार्थ— अभिप्राय इसका यह है कि जो मनुष्य अपने कानोंसे जिनवाणीका श्रवण करते हैं उनके कान सफल हैं । इससे उनको अविनश्वर सुखकी प्राप्ति होती है । परन्तु जो मनुष्य उन कानोंसे जिनवाणीको न सुनकर अन्य रागवर्धक कथाओं आदिको सुनते हैं वे विवेकसे रहित होकर विषयभोगमें प्रवृत्त होते हैं और इस प्रकारसे अन्तमें असह्य दुखको भोगते हैं ॥ १७ ॥ हे भारती ! यद्यपि तू मनुष्योंके तालु और ओष्ठपुट आदिके द्वारा उत्पन्न की गई है तो भी तेरी स्थिति आदि और अन्तसे रहित है, अर्थात् तू अनादिनिधन है । इस प्रकारके धर्म (अनेकान्त) से संयुक्त तूने सर्वथा एकान्तविधानको नष्ट कर दिया है ॥ विशेषार्थ— वाणी कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य भी है । वह वर्ण-पद-वाक्यरूप वाणी चूंकि तालु और ओष्ठ आदि स्थानोंसे उत्पन्न होती है अत एव पर्याय-स्वरूपसे अनित्य है । साथ ही द्रव्यस्वरूपसे चूंकि उसका विनाश सम्भव नहीं है अत एव द्रव्यस्वरूपसे अथवा अनादिप्रवाहसे वह नित्य भी है । इस प्रकार अनेकान्तस्वरूप वह वाणी समस्त एकान्त मतोंका निराकरण करती है ॥१८॥ कामधेनु, चिन्तामणि और कल्पवृक्ष ये अधीनताको प्राप्त होकर एक जन्ममें ही फल देते हैं । परन्तु

१ श चापरे । २ श प्रसादात् प्रसादलेशात् ।

795) अगोचरो वासरकृन्निशाकृतोर्जनस्य यच्चेतसि वर्तते तमः ।
विभिद्यते वागधिदेवते त्वया त्वमुत्तमज्योतिरिति प्रगीयसे ॥ २० ॥

796) जिनेश्वरस्वच्छसरःसरोजिनी त्वमङ्गपूर्वादिसरोजराजिता ।
गणेशहंसव्रजसेविता सदा करोषि केषां न मुदं परामिह ॥ २१ ॥

797) परात्मतत्त्वप्रतिपत्तिपूर्वकं परं पदं यत्र सति प्रसिद्ध्यति ।
कियत्ततस्ते स्फुरतः प्रभावतो नृपत्वसौभाग्यवराङ्गनादिकम् ॥ २२ ॥

798) त्वदङ्घ्रिपद्मद्वयभक्तिभाविते तृतीयमुन्मीलति बोधलोचनम् ।
गिरामधीशे सह केवलेन यत् समाश्रितं स्पर्धमिवेक्षते ऽखिलम् ॥ २३ ॥

अत्र जन्मनि । अपरे भवे अपरजन्मनि फलसि । तैः कल्पवृक्षादिभिः । कथम् उपमीयसे ॥ १९ ॥ भो वागधिदेवते भो मातः। त्वया तमः विभिद्यते दूरीक्रियते । यत्तमः जनस्य चेतसि वर्तते । यत्तमः । वासरकृन्निशाकृतोः सूर्याचन्द्रमसोः । अगोचरः अगम्यः । इति हेतोः त्वम् । उत्तमज्योतिः । प्रगीयसे कथ्यसे ॥ २० ॥ भो देवि । त्वम् । इह लोके । केषां[1] जीवानाम् । परां मुदं हर्षं न करोषि । अपि तु सर्वेषां प्राणिनां मुदं करोषि । किंलक्षणा त्वम् । जिनेश्वरस्वच्छसरोवरस्य सरोजिनी कमलिनी वर्तसे । पुनः किंलक्षणा त्वम् । अङ्गपूर्वादिसरोजकमलानि तैः राजिता शोभिता । पुनः किंलक्षणा त्वम् । गणेश-गणधरदेव-हंसव्रज-समूहैः सेविता । सदाकाले ॥ २१ ॥ ततः कारणात् । ते तव । स्फुरतः प्रभावतः सकाशात् । नृपत्वसौभाग्यवराङ्गनादिकं कियन्मात्रम् । यत्र तव प्रभावे सति परं पदं प्रसिद्ध्यति । किंलक्षणं पदम् । परात्मतत्त्वप्रतिपत्तिपूर्वकं भेदज्ञानपूर्वकम् ॥ २२ ॥ भो देवि । त्वदङ्घ्रिपद्मद्वयभक्तिभाविते नरे तव चरणकमलभक्तियुक्ते नरे । तृतीयं बोधलोचनं ज्ञाननेत्रम् । उन्मीलति प्रगटीभवति । यत्तव बोधलोचनम् । गिराम् अधीशे सर्वज्ञे । केवलेन सह स्पर्द्धं समाश्रितम् इव । यत्तृतीयलोचनम् । अखिल

हे देवी ! तू इस भवमें और परभवमें भी फल देती है । फिर भला विद्वान् मनुष्य तेरे लिये इनकी उपमा कैसे देते हैं ? अर्थात् तू इनकी उपमाके योग्य नहीं है— उनसे श्रेष्ठ है ॥१९॥ हे वागधिदेवते ! लोगोंके चित्तमें जो अन्धकार (अज्ञान) स्थित है वह सूर्य और चन्द्रका विषय नहीं है, अर्थात् उसे न तो सूर्य नष्ट कर सकता है और न चन्द्र भी । परन्तु हे देवी ! उसे (अज्ञानान्धकारको) तू नष्ट करती है । इसलिये तुझे 'उत्तमज्योति' अर्थात् सूर्य-चन्द्रसे भी श्रेष्ठ दीप्तिको धारण करनेवाली कहा जाता है ॥ २० ॥ हे सरस्वती ! तुम जिनेन्द्ररूप सरोवरकी कमलिनी होकर अंग-पूर्वादिरूप कमलोंसे शोभायमान तथा निरन्तर गणधररूप हंसोंके समूहसे सेवित होती हुई यहां किन जीवोंके लिये उत्कृष्ट हर्षको नहीं करती हो ? अर्थात् सब ही जनोंको आनन्दित करती हो ॥ २१ ॥ हे देवी ! जहां तेरे प्रभावसे आत्मा और पर (शरीरादि) का ज्ञान हो जानेसे प्राणीको उत्कृष्ट पद (मोक्ष) सिद्ध हो जाता है वहां उस तेरे दैदीप्यमान प्रभावके आगे राजापन, सुभगता एवं सुन्दर स्त्री आदि क्या चीज हैं ? अर्थात् कुछ भी नहीं है ॥ विशेषार्थ— अभिप्राय यह है कि जिनवाणीकी उपासनासे जीवको हित एवं अहितका विवेक उत्पन्न होता है और इससे उसे सर्वोत्कृष्ट मोक्षपद भी प्राप्त हो जाता है । ऐसी अवस्थामें उसकी उपासनासे राजपद आदिके प्राप्त होनेमें भला कौन-सी कठिनाई है ? कुछ भी नहीं ॥ २२ ॥ हे वचनोंकी अधीश्वरी ! जो तेरे दोनों चरणोंरूप कमलोंकी भक्तिसे परिपूर्ण है उसके पूर्ण श्रुतज्ञानरूप वह तीसरा नेत्र प्रगट होता है जो कि मानो केवलज्ञानके साथ स्पर्धाको ही प्राप्त हो करके उसके विषयभूत समस्त विश्वको देखता है ॥ विशेषार्थ— अभिप्राय यह है कि जिनवाणीकी आराधनासे द्वादशांगरूप पूर्ण श्रुतका ज्ञान प्राप्त होता है जो विषयकी अपेक्षा केवलज्ञानके ही समान है । विशेषता दोनोंमें केवल यही है कि जहां श्रुतज्ञान उन सब पदार्थोंको परोक्ष

[1] श येषां ।

799) **त्वमेव तीर्थं शुचिबोधवारिमत् समस्तलोकत्रयशुद्धिकारणम् ।**
त्वमेव चानन्दसमुद्रवर्धने मृगाङ्कमूर्तिः परमार्थदर्शिनाम् ॥ २४ ॥

800) **त्वयादिबोधः खलु संस्कृतो व्रजेत् परेषु बोधेष्वखिलेषु हेतुताम् ।**
त्वमक्षि पुंसामतिदूरदर्शने त्वमेव संसारतरोः कुठारिका ॥ २५ ॥

801) **यथाविधानं त्वमनुस्मृता सती गुरूपदेशो ऽयमवर्णभेदतः ।**
न ताः श्रियस्ते न गुणा न तत्पदं प्रयच्छसि प्राणभृते न यच्छुभे ॥ २६ ॥

802) **अनेकजन्मार्जितपापपर्वतो विवेकवज्रेण स येन भिद्यते ।**
भवद्वपुःशास्त्रघनान्निरेति तत्सदर्थवाक्यामृतभारमेदुरात् ॥ २७ ॥

803) **तमांसि तेजांसि विजित्य वाङ्मयं प्रकाशयद्यत्परमं महन्महः ।**
न लुप्यते तैर्न च तैः प्रकाश्यते स्वतः प्रकाशात्मकमेव नन्दतु ॥ २८ ॥

समस्तम् । ईक्षते पश्यति ॥ २३ ॥ भो देवि । त्वमेव तीर्थं शुचिबोधवारिमत् । त्वमेव समस्तलोकत्रयशुद्धिकारणम् । त्वमेव आनन्दसमुद्रवर्धने परमार्थदर्शिनां मृगाङ्कमूर्तिः ॥ २४ ॥ खलु इति सत्ये । भो देवि । त्वया आदिबोधः मतिज्ञानम् । संस्कृतः व्रजेत् अलंकृतः । परेषु अखिलेषु श्रुतज्ञानादिबोधेषु हेतुतां व्रजेत् । भो देवि । त्वं पुंसाम् अतिदूरदर्शने अक्षि नेत्रम् । त्वमेव संसारतरोः कुठारिका ॥ २५ ॥ भो शुभे मनोज्ञे भो देवि । अयं गुरूपदेशः । त्वं यथाविधानम् । अवर्णभेदतः अक्षरभेदरहितात् अथवा अकारादि-अक्षरभेदात् । अनुस्मृता सती आराधिता सती । तत्पदं न यत्पदं प्राणभृते जीवाय न प्रयच्छसि न ददासि । ताः श्रियः न ते गुणाः न याः श्रियः यान् गुणान् न प्रयच्छति ॥ २६ ॥ भो देवि । स अनेकजन्मना अर्जितः पापपर्वतः येन विवेकवज्रेण भिद्यते तद्विवेकवज्रम् । भवद्वपुःशास्त्रघनात्-मेघात निरेति निर्गच्छति । किंलक्षणात् भवद्वपुःशास्त्रघनात् । सदर्थवाक्यामृतभारमेदुरात् स्याद्वादामृतपुष्टात् ॥ २७ ॥ वाङ्मयं महत् महः तेजः नन्दतु यन्महः तमांसि अन्धकाराणि । तेजांसि

(अविशद) स्वरूपसे जानता है वहां केवलज्ञान उन्हें प्रत्यक्ष (विशद) स्वरूपसे जानता है । इसी बातको लक्ष्यमें रखकर यहां यह कहा गया है कि वह श्रुतज्ञानरूप तीसरा नेत्र मानो केवलज्ञानके साथ स्पर्धा ही करता है ॥ २३ ॥ हे देवि ! निर्मल ज्ञानरूप जलसे परिपूर्ण तुम ही वह तीर्थ हो जो कि तीनों लोकोंके समस्त प्राणियोंको शुद्ध करनेवाला है । तथा तत्त्वके यथार्थस्वरूपको देखनेवाले जीवोंके आनन्दरूप समुद्रके बढ़ानेमें चन्द्रमाकी मूर्तिको धारण करनेवाली भी तुम ही हो ॥ २४ ॥ हे वाणी! तुम्हारे द्वारा संस्कारको प्राप्त हुआ प्रथम ज्ञान (मतिज्ञान) या अक्षरबोध दूसरे समस्त (श्रुतज्ञानादि) ज्ञानोंमें कारणताको प्राप्त होता है । हे देवि! तुम मनुष्योंके लिये दूरदेशस्थ वस्तुओंके दिखलानेमें नेत्रके समान होकर उनके संसाररूप वृक्षको काटनेके लिये कुठारका काम करती हो ॥ २५ ॥ हे शुभे ! जो प्राणी तेरा विधिपूर्वक स्मरण करता है– अध्ययन करता है– उसके लिये ऐसी कोई लक्ष्मी नहीं है, ऐसे कोई गुण नहीं हैं, तथा ऐसा कोई पद नहीं है, जिसे तू वर्णभेदके विना– ब्राह्मणत्व आदिकी अपेक्षा न करके– न देती हो । यह गुरुका उपदेश है । अभिप्राय यह है कि तू अपना स्मरण करनेवालों (जिनवाणीभक्तों) के लिये समान-रूपसे अनेक प्रकारकी लक्ष्मी, अनेक गुणों और उत्तम पदको प्रदान करती है ॥ २६ ॥ हे भारती! जिस विवेकरूप वज्रके द्वारा अनेक जन्मोंमें कमाया हुआ वह पापरूप पर्वत खण्डित किया जाता है वह विवेक-रूप वज्र समीचीन अर्थसे सम्पन्न वाक्योंरूप अमृतके भारसे परिपूर्ण ऐसे तेरे श्रुतमय शरीररूप मेघसे प्रगट होता है ॥ विशेषार्थ– यहां विवेकमें वज्रका आरोप करके यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार वज्रके द्वारा बड़े बड़े पर्वत खण्डित कर दिये जाते हैं उसी प्रकार विवेकरूप वज्रके द्वारा बलवान् कर्मरूप पर्वत नष्ट कर दिये जाते है । वज्र जैसे जलसे परिपूर्ण मेघसे उत्पन्न होता है वैसे ही यह विवेक भी समीचीन अर्थके बोधक वाक्यरूप जलसे परिपूर्ण ऐसे सरस्वतीके शरीरभूत शास्त्ररूप मेघसे उत्पन्न होता है । तात्पर्य यह कि जिनवाणीके परिशीलनसे वह विवेकबुद्धि प्रगट होती है जिसके प्रभावसे नवीन कर्मोंका संवर तथा पूर्वसंचित कर्मोंकी निर्जरा होकर अविनश्वर सुख प्राप्त हो जाता है ॥ २७ ॥ शब्दमय शास्त्र (द्रव्यश्रुत) अन्धकार

804) तव प्रसादः कवितां करोत्यतः कथं जडस्तत्र घटेत मादृशः ।
प्रसीद तत्रापि मयि स्वनन्दने न जातु माता विगुणे ऽपि निष्ठुरा ॥ २९ ॥

805) इमामधीते श्रुतदेवतास्तुतिं कृतिं पुमान् यो मुनिपद्मनन्दिनः ।
स याति पारं कवितादिसद्गुणप्रबन्धसिन्धोः क्रमतो भवस्य च ॥ ३० ॥

806) कुण्ठास्ते ऽपि बृहस्पतिप्रभृतयो यस्मिन् भवन्ति ध्रुवं
तस्मिन् देवि तव स्तुतिव्यतिकरे मन्दा नराः के वयम् ।
तद्वाक्चापलमेतदश्रुतवतामस्माकमम्ब त्वया
क्षन्तव्यं मुखरत्वकारणमसौ येनातिभक्तिग्रहः ॥ ३१ ॥

सूर्यादीनां तेजांसि । विजित्य प्रकाशयत् । पुनः परमं श्रेष्ठम् । यन्महः । तैः तमोभिः । न लुप्यते । च पुनः । तैः तेजोभिः । न प्रकाश्यते । किंलक्षणं महः । स्वतः प्रकाशात्मकम् ॥ २८ ॥ भो मातः । अयं तव प्रसादः । नरः कवितां करोति । अतः तव प्रसादात् । तत्र कवित्वे । मादृशः जडः कथं घटेत—समस्तेन[1] कथं घटेत । तत्रापि मयि प्रसीद । जातुचित् । विगुणे गुणरहिते अपि स्वनन्दने माता निष्ठुरा कठोरा न भवेत् ॥ २९ ॥ यः पुमान् इमां श्रुतदेवतास्तुतिम् अधीते पठति । किंलक्षणां स्तुतिम् । मुनिपद्मनन्दिनः कृतिम् । स नरः । कवितादिसद्गुणप्रबन्धसिन्धोः कवितादिगुणरचनासमुद्रस्य पारं याति । च पुनः । क्रमतः भवस्य पारं याति संसारस्य पारं गच्छति ॥ ३० ॥ भो देवि यस्मिन् तव स्तुतिव्यतिकरे स्तुतिसमूहे । तेऽपि बृहस्पतिप्रभृतयः देवाः । ध्रुवम् । कुण्ठाः मूर्खाः भवन्ति । तस्मिन् तव स्तोत्रे । वयं मन्दाः मूर्खाः नराः के । तत्तस्मात्कारणात् । भो अम्ब भो मातः । अस्माकम् एतत् वाक्चापलं वचनचञ्चलत्वं त्वया क्षन्तव्यम् । किंलक्षणानाम् अस्माकम् । अश्रुतवतां श्रुतरहितानाम् । येन कारणेन । मुखरत्वकारणं चपलत्वकाणम् । असौ अतिभक्तिग्रहः अतीव भक्तिवशः ॥ ३१ ॥ इति सरस्वतीस्तवनम् ॥ १५ ॥

और तेज (सूर्य-चन्द्रादिकी प्रभा) को जीतकर जिस उत्कृष्ट महान् तेजको प्रगट करता है वह न अन्धकारके द्वारा लुप्त किया जा सकता है और न अन्य तेजके द्वारा प्रकाशित भी किया जा सकता है। वह स्वसंवेदन-स्वरूप तेज वृद्धिको प्राप्त होवे ॥ विशेषार्थ— जिनवाणीके अभ्याससे अज्ञानभाव नष्ट होकर केवलज्ञानरूप जो अपूर्व ज्योति प्रगट होती है वह सूर्य-चन्द्रादिके प्रकाशकी अपेक्षा उत्कृष्ट है। इसका कारण यह है कि सूर्य-चन्द्रादिका प्रकाश नियमित (क्रमशः दिन और रात्रि) समयमें रहकर सीमित पदार्थोंको ही प्रगट करता है। परन्तु वह केवलज्ञानरूप प्रकाश दिन व रात्रिकी अपेक्षा न करके— सर्वकाल रहकर— तीनों लोकों व तीनों कालोंके समस्त पदार्थोंको प्रगट करता है। इस केवलज्ञानरूप प्रकाशको नष्ट करनेमें अन्धकार (कर्म) समर्थ नहीं है—वह स्व-परप्रकाशकस्वरूपसे सदा स्थिर रहनेवाला है ॥ २८ ॥ हे सरस्वती! तेरी प्रसन्नता ही कविताको करती है, क्योंकि, मुझ जैसा मूर्ख पुरुष भला उस कविताको करनेके लिये कैसे योग्य हो सकता है? नहीं हो सकता। इसलिये तू मुझ मूर्खके ऊपर भी प्रसन्न हो, क्योंकि, माता गुणहीन भी अपने पुत्रके विषयमें कठोर नहीं हुआ करती है! ॥ २९ ॥ जो पुरुष मुनि पद्मनन्दीकी कृतिस्वरूप इस श्रुतदेवताकी स्तुतिको पढ़ता है वह कविता आदि उत्तमोत्तम गुणोंके विस्ताररूप समुद्रके तथा क्रमसे संसारके भी पारको प्राप्त हो जाता है ॥ ३० ॥ हे देवी! जिस तेरे स्तुतिसमूहके विषयमें निश्चयसे वे बृहस्पति आदि भी कुण्ठित (असमर्थ) हो जाते हैं उसके विषयमें हम जैसे मन्दबुद्धि मनुष्य कौन हो सकते हैं? अर्थात् हम जैसे तो तेरी स्तुति करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं। इसलिये हे माता! शास्त्रज्ञानसे रहित हमारी जो यह वचनोंकी चंचलता, अर्थात् स्तुतिरूप वचनप्रवृत्ति है, उसे तू क्षमा कर। कारण यह कि इस वाचालता (बकवाद) का कारण वह तेरी अतिशय भक्तिरूप ग्रह (पिशाच) है। अभिप्राय यह कि मैंने इस योग्य न होते हुए भी जो यह स्तुति की है वह केवल तेरी भक्तिके वश होकर ही की है ॥ ३१ ॥ इस प्रकार सरस्वतीस्तोत्र समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

१ अ श सामस्तेन ।

[१६. स्वयंभूस्तुतिः]

807) स्वयंभुवा येन समुद्धृतं जगज्जडत्वकूपे पतितं प्रमादतः।
परात्मतत्त्वप्रतिपादनोल्लसद्वचोगुणैरादिजिनः स सेव्यताम्॥ १ ॥

808) भवारिरेको[1] न परो ऽस्ति देहिनां सुहृच्च रत्नत्रयमेक एव हि।
स दुर्जयो येन जितस्तदाश्रयात्ततो ऽजितान्मे जिनतो ऽस्तु सत्सुखम्॥ २ ॥

809) पुनातु नः संभवतीर्थकृज्जिनः पुनः पुनः संभवदुःखदुःखिताः।
तदर्तिनाशाय विमुक्तिवर्त्मनः प्रकाशकं यं शरणं प्रपेदिरे॥ ३ ॥

810) निजैर्गुणैरप्रतिमैर्महानजो न तु त्रिलोकीजनतार्चनेन यः।
यतो हि विश्वं लघु तं विमुक्तये नमामि साक्षादभिनन्दनं जिनम्॥ ४ ॥

स आदिजिनः सर्वज्ञः ऋषभदेवः सेव्यताम्। येन आदिजिनेन। परात्मतत्त्वप्रतिपादनेन उल्लसन्तः ये वचोगुणाः तैः वचोगुणैः। जगत् समुद्धृतम्। किंलक्षणेन आदिजिनेन। स्वयंभुवा स्वयंप्रबुद्धज्ञानेन। किंलक्षणं जगत्। प्रमादतः जडत्वकूपे पतितम्॥ १ ॥ हि यतः। देहिनां जीवानाम्। एकः भवः संसारः। अरिः शत्रुः। अपरः शत्रुर्न अस्ति। च पुनः। एक एव रत्नत्रयं सुहृत् अस्ति। येन अजितेन। स [2]संसारशत्रुः। तदाश्रयात् तस्य रत्नत्रयस्य आश्रयात्। जितः। किंलक्षणः संसारशत्रुः। दुर्जयः। ततः कारणात्। अजितात् जिनतः सकाशात। मे मम। सत्सुखम् अस्तु॥ २ ॥ संभवतीर्थकृत् जिनः। नः अस्माकम्। पुनः पुनः पुनातु पवित्रीकरोतु[3]। संभवः संसारः तस्य[4] दुःखेन दुःखिताः प्राणिनः। यं शरणं प्रपेदिरे यं संभवतीर्थकरं प्राप्ताः। कस्मै। तदर्तिनाशाय संसारनाशाय। किंलक्षणं तीर्थकरम्। विमुक्तिवर्त्मनः मोक्षमार्गस्य। प्रकाशकम्॥ ३ ॥ तम् अभिनन्दनं जिनम्। विमुक्तये मोक्षाय। साक्षात् मनोवचनकायैः नमामि। यः अभिनन्दनः। निजैः गुणैः। अप्रतिमैः असमानैः। महान् वर्तते। तु पुनः। त्रिलोकीजनसमूह-अर्चनेन पूजनेन। महान् न। किंलक्षणः अभिनन्दनः। अजः जन्म-

स्वयम्भू अर्थात् स्वयं ही प्रबोधको प्राप्त हुए जिस आदि (ऋषभ) जिनेन्द्रने प्रमादके वश होकर अज्ञानतारूप कुएँमें गिरे हुए जगत्के प्राणियोंका पर-तत्त्व और आत्मतत्त्व (अथवा उत्कृष्ट आत्मतत्त्व) के उपदेशमें शोभायमान वचनरूप गुणोंसे उद्धार किया है उस आदि जिनेन्द्रकी आराधना करना चाहिये॥ विशेषार्थ—यहां श्लोकमें प्रयुक्त गुण शब्दके दो अर्थ हैं—हितकारकत्व आदि गुण तथा रस्सी। उसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कोई मनुष्य यदि असावधानीसे कुएँमें गिर जाता है तो इतर दयालु मनुष्य कुएँमें रस्सियोंको डालकर उनके सहारेसे उसे बाहिर निकाल लेते हैं। इसी प्रकार भगवान् आदि जिनेन्द्रने जो बहुत-से प्राणी अज्ञानताके वश होकर धर्मके मार्गसे विमुख होते हुए कष्ट भोग रहे थे उनका हितोपदेशके द्वारा उद्धार किया था—उन्हें मोक्षमार्गमें लगाया था। उन्होंने उनको ऐसे वचनों द्वारा पदार्थका स्वरूप समझाया था जो कि हितकारक होते हुए उन्हें मनोहर भी प्रतीत होते थे। 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' इस उक्तिके अनुसार यह सर्वसाधारणको सुलभ नहीं है॥ १ ॥ प्राणियोंका संसार ही एक उत्कृष्ट शत्रु तथा रत्नत्रय ही एक उत्कृष्ट मित्र है, इनके सिवाय दूसरा कोई शत्रु अथवा मित्र नहीं है। जिसने उस रत्नत्रयरूप मित्रके अवलम्बनसे उस दुर्जय संसाररूप शत्रुको जीत लिया है उस अजित जिनेन्द्रसे मुझे समीचीन सुख प्राप्त होवे॥ २ ॥ वार वार जन्म-मरणरूप संसारके दुःखसे पीड़ित प्राणी उस पीड़ाको दूर करनेके लिये मोक्षमार्गको प्रकाशित करनेवाले जिस सम्भवनाथ तीर्थंकरकी शरणमें प्राप्त हुए थे वह सम्भव जिनेन्द्र हमको पवित्र करे॥ ३ ॥ अज अर्थात् जन्म-मरणसे रहित जो अभिनन्दन जिनेन्द्र अपने अनुपम गुणोंके द्वारा महिमाको प्राप्त हुआ है, न कि तीनों लोकोंके प्राणियों द्वारा की जानेवाली पूजासे; तथा जिसके आगे विश्व तुच्छ है अर्थात् जो अपने अनन्तज्ञानके द्वारा समस्त विश्वको साक्षात् जानता-देखता है उस

---

१ श भवोरिरेको। २ श 'सः' नास्ति। ३ श अस्मान् नः पुनातु पवित्रीकरोतु पुनः पुनः। ४ क संभवस्य संसारस्य।

811) **नयप्रमाणादिविधानसद्धटं प्रकाशितं तत्त्वमतीव निर्मलम् ।**
यतस्त्वया तत्सुमते ऽत्र तावकं तदन्वयं नाम नमो ऽस्तु ते जिन ॥ ५ ॥

812) **रराज पद्मप्रभतीर्थकृत्सदस्यशेषलोकत्रयलोकमध्यगः ।**
नभस्युडुव्रातयुतः शशी यथा वचो ऽमृतैर्वर्षति यः स पातु नः ॥ ६ ॥

813) **नरामराहीश्वरपीडने जयी धृतायुधो धीरमना झषध्वजः[1] ।**
विनापि शस्त्रैर्ननु येन निर्जितो जिनं सुपार्श्वं प्रणमामि तं सदा ॥ ७ ॥

814) **शशिप्रभो[2] वागमृतांशुभिः शशी परं कदाचिन्न कलङ्कसंगतः ।**
न चापि दोषाकरतां ययौ यतिर्जयत्यसौ संसृतितापनाशनः ॥ ८ ॥

रहितः । हि यतः कारणात् । विश्वं समस्तम् । लघु स्तोकम् ॥ ४ ॥ भो सुमते भो जिन । त्वया यतः अतीव निर्मलं तत्त्वं प्रकाशितम् । किंलक्षणं तत्त्वम् । नयप्रमाणादिविधानसद्धटं नय-प्रमाणादियुक्तम् । तत्तस्मात्कारणात् । अत्र जगति । तावकं नाम । तदन्वयं यथार्थं[र्थतां] यातम् । ते तुभ्यं नमोऽस्तु ॥ ५ ॥ पद्मप्रभतीर्थकृत् जिनः । सदसि समवसरणसभायाम् । अशेषलोकत्रयलोकमध्यगः मध्यवर्ती । रराज शुशुभे । यथा नभसि आकाशे । उडुव्रातयुतः तारागणयुक्तः । शशी चन्द्रः । रराज । यः पद्मप्रभः वचोऽमृतैः वर्षति स पद्मप्रभः नः अस्मान् पातु रक्षतु ॥ ६ ॥ तं सुपार्श्वं जिनं सदा प्रणमामि । ननु इति वितर्के । येन सुपार्श्वेन । शस्त्रैर्विनापि । झषध्वजैः कामः । निर्जितः । किंलक्षणः कामः । नर-अमर-अहीश्वर-इन्द्रधरणेन्द्रचक्रिणां पीडने । जयी जेता । पुनः किंलक्षणः कामः । धृतायुधः धीरमनाः ॥ ७ ॥ असौ शशिप्रभः[4] यतिः जयति । किंलक्षणः श्रीचन्द्रप्रभः । संसृतितापनाशनः । यः चन्द्रप्रभः वाक्-वचन-अमृत[6]-अंशुभिः किरणैः[5] । परं श्रेष्ठम् । शशी यः चन्द्रः कदाचित् कलङ्क-

अभिनंदन जिनके लिये मैं मुक्तिके प्राप्त्यर्थ नमस्कार करता हूं ॥ ४ ॥ हे समुति जिनेन्द्र ! चूंकि आपने नय एवं प्रमाण आदिकी विधिसे संगत तत्त्व (वस्तु स्वरूप) को अतिशय निर्दोष रीतिसे प्रकाशित किया था, अत एव आपका सुमति (सु शोभना मतिर्यस्यासौ सुमतिः=उत्तम बुद्धिवाला) यह नाम सार्थक है। हे जिन ! आपको नमस्कार हो ॥ ५ ॥ जिस प्रकार आकाशमें तारासमूहसे संयुक्त होकर चन्द्र शोभायमान होता है उसी प्रकार जो पद्मप्रभ तीर्थंकर समवसरणसभामें तीनों लोकोंके समस्त प्राणियोंके मध्यमें स्थित होकर शोभायमान हुआ तथा जिसने वहां वचनरूप अमृतकी वर्षा की थी वह पद्मप्रभ जिनेन्द्र हमारी रक्षा करे ॥ ६ ॥ जो साहसी मीनकेतु (कामदेव) शस्त्रको धारण करके चक्रवर्ती, इन्द्र और धरणेन्द्रको भी पीड़ित करके उनके ऊपर विजय प्राप्त करता है ऐसे उस कामदेव सुभटको भी जिसने विना शस्त्रके ही जीत लिया है उस सुपार्श्व जिनके लिये मैं सदा प्रणाम करता हूं ॥ विशेषार्थ— संसारमें कामदेव (विषयवासना) अत्यन्त प्रबल माना जाता है। दूसरोंकी तो बात ही क्या है, किन्तु इन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्ती आदि भी उसके वशमें देखे जाते हैं। ऐसे सुभट उस कामदेवके ऊपर वे ही विजय प्राप्त कर सकते हैं जिनके हृदयमें आत्म-परविवेक जागृत है। भगवान् सुपार्श्व ऐसे ही विवेकी महापुरुष थे। अत एव उन्हें उक्त कामदेवपर विजय प्राप्त करनेके लिये किसी शस्त्रादिकी भी आवश्यकता नहीं हुई। उन्होंने एक मात्र विवेकबुद्धिसे उसे पराजित कर दिया था। अत एव वे नमस्कार करनेके योग्य हैं ॥ ७ ॥ चन्द्रमाके समान प्रभावाले चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र यद्यपि वचनरूप अमृतकी किरणोंसे चन्द्रमा थे, परन्तु जैसे चन्द्रमा कलंक (काला चिह्न) से सहित है वैसे वे कलंक (पाप-मल) से सहित कभी नहीं थे। तथा जैसे चन्द्रमा दोषाकर (रात्रिको करनेवाला) है वैसे वे दोषाकर (दोषोंकी खानि) नहीं थे अर्थात् वे अज्ञानादि सब दोषोंसे रहित थे। वे संसारके

१ क मखध्वजः । २ च-प्रतिपाठोऽयम् । अ क श प्रभुर्वाग° । ३ च श पाप । ४ क प्रभुः । ५ श पाप । ६ श 'अमृत' नास्ति ।

815) यदीयपादद्वितयप्रणामतः पतत्यधो मोहनधूलिरङ्गिनाम् ।
शिरोगता मोहठकप्रयोगतः स पुष्पदन्तः सततं प्रणम्यते ॥ ९ ॥
816) सतां यदीयं वचनं सुशीतलं यदेव चन्द्रादपि चन्दनादपि ।
तदत्र लोके भवतापहारि यत् प्रणम्यते किं न स शीतलो जिनः ॥ १० ॥
817) जगत्त्रये श्रेय इतो ह्ययादिति प्रसिद्धनामा जिन एष वन्द्यते ।
यतो जनानां बहुभक्तिशालिनां भवन्ति सर्वे सफला मनोरथाः ॥ ११ ॥
818) पदाब्जयुग्मे[2] तव वासुपूज्य तज्जनस्य[3] पुण्यं प्रणतस्य तद्भवेत् ।
यतो न सा श्रीरिह हि त्रिविष्टपे न तत्सुखं यन्न पुरः प्रधावति ॥ १२ ॥
819) मलैर्विमुक्तो विमलो न कैर्जिनो यथार्थनामा भुवने नमस्कृतः ।
तदस्य नामस्मृतिरप्यसंशयं करोति वैमल्यमघात्मनामपि ॥ १३ ॥

संगतः संयुतः न । च पुनः । यः तीर्थंकरः दोषाकरताम् अपि । न ययौ न यातवान् ॥ ८ ॥ स पुष्पदन्तः जिनः सततं प्रणम्यते । यदीयपादद्वितयप्रणामतः यस्य पुष्पदन्तस्य पादद्वयस्य प्रणामतः । अङ्गिनां प्राणिनाम् । मोहनधूलिः अधः पतति । किंलक्षणा मोहनधूलिः । मोहठकप्रयोगतः शिरोगता ॥ ९ ॥ स शीतलः जिनः किं न प्रणम्यते । अपि तु प्रणम्यते । यदीयं वचनम् । सतां साधूनाम् । चन्द्रादपि चन्दनादपि सुशीतलम् । यदेव वचः । अत्र लोके । भवतापहारि संसारतापनाशनम् ॥ १० ॥ एषः श्रेयः इति प्रसिद्धनामा जिनः वन्द्यते । हि यतः । जगत्त्रये । इतः श्रेयसः सकाशात् । जनः । श्रेयः सुखम् । अयात् । यतः श्रेयसः । जनानां लोकानाम् । सर्वे मनोरथाः सफला भवन्ति । किंलक्षणानां जनानाम् । बहुभक्तिशालिनां बहुभक्तियुक्तानाम् ॥ ११ ॥ भो वासुपूज्य । तव पदाब्जैयुग्मे प्रणतस्य जनस्य । तत्तत्पुण्यं भवेत् । यतः पुण्यात् । इह हि । त्रिविष्टपे लोके । सा श्रीः न तत्सुखं न या श्रीः यत्सुखं पुरः अग्रे न प्रधावति न आगच्छति ॥ १२ ॥ विमलः जिनः । भुवने त्रिलोके । कैः भव्यैः । न नमस्कृतः । अपि तु सर्वैः नमस्कृतः । किंलक्षणः विमलः । मलैर्विमुक्तः यथार्थनामा । तत्त-

सन्तापको नष्ट करनेवाले चन्द्रप्रभ मुनीन्द्र जयवन्त होवें ॥ ८ ॥ जिसके दोनों चरणोंमें नमस्कार करते समय मोहरूप ठगके प्रयत्नसे प्राणियोंके शिरमें स्थित हुई मोहनधूलि (मोहनजनक पापरज) नीचे गिर जाती है उसे पुष्पदन्त भगवान्‌को मैं निरन्तर प्रणाम करता हूं ॥ विशेषार्थ—प्राणियोंके मस्तक (मस्तिष्क) में जो अज्ञानताके कारण अनेक प्रकारके दुर्विचार उत्पन्न होते हैं वे जिनेन्द्र भगवान्‌के नामस्मरण, चिन्तन एवं वन्दनसे नष्ट हो जाते हैं। यहां उपर्युक्त दुर्विचारोंमें मोहके द्वारा स्थापित धूलिका आरोप करके यह उत्प्रेक्षा की गई है कि मोहके द्वारा जो प्राणियोंके मस्तकपर मोहनधूलि स्थापित की जाती है वह मानो पुष्पदन्त जिनेन्द्रको प्रणाम करनेसे (मस्तक झुकानेसे) अनायास ही नष्ट हो जाती है ॥ ९ ॥ लोकमें जिसके वचन सज्जन पुरुषोंके लिये चन्द्रमा और चन्दनसे भी अधिक शीतल तथा संसारके तापको नष्ट करनेवाले हैं उस शीतल जिनको क्या प्रणाम नहीं करना चाहिये ? अर्थात् अवश्य ही वह प्रणाम करनेके योग्य है ॥ १० ॥ तीनों लोकोंमें प्राणिसमूह चूंकि इस श्रेयांस जिनसे श्रेय अर्थात् कल्याणको प्राप्त हुआ है इसलिये जो 'श्रेयान्' इस सार्थक नामसे प्रसिद्ध है तथा जिसके निमित्तसे बहुत भक्ति करनेवाले जनोंके सब मनोरथ (अभिलाषायें) सफल होते हैं उस श्रेयान् जिनेन्द्रको प्रणाम करता हूं ॥ ११ ॥ हे वासुपूज्य ! तेरे चरणयुगलमें प्रणाम करते हुए प्राणीके वह पुण्य उत्पन्न होता है जिससे तीनों लोकोंमें यहां वह कोई लक्ष्मी नहीं तथा वह कोई सुख भी नहीं है जो कि उसके आगे न दौड़ता हो ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि वासुपूज्य जिनेन्द्रके चरण-कमलमें नमस्कार करनेसे जो पुण्यबन्ध होता है उससे सब प्रकारकी लक्ष्मी और उत्तम सुख प्राप्त होता है ॥ १२ ॥ जो विमल जिनेन्द्र कर्म-मलसे रहित होकर 'विमल' इस सार्थक नामको धारण करते हैं उनको लोकमें भला किन भव्य जीवोंने नमस्कार नहीं किया है ? अर्थात् सभी भव्य जीवोंने उन्हें नमस्कार किया

१ श ठग । २ क पादाब्ज । ३ च पूज्यजनस्य ।

820) अनन्तबोधादिचतुष्टयात्मकं दधाम्यनन्तं हृदि तद्गुणाशया ।
भवेद्यदर्थी ननु तेन सेव्यते तदन्वितो भूरितृषेव सत्सरः ॥ १४ ॥

821) नमो ऽस्तु धर्माय जिनाय मुक्तये सुधर्मतीर्थप्रविधायिने सदा ।
यमाश्रितो भव्यजनो ऽतिदुर्लभां लभेत कल्याणपरंपरां पराम् ॥ १५ ॥

822) विधाय कर्मक्षयमात्मशान्तिकृज्जगत्सु यः शान्तिकरस्ततो ऽभवत् ।
इति स्वमन्यं प्रति शान्तिकारणं[1] नमामि शान्तिं जिनमुन्नतश्रियम् ॥ १६ ॥

823) दयाङ्गिनां चिद् द्वितयं विमुक्तये परिग्रहद्वन्द्वविमोचनेन तत् ।
विशुद्धमासीदिह यस्य मादृशां स कुन्थुनाथो ऽस्तु भवप्रशान्तये ॥ १७ ॥

824) विभान्ति यस्याङ्घ्रिनखा नमत्सुरस्फुरच्छिरोरत्नमहो ऽधिकप्रभाः ।
जगद्गृहे पापतमोविनाशना इव प्रदीपाः स जिनो जयत्यरः ॥ १८ ॥

स्मात्कारणात् । अस्य विमलस्य । नामस्मरणम् । असंशयं संशयरहितम् । अघात्मनाम् अपि वैमल्यं करोति निर्मलं[नैर्मल्यं] करोति ॥ १३ ॥ अहं श्री-अनन्ततीर्थकरं हृदि दधामि । कया । तद्गुणाशया तस्य अनन्तनाथतीर्थंकरस्य गुणानाम् आशा तया । किंलक्षणम् अनन्तम् । अनन्तबोधादिचतुष्टयात्मकम् अनन्तज्ञानादिचतुष्टयस्वरूपम् । ननु इति वितर्के । यदर्थी भवेत् यः गुणग्राही भवेत् । तेन पुंसा । तदन्वितः सेव्यते तेन गुणग्राहिणा पुरुषेण तदन्वितः गुणयुक्तः नरः सेव्यते । दृष्टान्तमाह । भूरितृषायुक्तेन पुरुषेण यथा सरः सेव्यते ॥ १४ ॥ धर्माय जिनाय मुक्तये मोक्षाय नमोऽस्तु । किंलक्षणाय धर्माय । सुष्ठुधर्मतीर्थप्रविधायिने धर्मतीर्थकराय । यं धर्मनाथम् । सदाकाले । भव्यजनः आश्रितः[2] । कल्याणपरम्परां परां सुखश्रेणीवराम् । अतिदुर्लभाम् । लभेत प्राप्नुयात् ॥ १५ ॥ अहं श्रीशान्तिं जिनम् उन्नतश्रियं नमामि इति । स्वम् आत्मानम् । च । अन्यं प्रति शान्तिकारणम् । यः श्रीशान्तिनाथः । कर्मक्षयं नाशम् । विधाय कृत्वा । आत्मशान्तिकृत् अभवत् । ततः कारणात् जगत्सु शान्तिकरः ॥ १६ ॥ अङ्गिनां दया । चित् ज्ञानम् । द्वितयम् । विमुक्तये मोक्षाय । कारणम् । इह लोके । परिग्रहद्वन्द्वविमोचनेन । तत् द्वितयं दयाज्ञानं च । विशुद्धम् आसीत् । स कुन्थुनाथः । मादृशां नराणाम् । भवप्रशान्तये संसारनाशाय । अस्तु भवतु ॥ १७ ॥ सः अरः जिनः जयति । यस्य अरनाथस्य अङ्घ्रिनखाः । विभान्ति शोभन्ते । किंलक्षणाः नखाः । नमन्तः ये सुरा देवाः तेषां देवानां स्फुरन्तः[न्ति] शिरोरत्नानि तेषां रत्नानां महसा तेजसा अधिका प्रभा यत्र ते नमत्सुर-

है । इसीलिये उनके नामका स्मरण भी निश्चयसे पापिष्ठ जनोंके भी उस पाप-मलको नष्ट करके उन्हें विमल (निर्मल) करता है ॥ १३ ॥ जो अनन्त जिन अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इन अनन्तचतुष्टयस्वरूप हैं उसको मैं उन्हीं गुणों (अनन्तचतुष्टय) को प्राप्त करनेकी इच्छासे हृदयमें धारण करता हूं । ठीक भी है—जो जिस गुणका अभिलाषी होता है वह उसी गुणसे युक्त मनुष्यकी सेवा करता है । जैसे—अतिशय प्याससे युक्त अर्थात् पानीका अभिलाषी मनुष्य उत्तम तालाबकी सेवा करता है ॥ १४ ॥ जिस धर्मनाथ जिनेन्द्रकी शरणमें गया हुआ भव्य जीव अतिशय दुर्लभ उत्कृष्ट कल्याणकी परम्पराको प्राप्त करता है ऐसे उस उत्तम धर्मतीर्थके प्रवर्तक धर्मनाथ जिनेन्द्रके लिये मैं मुक्तिप्राप्तिकी इच्छासे नमस्कार करता हूं ॥ १५ ॥ जो शान्तिनाथ जिनेन्द्र कर्मोंको नष्ट करके प्रथम तो अपने आपकी शान्तिको करनेवाला हुआ और तत्पश्चात् जगत्के दूसरे प्राणियोंके लिये भी शान्तिका कारण हुआ, इस प्रकारसे जो स्व और पर दोनोंकी ही शान्तिका कारण है उस उत्कृष्ट लक्ष्मी (समवसरणादिरूप बाह्य तथा अनन्तचतुष्टयस्वरूप अन्तरंग लक्ष्मी) से युक्त शान्तिनाथ जिनेन्द्रको मैं नमस्कार करता हूं ॥ १६ ॥ संसारमें जिस कुन्थुनाथ जिनेन्द्रको मुक्तिके निमित्त अन्तरंग और बाह्य दोनों ही प्रकारकी परिग्रहको छोड़ देनेसे प्राणियोंकी दया और चैतन्य (केवलज्ञान) ये दो विशुद्ध गुण प्रगट हुए थे वह कुन्थुनाथ जिनेन्द्र मुझ जैसे छद्मस्थ प्राणियोंके लिये संसारकी शान्ति (नाश) का कारण होवे ॥ १७ ॥ नमस्कार करते हुए देवोंके प्रकाशमान शिरोरत्न (चूडामणि) की कान्तिसे अधिक कान्तिवाले जिसके पैरोंके नख संसाररूप घरमें पापरूप अन्धकारको नष्ट

१ च श शान्तिकारिणम् । २ क आश्रित्य ।

825) सुहृत्सुखी स्यादहितः सुदुःखितः
स्वतो ऽप्युदासीनतमादपि प्रभोः ।
यतः स जीयाज्जिनमल्लिरेकतां
गतो जगद्विस्मयकारिचेष्टितः ॥ १९ ॥

826) विहाय नूनं तृणवत्स्वसंपदं
मुनिर्व्रतैर्यो ऽभवदत्र सुव्रतः ।
जगाम तद्धाम विरामवर्जितं
सुबोधदृङ्मे स जिनः प्रसीदतु ॥ २० ॥

827) परं परायत्ततयातिदुर्बलं चलं
खसौख्यं यदसौख्यमेव तत् ।
अदः प्रमुच्यात्मसुखे कृतादरो
नमिर्जिनो यः स ममास्तु मुक्तये ॥ २१ ॥

828) अरिष्टसंकर्तनचक्रनेमिताम्-
उपागतो भव्यजनेषु यो जिनः ।

स्फुरच्छिरोरत्नमहोधिकप्रभौः[2] । जगद्गृहे प्रदीपा इव । किंलक्षणा नखाः । पापतमोविनाशनाः ॥ १८ ॥ स जिनः मल्लिः जीयात् । किंलक्षणः मल्लिः । आत्मना सह एकतां गतः । जगद्विस्मयकारी[3]–आश्चर्यकारी चेष्टितः । यतः यस्माद्धेतोः । सुहृत् मित्रः[मित्रम्] । स्वतः आत्मनः सकाशात् । सुखी भवेत् । अहितः सुदुःखितः भवेत् । कस्मात् प्रभोः मल्लिनाथस्य[नाथात्] उदासीनतमात् ॥ १९ ॥ स सुव्रतः जिनः । मे मम प्रसीदतु प्रसन्नो भवतु । अत्र लोके । यः मुनिसुव्रतः । नूनं स्वसंपदं तृणवत् । विहाय परित्यज्य । व्रतैः[4] मुनिः अभवत् । तत् मोक्षधाम गृहम् । जगाम अगमत् । किंलक्षणं मोक्षगृहम् । विरामवर्जितं विनाशरहितम् । पुनः किंलक्षणो जिनः । सुबोधदृक् ॥ २० ॥ स नमिर्जिनः मम मुक्त्येऽस्तु । यः नमिः । अदः स्वसौख्यं इन्द्रियसुखम् । प्रमुच्य परित्यज्य । आत्मसुखे कृतादरः आत्मसुखे आदरः कृतः । किंलक्षणम् इन्द्रियसुखम् । परायत्ततया पराधीनतया । परं भिन्नम् । पुनः यत्सौख्यम् । अतिदुर्बलं हीनम् । चलं विनश्वरम् । तत्सौख्यम् असौख्यमेव ॥ २१ ॥ स जिनः जयतात् । यः जिनः । भव्यजनेषु । अरिष्टसंकर्तनचक्रनेमिताम् उपागतः । अशुभकर्मणः कर्तनं छेदनं तस्मिन् छेदने चक्रनेमितां

करनेवाले दीपकोंके समान शोभायमान होते हैं वह अरनाथ जिनेन्द्र जयवंत होवे ॥ १८ ॥ अत्यन्त उदासीनता (वीतरागता) को प्राप्त हुए भी जिस मल्लि प्रभुके निमित्तसे मित्र स्वयं सुखी और शत्रु स्वयं अतिशय दुःखी होता है, इस प्रकारसे जिसकी प्रवृत्ति विश्वके लिये आश्चर्यजनक है, तथा जो अद्वैतभावको प्राप्त हुआ है वह मल्लि जिनेन्द्र जयवन्त होवे ॥ विशेषार्थ— जो प्राणी शत्रुको दुःखी और मित्रको सुखी करता है वह कभी उदासीन नहीं रह सकता है । किन्तु मल्लि जिनेन्द्र न तो शत्रुसे द्वेष रखते थे और न मित्रसे अनुराग भी । फिर भी उनके उत्कर्षको देखकर वे स्वभावतः क्रमसे दुःखी और सुखी होते थे । इसीलिये यहां उनकी प्रवृत्तिको आश्चर्यकारी कहा गया है ॥ १९ ॥ जो मुनिसुव्रत यहां अपनी सम्पत्तिको तृणके समान छोड़ करके व्रतों (महाव्रतों) के द्वारा सुव्रत (उत्तम व्रतोंके धारक) मुनि हुए थे और तत्पश्चात् उस अविनश्वर पद (मोक्ष) को भी प्राप्त हुए थे वे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनसे विभूषित मुनिसुव्रत जिनेन्द्र मेरे उपर प्रसन्न होवें ॥ २० ॥ जो इन्द्रियसुख पर (कर्म) के अधीन होनेके कारण आत्मासे पर अर्थात् भिन्न है, अतिशय दुर्बल है, तथा विनश्वर है वह वास्तवमें दुःखरूप ही है । जिसने उस इन्द्रियसुखको छोड़कर आत्मीक सुखके विषयमें आदर किया था वह नेमिनाथ जिनेन्द्र मेरे लिये मुक्तिका कारण होवे ॥ २१ ॥ जो अशुभ कर्मको

१ क स्वसौख्यं । २ श यत्र ते अधिकप्रभाः । ३ क कारी । ४ च मुनिव्रतैर्यो ।

अरिष्टनेमिर्जगतीति विश्रुतः
स ऊर्जयन्ते जयतादितः शिवम् ॥ २२ ॥

829) यदूर्ध्वदेशे नभसि क्षणादहि-
प्रभोः फणारत्नकरैः प्रधावितम् ।
पदातिभिर्वा कमठाहतेः[1] कृते
करोतु पार्श्वः स जिनो ममामृतम् ॥ २३ ॥

830) त्रिलोकलोकेश्वरतां गतो ऽपि यः
स्वकीयकाये ऽपि तथापि निःस्पृहः ।
स वर्धमानो ऽन्त्यजिनो नताय मे
ददातु मोक्षं मुनिपद्मनन्दिने ॥ २४ ॥

चक्रधारात्वं प्राप्तः । इति हेतोः । जगति विषये । अरिष्टनेमिः । विश्रुतः विख्यातः[2] । अभवत् । पुनः ऊर्जयन्ते रैवतके । शिवम् इतः मोक्षं गतः ॥ २२ ॥ स पार्श्वः जिनः मम अमृतं करोतु मोक्षं करोतु । यदूर्ध्वदेशे यस्य पार्श्वनाथस्य ऊर्ध्वदेशे । नभसि आकाशे । क्षणात् शीघ्रात् । अहिप्रभोः[3] धरणेन्द्रस्य । फणारत्नकरैः । प्रधावितं प्रसारितम् । कमठाहतेः[4] कमठपीडनस्य । कृते कारणाय । पदातिभिः इव ॥ २३ ॥ स वर्धमानः अन्त्यजिनः । मे मह्यम् । मोक्षं ददातु । मे पद्मनन्दिने । नताय नम्राय मोक्षं करोतु । यः श्रीवर्धमानः त्रिलोकलोकेश्वरतां गतोऽपि तथापि स्वकीयकाये शरीरे निःस्पृहः ॥ २४ ॥ इति स्वयंभूस्तुतिः समाप्ता ॥ १६ ॥

काटनेके लिये चक्रकी धारके समान होनेसे जगत्में भव्य जनोंके बीच 'अरिष्टनेमि' इस सार्थक नामसे प्रसिद्ध होकर गिरनार पर्वतसे मुक्तिको प्राप्त हुआ है वह नेमिनाथ जिनेन्द्र जयवंत होवे ॥ २२ ॥ जिसके ऊपर आकाशमें धरणेन्द्रके फणों सम्बन्धी रत्नोंके किरण कमठके आघातके लिये अर्थात् उसके उपद्रवको व्यर्थ करनेके लिये क्षणभरमें पादचारी सेनाके समान दौड़े थे वह पार्श्वनाथ जिनेन्द्र मेरे लिये अमृत अर्थात् मोक्षको करे ॥ २३ ॥ तीन लोकके प्राणियोंमें प्रभुताको प्राप्त होकर भी जो अपने शरीरके विषयमें भी ममत्व भावसे रहित है वह वर्धमान अन्तिम तीर्थंकर नम्रीभूत हुए मुझ पद्मनन्दी मुनिके लिये मोक्ष प्रदान करे ॥ २४ ॥ इस प्रकार स्वयंभूस्तोत्र समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

---

१ क कमठाहते । २ अ विश्रानः, क विज्ञातः । ३ क क्षणात् अहिप्रभोः । ४ श कमठस्य आहतेः ।

[१७. सुप्रभाताष्टकम्]

831) निःशेषावरणद्वयस्थितिनिशाप्रान्ते ऽन्तरायक्षया[यो]-
द्द्योते मोहकृते गते च सहसा निद्राभरे दूरतः ।
सम्यग्ज्ञानदृगक्षियुग्ममभितो विस्फारितं यत्र त-
ल्लब्धं यैरिह सुप्रभातमचलं तेभ्यो जिनेभ्यो नमः ॥ १ ॥

832) यत्सच्चक्रसुखप्रदं यदमलं ज्ञानप्रभाभासुरं
लोकालोकपदप्रकाशनविधिप्रौढं प्रकृष्टं सकृत् ।
उद्भूते सति यत्र जीवितमिव प्राप्तं परं प्राणिभिः
त्रैलोक्याधिपतेर्जिनस्य सततं तत्सुप्रभातं स्तुवे ॥ २ ॥

833) एकान्तोद्धतवादिकौशिकशतैर्नष्टं भयादाकुलै-
र्जातं यत्र विशुद्धखेचरनुतिव्याहारकोलाहलम् ।

तेभ्यो जिनेभ्यो नमः । यैः जिनैः । इह लोके । तत् अचलं शाश्वतम् । सुप्रभातम् । लब्धं प्राप्तम् । यत्र सुप्रभाते । सम्यग्ज्ञानदृगक्षियुग्मं ज्ञानदर्शननेत्रम् । अभितः समन्तात् । विस्फारितं विस्तारितम् । क्व सति । निःशेषावरणद्वयस्थितिनिशाप्रान्ते उद्द्योते (?) ज्ञानावरणादिनिशाविनाशे सति । कस्मात् अन्तरायक्षयात् । च पुनः । मोहकृते । निद्राभरे समूहे । सहसा दूरतः गते सति ॥ १ ॥ त्रैलोक्याधिपतेः जिनस्य तत्सुप्रभातं स्तुवे अहं स्तौमि । यत् सुप्रभातम् । सच्चक्रसुखप्रदं भव्यचक्रवाकसुख-प्रदम् । यत् अमलं निर्मलम् । यत्सुप्रभातम् । ज्ञानप्रभाभासुरं दीप्तिवन्तम् । यत्सुप्रभातं लोक-अलोकप्रकाशनविधिप्रौढं प्रकृष्टम् । यत्र सुप्रभाते । सकृत् एकवारम् । उद्भूते सति । प्राणिभिः जीवैः । परं श्रेष्ठम् । जीवितमिव प्राप्तम् ॥ २ ॥ अर्हत्पर-मेष्ठिनः तत्सुप्रभातम् । परं श्रेष्ठम् अहं मन्ये । यत्सुप्रभातम् । सद्धर्मविधिप्रवर्धनकरम् । पुनः निरुपमम् उपमारहितम् । पुनः

जिस सुप्रभातमें समस्त ज्ञानावरण और दर्शनावरण इन दो आवरण कर्मोंकी स्थितिरूप रात्रिका अन्त होकर अन्तराय कर्मके क्षयरूपी प्रकाशके हो जानेपर तथा शीघ्र ही मोह कर्मसे निर्मित निद्राभारके सहसा दूर हो जानेपर समीचीन ज्ञान और दर्शनरूप नेत्रयुगल सब ओर विस्तारको प्राप्त हुए हैं अर्थात् खुल गये हैं ऐसे उस स्थिर सुप्रभातको जिन्होंने प्राप्त कर लिया है उन जिनेन्द्र देवोंको नमस्कार हो ॥ विशेषार्थ— जिस प्रकार प्रभातके हो जानेपर रात्रिका अन्त होकर धीरे धीरे सूर्यका प्रकाश फैलने लगता है तथा लोगोंकी निद्रा दूर होकर उनके नेत्रयुगल खुल जाते हैं जिससे कि वे सब ओर देखने लग जाते हैं। ठीक इसी प्रकारसे जिनेन्द्र देवोंके लिये जिस अपूर्व प्रभातका लाभ हुआ करता है उसमें रात्रिके समान उनके ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मोंकी स्थितिका अन्त होता है, अन्तरायकर्मका क्षय ही प्रकाश है, मोहकर्मजनित अविवेक-रूप निद्राका भार नष्ट हो जाता है। तब उनके केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप दोनों नेत्र खुल जाते हैं जिससे वे समस्त ही विश्वको स्पष्टतया जानने और देखने गते हैं। ऐसे उन अलौकिक अविनश्वर सुप्रभातको प्राप्त करनेवाले जिनेन्द्रोंके लिये यहां नमस्कार किया गया है ॥ १ ॥ जो सुप्रभात सच्चक्र अर्थात् सज्जनसमूहको सुख देनेवाला (अथवा उत्तम चक्रवाक पक्षियोंके लिये सुख देनेवाला, अथवा समीचीन चक्ररत्नको धारण करनेवाले चक्रवर्तीके सुखको देनेवाला), निर्मल, ज्ञानकी प्रभासे प्रकाशमान, लोक एवं अलोक रूप स्थानके प्रकाशित करनेकी विधिमें चतुर और उत्कृष्ट है तथा जिसके एक वार प्रकट होनेपर मानो प्राणी उत्कृष्ट जीवनको ही प्राप्त कर लेते हैं; ऐसे उस तीन लोकके अधिपतिस्वरूप जिनेन्द्र भगवान्के सुप्रभातकी मैं निरन्तर स्तुति करता हूं ॥ २ ॥ जिस सुप्रभातमें सर्वथा एकान्तवादसे उद्धत सैकड़ों प्रवादीरूप उल्लू पक्षी भयसे

१ क क्षयाद् द्योते, ब क्षयोद्याते । २ च यदमलज्ञान ।

820) अनन्तबोधादिचतुष्टयात्मकं दधाम्यनन्तं हृदि तद्गुणाशया।
भवेद्यदर्थी ननु तेन सेव्यते तदन्वितो भूरितृषेव सत्सरः ॥ १४ ॥

821) नमो ऽस्तु धर्माय जिनाय मुक्तये सुधर्मतीर्थप्रविधायिने सदा।
यमाश्रितो भव्यजनो ऽतिदुर्लभां लभेत कल्याणपरंपरां पराम् ॥ १५ ॥

822) विधाय कर्मक्षयमात्मशान्तिकृज्जगत्सु यः शान्तिकरस्ततो ऽभवत्।
इति स्वमन्यं प्रति शान्तिकारणं[1] नमामि शान्तिं जिनमुन्नतश्रियम् ॥ १६ ॥

823) दयाङ्गिनां चिद् द्वितयं विमुक्तये परिग्रहद्वन्द्वविमोचनेन तत्।
विशुद्धमासीदिह यस्य मादृशां स कुन्थुनाथो ऽस्तु भवप्रशान्तये ॥ १७ ॥

824) विभान्ति यस्याङ्घ्रिनखा नमत्सुरस्फुरच्छिरोरत्नमहो ऽधिकप्रभाः।
जगद्गृहे पापतमोविनाशना इव प्रदीपाः स जिनो जयत्यरः ॥ १८ ॥

स्मात्कारणात्। अस्य विमलस्य। नामस्मरणम्। असंशयं संशयरहितम्। अघात्मनाम् अपि वैमल्यं करोति निर्मलं[नैर्मल्यं] करोति ॥ १३ ॥ अहं श्री-अनन्ततीर्थकरं हृदि दधामि। कया। तद्गुणाशया तस्य अनन्तनाथतीर्थकरस्य गुणानाम् आशा तया। किंलक्षणम् अनन्तम्। अनन्तबोधादिचतुष्टयात्मकम् अनन्तज्ञानादिचतुष्टयस्वरूपम्। ननु इति वितर्के। यदर्थी भवेत् यः गुणग्राही भवेत्। तेन पुंसा। तदन्वितः सेव्यते तेन गुणग्राहिणा पुरुषेण तदन्वितः गुणयुक्तः नरः सेव्यते। दृष्टान्तमाह। भूरितृषायुक्तेन पुरुषेण यथा सरः सेव्यते ॥ १४ ॥ धर्माय जिनाय मुक्तये मोक्षाय नमोऽस्तु। किंलक्षणाय धर्माय। सुष्ठुधर्मतीर्थप्रविधायिने धर्मतीर्थकराय। यं धर्मनाथम्। सदाकाले। भव्यजनः आश्रितः[2]। कल्याणपरम्परां परां सुखश्रेणीवराम्। अतिदुर्लभाम्। लभेत प्राप्नुयात् ॥ १५ ॥ अहं श्रीशान्तिं जिनम् उन्नतश्रियं नमामि इति। स्वम् आत्मानम्। च। अन्यं प्रति शान्तिकारणम्। यः श्रीशान्तिनाथः। कर्मक्षयं नाशम्। विधाय कृत्वा। आत्मशान्तिकृत् अभवत्। ततः कारणात् जगत्सु शान्तिकरः ॥ १६ ॥ अङ्गिनां दया। चित् ज्ञानम्। द्वितयम्। विमुक्तये मोक्षाय। कारणम्। इह लोके। परिग्रहद्वन्द्वविमोचनेन। तत् द्वितयं दयाज्ञानं च। विशुद्धम् आसीत्। स कुन्थुनाथः। मादृशां नराणाम्। भवप्रशान्तये संसारनाशाय। अस्तु भवतु ॥ १७ ॥ सः अरः जिनः जयति। यस्य अरनाथस्य अङ्घ्रिनखाः। विभान्ति शोभन्ते। किंलक्षणाः नखाः। नमन्तः ये सुरा देवाः तेषां देवानां स्फुरन्तः[न्ति] शिरोरत्नानि तेषां रत्नानां महसा तेजसा अधिका प्रभा यत्र ते नमत्सुर-

है। इसीलिये उनके नामका स्मरण भी निश्चयसे पापिष्ठ जनोंके भी उस पाप-मलको नष्ट करके उन्हें विमल (निर्मल) करता है ॥ १३ ॥ जो अनन्त जिन अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इन अनन्तचतुष्टयस्वरूप हैं उसको मैं उन्हीं गुणों (अनन्तचतुष्टय) को प्राप्त करनेकी इच्छासे हृदयमें धारण करता हूं। ठीक भी है—जो जिस गुणका अभिलाषी होता है वह उसी गुणसे युक्त मनुष्यकी सेवा करता है। जैसे—अतिशय प्याससे युक्त अर्थात् पानीका अभिलाषी मनुष्य उत्तम तालाबकी सेवा करता है ॥ १४ ॥ जिस धर्मनाथ जिनेन्द्रकी शरणमें गया हुआ भव्य जीव अतिशय दुर्लभ उत्कृष्ट कल्याणकी परम्पराको प्राप्त करता है ऐसे उस उत्तम धर्मतीर्थके प्रवर्तक धर्मनाथ जिनेन्द्रके लिये मैं मुक्तिप्राप्तिकी इच्छासे नमस्कार करता हूं ॥ १५ ॥ जो शान्तिनाथ जिनेन्द्र कर्मोंको नष्ट करके प्रथम तो अपने आपकी शान्तिको करनेवाला हुआ और तत्पश्चात् जगत्के दूसरे प्राणियोंके लिये भी शान्तिका कारण हुआ, इस प्रकारसे जो स्व और पर दोनोंकी ही शान्तिका कारण है उस उत्कृष्ट लक्ष्मी (समवसरणादिरूप बाह्य तथा अनन्तचतुष्टयस्वरूप अन्तरंग लक्ष्मी) से युक्त शान्तिनाथ जिनेन्द्रको मैं नमस्कार करता हूं ॥ १६ ॥ संसारमें जिस कुन्थुनाथ जिनेन्द्रको मुक्तिके निमित्त अन्तरंग और बाह्य दोनों ही प्रकारकी परिग्रहको छोड़ देनेसे प्राणियोंकी दया और चैतन्य (केवलज्ञान) ये दो विशुद्ध गुण प्रगट हुए थे वह कुन्थुनाथ जिनेन्द्र मुझ जैसे छद्मस्थ प्राणियोंके लिये संसारकी शान्ति (नाश) का कारण होवे ॥ १७ ॥ नमस्कार करते हुए देवोंके प्रकाशमान शिरोरत्न (चूडामणि) की कान्तिसे अधिक कान्तिवाले जिसके पैरोंके नख संसाररूप घरमें पापरूप अन्धकारको नष्ट

[1] च श शान्तिकारिणम्। [2] क आश्रित्य।

825) **सुहृत्सुखी स्यादहितः सुदुःखितः**
स्वतो ऽप्युदासीनतमादपि प्रभोः ।
यतः स जीयाज्जिनमल्लिरेकतां
गतो जगद्विस्मयकारिचेष्टितः ॥ १९ ॥

826) **विहाय नूनं तृणवत्स्वसंपदं**
मुनिर्व्रतैर्यो ऽभवदत्र सुव्रतः ।
जगाम तद्धाम विरामवर्जितं
सुबोधदृक्मे स जिनः प्रसीदतु ॥ २० ॥

827) **परं परायत्ततयातिदुर्बलं चलं**
खसौख्यं यदसौख्यमेव तत् ।
अदः प्रमुच्यात्मसुखे कृतादरो
नमिर्जिनो यः स ममास्तु मुक्तये ॥ २१ ॥

828) **अरिष्टसंकर्तनचक्रनेमिताम्-**
उपागतो भव्यजनेषु यो जिनः ।

स्फुरच्छिरोरत्नमहोधिकप्रभाः[2] । जगद्गृहे प्रदीपा इव । किंलक्षणा नखाः । पापतमोविनाशनाः ॥ १८ ॥ स जिनः मल्लिः जीयात् । किंलक्षणः मल्लिः । आत्मना सह एकतां गतः । जगद्विस्मयकारी[3]–आश्चर्यकारी चेष्टितः । यतः यस्माद्धेतोः । सुहृत् मित्रः[मित्रम्] । स्वतः आत्मनः सकाशात् । सुखी भवेत् । अहितः सुदुःखितः भवेत् । कस्मात् प्रभोः मल्लिनाथस्य[नाथात्] उदासीनतमात् ॥ १९ ॥ स सुव्रतः जिनः । मे मम प्रसीदतु प्रसन्नो भवतु । अत्र लोके । यः मुनिसुव्रतः । नूनं स्वसंपदं तृणवत् । विहाय परित्यज्य । व्रतैः[4] मुनिः अभवत् । तत् मोक्षधाम गृहम् । जगाम अगमत् । किंलक्षणं मोक्षगृहम् । विरामवर्जितं विनाशरहितम् । पुनः किंलक्षणो जिनः । सुबोधदृक् ॥ २० ॥ स नमिर्जिनः मम मुक्तयेऽस्तु । यः नमिः । अदः खसौख्यं इन्द्रियसुखम् । प्रमुच्य परित्यज्य । आत्मसुखे कृतादरः आत्मसुखे आदरः कृतः । किंलक्षणम् इन्द्रियसुखम् । परायत्ततया पराधीनतया । परं भिन्नम् । पुनः यत्सौख्यम् । अतिदुर्बलं हीनम् । चलं विनश्वरम् । तत्सौख्यम् असौख्यमेव ॥ २१ ॥ स जिनः जयतात् । यः जिनः । भव्यजनेषु । अरिष्टसंकर्तनचक्रनेमिताम् उपागतः । अशुभकर्मणः कर्तनं छेदनं तस्मिन् छेदने चक्रनेमितां

करनेवाले दीपकोंके समान शोभायमान होते हैं वह अरनाथ जिनेन्द्र जयवंत होवे ॥ १८ ॥ अत्यन्त उदासीनता (वीतरागता) को प्राप्त हुए भी जिस मल्लि प्रभुके निमित्तसे मित्र स्वयं सुखी और शत्रु स्वयं अतिशय दुःखी होता है, इस प्रकारसे जिसकी प्रवृत्ति विश्वके लिये आश्चर्यजनक है, तथा जो अद्वैतभावको प्राप्त हुआ है वह मल्लि जिनेन्द्र जयवन्त होवे ॥ विशेषार्थ— जो प्राणी शत्रुको दुःखी और मित्रको सुखी करता है वह कभी उदासीन नहीं रह सकता है । किन्तु मल्लि जिनेन्द्र न तो शत्रुसे द्वेष रखते थे और न मित्रसे अनुराग भी । फिर भी उनके उत्कर्षको देखकर वे स्वभावतः क्रमसे दुःखी और सुखी होते थे । इसीलिये यहां उनकी प्रवृत्तिको आश्चर्यकारी कहा गया है ॥ १९ ॥ जो मुनिसुव्रत यहां अपनी सम्पत्तिको तृणके समान छोड़ करके व्रतों (महाव्रतों) के द्वारा सुव्रत (उत्तम व्रतोंके धारक) मुनि हुए थे और तत्पश्चात् उस अविनश्वर पद (मोक्ष) को भी प्राप्त हुए थे वे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनसे विभूषित मुनिसुव्रत जिनेन्द्र मेरे उपर प्रसन्न होवें ॥ २० ॥ जो इन्द्रियसुख पर (कर्म) के अधीन होनेके कारण आत्मासे पर अर्थात् भिन्न है, अतिशय दुर्बल है, तथा विनश्वर है वह वास्तवमें दुःखरूप ही है । जिसने उस इन्द्रियसुखको छोड़कर आत्मीक सुखके विषयमें आदर किया था वह नेमिनाथ जिनेन्द्र मेरे लिये मुक्तिका कारण होवे ॥ २१ ॥ जो अशुभ कर्मको

१ क खसौख्यं । २ श यत्र ते अधिकप्रभाः । ३ क कारी । ४ च मुनिव्रतैर्यो ।

यत्सद्धर्मविधिप्रवर्धनकरं तत्सुप्रभातं परं
मन्ये ऽर्हत्परमेष्ठिनो निरुपमं संसारसंतापहृत् ॥ ३ ॥

834) सानन्दं सुरसुन्दरीभिरभितः शक्रैर्यदा गीयते
प्रातः प्रातरधीश्वरं यदतुलं वैतालिकैः पठ्यते ।
यच्चाश्रावि नभश्चरैश्च फणिभिः कन्याजनाद्गायत-
स्तद्वन्दे जिनसुप्रभातमखिलत्रैलोक्यहर्षप्रदम् ॥ ४ ॥

835) उद्द्योते सति यत्र नश्यति तरां लोके ऽघचौरो ऽचिरं
दोषेशो ऽन्तरतीव यत्र मलिनो मन्दप्रभो जायते ।
यत्रानीतितमस्ततेर्विघटनाज्जाता दिशो निर्मला
वन्द्यं नन्दतु शाश्वतं जिनपतेस्तत्सुप्रभातं परम् ॥ ५ ॥

संसारसंतापहृत् संसारातापनाशनम् । यत्र सुप्रभाते । एकान्त-उद्धतवादिकौशिकशतैः एकान्तमिथ्यात्ववादिकौशिकसहस्रैः । भयात् । आकुलैः व्याकुलैः । नष्टं जातम् । यत्र सुप्रभाते विशुद्धखेचरनुतिव्याहारकोलाहलं जातं खेचरस्तुतिवचनैः कोलाहलं जातम् ॥ ३ ॥ तज्जिनसुप्रभातमहं वन्दे । किंलक्षणं सुप्रभातम् । अखिलत्रैलोक्यहर्षप्रदम् । यत्प्रातः सुरसुन्दरीभिः । सार्धम् । शक्रैः इन्द्रैः । अभितः समन्तात् । सानन्दं यथा स्यात्तथा आगीयते । यत् प्रातः । अधीश्वरं स्वामिनम् उद्दिश्य । अतुलं यथा स्यात्तथा । वैतालिकैः बन्दिजनैः पठ्यते । च पुनः । यत्प्रातः । नभश्चरैः विद्याधरैः पक्षिभिः[1] । फणिभिः धरणेन्द्रैः । अश्रावि श्रुतम् । यत्प्रातः कन्याजनात् नागकन्याजनात् गायतः । त्रिलोकनिवासिजनैः श्रुतम् ॥ ४ ॥ जिनपतेः श्रीसर्वज्ञस्य । तत्सुप्रभातं नन्दतु । किंलक्षणं सुप्रभातम् । वन्द्यम् । शाश्वतम् । परं प्रकृष्टम् । यत्र सुप्रभाते उद्द्योते सति । लोके लोकविषये । अघचौरैः पापचौरः । तराम् अतिशयेन । नश्यति विलीयते । यत्र सुप्रभाते । दोषेशः मोहः । मन्दप्रभः जायते । चन्द्रश्च मन्दप्रभः जायते । किंलक्षणो मोहश्चन्द्रश्च । अन्तः मध्ये । अतीवमलिनः । यत्र सुप्रभाते । अनीतितमस्ततेः दुर्णयतमःसमूहस्य विघटनात्

व्याकुल होकर नष्ट हो चुके हैं, जो आकाशगामी विद्याधरों एवं देवोंके द्वारा की जानेवाली विशुद्ध स्तुतिके शब्दसे शब्दायमान है, जो समीचीन धर्मविधिको बढ़ानेवाला है, उपमासे रहित अर्थात् अनुपम है, तथा संसारके सन्तापको नष्ट करनेवाला है, ऐसे उस अरहंत परमेष्ठीके सुप्रभातको ही मैं उत्कृष्ट सुप्रभात मानता हूं ॥ ३ ॥ इन्द्रोंके साथ देवांगनाएं जिस सुप्रभातका आनन्दपूर्वक सब ओर गान करती हैं, बंदीजन अपने स्वामीको लक्ष्य करके जिस अनुपम सुप्रभातकी स्तुति करते हैं, तथा जिस सुप्रभातको विद्याधर और नागकुमार जातिके देव गाती हुई कन्याजनोंसे सुनते हैं; इस प्रकार समस्त तीनों भी लोकोंको हर्षित करनेवाले उस जिन भगवान्के सुप्रभातकी मैं वन्दना करता हूं ॥ ४ ॥ जिस सुप्रभातका प्रकाश हो जानेपर लोकमें पापरूप चोर अतिशय शीघ्र नष्ट हो जाता है, जिस सुप्रभातके प्रकाशमें दोषेश अर्थात् मोहरूप चन्द्रमा भीतर अतिशय मलिन होकर मन्दप्रभावाला हो जाता है, तथा जिस सुप्रभातके होनेपर अन्यायरूप अन्धकारसमूहके नष्ट हो जानेसे दिशायें निर्मल हो जाती हैं; ऐसा वह वन्दनीय व अविनश्वर जिन भगवान्का उत्कृष्ट सुप्रभात वृद्धिको प्राप्त होवे ॥ विशेषार्थ — प्रभात समयके हो जानेपर रात्रिमें संचार करनेवाले चोर भाग जाते हैं, दोषेश (रात्रिका स्वामी चन्द्रमा) मलिन व मन्दप्रभावाला (फीका) हो जाता है, तथा रात्रिजनित अन्धकारके नष्ट हो जानेसे दिशायें निर्मल हो जाती हैं । इसी प्रकार जिन भगवान्को जिस अनुपम सुप्रभातका लाभ होता है उसके होनेपर चोरके समान चिरकालीन पाप शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, दोषेश (दोषोंका स्वामी मोह) कान्तिहीन होकर दूर भाग जाता है, तथा अन्याय व अत्याचारके नष्ट हो जानेसे सब ओर प्रसन्नता छा

---

१ श यक्षिभिः । २ श चौरश्चिर । ३ श क तमोसमूहस्य ।

836) मार्गं यत्प्रकटीकरोति हरते दोषानुषङ्गस्थितिं
लोकानां विदधाति दृष्टिमचिरादर्थावलोकक्षमाम् ।
कामासक्तधियामपि कृशयति प्रीतिं प्रियायामिति
प्रातस्तुल्यतयापि को ऽपि महिमापूर्वः प्रभातो ऽर्हताम् ॥ ६ ॥

837) यद्भानोरपि गोचरं न गतवान् चित्ते स्थितं तत्तमो
भव्यानां दलयत्तथा कुवलये कुर्याद्विकाशश्रियम् ।

दिशः निर्मलाः जाताः । पक्षे उपदेशः ॥ ५ ॥ अर्हतां सर्वज्ञानाम् । प्रभातः । इति अमुना प्रकारेण । प्रातस्तुल्यतयापि कोऽपि अपूर्वमहिमा वर्तते । यत्सुप्रभातं मार्गं प्रकटीकरोति । दोषानुषङ्गस्थितिं दोषसंसर्गस्थितिम् । हरते स्फेटयति । लोकानां दृष्टिम्, अचिरात् अर्थावलोकक्षमाम् । विदधाति करोति । यत्सुप्रभातं कामासक्तधियाम् अपि प्रियायां प्रीतिं कृशयति । पक्षे रागादिप्रीतिं कृशयति क्षीणं[णां] करोति । इति हेतोः अपूर्वमहिमा प्रभातः वर्तते ॥ ६ ॥ जैनं श्रीसुप्रभातं सदा काले । वः युष्माकम् । क्षेमं विदधातु करोतु । किंलक्षणं प्रभातम् । असमम् असदृशम् । यत्सुप्रभातम् । भव्यानां तत्तमः दलयत् स्फेटयत् यत्तमः भानोरपि सूर्यस्यापि । गोचरं गम्यम् । न गतवत् न प्राप्तम् । यत्तमः चित्ते स्थितम् । यत्प्रभातं कुवलये भूमण्डले विकाशश्रियं कुर्वत् । यदिदं

जाती है। वह जिनेन्द्र देवका सुप्रभात वन्दनीय है ॥ ५ ॥ अरहंतोंका प्रभात मार्गको प्रगट करता है, दोषोंके सम्बन्धकी स्थितिको नष्ट करता है, लोगोंकी दृष्टिको शीघ्र ही पदार्थके देखनेमें समर्थ करता है, तथा विषयभोगमें आसक्तबुद्धि प्राणियोंकी स्त्रीविषयक प्रीतिको कृश (निर्बल) करता है। इस प्रकार वह अरहंतोंका प्रभात यद्यपि प्रभातकालके तुल्य ही है, फिर भी उसकी कोई अपूर्व ही महिमा है ॥ विशेषार्थ— जिस प्रकार प्रभातके हो जानेपर मार्ग प्रगट दिखने लगता है उसी प्रकार अरहन्तोंके इस प्रभातमें प्राणियोंको मोक्षका मार्ग दिखने लगता है, जिस प्रकार प्रभात दोषा (रात्रि) की संगतिको नष्ट करता है उसी प्रकार यह अरहंतोंका प्रभात राग-द्वेषादिरूप दोषोंकी संगतिको नष्ट करता है, जिस प्रकार प्रभात लोगोंकी दृष्टिको शीघ्र ही घट-पटादि पदार्थोंके देखनेमें समर्थ कर देता है उसी प्रकार यह अरहंतोंका प्रभात प्राणियोंकी दृष्टि (ज्ञान) को जीवादि सात तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपके देखने-जाननेमें समर्थ कर देता है, तथा जिस प्रकार प्रभात हो जानेपर कामी जनकी स्त्रीविषयक प्रीति कम हो जाती है उसी प्रकार उस अरहंतोंके प्रभातमें भी कामी जनकी विषयेच्छा कम हो जाती है। इस प्रकार अरहंतोंका वह प्रभात प्रसिद्ध प्रभातके समान होकर भी अपूर्व ही महिमाको धारण करता है ॥ ६ ॥ भव्य जीवोंके हृदयमें स्थित जो अन्धकार सूर्यके गोचर नहीं हुआ है अर्थात् जिसे सूर्य भी नष्ट नहीं कर सका है उसको जो जिन भगवान्का सुप्रभात नष्ट करता है, जो कुवलय (भूमण्डल) के विषयमें विकाशलक्ष्मी (प्रमोद) को करता है — लोकके सब प्राणियोंको हर्षित करता है, तथा जो निशाचरों (चन्द्र एवं राक्षस आदि) के भी तेज और सुखका घात नहीं करता है; वह जिन भगवान्का अनुपम सुप्रभात सर्वदा आप सबका कल्याण करे ॥ विशेषार्थ— लोकप्रसिद्ध प्रभातकी अपेक्षा जिन भगवान्के इस सुप्रभातमें अपूर्वता है। वह इस प्रकारसे— प्रभातका समय केवल रात्रिके अन्धकारको नष्ट करता है, वह जीवोंके अभ्यन्तर अन्धकार (अज्ञान)को नष्ट नहीं कर सकता है; परन्तु जिन भगवान्का वह सुप्रभात भव्य जीवोंके हृदयमें स्थित उस अज्ञानान्धकारको भी नष्ट करता है। लोकप्रसिद्ध प्रभात

१ ४ क पूर्वप्रभातो, ब पूर्वप्रभाते ।

तेजःसौख्यहतेरकर्तृ यदिदं[1] नक्तंचराणामपि
क्षेमं वो विदधातु जैनमसमं श्रीसुप्रभातं सदा ॥ ७ ॥

838) भव्याम्भोरुहनन्दिकेवलरविः प्राप्नोति यत्रोदयं
दुष्कर्मोदयनिद्रया परिहृतं जागर्ति सर्वं जगत् ।
नित्यं यैः परिपठ्यते जिनपतेरेतत्प्रभाताष्टकं
तेषामाशु विनाशमेति दुरितं धर्मः सुखं वर्धते ॥ ८ ॥

सुप्रभातम् । नक्तंचराणां देवचन्द्रराक्षसादीनाम् । सौख्यहतेः तेजः अकर्तृ 'हन् हिंसागत्योः' देवादीनां सुखेन गमनस्य तेजः तस्य तेजसः अकर्तृ अकारकम् ॥ ७ ॥ यत्र सुप्रभाते । भव्याम्भोरुहनन्दिकेवलरविः उदयं प्राप्नोति । यत्र यस्मिन् प्रभाते । उदिते सति । सर्वं जगत् दुष्कर्मोदयनिद्रया परिहृतं त्यक्तम् । जागर्ति एतत् जिनपतेः प्रभाताष्टकम् । यैः भव्यैः । नित्यं सदैव । परिपठ्यते । तेषां भव्यानाम् । दुरितं पापम् । आशु शीघ्रेण[2] । विनाशम् एति विलयं गच्छति । धर्मः सुखं वर्धते ॥८॥ इति सुप्रभाताष्टकम् ॥१७॥

कुवलय (सफेद कमल) को विकसित नहीं करता, बल्कि उसे मुकुलित ही करता है; परन्तु जिन भगवान्‌का सुप्रभात उस कुवलयको (भूमण्डलके समस्त जीवोंको) विकसित (प्रमुदित) ही करता है । लोकप्रसिद्ध प्रभात निशाचरों (चन्द्र, चोर एवं उलूक आदि) के तेज और सुखको नष्ट करता है, परन्तु जिन भगवान्‌का वह सुप्रभात उनके तेज और सुखको नष्ट नहीं करता है । इस प्रकार वह जिन भगवान्‌का अपूर्व सुप्रभात सभी प्राणियोंके लिये कल्याणकारी है ॥ ७ ॥ जिस सुप्रभातमें भव्य जीवोंरूप कमलोंको आनन्दित करनेवाला केवलज्ञानरूप सूर्य उदयको प्राप्त होता है तथा सम्पूर्ण जगत् (जगत्‌के जीव) पाप कर्मके उदयरूप निद्रासे छुटकारा पाकर जागता है अर्थात् प्रबोधको प्राप्त होता है उस जिन भगवान्‌के सुप्रभातकी स्तुतिस्वरूप इस प्रभाताष्टकको जो जीव निरन्तर पढ़ते हैं उनका पाप शीघ्र ही नाशको प्राप्त होता है तथा धर्म एवं सुख वृद्धिंगत होता है ॥ विशेषार्थ— जिस प्रकार प्रभातके हो जानेपर कमलोंको प्रफुल्लित करनेवाला सूर्य उदयको प्राप्त होता है उसी प्रकार जिन भगवान्‌के उस सुप्रभातमें भव्य जीवोंको प्रफुल्लित करनेवाला केवलज्ञानरूप सूर्य उदयको प्राप्त होता है तथा जिस प्रकार प्रभातके हो जानेपर जगत्‌के प्राणी निद्रासे रहित होकर जाग उठते हैं उसी प्रकार जिन भगवान्‌के प्रभातमें जगत्‌के सब प्राणी पापकर्मके उदयस्वरूप निद्रासे रहित होकर जाग उठते हैं— प्रबोधको प्राप्त हो जाते हैं । इस प्रकार यह जिन भगवान्‌का सुप्रभात अनुपम है । उसके विषयमें जो श्रीमुनि पद्मनन्दीने आठ श्लोकोंमें यह स्तुति की है उसके पढ़नेसे प्राणियोंके पापका विनाश और धर्म एवं सुखकी अभिवृद्धि होती है ॥ ८ ॥ इस प्रकार सुप्रभाताष्टक समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

---

१ च श सदिदं । २ श शीघ्रं ।

[१८. शान्तिनाथस्तोत्रम्]

839) त्रैलोक्याधिपतित्वसूचनपरं लोकेश्वरैरुद्धृतं
यस्योपर्युपरीन्दुमण्डलनिभं छत्रत्रयं राजते ।
अश्रान्तोद्गतकेवलोज्ज्वलरुचा निर्भर्त्सितार्कप्रभं
सो ऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा ॥ १ ॥

840) देवः सर्वविदेष एष परमो नान्यस्त्रिलोकीपतिः
सन्त्यस्यैव समस्ततत्त्वविषया वाचः सतां संमताः ।
एतद्घोषयतीव यस्य विबुधैरास्फालितो दुन्दुभिः
सो ऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा ॥ २ ॥

841) दिव्यस्त्रीमुखपङ्कजैकमुकुरप्रोल्लासिनानामणि-
स्फारीभूतविचित्ररश्मिरचितानम्रामरेन्द्रायुधैः ।
सच्चित्रीकृतवातवर्त्मनि लसत्सिंहासने यः स्थितः
सो ऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा ॥ ३ ॥

842) गन्धाकृष्टमधुव्रतव्रजरुतैर्व्यापारिता कुर्वती
स्तोत्राणीव दिवः सुरैः सुमनसां वृष्टिर्यदग्रे ऽभवत् ।

स श्रीशान्तिनाथः अस्मान् सदा पातु रक्षतु । किंलक्षणः श्रीशान्तिनाथः । निरञ्जनः । जिनपतिः । यस्य श्रीशान्तिनाथस्य । उपर्युपरि छत्रत्रयम् । राजते शोभते । किंलक्षणं छत्रत्रयम् । त्रैलोक्याधिपतित्वसूचनपरं त्रैलोक्यस्वामित्वसूचकम् । पुनः किंलक्षणं छत्रत्रयम् । लोकेश्वरैः उद्धृतम् इन्द्रादिभिः धृतम् । पुनः किंलक्षणं छत्रत्रयम् । इन्दुमण्डलनिभं चन्द्रमण्डलसदृशम् । पुनः किंलक्षणं छत्रत्रयम् । अश्रान्तम् अनवरतम् । उद्गतकेवलोज्ज्वलरुचा दीप्त्या कृत्वा निर्भर्त्सितम् अर्कप्रभं स्फेटितसूर्यतेजः ॥ १ ॥ स श्रीशान्तिनाथः । सदा सर्वकाले । अस्मान् पातु रक्षतु । किंलक्षणः श्रीशान्तिनाथः । निरञ्जनः । जिनपतिः । यस्य श्रीशान्तिनाथस्य दुन्दुभिः । विबुधैः देवैः । आस्फालितः ताडितः । एतद्घोषयतीव । किं घोषयति । देवः एष श्रीशान्तिनाथः सर्ववित् । परमः श्रेष्ठः । त्रिलोकीपतिः । अन्यः न । अस्य श्रीशान्तिनाथस्य । वाचः । सतां साधूनाम् । संमताः अभीष्टाः कथिताः सन्ति । किंलक्षणा वाचः । समस्ततत्त्वविषयाः ॥ २ ॥ स श्रीशान्तिनाथः अस्मान् पातु रक्षतु । यः श्रीशान्तिनाथः लसत्सिंहासने स्थितः । किंलक्षणे सिंहासने । दिव्यस्त्रीमुखपङ्कजैकमुकुरप्रोल्लासिनानामणिस्फारीभूतविचित्ररश्मिरचितानम्रामरेन्द्रायुधैः कृत्वा सच्चित्रीकृतवातवर्त्मनि कुर्बुरीकृत–आकाशे ॥ ३ ॥ स श्रीशान्तिनाथः अस्मान् पातु रक्षतु । यदग्रे यस्य श्रीशान्तिनाथस्य

जिस शान्तिनाथ भगवान्के एक एकके ऊपर इन्द्रोंके द्वारा धारण किये गये चन्द्रमण्डलके समान तीन छत्र तीनों लोकोंकी प्रभुताको सूचित करते हुए निरन्तर उदित रहनेवाले केवलज्ञानरूप निर्मल ज्योतिके द्वारा सूर्यकी प्रभाको तिरस्कृत करके सुशोभित होते हैं वह पापरूप कालिमासे रहित श्रीशान्तिनाथ जिनेन्द्र हम लोगोंकी सदा रक्षा करे ॥ १ ॥ जिसकी भेरी देवों द्वारा ताड़ित होकर मानो यही घोषणा करती है कि तीनों लोकोंका स्वामी और सर्वज्ञ यह शान्तिनाथ जिनेन्द्र ही उत्कृष्ट देव है और दूसरा नहीं है; तथा समस्त तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपको प्रगट करनेवाले इसीके वचन सज्जनोंको अभीष्ट हैं, दूसरे किसीके भी वचन उन्हें अभीष्ट नहीं हैं; वह पापरूप कालिमासे रहित श्रीशान्तिनाथ जिनेन्द्र हम लोगोंकी सदा रक्षा करे ॥ २ ॥ जो शान्तिनाथ जिनेन्द्र देवांगनाओंके मुखकमलरूप अनुपम दर्पणमें दैदीप्यमान अनेक मणियोंकी फैलनेवाली विचित्र किरणोंके द्वारा रचे गये कुछ नम्रीभूत इन्द्रधनुषोंसे आकाशको समीचीनतया विचित्र (अनेक वर्णमय) करनेवाले सिंहासनपर स्थित है वह पापरूप कालिमासे रहित शान्तिनाथ भगवान् सदा हम लोगोंकी रक्षा करे ॥ ३ ॥ जिस शान्तिनाथ जिनेन्द्रके आगे देवोंके द्वारा व्यापारित हुई अर्थात्

१ क युधैः सच्चित्रीकृत ।

सेवायातसमस्तविष्टपपतिस्तुत्याश्रयस्पर्द्धया
सो ऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा ॥ ४ ॥

843) खद्योतौ किमुतानलस्य कणिके शुभ्राभ्रलेशावथ
सूर्याचन्द्रमसाविति प्रगुणितौ लोकाक्षियुग्मैः सुरैः ।
तर्क्येते हि यदग्रतो ऽतिविशदं तद्यस्य भामण्डलं
सो ऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा ॥ ५ ॥

844) यस्याशोकतरुर्विनिद्रसुमनोगुच्छप्रसक्तैः क्वणद्-
भृङ्गैर्भक्तियुतः प्रभोरहरहर्गायन्निवास्ते यशः ।
शुभ्रं साभिनयो मरुच्चललतापर्यन्तपाणिश्रिया
सो ऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा ॥ ६ ॥

845) विस्तीर्णाखिलवस्तुतत्त्वकथनापारप्रवाहोज्ज्वला
निःशेषार्थिनिषेवितातिशिशिरा शैलादिवोत्तुङ्गतः ।

अग्रे । दिवः आकाशात् । सुरैः देवैः । कृता । सुमनसां पुष्पाणाम् । वृष्टिः अभवत् । किंलक्षणा वृष्टिः । गन्धाकृष्टमधुव्रतव्रजरुतैः शब्दैः । व्यापारिता शब्दायमाना । स्तोत्राणि कुर्वतीव । कया । सेवाआयातसमस्तविष्टपपतिस्तुत्याश्रयस्पर्द्धया ॥ ४ ॥ स श्रीशान्तिनाथः अस्मान् पातु रक्षतु । यस्य श्रीशान्तिनाथस्य तत् भामण्डलमतिविशदं वर्तते । यदग्रतः यस्य भामण्डलस्य अग्रे । हि यतः । सुरैः देवैः । सूर्याचन्द्रमसौ तर्क्येते इति । किम् । खद्योतौ । उत अहो । अनलस्य अग्नेः[1] । कणिके द्वे । अथ शुभ्रअभ्रलेशौ लोके 'भोडलखण्डौ' । लोकाक्षियुग्मैः इति । प्रगुणितौ विचारितौ ॥ ५ ॥ स श्रीशान्तिनाथः अस्मान् । पातु रक्षतु । यस्य श्रीशान्तिनाथस्य । अशोकतरुः क्वणद्भृङ्गैः कृत्वा । प्रभोः श्रीशान्तिनाथस्य । शुभ्रं यशः । अहः अहः प्रतिदिनम् । गायन्निव । आस्ते तिष्ठति । किंलक्षणैः भृङ्गैः । विनिद्रसुमनोगुच्छप्रसक्तैः विकसितपुष्पगुच्छेषु आसक्तैः । किंलक्षणः अशोकतरुः । भक्तियुतः । पुनः किंलक्षणः अशोकतरुः । मरुच्चललतापर्यन्तपाणिश्रिया मरुता पवनेन चलं चञ्चलीकृतं लतापर्यन्तं लतान्तं[2] तदेव पाणिः हस्तं तस्य श्रिया कृत्वा । साभिनयः नर्तनयुक्तः ॥ ६ ॥ स श्रीशान्तिनाथः अस्मान् पातु रक्षतु । यतः श्रीशान्तिनाथात् । सरस्वती । प्रोद्भूता उत्पन्ना । किंलक्षणा सरस्वती । सुरनुता देवैः वन्दिता । पुनः किंलक्षणा सरस्वती । विश्वं त्रिलोकम् । पुनाना पवित्री

की गई जो आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा हुई थी वह गन्धके द्वारा खींचे गये भ्रमरसमूहके शब्दोंसे मानों सेवाके निमित्त आये हुए समस्त लोकके स्वामियों द्वारा की जानेवाली स्तुतिके निमित्तसे स्पर्धाको प्राप्त हो करके स्तुतियोंको ही कर रही थी, वह पापरूप कालिमासे रहित शान्तिनाथ जिनेन्द्र हम लोगोंकी रक्षा करे ॥४॥ जिस शान्तिनाथ भगवान्‌का अत्यन्त निर्मल वह भामण्डल है जिसके कि आगे लोगोंके दोनों नेत्र तथा देव सूर्य और चन्द्रमाके विषयमें ऐसी कल्पना करते हैं कि ये क्या दो जुगनू हैं, अथवा अग्निके दो कण हैं, अथवा सफेद मेघके दो टुकडे हैं; वह पापरूप कालिमासे रहित शान्तिनाथ जिनेन्द्र हम लोगोंकी रक्षा करें ॥ विशेषार्थ— अभिप्राय यह है कि भगवान् शान्तिनाथ जिनेन्द्रका प्रभामण्डल इतना निर्मल और देदीप्यमान था कि उसके आगे सूर्य-चन्द्र लोगोंको जुगनू, अग्निकण अथवा धवल मेघके खण्डके समान कान्तिहीन प्रतीत होते थे ॥ ५ ॥ जिस शान्तिनाथ जिनेन्द्रका अशोकवृक्ष विकसित पुष्पोंके गुच्छोंमें आसक्त होकर शब्द करनेवाले भौंरोंके द्वारा मानो भक्तियुक्त होकर प्रतिदिन प्रभुके धवल यशका गान करता हुआ तथा वायुसे चंचल लताओंके पर्यन्तभागरूप भुजाओंकी शोभासे मानो अभिनय (नृत्य) करता हुआ ही स्थित है वह पापरूप कालिमासे रहित शान्तिनाथ जिनेन्द्र हम लोनोंकी सदा रक्षा करे ॥ ६ ॥ उन्नत पर्वतके समान जिस शान्तिनाथ जिनेन्द्रसे उत्पन्न हुई दिव्य वाणीरूप सरस्वती नामक नदी (अथवा गंगा) विस्तीर्ण समस्त वस्तुस्वरूपके व्याख्यानरूप अपार प्रवाहसे उज्ज्वल, सम्पूर्ण अर्थी जनोंसे सेवित, अतिशय शीतल, देवोंसे स्तुत तथा विश्वको पवित्र करनेवाली है; वह पापरूप कालिमासे रहित शान्तिनाथ जिनेन्द्र हम लोगोंकी

१ क 'अग्नेः' नास्ति । २ क 'लतान्तं' नास्ति ।

प्रोद्भूता हि सरस्वती सुरनुता विश्वं पुनाना यतः
सो ऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा ॥ ७ ॥

846) लीलोद्वेल्लितबाहुकङ्कणरणत्कारप्रहृष्टैः सुरैः
चञ्चच्चन्द्रमरीचिसंचयसमाकारैश्चलच्चामरैः ।
नित्यं यः परिवीज्यते त्रिजगतां नाथस्तथाप्यस्पृहः
सो ऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा ॥ ८ ॥

847) निःशेषश्रुतबोधवृद्धमतिभिः प्राज्यैरुदारैरपि
स्तोत्रैर्यस्य गुणार्णवस्य हरिभिः पारो न संप्राप्यते ।
भव्याम्भोरुहनन्दिकेवलरविर्भक्त्या मयापि स्तुतः
सो ऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशान्तिनाथः सदा ॥ ९ ॥

कुर्वाणा । पुनः किंलक्षणा वाणी । विस्तीर्णा । अखिलवस्तुतत्त्वकथनअपारप्रवाहेन उज्ज्वला । पुनः किंलक्षणा वाणी । निःशेषार्थिनिषेविताः निःशेषयाचकैः सेविता । पुनः किंलक्षणा वाणी । अतिशिशिरा अतिशीतला । उत्तुङ्गतः शैलात् हिमालयात् । उत्पन्ना गङ्गा इव ॥ ७ ॥ स श्रीशान्तिनाथः अस्मान् पातु रक्षतु । यः श्रीशान्तिनाथः । सुरैः देवैः । चामरैः । नित्यं सदैव । परिवीज्यते । किंलक्षणैः सुरैः । लीलया उद्वेलितानि बाहुकङ्कणानि तेषां बाहुकङ्कणानां रणत्कारेण प्रहृष्टैः हर्षितैः । किंलक्षणैः चामरैः । चञ्चच्चन्द्रमरीचिसंचयसमाकारैः चन्द्रकिरणसमानैः । त्रिजगतां नाथः तथापि अस्पृहः वाञ्छारहितः ॥ ८ ॥ स श्रीशान्तिनाथः अस्मान् पातु रक्षतु । किंलक्षणः श्रीशान्तिनाथः । निरञ्जनः । जिनपतिः । यस्य श्रीशान्तिनाथस्य । गुणार्णवस्य गुणसमुद्रस्य । हरिभिः इन्द्रैः । स्तोत्रैः कृत्वा पारः न संप्राप्यते । किंलक्षणैः इन्द्रैः । निःशेषश्रुतबोधवृद्धमतिभिः द्वादशाङ्गेन पूर्णमतिभिः । किंलक्षणैः स्तोत्रैः । प्राज्यैः उदारैः । गम्भीरैः प्रचुरैः । स श्रीशान्तिनाथः भक्त्या कृत्वा । मया पद्मनन्दिना स्तुतः । किंलक्षणः स श्रीशान्तिनाथः । भव्याम्भोरुहनन्दिकेवलरविः भव्यकमलप्रकाशनैकरविः सूर्यः ॥ ९ ॥ इति श्रीशान्तिनाथस्तोत्रम् ॥ १८ ॥

सदा रक्षा करे ॥ विशेषार्थ—यहां भगवान् शान्तिनाथकी वाणीकी सरस्वती नदीसे तुलना करते हुए यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार सरस्वती नदी अपार निर्मल जलप्रवाहसे संयुक्त है उसी प्रकार भगवान्की वाणी विस्तीर्ण समस्त पदार्थोंके स्वरूपके कथनरूप प्रवाहसे संयुक्त है, जिस प्रकार स्नानादिके अभिलाषी जन उस नदीकी सेवा करते हैं उसी प्रकार तत्त्वके जिज्ञासु जन भगवान्की उस वाणीकी भी सेवा करते हैं, जिस प्रकार नदी गर्मीसे पीड़ित प्राणियोंको स्वभावसे शीतल करनेवाली होती है उसी प्रकार भगवान्की वह वाणी भी प्राणियोंके संसाररूप सन्तापको नष्ट करके उन्हें शीतल करनेवाली है, नदी यदि ऊंचे पर्वतसे उत्पन्न होती है तो वह वाणी भी पर्वतके समान गुणोंसे उन्नतिको प्राप्त हुए जिनेन्द्र भगवान्से उत्पन्न हुई है, यदि देव नदीकी स्तुति करते हैं तो वे भगवान्की उस वाणीकी भी स्तुति करते हैं; तथा यदि नदी शारीरिक बाह्य मलको दूर करके विश्वको पवित्र करती है तो वह भगवान्की वाणी प्राणियोंके अभ्यन्तर मल (अज्ञान एवं राग-द्वेष आदि) को दूर करके उन्हें पवित्र करती है। इस प्रकार वह शान्तिनाथ जिनेन्द्रकी वाणी नदीके समान होकर भी उससे उत्कृष्टताको प्राप्त है। कारण कि वह तो केवल प्राणियोंके बाह्य मलको ही दूर कर सकती है, परन्तु वह भगवान्की वाणी उनके अभ्यन्तर मलके भी दूर करती है ॥ ७॥ तीनों लोकोंके स्वामी जिस शान्तिनाथ जिनेन्द्रके ऊपर लीलासे उठायी गई भुजाओंमें स्थित कंकणके शब्दसे हर्षको प्राप्त हुए देव सदा प्रकाशमान चन्द्रकिरणोंके समूहके समान आकारवाले चंचल चामरोंको ढोरते हैं, तो भी जो इच्छासे रहित है; वह पापरूप कालिमासे रहित शान्तिनाथ जिनेन्द्र हम लोगोंकी सदा रक्षा करे ॥ ८॥ समस्त शास्त्रज्ञानसे वृद्धिंगत बुद्धिवाले इन्द्र भी बहुतसे महान् स्तोत्रोंके द्वारा जिस शान्तिनाथ जिनेन्द्रके गुणसमूहका पार नहीं पा पाते हैं उस भव्य जीवोंरूप कमलोंको प्रफुल्लित करनेवाले ऐसे केवलज्ञानरूप सूर्यसे संयुक्त जिनेन्द्रकी मैंने जो भी स्तुति की है वह केवल भक्तिके वश होकर ही की है । वह पापरूप कालिमासे रहित श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र हम लोगोंकी सदा रक्षा करे ॥ ९ ॥ इस प्रकार शान्तिनाथ स्तोत्र समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

---

१ श वृद्धि ।

[१९. श्रीजिनपूजाष्टकम्]

848) जातिर्जरामरणमित्यनलत्रयस्य जीवाश्रितस्य बहुतापकृतो यथावत् ।
विध्यापनाय जिनपादयुगाग्रभूमौ धारात्रयं प्रवरवारिकृतं क्षिपामि ॥ १ ॥

849) यद्वद्वचो जिनपतेर्भवतापहारि नाहं सुशीतलमपीह भवामि तद्वत् ।
कर्पूरचन्दनमितीव मयार्पितं सत् त्वत्पादपङ्कजसमाश्रयणं करोति ॥ २ ॥

850) राजत्यसौ शुचितराक्षतपुञ्जराजिर्दत्ताधिकृत्य जिनमक्षतमक्षधूर्तैः ।
वीरस्य नेतरजनस्य तु वीरपट्टो बद्धः शिरस्यतितरां श्रियमातनोति ॥ ३ ॥

851) साक्षादपुष्पशर एव जिनस्तदेनं संपूजयामि शुचिपुष्पशरैर्मनोज्ञैः ।
नान्यं तदाश्रयतया किल यन्न यत्र तत्तत्र रम्यमधिकां कुरुते च लक्ष्मीम् ॥ ४ ॥

जिनपादयुगाग्रभूमौ । प्रवरवारिकृतं जलकृतं धारात्रयं क्षिपामि । अहम् इति अध्याहारः । जातिः जन्म जरा मरणम् इति अनलत्रयस्य । यथावत् विधिपूर्वकम् । विध्यापनाय शान्तये । किंलक्षणस्य अनलत्रयस्य । जीवेषु आश्रितस्य । पुनः बहुतापकृतः आतापकारकस्य ॥ १ ॥ जलधारा[1] । कर्पूरचन्दनं त्वत्पादपङ्कजसमाश्रयणं करोति । भो देव । कर्पूरचन्दनं[2] तव चरण–आश्रयं करोति । मया पूजकेन । अर्पितं दत्तम् । सत् समीचीनम् । इतीव । इतीति किम् । इह लोके । अहं सुशीतलमपि तद्वत् शीतलं न भवामि यद्वत्[3] जिनपतेः वचः । भवतापहारि संसारतापहरणशीलम् । कर्पूरचन्दनम् इति हेतोः सर्वज्ञस्य चरणकमलम् आश्रयति ॥ २ ॥ चन्दनम् । असौ शुचितराक्षतपुञ्जराजिः । राजति शोभते । किंलक्षणा अक्षतपुञ्जराजिः । जिनम् अधिकृत्य दत्ता । किंलक्षणं जिनम् । अक्षधूर्तैः इन्द्रियधूर्तैः कृत्वा । अक्षतं न पीडितम् । पक्षे इन्द्रियलम्पटैः न पातितम् । महावीरस्य । शिरसि मस्तके । बद्धः पट्टः । अतितराम् अतिशयेन । श्रियं शोभाम् । आतनोति विस्तारयति । तु पुनः । इतरस्य जनस्य कुदेवस्य वा कातरजनस्य । पट्टः बद्धः न शोभते ॥ ३ ॥ अक्षतम् । एष जिनः साक्षात् । अपुष्पशरः कन्दर्परहितः । तत्तस्मात् । एनं श्रीसर्वज्ञम् । मनोज्ञैः शुचि-पुष्पशरैः कुसुममालाभिः । अहं पूजकः संपूजयामि । अन्यं न पूजयामि । कया । तदाश्रयतया । कामाश्रयत्वेन अन्यं न अर्चयामि ।

जन्म, जरा और मरण ये जीवके आश्रयसे रहनेवाली तीन अग्नियां बहुत सन्तापको करनेवाली हैं । मैं उनको शान्त करनेके लिये जिन भगवान्‌के चरणयुगलके आगे विधिपूर्वक उत्तम जलसे निर्मित तीन धाराओंका क्षेपण करता हूं ॥ १ ॥ जिस प्रकार जिन भगवान्‌की वाणी संसारके सन्तापको दूर करनेवाली है उस प्रकार शीतल हो करके भी मैं उस सन्तापको दूर नहीं कर सकता हूं, इस प्रकारके विचारसे ही मानों मेरे द्वारा भेंट किया गया कपूरमिश्रित वह चन्दन हे भगवन् ! आपके चरणकमलोंका आश्रय करता है ॥ २ ॥ इन्द्रियरूप धूर्तोंके द्वारा बाधाको नहीं प्राप्त हुए ऐसे जिन भगवान्‌के आश्रयसे दी गई वह अतिशय पवित्र अक्षतोंके पुंजोंकी पंक्ति सुशोभित होती है । ठीक है– पराक्रमी पुरुषके शिरपर बांधा गया वीरपट्ट जैसे अत्यन्त शोभाको विस्तृत करता है वैसे कायर पुरुषके शिरपर बांधा गया वह उस शोभाको विस्तृत नहीं करता ॥ ३ ॥ यह जिनेन्द्र प्रत्यक्षमें अपुष्पशर अर्थात् पुष्पशर (काम) से रहित है, इसलिये मैं इसकी मनोहर व पवित्र पुष्पशरों (पुष्पहारों) से पूजा करता हूं । अन्य (ब्रह्मा आदि) किसीकी भी मैं उनसे पूजा नहीं करता हूं, क्योंकि, वह पुष्पशर अर्थात् कामके अधीन है । ठीक है— जो रमणीय वस्तु जहां नहीं होती है वह वहां अधिक लक्ष्मीको करती है ॥ विशेषार्थ— पुष्पशर शब्दके दो अर्थ होते हैं, पुष्परूप बाणोंका धारक कामदेव तथा पुष्पमाला । यहां श्लेषकी प्रधानतासे उक्त दोनों अर्थोंकी विवक्षा करके यह बतलाया गया है जिन भगवान्‌के पास पुष्पशर (कामवासना) नहीं है, इसलिये मैं उसकी

१ अ श 'जलधारा चन्दनं अक्षतं' इत्यादिशब्दाः टीकायाः प्रारम्भे लिखिताः सन्ति । २ श 'कर्पूरचन्दनं' नास्ति । ३ श 'शीतलं न भवामि यद्वत्' इत्येतावान् पाठो नास्ति ।

852) **देवो ऽयमिन्द्रियबलप्रलयं करोति नैवेद्यमिन्द्रियबलप्रदखाद्यमेतत् ।**
चित्रं तथापि पुरतः स्थितमर्हतो ऽस्य शोभां बिभर्ति जगतो नयनोत्सवाय ॥ ५ ॥

853) **आरार्तिकं तरलवह्निशिखं विभाति स्वच्छे जिनस्य वपुषि प्रतिबिम्बितं सत् ।**
ध्यानानलो मृगयमाण इवावशिष्टं दग्धुं परिभ्रमति कर्मचयं प्रचण्डः ॥ ६ ॥

854) **कस्तूरिकारसमयीरिव पत्रवल्लीः कुर्वन् मुखेषु चलनैरिह दिग्वधूनाम् ।**
हर्षादिव प्रभुजिनाश्रयणेन वातप्रेङ्खद्वपुर्नटति पश्यत धूपधूमः ॥ ७ ॥

855) **उच्चैःफलाय परमामृतसंज्ञकाय नानाफलैर्जिनपतिं परिपूजयामि ।**
तद्भक्तिरेव सकलानि फलानि दत्ते मोहेन तत्तदपि याचत एव लोकः ॥ ८ ॥

यद्[3]द्रव्यं वस्तु यत्र न विद्यते तद्वस्तु तत्र [4]योजितम् अधिकां लक्ष्मीं शोभां कुरुते ॥ ४ ॥ पुष्पम् । अयं देवः सर्वज्ञः । इन्द्रियबले[1]-प्रलयं करोति । एतत् नैवेद्यं इन्द्रियबलप्रदखाद्यम् इन्द्रियबलपोषकम् । चित्रम् आश्चर्यम् । तथापि अस्य अर्हतः सर्वज्ञस्य । पुरतः अग्रतः स्थितं शोभां बिभर्ति । कस्मै । जगतः नयनोत्सवाय आनन्दाय ॥ ५ ॥ नैवेद्यम् । आरार्तिकं दीपं[पः] जिनस्य वपुषि शरीरे स्वच्छे प्रतिबिम्बितं सत् विद्यमानं विभाति । किंलक्षणं दीपम् [आरार्तिकम्] तरला चञ्चला वह्निशिखा यत्र तत् तरलवह्नि-शिखम् । उत्प्रेक्षते । ध्यान-अनलः अग्निः परिभ्रमति इव । किं कर्तुम् इव । अवशिष्टम् उर्व[द्व][5]रितम् । कर्मचयं कर्मसमूहम् । दग्धुम् । मृगयमाणः अवलोक्यमान इव । किंलक्षणः ध्यानानलः । प्रचण्डः ॥ ६ ॥ दीपम् । भो भव्याः । यूयं पश्यत । कम् । धूपधूमम् । जिनाश्रयणेन हर्षात् नटति नृत्यति इव । किंलक्षणं धूप[मं]। वातेन प्रेङ्खद्वपुः कम्पमानशरीरम् । इह समये । दिग्वधूनां दिशास्त्रीणाम् । मुखेषु । चलनैः परिभ्रमणैः पत्रवल्लीः कुर्वन् इव । किंलक्षणाः पत्रवल्लीः । कस्तूरिकारसमयीः ॥ ७ ॥ धूपम् । अहं श्रावकः जिनपतिं नानाफलैः परिपूजयामि । कस्मै । उच्चैः फलाय परम-अमृतसंज्ञकाय मोक्षाय । तद्भक्तिः तस्य जिनस्य भक्तिः

पुष्पशरों (पुष्पमालाओंसे) से पूजा करता हूं । अन्य हरि, हर और ब्रह्मा आदि चूंकि पुष्पशरसे सहित हैं; अत एव उनकी पुष्पशरोंसे पूजा करनेमें कुछ भी शोभा नहीं है । इसी बातको पुष्ट करनेके लिये यह भी कह दिया है कि जहांपर जो वस्तु नहीं है वहींपर उस वस्तुके रखनेमें शोभा होती है, न कि जहांपर वह वस्तु विद्यमान है । तात्पर्य यह है कि जिनेन्द्र भगवान् ही जगद्विजयी कामदेवसे रहित होनेके कारण पुष्पोंद्वारा पूजनेके योग्य हैं, न कि उक्त कामसे पीड़ित हरि-हर आदि । कारण यह कि पूजक जिस प्रकार कामसे रहित जिनेन्द्रकी पूजासे स्वयं भी कामरहित हो जाता है उस प्रकार कामसे पीड़ित अन्यकी पूजा करनेसे वह कभी भी उससे रहित नहीं हो सकता है ॥ ४ ॥ यह भगवान् इन्द्रिय-बलको नष्ट करता है और यह नैवेद्य इन्द्रियबलको देनेवाला खाद्य (भक्ष्य) है । फिर भी आश्चर्य है कि इस अरहंत भगवान्के आगे स्थित वह नैवेद्य जगत्के प्राणियोंके नेत्रोंको आनन्ददायक शोभाको धारण करता है ॥ ५ ॥ चंचल अग्निशिखासे संयुक्त आरतीका दीपक जिन भगवान्के स्वच्छ शरीरमें प्रतिबिम्बित होकर ऐसे शोभायमान होता है जैसे मानों वह अवशेष (अघाति) कर्मसमूहको जलानेके लिये खोजती हुई तीव्र ध्यानरूप अग्नि ही घूम रही हो ॥ ६ ॥ देखो वायुसे कम्पमान शरीरवाला धूपका धुआँ अपने कम्पन (चंचलता) से मानों यहां दिशाओंरूप स्त्रियोंके मुखोंमें कस्तूरीके रससे निर्मित पत्रवल्ली (कपोलोंपर की जानेवाली रचना) को करता हुआ जिन भगवान्के आश्रयसे प्राप्त हुए हर्षसे नाच ही रहा है ॥ ७ ॥ मैं उत्कृष्ट अमृत नामक उन्नत फल (मोक्ष) को प्राप्त करनेके लिये अनेक फलोंसे जिनेन्द्र देवकी पूजा करता हूं । यद्यपि जिनेन्द्रकी भक्ति ही समस्त फलोंको देती है, तो भी मनुष्य अज्ञानतासे फलकी याचना

१ श बलं । २ च-प्रतिपाठोऽयम् । अ क श धूमम् । ३ श यद् द्रव्यं । ४ अ जोयितं, श जोषितं । ५ क उद्धरितं ।

856) **पूजाविधिं विधिवदत्र विधाय देवे स्तोत्रं च संमदरसाश्रितचित्तवृत्तिः।**
पुष्पाञ्जलिं विमलकेवललोचनाय यच्छामि सर्वजनशान्तिकराय तस्मै ॥ ९ ॥

857) **श्रीपद्मनन्दितगुणौघ न कार्यमस्ति**
पूजादिना यदपि ते कृतकृत्यतायाः।
स्वश्रेयसे तदपि तत्कुरुते जनोऽर्हन्
कार्या कृषिः फलकृते न तु भूपकृत्यै ॥ १० ॥

एव सकलानि फलानि दत्ते । तदपि लोकः मोहेन तन्मोक्षफलं याचते एव ॥ ८ ॥ फलम् । अत्र देवे । विधिवत् विधिपूर्वकम् । पूजाविधिम् । च पुनः । स्तोत्रम् । विधाय कृत्वा । तस्मै सर्वज्ञाय । पुष्पाञ्जलिं यच्छामि ददामि । किंलक्षणोऽहं श्रावकः । संमदरसाश्रितचित्तवृत्तिः सानन्दचित्तः । किंलक्षणाय देवाय । विमलकेवललोचनाय । पुनः सर्वजनशान्तिकराय ॥ ९ ॥ अर्घम् । भो अर्हन् । भो श्रीपद्मनन्दितगुणौघ । यदपि । ते तव । कृतकृत्यतायाः कृतकार्यत्वात् । पूजादिना कार्यं न अस्ति । तदपि । स्वश्रेयसे कल्याणाय । जनः तत्पूजादिकं कुरुते । तत्र दृष्टान्तमाह । कृषिः फलकृते-[१]कारणाय कार्या कर्तव्या, न तु भूपकृत्यै । लोकोऽयम् आत्मनः सुखहेतवे कृषिं करोति, न तु राज्ञः सुखहेतवे ॥ १० ॥ इति श्रीजिनपूजाष्टकम् ॥ १९ ॥

किया करता है ॥ ८ ॥ हर्षरूप जलसे परिपूर्ण मनोव्यापारसे सहित मैं यहां विधिपूर्वक जिन भगवान्के विषयमें पूजाविधान तथा स्तुतिको करके निर्मल केवलज्ञानरूप नेत्रसे संयुक्त होकर सब जीवोंको शान्ति प्रदान करनेवाले उस जिनेन्द्रके लिये पुष्पांजलि देता हूं ॥ ९ ॥ मुनि पद्म (पद्मनन्दी) के द्वारा जिसके गुणसमूहकी स्तुति की गई है ऐसे हे अरहंत देव! यद्यपि कृतकृत्यताको प्राप्त हो जानेसे तुम्हें पूजा आदिसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रहा है, तो भी मनुष्य अपने कल्याणके लिये तुम्हारी पूजा करते हैं। ठीक भी है— खेती अपने ही प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिये की जाती है, न कि राजाके प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिये ॥ विशेषार्थ—जिस प्रकार किसान जो खेतीको करता है उसमेंसे वह कुछ भाग यद्यपि करके रूपमें राजाको भी देता है तो भी वह राजाके निमित्त कुछ खेती नहीं करता, किन्तु अपने ही प्रयोजन (कुटुम्बपरिपालन आदि) के साधनार्थ उसे करता है। ठीक इसी प्रकारसे भक्त जन जो जिनेन्द्र आदिकी पूजा करते हैं वह कुछ उनको प्रसन्न करनेके लिये नहीं करते हैं, किन्तु अपने आत्मपरिणामोंकी निर्मलताके लिये ही करते हैं। कारण यह कि जिन भगवान् तो वीतराग (राग-द्वेष रहित) हैं, अतः उससे उनकी प्रसन्नता तो सम्भव नहीं है; फिर भी उससे पूजकके परिणामोंमें जो निर्मलता उत्पन्न होती है उससे उसके पाप कर्मोंका रस क्षीण होता है और पुण्य कर्मोंका अनुभाग वृद्धिको प्राप्त होता है। इस प्रकार दुखका विनाश होकर उसे सुखकी प्राप्ति स्वयमेव होती है। आचार्यप्रवर श्री समन्तभद्र स्वामीने भी ऐसा ही कहा है— न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे। तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥ अर्थात् हे भगवन्! आप चूंकि वीतराग हैं, इसलिये आपको पूजासे कुछ प्रयोजन नहीं रहा है। तथा आप चूंकि वैरभाव (द्वेषबुद्धि) से भी रहित हैं, इसलिये निन्दासे भी आपको कुछ प्रयोजन नहीं रहा है। फिर भी पूजा आदिके द्वारा होनेवाले आपके पवित्र गुणोंका स्मरण हमारे चित्तको पापरूप कालिमासे बचाता है [स्व. स्तो. ५७.] ॥ १० ॥ इस प्रकार जिनपूजाष्टक समाप्त हुआ ॥ १९ ॥

---

१ अ क कृषिः।

[२०. श्रीकरुणाष्टकम्]

858) त्रिभुवनगुरो जिनेश्वर
परमानन्दैककारण कुरुष्व ।
मयि किंकरे ऽत्र करुणां
तथा यथा जायते मुक्तिः ॥ १ ॥

859) निर्विण्णो ऽहं नितरा-
मर्हन् बहुदुःखया भवस्थित्या ।
अपुनर्भवाय भवहर
कुरु करुणामत्र मयि दीने ॥ २ ॥

860) उद्धर मां पतितमतो
विषमाद्भवकूपतः कृपां कृत्वा ।
अर्हन्नलमुद्धरणे
त्वमसीति पुनः पुनर्वच्मि ॥ ३ ॥

861) त्वं कारुणिकः स्वामी
त्वमेव शरणं जिनेश तेनाहम् ।
मोहरिपुदलितमानः
पूत्कारं तव पुरः कुर्वे ॥ ४ ॥

भो त्रिभुवनगुरो । भो जिनेश्वर । भो परमानन्दैककारण । अत्र मयि किंकरे सेवके । तथा करुणां दयां कुरुष्व यथा मुक्तिः जायते उत्पद्यते ॥ १ ॥ भो अर्हन् । भो भवहर संसारनाशक । बहुदुःखयुक्तया भवस्थित्या अहं नितराम् अतिशयेन । निर्विण्णः उदासीनः । अत्र मयि दीने । करुणां दयां कुरु । अपुनर्भवाय भवनाशनाय[1] ॥ २ ॥ भो अर्हन् । कृपां कृत्वा अतः विषमात् कूपतः पतितं माम् उद्धर । उद्धरणे त्वम् अलं समर्थः असि । इति हेतोः । पुनः पुनः तव अग्रे । वच्मि कथयामि ॥ ३ ॥ भो जिनेश । त्वं कारुणिकः स्वामी । मम त्वमेव शरणम् । तेन कारणेन अहं तव पुरः अग्रे । पूत्कारं कुर्वे । किंलक्षणोऽहम् । मोहरिपुदलितमानः ॥ ४ ॥ भो जिन । ग्रामपतेः ग्रामनायकस्य । परेण केनापि उपद्रुते पुंसि पीडितपुरुषे । करुणा[2] जायते

तीनों लोकोंके गुरु और उत्कृष्ट सुखके अद्वितीय कारण ऐसे हे जिनेश्वर! इस मुझ दासके ऊपर ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे मुझे मुक्ति प्राप्त हो जाय ॥ १ ॥ हे संसारके नाशक अरहंत! मैं बहुत दुःखको उत्पन्न करनेवाले इस संसारवाससे अत्यन्त विरक्त हुआ हूं। आप इस मुझ दीनके ऊपर ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे मुझे पुनः जन्म न लेना पड़े, अर्थात् मैं मुक्त हो जाऊं ॥ २ ॥ हे अरहंत! आप कृपा करके इस भयानक संसाररूप कुएंमें पड़े हुए मेरा उससे उद्धार कीजिये। आप उससे उद्धार करनेके लिये समर्थ हैं, इसीलिये मैं वार वार आपसे निवेदन करता हूं ॥ ३ ॥ हे जिनेश! तुम ही दयालु हो, तुम ही प्रभु हो, और तुम ही रक्षक हो। इसीलिये जिसका मोहरूप शत्रुके द्वारा मानमर्दन किया गया है ऐसा वह मैं आपके आगे पुकार कर कहता हूं ॥ ४ ॥ हे जिन! जो एक गांवका स्वामी होता है वह भी किसी

१ श 'अपुनर्भवाय भवनाशनाय' नास्ति । २ श पुरुषे ग्रामनायकस्य करुणा ।

862) ग्रामपतेरपि करुणा
परेण केनाप्युपद्रुते पुंसि ।
जगतां प्रभोर्न किं तव
जिन मयि खलकर्मभिः प्रहते ॥ ५ ॥

863) अपहर मम जन्म दयां
कृत्वेत्येकत्र वचसि[1] वक्तव्ये ।
तेनातिदग्ध इति मे
देव बभूव प्रलापित्वम् ॥ ६ ॥

864) तव जिनचरणाब्जयुगं
करुणामृतसंगशीतलं यावत् ।
संसारातपतप्तः[2]
करोमि हृदि तावदेव सुखी ॥ ७ ॥

865) जगदेकशरण भगवन्-
समश्रीपद्मनन्दितगुणौघ ।
किं बहुना कुरु करुणाम्-
अत्र जने शरणमापन्ने[3] ॥ ८ ॥

दया उत्पद्यते । खलकर्मभिः मयि प्रहते व्यथिते । जगतां प्रभोः तव दया किं न जायते । अपि तु जायते ॥ ५ ॥ भो देव । दयां कृत्वा मम जन्म अपहर संसारनाशनं कुरु । एकत्ववचसि वक्तव्ये इति निश्चयः । तेन जन्मना । अहम् अतिदग्धः । इति हेतोः । मे मम । प्रलापित्वं कष्टत्वं बभूव ॥ ६ ॥ भो जिन । संसार-आतपतप्तः अहं तव चरणाब्जयुगं यावत्काले हृदि करोमि तावत्कालम् एव सुखी । किंलक्षणं चरणकमलम् । करुणा-अमृतसंगवत् शीतलम् ॥ ७ ॥ भो जगदेकशरण । भो भगवन् । भो असमश्रीपद्मनन्दितगुणौघ । अत्र मयि । जने । करुणां कुरु । बहुना उक्तेन किम् । किंलक्षणे मयि । शरणम् आपन्ने प्राप्ते ॥ ८ ॥ इति श्रीकरुणाष्टकम् ॥ २० ॥

दूसरेके द्वारा पीड़ित मनुष्यके ऊपर दया करता है ! फिर जब आप तीनों ही लोकोंके स्वामी हैं तब क्या दुष्ट कर्मोंके द्वारा पीड़ित मेरे ऊपर दया नहीं करेंगे? अर्थात् अवश्य करेंगे ॥ ५ ॥ हे देव! आप कृपा करके मेरे जन्म (जन्म-मरणरूप संसार) को नष्ट कर दीजिये, यही एक बात मुझे आपसे कहनी है । परन्तु चूंकि मैं उस जन्मसे अतिशय जला हुआ हूं अर्थात् पीड़ित हूं, इसीलिये मैं बहुत बकवादी हुआ हूं ॥ ६ ॥ हे जिन ! संसाररूप आतपसे सन्तापको प्राप्त हुआ मैं जब तक दयारूप अमृतकी संगतिसे शीतलताको प्राप्त हुए तुम्हारे दोनों चरण कमलोंको हृदयमें धारण करता हूं तभी तक सुखी रहता हूं ॥७॥ जगत्के प्राणियोंके अद्वितीय रक्षक तथा असाधारण लक्ष्मीसे सम्पन्न और मुनि पद्मनन्दीके द्वारा स्तुत गुण-समूहसे सहित ऐसे हे भगवन् ! मैं बहुत क्या कहूं, शरणमें आये हुए इस जनके (मेरे) ऊपर आप दया करें ॥ ८ ॥ इस प्रकार करुणाष्टक समाप्त हुआ ॥ २० ॥

---

१ च-प्रतिपाठोऽयम् । अ क श कृत्वैकत्ववचसि । २ श संसारतापतप्तः । ३ श सन्न ।

[२१. क्रियाकाण्डचूलिका]

866) सम्यग्दर्शनबोधवृत्तसमताशीलक्षमाद्यैर्घनैः
संकेताश्रयवज्जिनेश्वर भवान् सर्वैर्गुणैराश्रितः ।
मन्ये त्वय्यवकाशलब्धिरहितैः सर्वत्र लोके वयं
संग्राह्या इति गर्वितैः परिहृतो दोषैरशेषैरपि ॥ १ ॥

867) यस्त्वामनन्तगुणमेकविभुं त्रिलोक्याः स्तौति प्रभूतकवितागुणगर्वितात्मा ।
आरोहति द्रुमशिरः स नरो नभो ऽन्तं गन्तुं जिनेन्द्र मतिविभ्रमतो बुधो ऽपि ॥ २ ॥

868) शक्नोति कर्तुमिह कः स्तवनं समस्तविद्याधिपस्य भवतो विबुधार्चिताङ्घ्रेः ।
तत्रापि तज्जिनपते कुरुते जनो यत् तच्चित्तमध्यगतभक्तिनिवेदनाय ॥ ३ ॥

भो जिनेश्वर । भवान् त्वम् । सर्वैः गुणैः आश्रितः सम्यग्दर्शनबोधवृत्त-चारित्रसमताशीलक्षमाद्यैः । घनैः निबिडै. । त्वम् आश्रितः । किंवत् । सङ्केताश्रयवत् संकेतगृहवत् । भो जिनेश । त्वम् अशेषैः समस्तैः दोषैः परिहृतः त्यक्तः । अहम् एवं मन्ये । किंलक्षणैः दोषैः । त्वयि विषये अवकाशलब्धिरहितैः । पुनः किंलक्षणैः दोषैः । इति हेतोः । गर्वितैः । इतीति किम् । सर्वत्र लोके वयं संग्राह्याः संग्रहणीयाः ॥ १ ॥ भो जिनेन्द्र । यः नरः । त्वां स्तौति । किंलक्षणं त्वाम् । अनन्तगुणम् । त्रिलोक्याः एकं विभुम् । किंलक्षणः से[1] नरः । प्रभूत-उत्पन्न-कवितागुणः तेन कवितागुणेन गर्वितात्मा । स नरः नभोऽन्तं गन्तुं मतिविभ्रमतः द्रुम-शिरः आरोहति । बुधोऽपि चतुरोऽपि ॥ २ ॥ भो जिनपते । इह लोके संसारे । भवतः तव । स्तवनं कर्तुं कः शक्नोति । किंलक्षणस्य भवतः । समस्तविद्याधिपस्य । पुनः किंलक्षणस्य भवतः । विबुधैः देवैः अर्चिताङ्घ्रेः । तत्रापि त्वयि विषये । जनः तत् स्तवनं कुरुते ।

हे जिनेश्वर! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, समता, शील और क्षमा आदि सब गुणोंने जो संकेतगृहके समान आपका सघनरूपसे आश्रय किया है; इससे मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आपमें स्थान प्राप्त न होनेसे 'लोकमें हम सर्वत्र संग्रह किये जानेके योग्य हैं' इस प्रकारके अभिमानको ही मानों प्राप्त होकर सब दोषोंने आपको छोड़ दिया है ॥ विशेषार्थ— जिन भगवान्में सम्यग्दर्शन आदि सभी उत्तमोत्तम गुण होते हैं, परन्तु दोष उनमें एक भी नहीं होता है । इसके लिये ग्रन्थकारने यहां यह उत्प्रेक्षा की है कि उनके भीतर इतने अधिक गुण प्रविष्ट हो चुके थे कि दोषोंको वहां स्थान ही नहीं रहा था । इसीलिये मानों उनसे तिरस्कृत होनेके कारण दोषोंको यह अभिमान ही उत्पन्न हुआ था कि लोकमें हमारा संग्रह तो सब ही करना चाहते हैं, फिर यदि ये जिन हमारी उपेक्षा करते हैं तो हम इनके पास कभी भी न जावेंगे । इस अभिमानके कारण ही उन दोषोंने जिनेन्द्र देवको छोड़ दिया था ॥ १ ॥ हे जिनेन्द्र! कविता करने योग्य बहुत से गुणोंके होनेसे अभिमानको प्राप्त हुआ जो मनुष्य अनन्त गुणोंसे सहित एवं तीनों लोकोंके अद्वितीय प्रभुस्वरूप तुम्हारी स्तुति करता है वह विद्वान् होकर भी मानों बुद्धिकी विपरीततासे (मूर्खतासे) आकाशके अन्तको पानेके लिये वृक्षके शिखरपर ही चढ़ता है ॥ विशेषार्थ— जिस प्रकार अनन्त आकाशका अन्त पाना असम्भव है उसी प्रकार त्रिलोकीनाथ (जिनेन्द्र) के अनन्त गुणोंका भी स्तुतिके द्वारा अन्त पाना असम्भव ही है । फिर भी जो विद्वान् कवि स्तुतिके द्वारा उनके अनन्त गुणोंका कीर्तन करना चाहता है, यह समझना चाहिये कि वह अपने कवित्व गुणके अभिमानसे ही वैसा करनेके लिये उद्यत होता है ॥ २ ॥ जो समस्त विद्याओंके स्वामी हैं तथा जिनके चरण देवों द्वारा पूजे गये हैं ऐसे आपकी स्तुति करनेके लिये यहां कौन समर्थ है? अर्थात् कोई भी समर्थ नहीं है । फिर भी हे जिनेन्द्र! मनुष्य जो आपकी स्तुति करता है वह अपने चित्तमें रहनेवाली भक्तिको प्रगट करनेके लिये ही उसे करता है ॥ ३ ॥

---

१ अ श शमता । २ श 'स' नास्ति ।

869) नामापि देव भवतः स्मृतिगोचरत्वं वाग्गोचरत्वमथ येन सुभक्तिभाजा ।
नीतं लभेत स नरो निखिलार्थसिद्धिं साध्वी स्तुतिर्भवतु मां [1]किल कात्र चिन्ता ॥ ४ ॥

870) एतावतैव मम पूर्यत एव देव सेवां करोमि भवतश्चरणद्वयस्य ।
अत्रैव जन्मनि परत्र च सर्वकालं न त्वामितः परमहं जिन याचयामि ॥ ५ ॥

871) सर्वागमावगमतः खलु तत्त्वबोधो मोक्षाय वृत्तमपि संप्रति दुर्घटं नः ।
जाड्यात्तथा कुतनुतस्त्वयि भक्तिरेव देवास्ति सैव भवतु क्रमतस्तदर्थम् ॥ ६ ॥

872) हरति हरतु वृद्धं वार्धकं कायकान्तिं दधति दधतु दूरं मन्दतामिन्द्रियाणि ।
भवति भवतु दुःखं जायतां वा विनाशः परमिह जिननाथे भक्तिरेका ममास्तु ॥ ७ ॥

873) अस्तु त्रयं मम सुदर्शनबोधवृत्तसंबन्धि यान्तु च समस्तदुरीहितानि ।
याचे न किंचिदपरं भगवन् भवन्तं नाप्राप्तमस्ति किमपीह यतस्त्रिलोक्याम् ॥ ८ ॥

यत् यस्मात्कारणात् । तत् स्तोत्रम् । चित्तमध्यगतभक्तिनिवेदनाय मनोगतभक्तिप्रकटनाय ॥ ३ ॥ भो देव । येन पुंसा नरेण । भवतः तव । नामापि स्मृतिगोचरत्वं स्मरणगोचरत्वम् । अथ वाग्गोचरत्वं नीतं कृतम् । किंलक्षणेन नरेण । सुभक्तिभाजा भक्तियुक्तेन । स नरः । निखिल-अर्थसिद्धिम् । लभेत प्राप्नुयात् । किल इति सत्ये । साध्वी स्तुतिर्भवतु । अत्र त्वयि विषये । मां [2]का चिन्ता । न कापि ॥ ४ ॥ भो देव । अत्रैव जन्मनि । च पुनः । परत्र जन्मनि । सर्वकालम् । भवतः तव । चरणद्वयस्य सेवां करोमि । एतावता सेवामात्रेण । मम पूर्यते[3] एव । भो जिन । अहं त्वां याचयामि । वा । इतः हेतोः । अपरं न याचयामि ॥ ५ ॥ भो देव । खलु निश्चितम् । तत्त्वबोधः मोक्षाय । कस्मात् । सर्व-आगम-अवगमतः सर्व-आगम-द्वादशाङ्गम् अवलोकनात्[4] । तत् ज्ञानम् । वृत्तं चारित्रम् । अपि । नः अस्माकम् । संप्रति इदानीम् । दुर्घटम् । कस्मात् जाड्यात् मूर्खत्वात् । तथा कुतनुतः निन्द्यशरीरात् । त्वयि विषये भक्तिरेव अस्ति[5] । सैव भक्तिः । क्रमतः तदर्थं मोक्षार्थं भवतु ॥ ६ ॥ वृद्धं वृद्धपदम् । वार्धकं कायकान्तिं हरति तर्हि हरतु । इन्द्रियाणि दूरम् अतिशयेन मन्दतां दधति चेत् दधतु । चेत् दुःखं भवति तदा दुःखं भवतु । वा विनाशः[6] जायताम् । इह लोके । मम जिननाथे परम् एका भक्तिरस्तु भवतु ॥ ७ ॥ भो भगवन् । मम सुदर्शनबोधवृत्तसंबन्धि त्रयम् अस्तु । च पुनः । समस्तदुरीहितानि यान्तु[7] । अपरं किंचित् न याचे भवन्तम् अपरं न प्रार्थयामि । यतः यस्मात्कारणात् । इह त्रिलोक्यां

हे देव! जो मनुष्य अतिशय भक्तिसे युक्त होकर आपके नामको भी स्मृतिका विषय अथवा वचनका विषय करता है—मनसे आपके नामका चिन्तन तथा वचनसे केवल उसका उच्चारण ही करता है—उसके सभी प्रकारके प्रयोजन सिद्ध होते हैं। ऐसी अवस्थामें मुझे क्या चिन्ता है? अर्थात् कुछ भी नहीं। वह उत्तम स्तुति ही प्रयोजनको सिद्ध करनेवाली होवे ॥ ४ ॥ हे देव! मैं इस जन्ममें तथा दूसरे जन्ममें भी निरन्तर आपके चरणयुगलकी सेवा करता रहूं, इतने मात्रसे ही मेरा प्रयोजन पूर्ण हो जाता है। हे जिनेन्द्र! इससे अधिक मैं आपसे और कुछ नहीं मागता हूं ॥ ५ ॥ हे देव! मुक्तिका कारणीभूत जो तत्वज्ञान है वह निश्चयतः समस्त आगमके जान लेनेपर प्राप्त होता है, सो वह जडबुद्धि होनेसे हमारे लिये दुर्लभ ही है। इसी प्रकार उस मोक्षका कारणीभूत जो चारित्र है वह भी शरीरकी दुर्बलतासे इस समय हमें नहीं प्राप्त हो सकता है। इस कारण आपके विषयमें जो मेरी भक्ति है वही क्रमसे मुझे मुक्तिका कारण होवे ॥ ६ ॥ वृद्धिको प्राप्त हुआ बुढ़ापा यदि शरीरकी कान्तिको नष्ट करता है तो करे, यदि इन्द्रियां अत्यन्त शिथिलताको धारण करती हैं तो करें, यदि दुःख होता है तो होवे, तथा यदि विनाश होता है तो वह भी भले होवे। परन्तु यहां मेरी एक मात्र जिनेन्द्रके विषयमें भक्ति बनी रहे ॥ ७ ॥ हे भगवन्! मुझे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र सम्बन्धी तीन अर्थात् रत्नत्रय प्राप्त होवे तथा मेरी समस्त दुश्चेष्टायें नष्ट हो जावें,

---

१ अ श गा। २ श विषये मा भवतु का। ३ अ श पूर्यताम्। ४ अ क सर्वआगमअवगमतः सर्वावलोकनात्। ५ क विषये एव भक्तिरस्ति। ६ क विनाशः। ७ श °हितानि नाशं यान्तु।

874) **धन्यो ऽस्मि पुण्यनिलयो ऽस्मि निराकुलो ऽस्मि शान्तो ऽस्मि नष्टविपदस्मि विदस्मि देव ।
श्रीमज्जिनेन्द्र भवतो ऽङ्घ्रियुगं शरण्यं प्राप्तो ऽस्मि चेदहमतीन्द्रियसौख्यकारि ॥ ९ ॥**

875) **रत्नत्रये तपसि पङ्क्तिविधे च धर्मे मूलोत्तरेषु च गुणेष्वथ गुप्तिकार्ये ।
दर्पात्प्रमादत उतागसि मे प्रवृत्ते मिथ्यास्तु नाथ जिनदेव तव प्रसादात् ॥ १० ॥**

876) **मनोवचो ऽङ्गैः कृतमङ्गिपीडनं प्रमोदितं कारितमत्र यन्मया ।
प्रमादतो दर्पत एतदाश्रयं तदस्तु मिथ्या जिन दुष्कृतं मम ॥ ११ ॥**

877) **चिन्तादुष्परिणामसंततिवशादुन्मार्गगाया गिरः
कायात्संवृतिवर्जितादनुचितं कर्मार्जितं यन्मया ।**

किमपि अप्राप्तं न अस्ति । सर्वं प्राप्तं दर्शनादि विना ॥ ८ ॥ भो देव । भो श्रीमज्जिनेन्द्र । चेत् अहम् । भवतः तव[1] । अङ्घ्रियुगं शरण्यं[2] प्राप्तोऽस्मि तदा अहं धन्योऽस्मि । अहं पुण्यनिलयोऽस्मि । तदा अहं निराकुलोऽस्मि । अहं शान्तोऽस्मि । अहं नष्टविपदस्मि आपद्रहितोऽस्मि । अहं विदस्मि विद्वान् अस्मि । भो देव । चेत्तव चरणशरणं प्राप्तोऽस्मि । किंलक्षणं चरणशरणम् । अतीन्द्रिय-सौख्यकारि ॥ ९ ॥ भो नाथ । भो देव । रत्नत्रये मार्गे । दर्पात् । उत अहो । प्रमादतः । आगसि अहंकारे । अथ दोषे । अथ अपराधे । मे मम प्रवृत्ते सति । तव प्रसादात् । सर्वं दोषं[3] [सर्वो दोषः] मिथ्या अस्तु । तपसि । च पुनः । पङ्क्तिविधे[4] व्रते धर्मे । अथ मूलोत्तरेषु गुणेषु । अथ गुप्तिकार्ये प्रमादात्प्रवृत्ते[5] सति । सर्वं[6] मिथ्या अस्तु वृथा अस्तु ॥ १० ॥ भो जिन । मया प्रमादतः । अत्र लोके । दर्पतः यत् मनोवचोऽङ्गैः अङ्गिपीडनं पापं कृतम् । अन्येषां कारितम् । प्रमोदितम् । मम । एतदाश्रयं मनो-वचनकायैः आश्रितम् । दुष्कृतं तत्पापम् । मिथ्या वृथा । अस्तु भवतु ॥ ११ ॥ भो प्रभो । भो जिनपते । मया जीवेन । चिन्तादुष्परिणामसंततिवशात् । गिरः वचनात् । कायात् । यत् अनुचितम् अयोग्यम् । कर्म अर्जितम् उपार्जितम् । किंलक्षणाया

इससे अधिक मैं आपसे और कुछ नहीं मागता हूं; क्योंकि, तीनों लोकोंमें अभी तक जो प्राप्त न हुआ हो, ऐसा अन्य कुछ भी नहीं है ॥ विशेषार्थ— यहां भगवान् जिनेन्द्रसे केवल एक यही याचना की गई है कि आपके प्रसादसे मेरी दुष्ट वृत्ति नष्ट होकर मुझे रत्नत्रयकी प्राप्ति होवे, इसके अतिरिक्त और दूसरी कुछ भी याचना नहीं की गई है। इसका कारण यह दिया गया है कि अनन्त कालसे इस संसारमें परिभ्रमण करते हुए प्राणीने इन्द्र व चक्रवर्ती आदिके पद तो अनेक वार प्राप्त कर लिये, किन्तु रत्नत्रयकी प्राप्ति उसे अभी तक कभी नहीं हुई। इसीलिये उस अप्राप्तपूर्व रत्नत्रयकी ही यहां याचना की गई है। नीतिकार भी यही कहते हैं कि 'लोको ह्यभिनवप्रियः' अर्थात् जनसमुदाय नवीन नवीन वस्तुसे ही अनुराग किया करता है ॥८॥ हे श्रीमज्जिनेन्द्र देव ! चूंकि मैं अतीन्द्रिय सुख (मोक्षसुख) को करनेवाले आपके चरणयुगलकी शरणको प्राप्त कर चुका हूं; अत एव मैं धन्य हूं, पुण्यका स्थान हूं, आकुलतासे रहित हूं, शान्त हूं, विपत्तियोंसे रहित हूं, तथा ज्ञाता भी हूं ॥९॥ हे नाथ ! हे जिन देव ! रत्नत्रय, तप, दस प्रकारका धर्म, मूलगुण, उत्तरगुण और गुप्तिरूप कार्य; इन सबके विषयमें अभिमानसे अथवा प्रमादसे मेरी सदोष प्रवृत्ति हुई हो वह आपके प्रसादसे मिथ्या होवे ॥ १० ॥ हे जिन ! प्रमादसे अथवा अभिमानसे जो मैंने यहां मन, वचन एवं शरीरके द्वारा प्राणियोंका पीड़न स्वयं किया है, दूसरोंसे कराया है, अथवा प्राणिपीड़न करते हुए जीवको देखकर हर्ष प्रगट किया है; उसके आश्रयसे होनेवाला मेरा वह पाप मिथ्या होवे ॥ ११ ॥ हे जिनेन्द्र प्रभो ! चिन्ताके कारण उत्पन्न हुए अशुभ परिणामोंके वश होकर अर्थात् मनकी दुष्ट वृत्तिसे, कुमार्गमें प्रवृत्त हुई वाणी अर्थात् सावद्य वचनके द्वारा, तथा संवरसे रहित शरीरके द्वारा जो मैंने अनुचित (पाप) कर्म उत्पन्न किया है

१ श तत् । २ श 'शरण्यं' नास्ति । ३ श सर्वंदोषं । ४ श विधौ । ५ श प्रवर्ते, क प्रवर्तिते । ६ क 'सर्वं' नास्ति ।

तन्नाशं व्रजतु प्रभो जिनपते त्वत्पादपद्मस्मृते[1]-
रेषा मोक्षफलप्रदा किल कथं नास्मिन् समर्था भवेत् ॥ १२ ॥

878) वाणी प्रमाणमिह सर्वविदस्त्रिलोकी-
सद्मन्यसौ प्रवरदीपशिखासमाना ।
स्याद्वादकान्तिकलिता नृसुराहिवन्द्या
कालत्रये प्रकटिताखिलवस्तुतत्त्वा ॥ १३ ॥

879) क्षमस्व मम वाणि तज्जिनपतिश्रुतादिस्तुतौ
यदूनमभवन्मनोवचनकायवैकल्यतः ।
अनेकभवसंभवैर्जडिमकारणैः कर्मभिः
कुतो ऽत्र किल मादृशे जननि तादृशं पाटवम् ॥ १४ ॥

गिरः । उन्मार्गगायाः पापवचने प्रवर्तनशीलायाः । किंलक्षणात्कायात् । संवृतिवर्जितात् संवररहितात् । त्वत्पादपद्मस्थितेः मम । तत्कर्म नाशं व्रजतु । एषा तव पादपद्मस्थितिः । किल इति सत्ये । मोक्षफलप्रदा । अस्मिन् कर्मणि समर्था कथं न भवेत् । अपि तु भवेत् ॥ १२ ॥ इह लोके । वाणी । सर्वविदः सर्वज्ञस्य । प्रमाणम् । असौ वाणी । त्रिलोकीसद्मनि प्रवरदीपशिखासमाना । पुनः स्याद्वादकान्तिकलिता । पुनः किंलक्षणा वाणी । नृ-सुर-अहिवन्द्या । पुनः कालत्रये । प्रकटितम् अखिलं वस्तुतत्त्वं यया सा प्रकटिताखिलवस्तुतत्त्वा ॥ १३ ॥ भो वाणि । जिनपतिश्रुतादिस्तुतौ स्तुतिविषये । मनोवचनकायवैकल्यतः । यत् अक्षरमात्रादिकम् ऊनम् अभवत् तत् मम क्षमस्व । भो जननि । किल इति सत्ये । अत्र जगति संसारे । मादृशे जने । कर्मभिः पीडिते । तादृशं पाटवं कुतः भवेत् । किंलक्षणैः कर्मभिः । अनेकभवसंभवैः । जडिमकारणैः मूर्खत्वकारणैः ॥ १४ ॥ अय पल्लवः जीयात् ।

वह तुम्हारे चरण-कमलके स्मरणसे नाशको प्राप्त होवे । ठीक भी है– जो तुम्हारे चरण-कमलकी स्मृति मोक्षरूप फलको देनेवाली है वह इस (पापविनाश) कार्यमें कैसे समर्थ नहीं होगी? अवश्य होगी ॥ १२ ॥ जो सर्वज्ञकी वाणी (जिनवाणी) तीन लोकरूप घरमें उत्तम दीपककी शिखाके समान होकर स्याद्वादरूप प्रभासे सहित है; मनुष्य, देव एवं नागकुमारोंसे वन्दनीय है; तथा तीनों कालविषयक वस्तुओंके स्वरूपको प्रगट करनेवाली है; वह यहां प्रमाण (सत्य) है ॥ विशेषार्थ — यहां जिनवाणीको दीपशिखाके समान बतलाकर उससे भी उसमें कुछ विशेषता प्रगट की गई है । यथा– दीपशिखा जहां घरके भीतरकी ही वस्तुओंको प्रकाशित करती है वहां जिनवाणी तीनों लोकोंके भीतरकी समस्त ही वस्तुओंको प्रकाशित करती है, दीपक यदि प्रभासे सहित होता है तो वह वाणी भी अनेकान्तरूप प्रभासे सहित है, दीपशिखाकी यदि कुछ मनुष्य ही वन्दना करते हैं तो जिनवाणीकी वन्दना मनुष्य, देव एवं असुर भी करते हैं; तथा दीपशिखा यदि वर्तमान कुछ ही वस्तुओंको प्रगट करती है तो वह जिनवाणी तीनों ही कालोंकी समस्त वस्तुओंको प्रगट करती है । इस प्रकार दीपशिखाके समान होकर भी उस जिनवाणीका स्वरूप अपूर्व ही है ॥ १३ ॥ हे वाणी ! जिनेन्द्र और सरस्वती आदिकी स्तुतिके विषयमें मन, वचन एवं शरीरकी विकलताके कारण जो कुछ कमी हुई है उसे हे माता ! तू क्षमा कर । कारण यह कि अनेक भवोंमें उपार्जित एवं अज्ञानताको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंका उदय रहनेसे मुझ जैसे मनुष्यमें वैसी निपुणता कहांसे हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती है ॥ १४ ॥ समस्त भव्य जीवोंके लिये अभीष्ट फलको देनेवाला यह क्रियाकाण्डरूप कल्पवृक्षकी

[1] च-प्रतिपाठोऽयम् । अ क श पद्मस्थिते ।

880) पल्लवो ऽयं क्रियाकाण्डकल्पशाखाग्रसंगतः ।
जीयादशेषभव्यानां प्रार्थितार्थफलप्रदः ॥ १५ ॥

881) क्रियाकाण्डसंबन्धिनी चूलिकेयं
नरैः पठ्यते यैस्त्रिसंध्यं च तेषाम् ।
वपुर्भारतीचित्तवैकल्यतो या
न पूर्णा क्रिया सापि पूर्णत्वमेति ॥ १६ ॥

882) जिनेश्वर नमो ऽस्तु ते त्रिभुवनैकचूडामणे
गतो ऽस्मि शरणं विभो भवभिया भवन्तं प्रति ।
तदाहतिकृते बुधैरकथि तत्त्वमेतन्मया-
श्रितं सुदृढचेतसा भवहरस्त्वमेवात्र यत् ॥ १७ ॥

883) अर्हन् सभाश्रितसमस्तनरामरादि-
भव्याब्जनन्दिवचनांशुरवेस्तवाग्रे ।
मौखर्यमेतदबुधेन मया कृतं यत्-
तद्भूरिभक्तिरभसस्थितमानसेन ॥ १८ ॥

किंलक्षणः पल्लवः । क्रियाकाण्डकल्पशाखाग्रसंगतः क्रियाकाण्ड एव कल्पवृक्षशाखाग्रं तत्र संगतः प्राप्तः । पुनः किंलक्षणः । अशेष-भव्यानां प्रार्थित-अर्थप्रदः फलप्रदः ॥ १५ ॥ इयं क्रियाकाण्डसंबन्धिनी चूलिका यैः नरैः त्रिसंध्यं पठ्यते । च पुनः । तेषां पाठकानाम् । वपुःभारतीचित्तवैकल्यतो मनोवचनकायवैकल्यतः । या क्रिया पूर्णा न सापि क्रिया पूर्णत्वम् एति गच्छति ॥ १६ ॥ भो जिनेश्वर । भो त्रिभुवनैकचूडामणे । ते तुभ्यम् । नमोऽस्तु । भो विभो । भवभिया संसारभीत्या । भवन्तं प्रति शरणं गतोऽस्मि । बुधैः पण्डितैः । तदाहतिकृते तस्य संसारस्य आहतिकृते नाशाय । एतत्तत्त्वम् अकथि कथितः[तम्] । मया सुदृढचेतसा आश्रितम् । यत् यस्मात्कारणात् । अत्र संसारे । भवहरः संसारनाशकः त्वमेव ॥ १७ ॥ भो अर्हन् । तवाग्रे । मया पद्मनन्दिना । यत् एतत् । मौखर्यं वाचालत्वं कृतम् । तत् इदम् । भूरिभक्तिरभसस्थितमानसेन भूरिभक्तिप्रेरितेन मया कृतम् । किंलक्षणस्य तव । समाश्रितसमस्तनर-अमर-आदिभव्यकमलेषु वचनांशुरवेः सूर्यस्य । किंलक्षणेन मया । अबुधेन ज्ञानरहितेन ॥ १८ ॥ इति क्रियाकाण्डचूलिका ॥ २१ ॥

शाखाके अग्रभागमें लगा हुआ नवीन पत्र जयवन्त होवे ॥ १५ ॥ जो मनुष्य क्रियाकाण्ड सम्बन्धी इस चूलिकाको तीनों सन्ध्याकालोंमें पढ़ते हैं उनकी शरीर, वाणी और मनकी विकलताके कारण जो क्रिया पूर्ण नहीं हुई है वह भी पूर्ण हो जाती है ॥ १६ ॥ हे जिनेश्वर! हे तीन लोकके चूडामणि विभो! तुम्हारे लिये नमस्कार हो । मैं संसारके भयसे आपकी शरणमें आया हूं । विद्वानोंने उस संसारको नष्ट करनेके लिये यही तत्त्व बतलाया है, इसीलिये मैंने दृढ़चित्त होकर इसीका आलम्बन लिया है । कारण यह कि यहां संसारको नष्ट करनेवाले तुम ही हो ॥ १७ ॥ हे अरहंत! जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणोंके द्वारा समस्त कमलोंको प्रफुल्लित करता है उसी प्रकार आप भी सभा (समवसरण) में आये हुए समस्त मनुष्य एवं देव आदि भव्य जीवों रूप कमलोंको अपने वचनरूप किरणोंके द्वारा प्रफुल्लित (आनन्दित) करते हैं । आपके आगे जो विद्वत्तासे विहीन मैंने यह वाचालता (स्तुति) की है वह केवल आपकी महती भक्तिके वेगमें मनके स्थित होनेसे अर्थात् मनमें अतिशय भक्तिके होनेसे ही की है ॥ १८ ॥ इस प्रकार क्रियाकाण्डचूलिका समाप्त हुई ॥ २१ ॥

---

१ क °रकथितस्त्वमेतन्मया च °रकथितं त्वमेव तन्मया । २ च-प्रतिपाठोऽयम् । अ क श समाश्रित । ३ क एतत्तत्त्वं अकथितः मया ।

[२२. एकत्वभावनादशकम्]

884) स्वानुभूत्यैव यद्गम्यं रम्यं यच्चात्मवेदिनाम् ।
जल्पे तत्परमं ज्योतिरवाङ्मानसगोचरम् ॥ १ ॥

885) एकत्वैकपदप्राप्तमात्मतत्त्वमवैति यः ।
आराध्यते स एवान्यैस्तस्याराध्यो न विद्यते ॥ २ ॥

886) एकत्वज्ञो बहुभ्यो ऽपि कर्मभ्यो न बिभेति सः ।
योगी सुनौगतो ऽम्भोधिजलेभ्य इव धीरधीः ॥ ३ ॥

887) चैतन्यैकत्वसंवित्तिर्दुर्लभा सैव मोक्षदा ।
लब्धा कथं कथंचिच्चेच्चिन्तनीया मुहुर्मुहुः ॥ ४ ॥

888) मोक्ष एव सुखं साक्षात्तच्च साध्यं मुमुक्षुभिः ।
संसारे ऽत्र तु तन्नास्ति यदस्ति खलु तन्न तत् ॥ ५ ॥

तत्परमं ज्योतिः अहं जल्पे । किंलक्षणं परमज्योतिः । अवाङ्मानसगोचरं मनोवचनकायैः अगम्यम् । यत् परमं ज्योतिः स्वानुभूत्या एव गम्यम् । च पुनः । यज्ज्योतिः आत्मवेदिनां रम्यं मनोज्ञम् ॥ १ ॥ यः एकत्वैकपदप्राप्तम् एकस्वरूपपदं प्राप्तम् आत्मतत्त्वम् । अवैति जानाति । स ज्ञानवान् एव अन्यैः आराध्यते । तस्य ज्ञानवतः आराध्यः न विद्यते ॥ २ ॥ स एकत्वज्ञः योगी बहुभ्योऽपि कर्मभ्यः न बिभेति भयं न करोति । सुनौगतः सुष्ठु-शोभनैनौकायां गतः पुमान् । धीरधीः । अम्भोधिजलेभ्यः सकाशात् भयं न करोति ॥ ३ ॥ चैतन्ये एकत्वसंवित्तिः दुर्लभा । सा एव एकत्वभावना मोक्षदा । चेत्कथंकथंचिल्लब्धा मुहुः मुहुः वारं वारं चिन्तनीया ॥ ४ ॥ साक्षात्सुखं मोक्षे वर्तते । च पुनः । तत्सुखं मुनीश्वरैः साध्यम् । तु पुनः । अत्र संसारे । तत् मोक्षसुखं न अस्ति । यत् सुखं संसारे अस्ति । खलु निश्चितम् । तत्सुखं तत् मोक्षसुखं न ॥ ५ ॥ संसारसंबन्धि वस्तु किंचित् ।

जो परम ज्योति केवल स्वानुभवसे ही गम्य (प्राप्त करने योग्य) तथा आत्मज्ञानियोंके लिये रमणीय है उस वचन एवं मनके अविषयभूत परम (उत्कृष्ट) ज्योतिके विषयमें मैं कुछ कहता हूं ॥ १ ॥ जो भव्य जीव एकत्व (अद्वैत) रूप अद्वितीय पदको प्राप्त हुए आत्मतत्त्वको जानता है वह स्वयं ही दूसरोंके द्वारा आराधा जाता है अर्थात् दूसरे प्राणी उसकी ही आराधना करते हैं, उसका आराध्य (पूजनीय) दूसरा कोई नहीं रहता है ॥ २ ॥ जिस प्रकार उत्कृष्ट नावको प्राप्त हुआ धीरबुद्धि (साहसी) मनुष्य समुद्रके अपरिमित जलसे नहीं डरता है उसी प्रकार एकत्वका जानकार वह योगी बहुत-से भी कर्मोंसे नहीं डरता है ॥३॥ चैतन्यरूप एकत्वका ज्ञान दुर्लभ है, परन्तु मोक्षको देनेवाला वही है । यदि वह जिस किसी प्रकारसे प्राप्त हो जाता है तो उसका वार वार चिन्तन करना चाहिये ॥ ४ ॥ वास्तविक सुख मोक्षमें है और वह मुमुक्षु जनोंके द्वारा सिद्ध करनेके योग्य है । यहां संसारमें वह सुख नहीं है । यहां जो सुख है वह निश्चयसे यथार्थ सुख नहीं है ॥ ५ ॥ संसार सम्बन्धी कोई भी वस्तु रमणीय नहीं है, इस प्रकार हमें गुरुके उपदेशसे निश्चय हो

---

१ अ श परमज्योतिः ब परमां ज्योतिः । २ अ च ब श मनसगोचरम् । ३ अ सुष्ठा शोभन क सुष्ठा शोभना । ४ श करोतीव ।
५ श 'तत्' नास्ति ।

889) किंचित्संसारसंबन्धि बन्धुरं नेति निश्चयात् ।
गुरूपदेशतो ऽस्माकं निःश्रेयसपदं प्रियम् ॥ ६ ॥

890) मोहोदयविषाक्रान्तमपि स्वर्गसुखं चलम् ।
का कथापरसौख्यानामलं भवसुखेन मे ॥ ७ ॥

891) लक्ष्यीकृत्य सदात्मानं शुद्धबोधमयं मुनिः ।
आस्ते यः सुमतिश्चात्र सो ऽप्यमुत्र चरन्नपि ॥ ८ ॥

892) वीतरागपथे स्वस्थः प्रस्थितो मुनिपुङ्गवः ।
तस्य मुक्तिसुखप्राप्तेः[3] कः प्रत्यूहो जगत्त्रये ॥ ९ ॥

893) इत्येकाग्रमना नित्यं भावयन् भावनापदम् ।
मोक्षलक्ष्मीकटाक्षालिमालासद्म स जायते ॥ १० ॥

894) एतज्जन्मफलं धर्मः स चेदस्ति ममामलः ।
आपद्यपि कुतश्चिन्ता मृत्योरपि कुतो भयम् ॥ ११ ॥

बन्धुरं न मनोहरं न । इति निश्चयात् । गुरूपदेशतः अस्माकम् । निःश्रेयसपदं मोक्षपदम् । प्रियम् इष्टम् ॥ ६ ॥ स्वर्गसुखम् अपि । चलं विनश्वरम् । मोहोदयविषाक्रान्तम् अस्ति । अपरसौख्यानां का कथा । मे मम । भवसुखेन अलं पूर्यताम् ॥ ७ ॥ यः मुनिः सत [सदा] आत्मानं लक्ष्यीकृत्य । आस्ते तिष्ठति । किंलक्षणम् आत्मानम् । शुद्धबोधमयम् । स सुमतिः । अत्र लोके । अमुत्र परलोके । चरन् अपि गच्छन् अपि । सुखी भवति ॥ ८ ॥ वीतरागपथे प्रस्थितः मुनिपुङ्गवः स्वस्थः । तस्य मुनिपुङ्गवस्य । मुक्तिसुखप्राप्ते जगत्त्रये कः प्रत्यूहः कः विघ्नः ॥ ९ ॥ इति एकाग्रमना मुनिः । नित्यं सदैव । भावनापदं भावयन् चिन्तयन् । सं भव्यः । मोक्षलक्ष्मीकटाक्षालिमाला-भृङ्गमालासमूह[4]-सद्म-गृह[5]म् जायते ॥ १० ॥ चेत् यदि । स धर्मः मम अस्ति । किंलक्षणः धर्मः । अमलः । एतत् जन्मफलं मनुष्यपदं सफलम् । आपदि सत्यां कुतश्चिन्ता । मृत्योः अपि भयं कुतः ॥ ११ ॥ इति एकत्वभावनादशकम् ॥ २२ ॥

गया है । इसी कारण हमको मोक्षपद प्यारा है ॥ ६ ॥ मोहके उदयरूप विषसे मिश्रित स्वर्गका सुख भी जब नश्वर है तब भला और दूसरे तुच्छ सुखोंके सम्बन्धमें क्या कहा जाय? अर्थात् वे तो अत्यन्त विनश्वर और हेय हैं ही । इसलिये मुझे ऐसे संसारसुखसे बस हो—मैं ऐसे संसारसुखको नहीं चाहता हूं ॥ ७ ॥ जो निर्मल बुद्धिको धारण करनेवाला मुनि इस लोकमें निरन्तर शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्माको लक्ष्य करके रहता है वह परलोकमें संचार करता हुआ भी उसी प्रकारसे रहता है ॥ ८ ॥ जो श्रेष्ठ मुनि आत्मलीन होकर वीतरागमार्ग अर्थात् मोक्षमार्गमें प्रस्थान कर रहा है उसके लिये मोक्षसुखकी प्राप्तिमें तीनों लोकोंमें कोई भी विघ्न उपस्थित नहीं हो सकता है ॥ ९ ॥ इस प्रकार एकाग्रमन होकर जो मुनि सर्वदा इस भावनापद (एकत्वभावना) को भाता है वह मुक्तिरूप लक्ष्मीके कटाक्षपंक्तियोंकी मालाका स्थान हो जाता है, अर्थात् उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है ॥ १० ॥ इस मनुष्यजन्मका फल धर्मकी प्राप्ति है । सो वह निर्मल धर्म यदि मेरे पास है तो फिर मुझे आपत्तिके विषयमें भी क्या चिन्ता है, तथा मृत्युसे भी क्या डर है ? अर्थात् उस धर्मके होनेपर न तो आपत्तिकी चिन्ता रहती है और न मरणका डर भी रहता है ॥ ११ ॥ इस प्रकार एकत्वभावनादशक अधिकार समाप्त हुआ ॥ २२ ॥

१ ख समितिष्वत्र । २ ब चरत्यपि । ३ क प्राप्ते । ४ श कटाक्षालिमालासमूहः । ५ क गृहः ।

[२३. परमार्थविंशतिः]

895) मोहद्वेषरतिश्रिता विकृतयो दृष्टाः श्रुताः सेविताः
वारंवारमनन्तकालविचरत्सर्वाङ्गिभिः संसृतौ ।
अद्वैतं पुनरात्मनो भगवतो दुर्लक्ष्यमेकं परं
बीजं मोक्षतरोरिदं विजयते भव्यात्मभिर्वन्दितम् ॥ १ ॥

896) अन्तर्बाह्यविकल्पजालरहितां शुद्धैकचिद्रूपिणीं
वन्दे तां परमात्मनः प्रणयिनीं कृत्यान्तगां स्वस्थताम् ।
यत्रानन्तचतुष्टयामृतसरित्यात्मानमन्तर्गतं
न प्राप्नोति जरादिदुःसहशिखो जन्मोग्रदावानलः ॥ २ ॥

897) एकत्वस्थितये मतिर्यदनिशं संजायते मे तया-
प्यानन्दः परमात्मसंनिधिगतः किंचित्समुन्मीलति ।
किंचित्कालमवाप्य सैव सकलैः शीलैर्गुणैराश्रितां
तामानन्दकलां विशालविलसद्बोधां करिष्यत्यसौ ॥ ३ ॥

संसृतौ संसारे । अनन्तकालं विचरत् अनन्तकाले[1] भ्रमन् । सर्वाङ्गिभिः सर्वजीवैः । मोहद्वेषरतिश्रिता विकृतयः दृष्टाः श्रुताः सेविताः वारंवारम् इत्यर्थः । पुनः आत्मनः अद्वैतं दुर्लक्ष्यम् । किंलक्षणम् अद्वैतम् । भगवतः तव एकं परं मोक्षतरोः बीजम् । इदम् आत्मतत्त्वम् अद्वैतं विजयते । पुनः । भव्यात्मभिः भव्यजीवैः । वन्दितम् ॥ १ ॥ तां स्वस्थताम् अहम् । वन्दे नमामि । किंलक्षणां स्वस्थताम् । अन्तर्बाह्यविकल्पजाल-समूहै[2]रहिताम् । पुनः शुद्धैकचिद्रूपिणीम् । पुनः किंलक्षणां स्वस्थताम्[3] । परमात्मनः प्रणयिनीम् । पुनः । कृत्यान्तगां कृतकृत्याम् । यत्र स्वस्थताया मध्ये । अन्तर्गतम् आत्मानं जन्मोग्रदावानलः न प्राप्नोति । किंलक्षणस्वस्थतायाम् । अनन्तचतुष्टयामृतसरिति नद्याम् । किंलक्षणः संसाराग्निः । जरादि-दुःसहशिखः ॥ २ ॥ मे मम । मतिः एकत्वस्थितये यत् अनिशं संजायते । तया सद्बुध्या । परमात्मसंनिधिगतः आनन्दः । किंचित् । समुन्मीलति प्रकटीभवेत् । सैव असौ श्रेष्ठमतिः । किंचित्कालम् । अवाप्य प्राप्य । ताम् आनन्दकलां करिष्यति । किंलक्षणां कलाम् । विशालविलसद्बोधाम् । पुनः किंलक्षणां कलाम् । शीलैः गुणैः सकलैः आश्रिताम् ॥ ३ ॥

संसारमें अनन्त कालसे विचरण करनेवाले सब प्राणियोंने मोह, द्वेष और रागके निमित्तसे होनेवाले विकारोंको वार वार देखा है, सुना है और सेवन भी किया है । परन्तु भगवान् आत्माका एक अद्वैत ही केवल दुर्लक्ष्य है अर्थात् उसे अभी तक न देखा है, न सुना है, और न सेवन भी किया है । भव्य जीवों-से वन्दित और मोक्षरूप वृक्षका बीजभूत यह अद्वैत जयवन्त होवे ॥ १ ॥ जो स्वस्थता अन्तरंग और बाह्य विकल्पोंके समूहसे रहित है, शुद्ध एक चैतन्यस्वरूपसे सहित है, परमात्माकी वल्लभा (प्रियतमा) है, कृत्य (कार्य) के अन्तको प्राप्त हो चुकी है अर्थात् कृतकृत्य है, तथा अनन्तचतुष्टयरूप अमृतकी नदीके समान होनेसे जिसके भीतर प्राप्त हुए आत्माको जरा (वृद्धत्व) आदिरूप असह्य ज्वालावाली जन्म (संसार) रूप तीक्ष्ण वनाग्नि नहीं प्राप्त होती है; ऐसी उस अनन्तचतुष्टयस्वरूप स्वस्थताको मैं नमस्कार करता हूं ॥ २ ॥ एकत्व (अद्वैत) में स्थितिके लिये जो मेरी निरन्तर बुद्धि होती है उसके निमित्तसे पर-मात्माकी समीपताको प्राप्त हुआ आनन्द कुछ थोड़ा-सा प्रगट होता है । वही बुद्धि कुछ कालको प्राप्त होकर अर्थात् कुछ ही समयमें समस्त शीलों और गुणोंके आधारभूत एवं प्रगट हुए विपुल ज्ञान (केवलज्ञान) से

---

१ क अनन्तकालं । २ श विकल्पसमूह । ३ श-प्रतौ 'किंलक्षणां स्वस्थताम्' इत्येतन्नास्ति ।

898) केनाप्यस्ति न कार्यमाश्रितवता मित्रेण चान्येन वा
प्रेमाङ्गे ऽपि न मे ऽस्ति संप्रति सुखी तिष्ठाम्यहं केवलः ।
संयोगेन यदत्र कष्टमभवत्संसारचक्रे चिरं
निर्विण्णः खलु तेन तेन नितरामेकाकिता रोचते ॥ ४ ॥

899) यो जानाति स एव पश्यति सदा चिद्रूपतां न त्यजेत्
सो ऽहं नापरमस्ति किंचिदपि मे तत्त्वं सदेतत्परम् ।
यच्चान्यत्तदशेषमन्यजनितं क्रोधादि कायादि[1] वा[2]
श्रुत्वा शास्त्रशतानि संप्रति मनस्येतच्छ्रुतं वर्तते ॥ ५ ॥

900) हीनं संहननं परीषहसहं नाभूदिदं सांप्रतं
काले दुःख[ष]मसंज्ञके ऽत्र यदपि प्रायो न तीव्रं तपः ।
कश्चिन्नातिशयस्तथापि यदसावार्तं हि दुष्कर्मणा-
मन्तःशुद्धचिदात्मगुप्तमनसः सर्वं परं तेन किम् ॥ ६ ॥

901) सद्दृग्बोधमयं विहाय परमानन्दस्वरूपं परं
ज्योतिर्नान्यदहं विचित्रविलसत्कर्मैकतायामपि ।

मे मम । केनापि मित्रेण सह । च पुनः । अन्येन वा[3] । आश्रितवता सेवकादिना वा । किमपि कार्यं न अस्ति । मम अङ्गेऽपि प्रेम न अस्ति । संप्रति अहं केवलः सुखी तिष्ठामि । अत्र संसारचक्रे संयोगेन यत्कष्टम् अभवत् । चिरं बहुकालम् । तेन कष्टेन । खलु इति सत्ये । अहम् । निर्विण्णः पराङ्मुखः । तेन कारणेन । नितराम् अतिशयेन । एकाकिता रोचते ॥ ४ ॥ यः जानाति पश्यति स एव ज्ञानवान् सदा चिद्रूपतां न त्यजेत् । सोऽहम् अपरं किंचिदपि एतत् परं तत्त्वं न अस्ति । सद्विद्यमानमपि । च पुनः । यत् अन्यत् तत् अशेषम् । अन्यजनितं क्रोधादिकर्मकार्यादि क्रियाकारणम् । अन्यजनितं कर्मजनितम् अस्ति । शास्त्राणि श्रुत्वा संप्रति एतत् श्रुतं मनसि वर्तते । पूर्वोक्तं ज्ञानरहस्यं हृदि वर्तते ॥ ५ ॥ अत्र दुःखमसंज्ञके काले । यत् यस्मात्कारणात् । संहननं हीनम् । इदं शरीरं सांप्रतं परीषहसहं नाभूत् । अत्र पञ्चमकाले तीव्रं तपः अपि न वर्तते । प्रायः अतिशयेन । तपः नास्ति । यत् यस्मात्कारणात् । असौ कश्चित् अतिशयः न । तथापि दुष्कर्मणां आर्तम् अन्तःशुद्धचिदात्मगुप्तमनसः मुनेः सर्वम् । परं भिन्नम् । तेन कालेन आर्तेन । किं प्रयोजनम् ॥ ६ ॥ परंज्योतिः सद्दृग्बोधमयं परमानन्दस्वरूपम् । विहाय त्यक्त्वा । अन्यत्

सम्पन्न उस आनन्दकी कलाको उत्पन्न करेगी ॥ ३ ॥ मुझे आश्रयमें प्राप्त हुए किसी भी मित्र अथवा शत्रुसे प्रयोजन नहीं है, मुझे इस शरीरमें भी प्रेम नहीं रहा है, इस समय मैं अकेला ही सुखी हूं । यहां संसारपरिभ्रमणमें चिर कालसे जो मुझे संयोगके निमित्तसे कष्ट हुआ है उससे मैं विरक्त हुआ हूं, इसीलिये अब मुझे एकाकीपन (अद्वैत) अत्यन्त रुचता है ॥ ४ ॥ जो जानता है वही देखता है और वह निरन्तर चैतन्यस्वरूपको नहीं छोड़ता है । वही मैं हूं, इससे भिन्न और मेरा कोई स्वरूप नहीं है । यह समीचीन उत्कृष्ट तत्त्व है । चैतन्य स्वरूपसे भिन्न जो क्रोध आदि विभावभाव अथवा शरीर आदि हैं वे सब अन्य अर्थात् कर्मसे उत्पन्न हुए हैं । सैकडों शास्त्रोंको सुन करके इस समय मेरे मनमें यही एक शास्त्र (अद्वैततत्त्व) वर्तमान है ॥ ५ ॥ यद्यपि इस समय यह संहनन (हड्डियोंका बन्धन) परीषहों (क्षुधा-तृषा आदि) को नहीं सह सकता है और इस दुःषमा नामक पंचम कालमें तीव्र तप भी सम्भव नहीं है, तो भी यह कोई खेदकी बात नहीं है, क्योंकि, यह अशुभ कर्मोंकी पीड़ा है । भीतर शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मामें मनको सुरक्षित करनेवाले मुझे उस कर्मकृत पीड़ासे क्या प्रयोजन है? अर्थात् कुछ भी नहीं है ॥ ६ ॥ अनेक प्रकारके विलासवाले कर्मोंके साथ मेरी एकताके होनेपर भी जो उत्कृष्ट ज्योति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं उत्कृष्ट आनन्दस्वरूप है वही मैं हूं, उसको छोड़कर मैं अन्य नहीं हूं । ठीक भी है— स्फटिक मणिमें काले पदार्थके सम्बन्धसे

१ ब-प्रतिपाठोऽयम् । अ क श कार्यादि । २ क 'वा' नास्ति । ३ श 'मम अङ्गेऽपि प्रेम न अस्ति' इत्येतावान् पाठो नास्ति ।

काष्र्ण्ये कृष्णपदार्थसंनिधिवशाज्जाते मणौ स्फाटिके
यत्तस्मात्पृथगेव स द्वयकृतो लोके विकारो भवेत् ॥ ७ ॥

902) आपत्सापि यतेः परेण सह यः संगो भवेत्केनचित्
सापत्सुष्ठु गरीयसी पुनरहो यः श्रीमतां संगमः ।
यस्तु श्रीमदमद्यपानविकलैरुत्तानितास्यैर्नृपैः
संपर्कः स मुमुक्षुचेतसि सदा मृत्योरपि क्लेशकृत् ॥ ८ ॥

903) स्निग्धा मा मुनयो भवन्तु गृहिणो यच्छन्तु मा भोजनं
मा किंचिद्धनमस्तु मा वपुरिदं रुग्वर्जितं जायताम् ।
नग्नं मामवलोक्य निन्दतु जनस्तत्रापि खेदो न मे
नित्यानन्दपदप्रदं गुरुवचो जागर्ति चेच्चेतसि ॥ ९ ॥

अहं न । विचित्रविलसत्कर्मैकतायामपि । यद्यस्मात्कारणात् । स्फाटिके मणौ कृष्णपदार्थसंनिधिवशात् कार्ष्ण्ये जाते सति । तस्मात् कृष्णपदार्थात् स मणिः पृथगेव भिन्नः । लोके संसारे । विकारः द्वयकृतः भवेत् ॥ ७ ॥ अहो इति संबोधने । यतेः मुनीश्वरस्य । परेण केनचित्सह यः संगः संयोगः भवेत् । सापि आपत् आपदा कष्टम् । पुनः यः श्रीमतां द्रव्ययुक्तानाम् । संगमः सा सुष्ठु गरीयसी आपत् । तु पुनः । यः नृपैः सह । संपर्कः संयोगः । स राजसंयोगः मुमुक्षुचेतसि मुनिचेतसि । सदाकाले । मृत्योः मरणात् । अपि क्लेशकृत् । किंलक्षणैः नृपैः । श्रीमदमद्यपानविकलैः । पुनः उत्तानितास्यैः ऊर्ध्वमुखैः । गर्वितैः ॥ ८ ॥ चेद्यदि । मे चेतसि गुरुवचः जागर्ति । किंलक्षणं गुरुवचः । नित्यानन्दपदप्रदम् । तदा मुनयः । स्निग्धाः स्नेहकारिणः मा भवन्तु । तदा गृहिणः श्रावकाः भोजनं मा यच्छन्तु । तदा धनं किंचित् मा अस्तु । तदा इदं वपुः शरीरं रुग्वर्जितं मा जायताम् । मां नग्नम् अवलोक्य जनः निन्दतु । तत्र लौकिकदुःखे मे खेदः[3] न दुःखं न ॥ ९ ॥

कालेपनके उत्पन्न होनेपर भी वह उस मणिसे पृथक् ही होता है। कारण यह कि लोकमें जो भी विकार होता है वह दो पदार्थोंके निमित्तसे ही होता है ॥ विशेषार्थ — यद्यपि स्फटिक मणिमें किसी दूसरे काले पदार्थ-के निमित्तसे कालिमा और जपापुष्पके संसर्गसे लालिमा अवश्य देखी जाती है, परन्तु वह वस्तुतः उसकी नहीं होती है। वह स्वभावसे निर्मल व धवलवर्ण ही रहता है। जब तक उसके पासमें किसी अन्य रंगकी वस्तु रहती है तभी तक उसमें दूसरा रंग देखनेमें आता है और उसके वहांसे हट जानेपर फिर स्फटिक मणिमें वह विकृत रंग नहीं रहता है। ठीक इसी प्रकारसे आत्माके साथ ज्ञानावरणादि अनेक कर्मोंका संयोग रहनेपर ही उसमें अज्ञानता एवं राग-द्वेष आदि विकारभाव देखे जाते हैं। परन्तु वे वास्तवमें उसके नहीं हैं, वह तो स्वभावसे शुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वरूप ही है। वस्तुमें जो विकारभाव होता है वह किसी दूसरे पदार्थके निमित्तसे ही होता है। अत एव वह उसका नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि, वह कुछ ही काल तक रहनेवाला है। जैसे—आगके संयोगसे जलमें होनेवाली उष्णता कुछ समय (अग्निसंयोग) तक ही रहती है, तत्पश्चात् शीतलता ही उसमें रहती है जो सदा रहनेवाली है ॥ ७ ॥ साधुका किसी पर वस्तुके साथ जो संयोग होता है वह भी उसके लिये आपत्तिस्वरूप प्रतीत होता है, फिर जो श्रीमानों (धनवानों) के साथ उसका समागम होता है वह तो उसके लिये अतिशय महान् आपत्तिस्वरूप होता है, इसके अतिरिक्त सम्पत्तिके अभिमानरूप मद्यपानसे विकल होकर ऊपर मुखको करनेवाले ऐसे राजा लोगोंके साथ जो संयोग होता है वह तो उस मोक्षाभिलाषी साधुके मनमें निरन्तर मृत्युसे भी अधिक कष्टकारक होता है ॥ ८ ॥ यदि मेरे हृदयमें नित्य आनन्दपद अर्थात् मोक्षपदको देनेवाली गुरुकी वाणी जागती है तो मुनिजन स्नेह करनेवाले भले ही न हों, गृहस्थ जन यदि भोजन नहीं देते हैं तो न दें, मेरे पास कुछ भी धन न हो, यह शरीर रोगसे रहित न हो अर्थात् सरोग भी हो, तथा मुझे नग्न देखकर लोग निन्दा भी करें; तो भी मेरे

१ क कार्ष्णे च कार्ष्ण्यं । २ श वशात् कृष्णत्वे जाते । ३ क तत्र लोके खेदः ।

904) दुःखव्यालसमाकुले भववने हिंसादिदोषद्रुमे[1]
नित्यं दुर्गतिपल्लिपातिकुपथे भ्राम्यन्ति सर्वे ऽङ्गिनः ।
तन्मध्ये सुगुरुप्रकाशितपथे प्रारब्धयानो जनः
यात्यानन्दकरं परं स्थिरतरं निर्वाणमेकं परम् ॥ १० ॥

905) यत्सातं यदसातमङ्गिषु भवेत्तत्कर्मकार्यं तत-
स्तत्कर्मैव तदन्यदात्मन इदं जानन्ति ये योगिनः ।
ईदृग्भेदविभावनाश्रितधियां तेषां कुतो ऽहं सुखी
दुःखी चेति विकल्पकल्मषकला कुर्यात्पदं चेतसि ॥ ११ ॥

906) देवं तत्प्रतिमां गुरुं मुनिजनं शास्त्रादि मन्यामहे
सर्वे भक्तिपरा वयं व्यवहृते मार्गे स्थिता निश्चयात् ।

भववने सर्वे अङ्गिनः जीवाः । भ्राम्यन्ति । किंलक्षणे भववने । दुःखव्याल–दुष्टगज-सर्पसमाकुले । पुनः हिंसादिदोष-द्रुमे[1] । पुनः किंलक्षणे संसारवने । दुर्गतिपल्लिपातिकुपथे दुर्गतिभिल्लग्रामसदृशे कुपथे । तन्मध्ये तस्य संसारस्य मध्ये । सुगुरुप्रकाशितपथे । प्रारब्धयानः प्रारब्धगमनः जनः । नित्यं सदैव । एकं निर्वाणं पुरं याति । किंलक्षणं निर्वाणम् । आनन्दकरं परम् । स्थिरतरं शाश्वतम् ॥ १० ॥ अङ्गिषु जीवेषु । यत्सातं शुभकर्म । यत् असातम् अशुभकर्म भवेत् । संसारे । तत्सर्वं कर्मकार्यम् । ततः कर्मकार्यात् । तत्कर्मैव तैत्कर्म अन्यत् आत्मनः सकाशात् भिन्नम् । ये योगिनः इदं भेदज्ञानं जानन्ति तेषां ईदृग्भेदविभावना-आश्रितधियां मुनीनां चेतसि अहं सुखी अहं दुःखी इति विकल्पकल्मषकला पापकला । पदं स्थानम् । कुतः कुर्यात् कथं कुर्यात् । अपि तु न कुर्यात् ॥ ११ ॥ यावत् वयं व्यवहृते मार्गे व्यवहारमार्गे स्थिताः । भक्तिपराः वयं सर्वं मन्यामहे । देवं तत्प्रतिमां गुरुं मुनिजनं शास्त्रादि सर्वं मन्यामहे । निश्चयात् पुनः एकताश्रयणतः अस्माकम् आत्मैव परं तत्त्वं

लिये उसमें कुछ खेद नहीं होता ॥ ९ ॥ जो संसाररूपी वन दुःखोंरूप सर्पों (अथवा हाथियों) से व्याप्त है, हिंसा आदि दोषोंरूप वृक्षोंसे सहित है, तथा नरकादि दुर्गतिरूप भीलबस्तीकी ओर जानेवाले कुमार्गोंसे युक्त है, उसमें सब प्राणी सदासे परिभ्रमण करते हैं। उक्त संसाररूप वनके भीतर जो मनुष्य उत्तम गुरुके द्वारा दिखलाये गये मार्गमें (मोक्षमार्गमें) गमन प्रारम्भ कर देता है वह उस अद्वितीय मोक्षरूप पुरको प्राप्त होता है जो आनन्दको करनेवाला है, उत्कृष्ट है, तथा अत्यन्त स्थिर (अविनश्वर) भी है ॥ १० ॥ प्राणियोंको जो सुख-दुखका अनुभव होता है वह कर्म (साता और असाता वेदनीय) का कार्य है, इसीलिये वह कर्म ही है और वह आत्मासे भिन्न है। इस बातको जो योगी जानते हैं तथा जिनकी बुद्धि इस प्रकारके भेदकी भावनाका आश्रय ले चुकी है उन योगियोंके मनमें 'मैं सुखी हूं, अथवा दुःखी हूं' इस प्रकारके विकल्पसे मलिन कला कहांसे स्थान प्राप्त कर सकती है? अर्थात् उन योगियोंके मनमें वैसा विकल्प कभी नहीं उदित होता ॥ ११ ॥ व्यवहार मार्गमें स्थित हम लोग भक्तिमें तत्पर होकर जिन देव, जिन-प्रतिमा, गुरु, मुनिजन और शास्त्र आदि सबको मानते हैं। परन्तु निश्चयसे अभेद (अद्वैत) का आश्रय लेनेसे प्रगट हुए चैतन्य गुणसे प्रकाशमें आई हुई बुद्धिके विस्ताररूप तेजसे सहित हमारे लिये केवल आत्मा ही उत्कृष्ट तत्त्व रहता है ॥ विशेषार्थ— जीव जब तक व्यवहारमार्गमें स्थित रहता है तब तक वह जिन भगवान् और उनकी प्रतिमा आदिको पूज्य मानकर यथायोग्य उनकी पूजा आदि करता है। इससे उसके पुण्य कर्मका बन्ध होता है जो निश्चयमार्गकी प्राप्तिका साधन होता है। पश्चात् जब वह निश्चयमार्गपर आरूढ़ हो जाता है तब उसकी बुद्धि अभेद (अद्वैत) का आश्रय ले लेती है। वह यह समझने लगता है

१ क दोषोद्गमे । २ क 'ग्राम' नास्ति । ३ क ततः तत्कर्मैव ।

अस्माकं पुनरेकताश्रयणतो व्यक्तीभवच्चिद्गुण-
स्फारीभूतमतिप्रबन्धमहसामात्मैव तत्त्वं परम् ॥ १२ ॥

907) वर्षं हर्षमपाकरोतु तुदतु स्फीता हिमानी तनुं
घर्मः शर्महरो ऽस्तु दंशमशकं क्लेशाय संपद्यताम् ।
अन्यैर्वा बहुभिः परीषहभटैरारभ्यतां मे मृति-
र्मोक्षं प्रत्युपदेशनिश्चलमतेर्नात्रापि किंचिद्भयम् ॥ १३ ॥

908) चक्षुर्मुख्यहृषीककर्षकमयो ग्रामो मृतो मन्यते
चेद्रूपादिकृषि[1]क्षमां बलवता बोधारिणा त्याजितः ।

वर्तते । किंलक्षणानाम् अस्माकम् । व्यक्तीभवत्-प्रकटीभूतचिद्गुण-ज्ञानगुणः तेन स्फारीभूतं मति[2]प्रबन्धमहः यत्र तेषां महसाम् ॥ १२ ॥ अत्र लोके । वर्षं वर्षाकालः । हर्षम् आनन्दम् । अपाकरोतु दूरीकरोतु । स्फीता हिमानी । तनुं शरीरम् । तुदतु पीडयतु । घर्मः शर्महरः सौख्यहरः अस्तु । दंशमशकं क्लेशाय संपद्यताम् । वा अन्यैः बहुभिः परीषहभटैः । मृतिः मरणम्[3] । आरभ्यताम् । अत्रापि मृत्युविषये । मे मम । किंचिद्भयं न । किंलक्षणस्य मम । मोक्षं प्रत्युपदेशनिश्चलमतेः ॥ १३ ॥ चेद्यदि । आत्मा प्रभुः । चक्षुर्मुख्यहृषीककर्षकमयः इन्द्रियकिसाणमयः । ग्रामः मृतः मन्यते । च पुनः । सोऽपि आत्मा प्रभुः शक्तिमान् । तच्चिन्तां न करोति तस्य इन्द्रियस्य चिन्तां न करोति । किंलक्षणां चिन्ताम् । रूपादिकृषिक्षमां रूपादिकृषिपोषकाम् ।

कि स्त्री, पुत्र और मित्र तथा जो शरीर निरन्तर आत्मासे सम्बद्ध रहता है वह भी मेरा नहीं है; मैं चैतन्यका एक पिण्ड हूं— उसको छोड़कर अन्य कुछ भी मेरा नहीं है। इस अवस्थामें उसके पूज्य-पूजकभावका भी द्वैत नहीं रहता। कारण यह कि पूज्य-पूजकभावरूप बुद्धि भी रागकी परिणति है जो पुण्यबन्धकी कारण होती है। यह पुण्य कर्म भी जीवको देवेन्द्र एवं चक्रवर्ती आदिके पदोंमें स्थित करके संसारमें ही परतन्त्र रखता है। अत एव इस दृष्टिसे वह पूज्य-पूजक भाव भी हेय है, उपादेय केवल एक सच्चिदानन्दमय आत्मा ही है। परन्तु जब तक प्राणीके इस प्रकारकी दृढ़ता प्राप्त नहीं होती तब तक उसे व्यवहारमार्गका आलम्बन लेकर जिन पूजनादि शुभ कार्योंको करना ही चाहिये, अन्यथा उसका संसार दीर्घ हो सकता है ॥ १२ ॥ जब मैं मोक्षविषयक उपदेशसे बुद्धिकी स्थिरताको प्राप्त कर लेता हूं तब भले ही वर्षाकाल मेरे हर्षको नष्ट करे, विस्तृत महान् शैत्य शरीरको पीड़ित करे, घाम (सूर्यताप) सुखका अपहरण करे, डांस-मच्छर क्लेशके कारण होवें, अथवा और भी बहुत-से परीषहरूप सुभट मेरे मरणको भी प्रारम्भ कर दें; तो भी इनसे मुझे कुछ भी भय नहीं है ॥ १३ ॥ जो शक्तिशाली आत्मारूप प्रभु चक्षु आदि इन्द्रियोंरूप किसानोंसे निर्मित ग्रामको मरा हुआ समझता है तथा जो ज्ञानरूप बलवान् शत्रुके द्वारा रूपादि विषयरूप कृषिकी भूमिसे भ्रष्ट कराया जा चुका है, फिर भी जो कुछ होनेवाला है उसके विषयमें इस समय चिन्ता नहीं करता है। इस प्रकारसे वह संसारको नष्ट हुएके समान देखता है ॥ विशेषार्थ— जिस प्रकार किसी शक्तिशाली गांवके स्वामीकी यदि अन्य प्रबल शत्रुके द्वारा खेतीके योग्य भूमि छीन ली जाती है तो वह अपने किसानोंसे परिपूर्ण उस गांवको मरा हुआ-सा मानता है। फिर भी वह भवितव्यको प्रधान मानकर उसकी कुछ चिन्ता नहीं करता है। ठीक इसी प्रकारसे सर्वशक्तिमान् आत्माको जब सम्यग्ज्ञानरूप शत्रुके द्वारा रूप-रसादिरूप खेतीके योग्य भूमिसे भ्रष्ट कर दिया जाता है— विवेकबुद्धिके उत्पन्न हो जानेपर जब वह रूप-रसादिस्वरूप इन्द्रियविषयोंमें अनुरागसे रहित हो जाता है, तब वह भी उन इन्द्रियरूप किसानोंके गांवको

---

१ ख चिद्रूपादिकृषि । २ श भूतः मति, क भूतमति । ३ श मारणम् ।

तच्चिन्तां न च सो ऽपि[1] संप्रति करोत्यात्मा प्रभुः शक्तिमान्
यत्किंचिद्भविताम्र तेन च भवो ऽप्यालोक्यते नष्टवत् ॥ १४ ॥

909) कर्मक्षत्युपशान्तिकारणवशात्सद्देशनाया गुरो-
रात्मैकत्वविशुद्धबोधनिलयो निःशेषसंगोज्झितः ।
शश्वत्तद्गतभावनाश्रितमना लोके वसन् संयमी
नावद्येन स लिप्यते ऽब्जदलवत्तोयेन पद्माकरे ॥ १५ ॥

910) गुर्वङ्घ्रिद्वयदत्तमुक्तिपदवीप्राप्त्यर्थनिर्ग्रन्थता-
जातानन्दवशान्ममेन्द्रियसुखं दुःखं मनो मन्यते ।
सुस्वादुः प्रतिभासते किल खलस्तावत्समासादितो
यावन्नो सितशर्करातिमधुरा संतर्पिणी लभ्यते ॥ १६ ॥

911) निर्ग्रन्थत्वमुदा ममोज्ज्वलतरध्यानाश्रितस्फीतया
दुर्ध्यानाक्षसुखं पुनः स्मृतिपथप्रस्थाप्यपि स्यात्कुतः ।

किंलक्षणः आत्मा प्रभुः । बलवता बोधादिना त्याजितः । तेन आत्मप्रभुणा । यत्किंचिद्भवितापि तद्भविष्यति । तत्किम् । भवः संसारः । नष्टवत् विलोक्यते ॥ १४ ॥ स संयमी । लोके वसन् तिष्ठन् । अवद्येन पापेन न लिप्यते । किंलक्षणः संयमी । कर्मक्षति-विनाश-उपशान्तिकारणवशात् । गुरोः सद्देशनायाः गुरूपदेशात् । आत्मैकत्वविशुद्धबोधनिलयः । पुनः निःशेषसंग-परिग्रह-रहितः । पुनः किंलक्षणः संयमी । शश्वत्तद्गत–आत्मगत-भावनाश्रितमनाः । तत्र दृष्टान्तमाह । पद्माकरे सरोवरे । तोयेन जलेन । अब्जदलवत् कमलदलवत् ॥ १५ ॥ मम मनः इन्द्रियसुखं दुःखं मन्यते । कस्मात् । गुर्वङ्घ्रिद्वयदत्तमुक्तिपदवीप्राप्त्यर्थ-निर्ग्रन्थताजातानन्दवशात् । किल इति सत्ये । तावत्कालं खलः पिण्याकखण्डः लोके मिष्टः खलैः । समासादितः प्राप्तः । सुस्वादुः प्रतिभासते । यावत्कालं सितशर्करा 'मिश्री' न लभ्यते । किंलक्षणा शर्करा । अतिमधुरा संतर्पिणी ॥ १६ ॥ निर्ग्रन्थत्वमुदा

मरा हुआ समझता है और उसकी कुछ भी चिन्ता नहीं करता है । बल्कि तब वह अपने संसारको नष्ट हुआ-सा समझने लगता है । तात्पर्य यह कि एकत्वबुद्धिके उत्पन्न हो जानेपर जीवको इन्द्रियविषयोंमें अनुराग नहीं रहता है । उस समय वह इन्द्रियोंको नष्ट हुआ-सा मानकर मुक्तिको हाथमें आया ही समझता है ॥ १४ ॥ जो संयमी कर्मके क्षय अथवा उपशमके कारण वश तथा गुरुके सदुपदेशसे आत्माकी एकता-विषयक निर्मल ज्ञानका स्थान बन गया है, जिसने समस्त परिग्रहका परित्याग कर दिया है, तथा जिसका मन निरन्तर आत्माकी एकताकी भावनाके आश्रित रहता है; वह संयमी पुरुष लोकमें रहता हुआ भी इस प्रकार पापस लिप्त नहीं होता जिस प्रकार कि तालाबमें स्थित कमलपत्र पानीसे लिप्त नहीं होता है ॥ १५ ॥ गुरुके चरणयुगलके द्वारा मुक्ति पदवीको प्राप्त करनेके लिये जो निर्गन्थता (दिगम्बरत्व) दी गई है उसके निमित्तसे उत्पन्न हुए आनन्दके प्रभावसे मेरा मन इन्द्रियविषयजनित सुखको दुखरूप ही मानता है । ठीक है– प्राप्त हुआ खल (तेलके निकाल लेनेपर जो तिल आदिका भाग शेष रहता है) तब तक ही स्वादिष्ट प्रतीत होता है जब तक कि अतिशय मीठी सफेद शक्कर (मिश्री) तृप्तिको करनेवाली नहीं प्राप्त होती है ॥ १६ ॥ अतिशय निर्मल ध्यानके आश्रयसे विस्तारको प्राप्त हुए निर्ग्रन्थताजनित आनन्दके प्राप्त हो जानेपर खोटे

---

१ श नवतोऽपि । २ क श खलिः ।

निर्गत्योद्गतवातबोधितशिखिज्वालाकरालाद्गृहा-
च्छीतां प्राप्य च वापिकां विशति कस्तत्रैव धीमान् नरः ॥ १७ ॥

912) जायेतोद्गतमोहतो ऽभिलषिता मोक्षे ऽपि सा सिद्धिहृत्
तद्भूतार्थपरिग्रहो भवति किं क्वापि स्पृहालुर्मुनिः ।
इत्यालोचनसंगतैकमनसा शुद्धात्मसंबन्धिना
तत्त्वज्ञानपरायणेन सततं स्थातव्यमग्राहिणा ॥ १८ ॥

913) जायन्ते विरसा रसा विघटते गोष्ठीकथाकौतुकं
शीर्यन्ते विषयास्तथा विरमति प्रीतिः शरीरे ऽपि च ।

निर्ग्रन्थतानन्देन । पुनः उज्ज्वलतरध्यान-आश्रितस्फीतया कृत्वा मम दुर्ध्यान-अक्षसुखम् । स्मृतिपथप्रस्थायि स्मरणगोचरम् । कुतः स्यात् भवेत् । उद्गतवातबोधितशिखिज्वालाकरालात् गृहात् निर्गत्य पवनप्रेरित-अग्निना दग्धगृहात् निर्गत्य । च पुनः । शीतां वापिकां प्राप्य । तत्रैव ज्वलितगृहे । कः धीमान् चतुरः नरः प्रविशति । अपि तु प्रवेशं न करोति ॥ १७ ॥ मोक्षेऽपि अभिलषिता[1] उद्गतमोहतः । जायेत उत्पद्येत । तस्य मोक्षस्य सा अभिलषिता । सिद्धिहृत् मुक्तिनिषेधिका । जायते । तत्तस्मात्कारणात् । भूतार्थपरिग्रहः सत्यार्थपरिग्रहः मुनिः । किं क्वापि वस्तुनि । स्पृहालुः भवति । अपि तु न भवति । इति आलोचनसंगतैकमनसा । सततं निरन्तरम् । अग्राहिणा परिग्रहरहितेन । शुद्धात्मसंबन्धिना तत्त्वज्ञानपरायणेन । स्थातव्यम् ॥ १८ ॥ चितः । चिन्तायामपि । मुमुक्षोः मुनेः । रसाः विरसाः जायन्ते । गोष्ठीकथाकौतुकं विघटते । तथा विषयाः शीर्यन्ते शटन्ति । च पुनः । शरीरेऽपि प्रीतिः विरमति । च पुनः । मौनं प्रतिभासते । रहः एकान्ते प्राप्तः । प्रायः बाहुल्येन । दोषैः समं सार्धम् ।

ध्यानसे उत्पन्न इन्द्रियसुख स्मृतिका विषय कहांसे हो सकता है? अर्थात् निर्ग्रन्थताजन्य सुखके सामने इन्द्रियविषयजन्य सुख तुच्छ प्रतीत होता है, अतः उसकी चाह नष्ट हो जाती है। ठीक है— उत्पन्न हुई वायुके द्वारा प्रगट की गई अग्निकी ज्वालासे भयानक ऐसे घरके भीतरसे निकल कर शीतल वावड़ीको प्राप्त करता हुआ कौन-सा बुद्धिमान् पुरुष फिरसे उसी जलते हुए घरमें प्रवेश करता है? अर्थात् कोई नहीं करता है ॥ १७ ॥ मोहके उदयसे जो मोक्षके विषयमें भी अभिलाषा होती है वह सिद्धि (मुक्ति) को नष्ट करनेवाली है। इसलिये भूतार्थ (सत्यार्थ) अर्थात् निश्चय नयको ग्रहण करनेवाला मुनि क्या किसी भी पदार्थके विषयमें इच्छायुक्त होता है? अर्थात् नहीं होता। इस प्रकार मनमें उपयुक्त विचार करके शुद्ध आत्मासे सम्बन्ध रखते हुए साधुको परिग्रहसे रहित होकर निरन्तर तत्त्वज्ञानमें तत्पर रहना चाहिये ॥ १८ ॥ चैतन्यस्वरूप आत्माके चिन्तनमें मुमुक्ष जनके रस नीरस हो जाते हैं, सम्मिलित होकर परस्पर चलनेवाली कथाओंका कौतूहल नष्ट हो जाता है, इन्द्रियविषय विलीन हो जाते हैं, शरीरके भी विषयमें प्रेमका अन्त हो जाता है, एकान्तमें मौन प्रतिभासित होता है, तथा वैसी अवस्थामें दोषोंके साथ मन भी मरनेकी इच्छा करता है ॥ विशेषार्थ— अभिप्राय यह है कि जब तक प्राणीका आत्मस्वरूपकी ओर लक्ष्य नहीं होता है तभी तक उसे संगीतके सुननेमें, नृत्यपरिपूर्ण नाटक आदिके देखनेमें, परस्पर कथा-वार्ता करनेमें तथा शृंगारादिपूर्ण उपन्यास आदिके पढ़ने-सुननेमें आनन्द आता है। किन्तु जैसे ही उसके हृदयमें आत्मस्वरूपका बोध उदित होता है वैसे ही उसे उपर्युक्त इन्द्रियविषयोंके निमित्तसे प्राप्त होनेवाला रस (आनन्द) नीरस प्रतिभासित होने लगता है। अन्य इन्द्रियविषयोंकी तो बात ही क्या, किन्तु उस समय उसका अपने शरीरके विषयमें

१ अ श अभिलाषिता।

मौनं च प्रतिभासते ऽपि च रहः प्रायो मुमुक्षोश्चितः
चिन्तायामपि यातुमिच्छति समं दोषैर्मनः पञ्चताम् ॥ १९ ॥

914) तत्त्वं वागतिवर्ति शुद्धनयतो यत्सर्वपक्षच्युतं
तद्वाच्यं व्यवहारमार्गपतितं शिष्यार्पणे जायते ।
प्रागल्भ्यं न तथास्ति तत्र विवृतौ बोधो न तादृग्विधः
तेनायं ननु मादृशो जडमतिर्मौनाश्रितस्तिष्ठति ॥ २० ॥

मनः पञ्चतां यातुम् इच्छति विनाशं गच्छति ॥१९॥ शुद्धनयतः यत्तत्त्वम् । वाक्-अतिवर्ति वचनरहितम् । पुनः किंलक्षणं तत्त्वम् । सर्वपक्षच्युतं नयन्यासरहितम् । तत्तत्त्वं व्यवहारमार्गपतितम्[1] । शिष्यार्पणे वाच्यं वचनगोचरम् । जायते । तत्र आत्मतत्त्वे । तथा प्रागल्भ्यं न । तत्र आत्मतत्त्वे । विवृतौ विचारणे । तादृग्विधः बोधः ज्ञानं न । ननु इति वितर्के । तेन कारणेन । अयं मादृग्जनः जडमतिः मौनाश्रितः तिष्ठति ॥ २० ॥ इति श्रीपरमार्थविंशतिः ॥ २३ ॥

भी अनुराग नहीं रहता । वह एकान्त स्थानमें मौनपूर्वक स्थित होकर आत्मानन्दमें मग्न रहता है और इस प्रकारसे वह अज्ञानादि दोषों एवं समस्त मानसिक विकल्पोंसे रहित होकर अजर-अमर बन जाता हैं ॥ १९ ॥ जो तत्त्व शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा वचनका अविषय (अवक्तव्य) तथा नित्यत्वादि सब विकल्पोंसे रहित है वही शिष्योंको देनेके विषयमें अर्थात् शिष्योंको प्रबोध करानेके लिये व्यवहारमार्गमें पड़कर वचनका विषय भी होता है । उस आत्मतत्त्वका विवरण करनेके लिये न तो मुझमें वैसी प्रतिभाशालिता (निपुणता) है और न उस प्रकारका ज्ञान ही है । अत एव मुझ जैसा मन्दबुद्धि मनुष्य मौनका अवलम्बन लेकर ही स्थित रहता है ॥ विशेषार्थ— यदि शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा वस्तुके शुद्ध स्वरूपका विचार किया जाय तब तो वह वचनों द्वारा कहा ही नहीं जा सकता है । परन्तु उसका परिज्ञान शिष्योंको प्राप्त हो, इसके लिये वचनोंका आश्रय लेकर उनके द्वारा उन्हें बोध कराया जाता है । यह व्यवहारमार्ग है, क्योंकि, वाच्य-वाचकका यह द्वैतभाव वहां ही सम्भव है, न कि निश्चयमार्गमें । ग्रन्थकर्ता श्री मुनि पद्मनन्दी अपनी लघुता प्रगट करते हुए यहां कहते हैं कि व्यवहारमार्गका अवलम्बन लेकर भी जिस प्रतिभा अथवा ज्ञानके द्वारा शिष्योंको उस आत्मतत्त्वका बोध कराया जा सकता है वह मुझमें नहीं है, इसलिये मैं उसका विशेष विवरण न करके मौनका ही आश्रय लेता हूं ॥ २० ॥ इस प्रकार परमार्थविंशति अधिकार समाप्त हुआ ॥ २३ ॥

---

१ श मार्गरहितं पतित ।

[२४. शरीराष्टकम्]

915) दुर्गन्धाशुचिधातुभित्तिकलितं संछादितं चर्मणा
विण्मूत्रादिभृतं क्षुधादिविलसद्दुःखाखुभिश्छिद्रितम् ।
क्लिष्टं कायकुटीरकं स्वयमपि प्राप्तं जराविना
चेदेतत्तदपि स्थिरं शुचितरं मूढो जनो मन्यते ॥ १ ॥

916) दुर्गन्धं कृमिकीटजालकलितं नित्यं स्रवद्दूरसं
शौचस्नानविधानवारिविहितप्रक्षालनं रुग्भृतम् ।

एतत्कायकुटीरकं मूढः जनः । स्थिरं शाश्वतम् । शुचितरं श्रेष्ठम् । मन्यते । किंलक्षणं कायकुटीरकम् । दुर्गन्धाशुचिधातुभित्ति-कलितम् । पुनः किंलक्षणं शरीरम् । चर्मणा संछादितम् । पुनः इदं शरीरं विष्ठादिमूत्रादिभृतम् । क्षुधा-आदिदुःखमूषकाः तैः छिद्रितं पीडितम् । पुनः इदं शरीरं जरा-अग्निना स्वयमपि दग्धं प्राप्तम् । क्लिष्टं क्लेशभृतम् । तत्तस्मात्कारणात् । तदपि मूर्खः जनः शरीरं स्थिरं मन्यते ॥१॥ उन्नतधियः मुनयः मानुष्यं वपुः शरीरम् नाडीव्रणं स्फोटकम् । आहुः कथयन्ति । तत्र शरीरव्रणे । अन्नं भेषजम् । वसनानि वस्त्राणि पट्टकं लोके स्फोटकोपरिवस्त्रबन्धनम् । तत्रापि शरीरव्रणे । जनः रागी ममत्वं करोति । अहो इति आश्चर्ये ।

जो शरीररूप झोंपडी दुर्गन्धयुक्त अपवित्र रस, रुधिर एवं अस्थि आदि धातुओंरूप भित्तियों (दीवालों) के आश्रित है, चमड़ेसे वेष्टित है, विष्ठा एवं मूत्र आदिसे परिपूर्ण है तथा प्रगट हुए भूख-प्यास आदिक दुःखोंरूप चूहोंके द्वारा छेदोंयुक्त की गई है; ऐसी वह शरीररूप झोंपडी यद्यपि स्वयं ही वृद्धत्वरूप अग्निसे प्राप्त की जाती है तो भी अज्ञानी मनुष्य उसे स्थिर एवं अतिशय पवित्र मानते हैं ॥ विशेषार्थ– यहां शरीरके लिये झोंपडीकी उपमा देकर यह बतलाया है कि जिस प्रकार बांस आदिसे निर्मित भीतोंके आश्रयसे रहनेवाली झोंपडी घास या पत्तोंसे आच्छादित रहती है । इसमें चूहोंके द्वारा जो यत्र तत्र छेद किये जाते हैं उनसे वह कमजोर हो जाती है । उसमें यदि कदाचित् आग लग जाती है तो वह देखते ही देखते भस्म हो जाती है । ठीक इसी प्रकारका यह शरीर भी है– इसमें भीतोंके स्थानपर दुर्गन्धित एवं अपवित्र रस-रुधिरादि धातुएं हैं, घास आदिके स्थानमें इसको आच्छादित करनेवाला चमड़ा है, तथा यहां चूहोंके स्थानमें भूख-प्यास आदिसे होनेवाले विपुल दुःख हैं जो उसे निरन्तर निर्बल करते हैं । इस प्रकार झोपड़ीके समान होनेपर भी उससे शरीरमें यह विशेषता है कि वह तो समयानुसार नियमसे वृद्धत्व (बुढापा) से व्याप्त होकर नाशको प्राप्त होनेवाला है, परन्तु वह झोपड़ी कदाचित् ही असावधानीके कारण अग्नि आदिसे व्याप्त होकर नष्ट होती है । ऐसी अवस्थाके होनेपर भी आश्चर्य यही है कि अज्ञानी प्राणी उसे स्थिर और पवित्र समझ कर उसके निमित्तसे अनेक प्रकारके दुःखोंको सहते हैं ॥ १ ॥ जो यह मनुष्यका शरीर दुर्गन्धसे सहित है, लटों एवं अन्य क्षुद्र कीड़ोंके समूहसे व्याप्त है, निरन्तर बहनेवाले पसीना एवं नासिका आदिके दूषित रससे परिपूर्ण है, पवित्रताके सूचक स्नानको सिद्ध करनेवाले जलसे जिसको धोया जाता है, फिर भी जो रोगोंसे परिपूर्ण है; ऐसे उस मनुष्यके शरीरको उत्कृष्ट बुद्धिके धारक विद्वान् नससे सम्बद्ध फोड़ा आदिके घावके समान बतलाते हैं । उसमें अन्न (आहार) तो औषधके समान है तथा वस्त्र

मानुष्यं वपुराहुरुन्नतधियो नाडीव्रणं भेषजं
तत्रान्नं वसनानि पट्टकमहो तत्रापि रागी जनः ॥ २ ॥

917) नृणामशेषाणि सदैव सर्वथा वपूंषि सर्वाशुचिभाञ्जि निश्चितम् ।
ततः क एतेषु बुधः प्रपद्यते शुचित्वमम्बुप्लुतिचन्दनादिभिः ॥ ३ ॥

918) तिक्तेष्वा[क्ष्वा]कुफलोपमं वपुरिदं नैवोपभोग्यं नृणां
स्याच्चेन्मोहकुजन्मरन्ध्ररहितं शुष्कं तपोघर्मतः।

किंलक्षणं शरीरव्रणम् । दुर्गन्धम् । पुनः कृमिकीटजालकलितं व्याप्तम् । पुनः किंलक्षणं शरीरव्रणम् । नित्यस्रवत्-क्षरत् दूरसं निन्द्यरसम् । पुनः किंलक्षणं शरीरव्रणम् । शौचस्नानविधानेन वारिणा विहितप्रक्षालनम्[2] । पुनः रुग्भृतं व्याधिभृतम् ॥ २ ॥ नृणाम् । अशेषाणि समस्तानि । वपूंषि शरीराणि । सदैव सर्वथा । निश्चितम् । अशुचिभाञ्जि अशुचित्वं भजन्ति । ततः कारणात् । कः बुधः । एतेषु शरीरेषु । अम्बुप्लुतिचन्दनादिः जलस्नानचन्दनादिभिः शुचित्वं प्रतिपद्यते ॥३॥ नृणाम् इदं वपुः । तिक्तेष्वा[क्ष्वा]कुफलोपमं कटुकतुंबीफलसदृशं वर्तते । चेद्यदि । तपोघर्मतः शुष्कम् । स्यात् भवेत् । तदा भवनदी-संसारनदीतारे क्षमं समर्थं जायते । उपभोग्यं नैव । इदं वपुः । तुम्बीफलम् । अन्तः मध्ये गौरवितं न मध्ये गुरुत्वरहितम् । पक्षे तपोगौरवज्ञानगर्वरहितम् ।

पट्टीके समान है । फिर भी आश्चर्य है कि उसमें भी मनुष्य अनुराग करता है ॥ विशेषार्थ– यहां मनुष्यके शरीरको घावके समान बतलाकर दोनोंमें समानता सूचित की गई है। यथा–जैसे घाव दुर्गन्धसे सहित होता है वैसे ही यह शरीर भी दुर्गन्धयुक्त है, घावमें जिस प्रकार लटों एवं अन्य छोटे छोटे कीड़ोंका समूह रहता है उसी प्रकार शरीरमें भी वह रहता ही है, घावसे यदि निरन्तर पीव और खून आदि बहता रहता है तो इस शरीरसे भी निरन्तर पसीना आदि बहता ही रहता है, घावको यदि जलसे धोकर स्वच्छ किया जाता है तो इस शरीरको भी जलसे स्नान कराकर स्वच्छ किया जाता है, घाव जैसे रोगसे पूर्ण है वैसे ही शरीर भी रोगोंसे परिपूर्ण है, घावको ठीक करनेके लिये यदि औषध लगायी जाती है तो शरीरको भोजन दिया जाता है, तथा यदि घावको पट्टीसे बांधा जाता है तो इस शरीरको भी वस्त्रोंसे वेष्टित किया जाता है। इस प्रकार शरीरमें घावकी समानता होनेपर भी आश्चर्य एक यही है कि घावको तो मनुष्य नहीं चाहता है, परन्तु इस शरीरमें वह अनुराग करता है ॥ २ ॥ मनुष्योंके समस्त शरीर सदा और सब प्रकारसे नियमतः अपवित्र रहते हैं । इसलिये इन शरीरोंके विषयमें कौन-सा बुद्धिमान् मनुष्य जलनिर्मित स्नान एवं चन्दन आदिके द्वारा पवित्रताको स्वीकार करता है ? अर्थात् कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य स्वभावतः अपवित्र उस शरीरको स्नानादिके द्वारा शुद्ध नहीं मान सकता है ॥ ३ ॥ यह मनुष्योंका शरीर कडुवी तुंबीके समान है, इसलिये वह उपयोगके योग्य नहीं है । यदि वह मोह और कुजन्मरूप छिद्रोंसे रहित, तपरूप घाम (धूप) से शुष्क (सूखा हुआ) तथा भीतर गुरुतासे रहित हो तो संसाररूप नदीके पार करानेमें समर्थ होता है । अत एव उसे मोह एवं कुजन्मसे रहित करके तपमें लगाना उत्तम है । इसके विना वह सदा और सब प्रकारसे निःसार है ॥ विशेषार्थ– यहां मनुष्यके शरीरको कडुवी तुंबीकी उपमा देकर यह बतलाया है कि जिस प्रकार कडुवी तुंबी खानेके योग्य नहीं होती है उसी प्रकार यह शरीर भी अनुरागके योग्य नहीं है। यदि वह तुंबी छेदोंसे रहित, धूपसे सूखी और मध्यमें गौरव (भारीपन) से रहित है तो नदीमें तैरनेके काममें आती है । ठीक इसी प्रकारसे यदि यह शरीर भी मोह एवं दुष्कुलरूप छेदोंसे रहित, तपसे क्षीण

१ श क कट्वेष्वाकु । २ क विहितं प्रक्षालनम् ।

नान्तर्गौरवितं[1] तदा भवनदीतारे[2] क्षमं जायते
तत्तत्र नियोजितं वरमथासारं सदा सर्वथा ॥ ४ ॥

919) भवतु[3] भवतु यादृक् तादृगेतद्वपुर्मे
हृदि गुरुवचनं चेदस्ति तत्तत्त्वदर्शि ।
त्वरितमसमसारानन्दकन्दायमाना
भवति यदनुभावादक्षया मोक्षलक्ष्मीः ॥ ५ ॥

920) पर्यन्ते कृमयो ऽथ वह्निवशतो भस्मैव[4] मत्स्यादनात्
विष्ठा स्यादथवा वपुःपरिणतिस्तस्येदृशी जायते ।
नित्यं नैव रसायनादिभिरपि क्षय्येव यत्तत्कृते
कः पापं कुरुते बुधो ऽत्र भविता कष्टा यतो दुर्गतिः ॥ ६ ॥

921) संसारस्तनुयोगं[5] एष[6] विषयो दुःखान्यतो देहिनो
वह्नेर्लोहसमाश्रितस्य घनतो घाताद्यतो निष्ठुरात् ।

तपोघर्मतः शुष्कं शरीरम् । अथ तत्र शरीरतुम्बीफले तत्तद्गुरुवचननियोजितं वरम् । अन्यथा तपोघर्मतः शुष्कं न तदा । सदा असारं सर्वथा ॥४॥ चेद्यदि । मे हृदि गुरुवचनम् अस्ति एतद्वपुः यादृक् तादृक् भवतु भवतु । तद्गुरुवचनं त्वरितं तत्त्वदर्शि । यदनुभावात् यस्य गुरोः प्रभावात् अक्षया मोक्षलक्ष्मीः भवति । किंलक्षणा मोक्षलक्ष्मीः । असमसारानन्दकन्दायमाना असदृश-आनन्दयुक्ता ॥ ५ ॥ इदं वपुः पर्यन्ते विनाशकाले कृमयः भवेत् । अथ वह्निवशतः भस्मैवं भवेत् । च पुनः । मत्स्याद-नात् मत्स्यभक्षगात् । विष्ठा स्यात् भवेत् । तस्य शरीरस्य ईदृशी परिणतिः संजायते । अथवा नित्यं नैव शाश्वतं नैव । रसायनादिभिः महारोगादिभिः क्षयि विनश्वरम् । यत् यस्मात्कारणात् । तस्य शरीरस्य कृते करणाय । कः बुधः अत्र पापं कुर्वते । यतः दुर्गतिः कष्टा भविता ॥ ६ ॥ एषः तनुयोगः शरीरयोर्गः । विषयः संसारः । अतः शरीरयोगतः । देहिनः जीवस्य दुःखानि । यथा वह्नेः लोहसमाश्रितस्य निष्ठुरात घनतः घातात् दुःखं जायते । किंलक्षणस्य अग्नेः । लोहसमाश्रितस्य । तेन कारणेन । मुमुक्षुभिः । इयं

और गौरव (अभिमान) से रहित हो तो वह संसाररूप नदीके पार होनेमें सहायक होता है । इसीलिये जो भव्य प्राणी संसाररूप नदीके पार होकर शाश्वतिक सुखको प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें इस दुर्लभ मनुष्यशरीरको तप आदिमें लगाना चाहिये । अन्यथा उसको फिरसे प्राप्त करना बहुत कठिन होगा ॥ ४ ॥ यदि हृदयमें जीवादि पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको प्रगट करनेवाला गुरुका उपदेश स्थित है तो मेरा जैसा कुछ यह शरीर है वह वैसा बना रहे, अर्थात् उससे मुझे किसी प्रकारका खेद नहीं है । इसका कारण यह है कि उक्त गुरुके उपदेशके प्रभावसे असाधारण एवं उत्कृष्ट आनन्दकी कारणीभूत अविनश्वर मोक्षलक्ष्मी शीघ्र ही प्राप्त होती है ॥ ५ ॥ यह शरीर अन्तमें अर्थात् प्राणरहित होनेपर कीड़ोंस्वरूप, अथवा अग्निके वश होकर भस्मस्वरूप, अथवा मछलियोंके खानेसे विष्ठा (मल) स्वरूप हो जाता है । उस शरीरका परिणमन ऐसा ही होता है । औषधि आदिके द्वारा भी नित्य नहीं हैं, किन्तु विनश्वर ही है, तब भला कौन-सा विद्वान् मनुष्य इसके विषयमें पापकार्य करता है? अर्थात् कोई भी विद्वान् उसके निमित्त पापकर्मको नहीं करता है । कारण यह कि उस पापसे नरकादि दुर्गति ही प्राप्त होगी ॥ ६ ॥ यह शरीरका सम्बन्ध ही संसार है, इससे विषयमें प्रवृत्ति होती है जिससे प्राणीको दुख होते हैं । ठीक है— लोहका आश्रय लेनेवाली अग्निको कठोर घनके घात आदि सहने पड़ते हैं । इसलिये मोक्षार्थी भव्य जीवोंको इस शरीरको

१ क नान्तं गौरवितं । २ ब तीरे । ३ ब भवति । ४ अ क च भस्मश्च, ब भस्मत्व । ५ श तनुरोग । ६ च एव । ७ अ क भसः । ८ श तनुरोगः शरीररोगः ।

त्याज्या तेन तनुर्मुमुक्षुभिरियं युक्त्या महत्या तया
नो भूयो ऽपि यथात्मनो भवकृते तत्संनिधिर्जायते ॥ ७ ॥

922) रक्षापोषविधौ जनो ऽस्य वपुषः सर्वः सदैवोद्यतः
कालादिष्टजरा करोत्यनुदिनं तज्जर्जरं चानयोः ।
स्पर्धामाश्रितयोर्द्वयोर्विजयिनी सैका जरा जायते
साक्षात्कालपुरःसरा यदि तदा कास्था स्थिरत्वे नृणाम् ॥ ८ ॥

तनुः । तया महत्या युक्त्या कृत्वा त्याज्या यया युक्त्या भूयोऽपि । भवकृते[1] कारणाय । आत्मनः । तस्य शरीरस्य । संनिधिः निकटम् । न जायते ॥७॥ सर्वः जनः । अस्य वपुषः शरीरस्य । रक्षापोषविधौ सदा उद्यतः । अनुदिनम् । कालादिष्टजरा कालेन प्रेरिता जरा । तत् शरीरम् । जर्जरं करोति । च पुनः । अनयोः जनजरयोः द्वयोः । स्पर्द्धाम् ईर्ष्याम् आश्रितयोः मध्ये यदि सा एका जरा साक्षात् विजयिनी जायते तदा नृणां स्थिरत्वे का आस्था । कथंभूता जरा । कालपुरःसरा ॥८॥ इति शरीराष्टकम् ॥२४॥

ऐसी महती युक्तिसे छोड़ना चाहिये कि जिससे संसारके कारणीभूत उस शरीरका सम्बन्ध आत्माके साथ फिरसे न हो सके ॥ विशेषार्थ — प्रथमतः लोहको अग्निमें खूब तपाया जाता है। फिर उसे घनसे ठोक-पीटकर उसके उपकरण बनाये जाते हैं। इस कार्यमें जिस प्रकार लोहेकी संगतिसे व्यर्थमें अग्निको भी घनकृत घातोंको सहना पड़ता है उसी प्रकार शरीरकी संगतिसे आत्माको भी उसके साथ अनेक प्रकारके दुख सहने पड़ते हैं। इसलिये ग्रन्थकार कहते हैं कि तप आदिके द्वारा उस शरीरको इस प्रकारसे छोड़नेका प्रयत्न करना चाहिये कि जिससे पुनः उसकी प्राप्ति न हो। कारण यह कि इस मनुष्यशरीरको प्राप्त करके यदि उसके द्वारा साध्य संयम एवं तप आदिका आचरण न किया तो प्राणीको वह शरीर पुनः पुनः प्राप्त होता ही रहेगा और इससे शरीरके साथमें कष्टोंको भी सहना ही पड़ेगा ॥ ७ ॥ सब प्राणी इस शरीरके रक्षण और पोषणमें निरन्तर ही प्रयत्नशील रहते हैं, उधर कालके द्वारा आदिष्ट जरा—मृत्युसे प्रेरित बुढ़ापा— उसे प्रतिदिन निर्बल करता है। इस प्रकार मानों परस्परमें स्पर्धाको ही प्राप्त हुए इन दोनोंमें एक वह बुढ़ापा ही विजयी होता है, क्योंकि, उसके आगे साक्षात् काल (यमराज) स्थित है। ऐसी अवस्थामें जब शरीरकी यह स्थिति है तो फिर उसकी स्थिरतामें मनुष्योंका क्या प्रयत्न चल सकता है? अर्थात् कुछ भी उनका प्रयत्न नहीं चल सकता है ॥ ८ ॥ इस प्रकार शरीराष्टक अधिकार समाप्त हुआ ॥ २४ ॥

१ व श भूयोऽपि तत्कृते संसारकृते ।

[२५. स्नानाष्टकम्]

923) सन्माल्यादि यदीयसंनिधिवशादस्पृश्यतामाश्रयेद्
विण्मूत्रादिभृतं रसादिघटितं बीभत्सु यत्पूति च।
आत्मानं मलिनं करोत्यपि शुचिं सर्वाशुचीनामिदं
संकेतैकगृहं नृणां वपुरपां स्नानात्कथं शुद्ध्यति ॥ १ ॥

924) आत्मातीव शुचिः स्वभावत इति स्नानं वृथास्मिन् परे
कायश्चाशुचिरेव तेन शुचितामभ्येति नो जातुचित्।

नृणाम् इदं वपुः शरीरम्। अपां जलानाम्। स्नानात्कथं शुद्ध्यति। यदीयसंनिधिवशात् यस्य शरीरस्य संनिधिवशात् निकटवशात्। सन्माल्यादि पुष्पमालादि अस्पृश्यताम् आश्रयेत्। च पुनः। यत् शरीरं विट्[1]-विष्ठामूत्रादिभृतम्। पुनः रसादिघटितम्। पुनः बीभत्सु भयानकम्। पुनः पूति दुर्गन्धम्। शुचिम् आत्मानं मलिनं करोति इदं शरीरम्। पुनः किंलक्षणम्। सर्वाशुचीनां संकेतैकगृहम्। तत् शरीरं जलात् न शुध्यति ॥ १ ॥ आत्मा स्वभावतः अतीव शुचिः पवित्रः। इति हेतोः। अस्मिन् परे श्रेष्ठे आत्मनि। स्नानं वृथा अफलम्। च पुनः। कायः सदैव अशुचिः एव। तेन[2] जलेन। शुचितां पवित्रताम्। जातुचित्

जिस शरीरकी समीपताके कारण उत्तम माला आदि छूनेके भी योग्य नहीं रहती हैं, जो मल एवं मूत्र आदिसे भरा हुआ है, रस एवं रुधिर आदि सात धातुओंसे रचा गया है, भयानक है, दुर्गन्धसे युक्त है, तथा जो निर्मल आत्माको भी मलिन करता है; ऐसा समस्त अपवित्रताओंके एक संकेतगृहके समान यह मनुष्योंका शरीर जलके स्नानसे कैसे शुद्ध हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है ॥ १ ॥ आत्मा तो स्वभावसे अत्यन्त पवित्र है, इसलिये उस उत्कृष्ट आत्माके विषयमें स्नान व्यर्थ ही है; तथा शरीर स्वभावसे अपवित्र ही है, इसलिये वह भी कभी उस स्नानके द्वारा पवित्र नहीं हो सकता है। इस प्रकार स्नानकी व्यर्थता दोनों ही प्रकारसे सिद्ध होती है। फिर भी जो लोग उस स्नानको करते हैं वह उनके लिये करोड़ों पृथिवीकायिक, जलकायिक एवं अन्य कीड़ोंकी हिंसाका कारण होनेसे पाप और रागका ही कारण होता है ॥ विशेषार्थ—यहां स्नानकी आवश्यकताका विचार करते हुए यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उससे क्या आत्मा पवित्र होती है या शरीर? इसके उत्तरमें विचार करनेपर यह निश्चित प्रतीत होता है कि उक्त स्नानके द्वारा आत्मा तो पवित्र होती नहीं है, क्योंकि, वह स्वयं ही पवित्र है। फिर उससे शरीरकी शुद्धि होती हो, सो यह भी नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि वह स्वभावसे ही अपवित्र है। जिस प्रकार कोयलेको जलसे रगड़ रगड़कर धोनेपर भी वह कभी कालेपनको नहीं छोड़ सकता है, अथवा मलसे भरा हुआ घट कभी बाहिर मांजनेसे शुद्ध नहीं हो सकता है; उसी प्रकार मल-मूत्रादिसे परिपूर्ण यह सप्तधातुमय शरीर भी कभी स्नानके द्वारा शुद्ध नहीं हो सकता है। इस तरह दोनों ही प्रकारसे स्नानकी व्यर्थता सिद्ध होती है। फिर भी जो लोग स्नान करते हैं वे चूंकि जलकायिक, पृथिवीकायिक तथा अन्य त्रस जीवोंका भी उसके द्वारा घात करते हैं; अत एव वे केवल हिंसाजनित पापके भागी होते हैं। इसके अतिरिक्त वे शरीरकी बाह्य स्वच्छतामें राग भी रखते हैं, यह भी पापका ही कारण है। अभिप्राय यह है

१ क पुनः विण्। २ क कायः एव अशुचिः तेन।

ज्ञानस्योभयथेत्यभूद्विफलता ये कुर्वते तत्पुनस्-
तेषां भूजलकीटकोटिहननात्पापाय रागाय च ॥ २ ॥

925) चित्ते प्राग्भवकोटिसंचितरजःसंबन्धिताविर्भवन्-
मिथ्यात्वादिमलव्यपायजनकः स्नानं विवेकः सताम् ।
अन्यद्वारिकृतं तु जन्तुनिकरव्यापादनात्पापकृ-
न्नो धर्मो न पवित्रता खलु ततः काये स्वभावाशुचौ ॥ ३ ॥

926) सम्यग्बोधविशुद्धवारिणि लसत्सद्दर्शनोर्मिव्रजे
नित्यानन्दविशेषशैत्यसुभगे निःशेषपापद्रुहि ।
सत्तीर्थे परमात्मनामनि सदा स्नानं कुरुध्वं बुधाः
शुद्ध्यर्थं किमु धावत त्रिपथगामालप्रयासाकुलाः ॥ ४ ॥

कदाचित् । नो अभ्येति न प्राप्नोति । इति हेतोः । स्नानस्य उभयथा द्विप्रकारम् । विफलता अभूत् । पुनः ये मुनयः तत् स्नानं कुर्वते तेषां यतीनां भूजलकीटकोटिहननात्[1] तत्स्नानं पापाय रागाय च ॥ २ ॥ सतां सत्पुरुषाणाम् । विवेकः स्नानम् । किंलक्षणः विवेकः । चित्ते मनसि । प्राग्भव-पूर्वपर्याय-कोटिसंचितरजःसंबन्धिताविर्भवन्मिथ्यात्वादिमलव्यपायजनकः नाशकारकः विवेकः । तु पुनः । खलु इति निश्चितम् । स्वभावाशुचौ स्वभावात् अपवित्रे काये । अन्यद्वारिकृतं स्नानं जन्तुनिकरव्यापादनात् जन्तुसमूहविनाशनात् पापकृत् । ततः पापात् नो धर्मः । खलु निश्चितम् । स्वभावाशुचौ काये पवित्रता न ॥ ३ ॥ भो बुधाः त्रिपथगां गङ्गाम् । शुद्ध्यर्थं किमु धावत आलप्रयासाकुलाः । भो भव्याः । परमात्मनामनि सत्तीर्थे स्नानं कुरुध्वम् । किंलक्षणे सत्तीर्थे । सम्यग्बोध एव शुद्धं जलं[2] यत्र तत्तस्मिन् सम्यग्बोधविशुद्धवारिणि । पुनः किंलक्षणे परमात्मनामनि तीर्थे । लसत्सद्दर्शनोर्मिव्रजे । पुनः नित्यानन्द-

कि निश्चय दृष्टिसे विचार करनेपर स्नानके द्वारा शरीर तो शुद्ध नहीं होता है, प्रत्युत जीवहिंसा एवं आरम्भ आदि ही उससे होता है । यही कारण है जो मुनियोंके मूलगुणोंमें ही उसका निषेध किया गया है । परन्तु व्यवहारकी अपेक्षा वह अनावश्यक नहीं है, बल्कि गृहस्थके लिये वह आवश्यक भी है । कारण कि उसके बिना शरीर तो मलिन रहता ही है, साथमें मन भी मलिन रहता है । बिना स्नानके जिनपूजनादि शुभ कार्योंमें प्रसन्नता भी नहीं रहती । हां, यह अवश्य है कि बाह्य शुद्धिके साथ ही आभ्यन्तर शुद्धिका भी ध्यान अवश्य रखना चाहिये । यदि अन्तरंगमें मद-मात्सर्यादि भाव हैं तो केवल यह बाह्य शुद्धि कार्यकारी नहीं होगी ॥ २ ॥ चित्तमें पूर्वके करोड़ों भवोंमें संचित हुए पाप कर्मरूप धूलिके सम्बन्धसे प्रगट होनेवाले मिथ्यात्व आदिरूप मलको नष्ट करनेवाली जो विवेकबुद्धि उत्पन्न होती है वही वास्तवमें साधु जनोंका स्नान है । इससे भिन्न जो जलकृत स्नान है वह प्राणिसमूहको पीड़ाजनक होनेसे पापको करनेवाला है । उससे न तो धर्म ही सम्भव है और न स्वभावसे अपवित्र शरीरकी पवित्रता भी सम्भव है ॥ ३ ॥ हे विद्वानो ! जो परमात्मा नामक समीचीन तीर्थ सम्यग्ज्ञानरूप निर्मल जलसे परिपूर्ण है, शोभायमान सम्यग्दर्शनरूप लहरोंके समूहसे व्याप्त है, अविनश्वर आनन्दविशेषरूप (अनन्तसुख) शैत्यसे मनोहर है, तथा समस्त पापोंको नष्ट करनेवाला है; उसमें आप लोग निरन्तर स्नान करें । व्यर्थके परिश्रमसे व्याकुल होकर शुद्धिके लिये गंगाकी ओर क्यों दौड़ते हैं ? अर्थात् गंगा आदिमें स्नान करनेसे कुछ अन्तरंग शुद्धि नहीं हो सकती है, वह तो परमात्माके स्मरण एवं उसके स्वरूपके चिन्तन आदिसे ही हो सकती है, अत एव उसीमें अवगाहन

१ श कोटिकीट । २ क शुद्धजलम् ।

927) नो दृष्टः शुचितत्त्वनिश्चयनदो न ज्ञानरत्नाकरः
पापैः क्वापि न दृश्यते च समतानामातिशुद्धा नदी।
तेनैतानि विहाय पापहरणे सत्यानि तीर्थानि ते
तीर्थाभाससुरापगादिषु जडा मज्जन्ति तुष्यन्ति च ॥ ५ ॥

928) नो तीर्थं न जलं तदस्ति भुवने नान्यत्किमप्यस्ति तत्
निःशेषाशुचि येन मानुषवपुः साक्षादिदं शुद्ध्यति।
आधिव्याधिजरामृतिप्रभृतिभिर्व्याप्तं तथैतत्पुनः[1]
शश्वत्तापकरं यथास्य वपुषो नामाप्यसह्यं सताम् ॥ ६ ॥

929) सर्वैस्तीर्थजलैरपि प्रतिदिनं स्नातं न शुद्धं भवेत्
कर्पूरादिविलेपनैरपि सदा लिप्तं च दुर्गन्धभृत्।
यत्नेनापि च रक्षितं क्षयपथप्रस्थायि दुःखप्रदं
यत्तस्माद्वपुषः किमन्यदशुभं कष्टं च किं प्राणिनाम् ॥ ७ ॥

विशेषशैत्यसुभगे। पुनः निःशेषपापक्षुहे पापस्फेटके ॥४॥ पापैः पापयुक्तैः पुरुषैः। क्वापि कस्मिन् काले। शुचितत्त्वनिश्चयनदः न दृष्टः। पुनः तैः पापैः ज्ञानरत्नाकरः न दृष्टः। च पुनः। समता नाम नदी न दृश्यते। तेन कारणेन। एतानि सत्यानि तीर्थानि पापहरणे समर्थानि। विहाय परित्यज्य। ते जडाः मूर्खाः। तीर्थाभाससुरापगादिषु गङ्गादितीर्थेषु मज्जन्ति तुष्यन्ति चे[2] ॥ ५ ॥ भुवने संसारे। येन वस्तुना। इदं मानुषवपुः साक्षात् शुध्यति तत्तीर्थं नो। तज्जलं न अस्ति। तदन्यत् किमपि[3] न अस्ति। निःशेषाशुचि सर्वम् अशुचि। पुनः आधिव्याधिजरामृतिप्रभृतिभिः। तत् शरीरम्। व्याप्तम् शश्वत् तापकरम्। यथा अस्य वपुषः नामापि। सतां साधूनाम्। असह्यम् ॥६॥ यद्वपुः सर्वैः तीर्थजलैः अपि प्रतिदिनं स्नातं शुद्धं न भवेत्। यद्वपुः कर्पूरादिविलेपनैः सदा लिप्तम् अपि दुर्गन्धभृत्। च पुनः। यत्नेनापि रक्षितम्। क्षयपथप्रस्थायि क्षयपथगमनशीलम्। पुनः दुःखप्रदम्।

करना चाहिये ॥ ४ ॥ पापी जीवोंने न तो तत्त्वके निश्चयरूप पवित्र नद (नदीविशेष) को देखा है और न ज्ञानरूप समुद्रको ही देखा है। वे समता नामक अतिशय पवित्र नदीको भी कहींपर नहीं देखते हैं। इसलिये वे मूर्ख पापको नष्ट करनेके विषयमें यथार्थभूत इन समीचीन तीर्थोंको छोड़कर तीर्थके समान प्रतिभासित होनेवाले गंगा आदि तीर्थाभासोंमें स्नान करके सन्तुष्ट होते हैं ॥ ५ ॥ संसारमें वह कोई तीर्थ नहीं है, वह कोई जल नहीं है, तथा अन्य भी वह कोई वस्तु नहीं है; जिसके द्वारा पूर्णरूपसे अपवित्र यह मनुष्यका शरीर प्रत्यक्षमें शुद्ध हो सके। आधि (मानसिक कष्ट), व्याधि (शारीरिक कष्ट), बुढ़ापा और मरण आदिसे व्याप्त यह शरीर निरन्तर इतना सन्तापकारक है कि सज्जनोंको उसका नाम लेना भी असह्य प्रतीत होता है ॥ ६ ॥ यदि इस शरीरको प्रतिदिन समस्त तीर्थोंके जलसे भी स्नान कराया जाय तो भी वह शुद्ध नहीं हो सकता है, यदि इसका कपूर व कुंकुम आदि उबटनोंके द्वारा निरन्तर लेपन भी किया जाय तो भी वह दुर्गन्धको धारण करता है, तथा यदि इसकी प्रयत्नपूर्वक रक्षा भी की जाय तो भी वह क्षयके मार्गमें ही प्रस्थान करनेवाला अर्थात् नष्ट होनेवाला है। इस प्रकार जो शरीर सब प्रकारसे दुख देनेवाला है उससे अधिक प्राणियोंको और दूसरा कौन-सा अशुभ व कौन-सा कष्ट हो सकता है? अर्थात् प्राणियोंको सबसे अधिक अशुभ और कष्ट देनेवाला यह शरीर ही

१ च-प्रतिपाठोऽयम्। अ क व्याप्तं तदा तत्पुनः ब व्याप्तं थेतत्पुनः। २ श 'च' नास्ति। ३ क अस्ति अन्यत्किमपि।

930) भव्या भूरिभवार्जितोदितमहद्दृङ्मोहसर्पोल्लसन्-
मिथ्याबोधविषप्रसंगविकला मन्दीभवद्दृष्टयः ।
श्रीमत्पङ्कजनन्दिवक्त्रशशभृद्बिम्बप्रसूतं परं
पीत्वा कर्णपुटैर्भवन्तु सुखिनः स्नानाष्टकाख्यामृतम् ॥ ८ ॥

तस्माद्वपुषः सकाशात् अन्यत्कष्टं किम् । प्राणिनाम् अन्यत् अशुभं किम् ॥ ७ ॥ भो भव्याः । स्नानाष्टकाख्यामृतं कर्णपुटैः पीत्वा सुखिनः भवन्तु । किंलक्षणा यूयम् । भूरिभवार्जित-उदित-महादृङ्मोहसर्प-उल्लसन्मिथ्याबोधविषप्रसंगेन विकलाः । मन्दीभवद्-दृष्टयः । किंलक्षणम् अमृतम् । श्रीमत्पङ्कज-पद्मनन्दिवक्त्रशशभृत्-चन्द्रबिम्बात् प्रसूतम् ॥ परं श्रेष्ठम् ॥ ८ ॥ इति स्नानाष्टकं समाप्तम् ॥ २५ ॥

है, अन्य कोई नहीं है ॥ ७ ॥ जो भव्य जीव अनेक जन्मोंमें उपार्जित होकर उदयको प्राप्त हुए ऐसे दर्शनमोहनीयरूप महासर्पसे प्रगट हुए मिथ्याज्ञानरूप विषके संसर्गसे व्याकुल हैं तथा इसी कारणसे जिनकी सम्यग्दर्शनरूप दृष्टि अतिशय मन्द हो गई है वे भव्य जीव श्रीमान् पद्मनन्दी मुनिके मुखरूप चन्द्र-बिम्बसे उत्पन्न हुए इस उत्कृष्ट 'स्नानाष्टक' नामक अमृतको कानोंसे पीकर सुखी होवें ॥ विशेषार्थ—यदि कभी किसी प्राणीको विषैला सर्प काट लेता है तो वह शरीरमें फैलनेवाले उसके विषसे अत्यन्त व्याकुल हो जाता है तथा उसकी दृष्टि (निगाह) मन्द पड़ जाती है । सौभाग्यसे यदि उस समय उसे चन्द्रबिम्बसे उत्पन्न अमृतकी प्राप्ति हो जाती है, तो वह उसे पीकर निर्विष होता हुआ पूर्व चेतनाको प्राप्त कर लेता है । ठीक इसी प्रकार जो प्राणी सर्पके समान अनेक भवोंमें उपार्जित दर्शनमोहनीयके उदयसे मिथ्याभावको प्राप्त हुए ज्ञान (मिथ्याज्ञान) के द्वारा विवेकशून्य हो गये हैं तथा जिनका सम्यग्दर्शन मन्द पड़ गया है वे यदि पद्मनन्दी मुनिके द्वारा रचित इस 'स्नानाष्टक' प्रकरणको कानोंसे सुनेंगे तो उस अविवेकके नष्ट हो जानेसे वे अवश्य ही प्रबोधको प्राप्त हो जावेंगे, क्योंकि, यह स्नानाष्टक प्रकरण अमृतके समान सुख देनेवाला है ॥ ८ ॥ इस प्रकार स्नानाष्टक अधिकार समाप्त हुआ ॥ २४ ॥

---

१ श सशभृद्बिंब, च शशिभृद्बिंब, ब शशिभृबिंब । २ क ज श वक्त्रचन्द्र ।
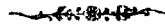
[२६. ब्रह्मचर्याष्टकम्]

931) भवविवर्धनमेव यतो भवेदधिकदुःखकरं चिरमङ्गिनाम् ।
इति निजाङ्गनयापि न तन्मतं मतिमतां सुरतं किमुतो ऽन्यथा ॥ १ ॥

932) पशव एव रते रतमानसा इति बुधैः पशुकर्म तदुच्यते ।
अभिधया ननु सार्थकयानया पशुगतिः पुरतो ऽस्य फलं भवेत् ॥ २ ॥

933) यदि भवेदबलासु रतिः शुभा किल निजासु सतामिह सर्वथा ।
किमिति पर्वसु सा परिवर्जिता किमिति वा तपसे सततं बुधैः ॥ ३ ॥

तत्सुरतम् । मतिमतां ज्ञानवताम् । निजाङ्गनयापि सह न मतं न कथितम् । इति हेतोः । उत अहो । अन्यथा पराङ्गनया किम् । किमपि न । यतः यस्मात्कारणात् । सुरतं भवविवर्धनम् एव संसारवर्धकम् एव भवेत् । अङ्गिनां प्राणिनाम् । चिरं चिरकालम् । अधिकदुःखकरम् ॥ १ ॥ रते सुरते । रतमानसः प्रीतचित्ताः नराः । पशव एव । तत्सुरतं बुधैः पशुकर्म इति उच्यते कथ्यते । ननु इति वितर्के । अनया अभिधया सार्थकया नाम्ना । पुरतः अग्रतः । अस्य जीवस्य । पशुगतिः फलं भवेत् ॥ २ ॥ यदि चेत् । अबलासु रतिः शुभा भवेत् । निजासु स्वकीयस्त्रीषु रतिः श्रेष्ठा भवेत् तदा इह लोके सर्वथा सतां साधूनाम् । मुनिभिः सा रतिः

मैथुन (स्त्रीसेवन) चूंकि प्राणियोंके संसारको बढ़ाकर उन्हें चिरकाल तक अधिक दुख देनेवाला है, इसीलिये बुद्धिमान् मनुष्योंको जब अपनी स्त्रीके भी साथ वह मैथुनकर्म अभीष्ट नहीं है तब भला अन्य प्रकारसे अर्थात् परस्त्री आदिके साथ तो वह उन्हें अभीष्ट क्यों होगा ? अर्थात् उसकी तो बुद्धिमान् मनुष्य कभी इच्छा ही नहीं करते हैं ॥ १ ॥ इस मैथुनकर्ममें चूंकि पशुओंका ही मन अनुरक्त रहता है, इसीलिये विद्वान् मनुष्य उसको पशुकर्म इस सार्थक नामसे कहते हैं । तथा आगेके भवमें इसका फल भी पशुगति अर्थात् तिर्यंचगतिकी प्राप्ति होता है ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय इसका यह है कि जो मनुष्य निरन्तर विषयासक्त रहते हैं वे पशुओंसे भी गये-बीते हैं, क्योंकि, पशुओंका तो प्रायः इसके लिये कुछ नियत ही समय रहता है; किन्तु ऐसे मनुष्योंका उसके लिये कोई भी समय नियत नहीं रहता—वे निरन्तर ही कामासक्त रहते हैं। इसका फल यह होता है कि आगामी भवमें उन्हें उस तिर्यंच पर्यायकी प्राप्ति ही होती है जहां प्रायः हिताहितका कुछ भी विवेक नहीं रहता । इसीलिये शास्त्रकारोंने परस्परके विरोधसे रहित ही धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थोंके सेवनका विधान किया है ॥ २ ॥ यदि लोकमें सज्जन पुरुषोंको अपनी स्त्रियोंके विषयमें भी किया जानेवाला अनुराग श्रेष्ठ प्रतीत होता तो फिर विद्वान् पर्व (अष्टमीव· चतुर्दशी आदि) के दिनोंमें अथवा तपके निमित्त उसका निरन्तर त्याग क्यों कराते ? अर्थात् नहीं कराते ॥ विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि परस्त्री आदिके साथ किया जानेवाला मैथुनकर्म तो सर्वथा निन्दनीय है ही, किन्तु स्वस्त्रीके साथ भी किया जानेवाला वह कर्म निन्दनीय ही है । हां, इतना अवश्य है कि वह परस्त्री आदिकी अपेक्षा कुछ कम निन्दनीय है । यही कारण है जो विवेकी गृहस्थ अष्टमी-चतुर्दशी आदि पर्वके दिनोंमें स्वस्त्रीसेवनका भी परित्याग किया करते हैं, तथा मुमुक्षु जन तो उसका सर्वथा ही त्याग करके तपको

934) **रतिपतेरुदयान्नरयोषितोरशुचिनोर्वपुषोः परिघट्टनात् ।**
अशुचि सुष्ठुतरं तदितो भवेत्सुखलवे विदुषः कथमादरः ॥ ४ ॥

935) **अशुचिनि प्रसभं रतकर्मणि प्रतिशरीरि[1] रतिर्यदपि स्थिता ।**
चिदरिमोहविजृम्भणदूषणादियमहो भवतीति निबोधिता[2] ॥ ५ ॥

936) **निरवशेषयमद्रुमखण्डने शितकुठारहतिर्ननु मैथुनम् ।**
सततमात्महितं शुभमिच्छता परिहृतिर्व्रतिनास्य विधीयते ॥ ६ ॥

937) **मधु यथा पिबतो विकृतिस्तथा वृजिनकर्मभृतः सुरते मतिः ।**
न पुनरेतदभीष्टमिहाङ्गिनां न च परत्र यदायति दुःखदम् ॥ ७ ॥

938) **रतिनिषेधविधौ यततां भवेच्चपलतां प्रविहाय मनः सदा ।**
विषयसौख्यमिदं विषसंनिभं कुशलमस्ति न भुक्तवतस्तव ॥ ८ ॥

पर्वसु अष्टम्यादिषु कथं परिवर्जिता । वा अथवा । बुधैः वर्जिता तथा सततं तपसे किम्[3] ॥ ३ ॥ नरयोषितोः द्वयोः । रतिपतेः कामस्य उदयात् । अशुचिनोः वपुषोः परिघट्टनात् परिघर्षणात् । तत् अशुचि सुष्ठुतरं निन्द्यं फलं भवेत् । इतः अस्मात् कारणात् । विदुषः पण्डितस्य । सुखलवे स्तोकसुखे आदरः कथम् । अपि पण्डितः आदरं न करोति ॥ ४ ॥ अहो इति आश्चर्ये । यदपि प्रतिशरीरि जीवं जीवं प्रति । अशुचिनि । रतकर्मणि रागकर्मणि स्थिते सति रतिः स्थिता । प्रसभं[4] बलात्कारेण । इति चित्-अरि-मोहविजृम्भण--प्रसरणदूषणात् । इयं रतिः निबोधिता भवति प्रकटीभवति[5] ॥ ५ ॥ ननु इति वितर्के । मैथुनं निरवशेषयमद्रुम-खण्डने । शित-तीक्ष्णकुठारहतिः । व्रतिना यतिना । अस्य मैथुनस्य । परिहृतिः त्यागः । विधीयते क्रियते । किंलक्षणेन व्रतिना । सततम् आत्महितं शुभं हितम् इच्छता ॥ ६ ॥ यथा । मधु मद्यं पिबतः विकृतिः भवेत् तथा वृजिनकर्मभृतः पापकर्मभृतः जीवस्य सुरते मतिः । पुनः । एतत् सुरतम् । इह लोके अङ्गिनाम् अभीष्टं न । च पुनः । परत्र परलोके । यत्सुरतम् आयति आगामिकाले । दुःखदं सुरतं वर्तते[6] ॥ ७ ॥ हे मनः । चपलतां प्रविहाय त्यक्त्वा । रतिनिषेधविधौ । यततां यत्नं कुरुताम् । इदं

ग्रहण करते हैं ॥ ३ ॥ काम (वेद) के उदयसे पुरुष और स्त्रीके अपवित्र शरीरों (जननेन्द्रियों) के रगड़नेसे जो अत्यन्त अपवित्र मैथुनकर्म तथा उससे जो अल्प सुख होता है उसके विषयमें भला विवेकी जीवको कैसे आदर हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ॥ ४ ॥ प्रत्येक प्राणीमें जो अपवित्र मैथुनकर्मके विषयमें बलात् अनुराग स्थित रहता है वह चेतनताके शत्रुभूत मोहके विस्ताररूप दोषसे होता है । इसका कारण अविवेक है ॥ ५ ॥ निश्चयसे यह मैथुनकर्म समस्त संयमरूप वृक्षके खण्डित करनेमें तीक्ष्ण कुठारके आघातके समान है । इसीलिये निरन्तर उत्तम आत्महितकी इच्छा करनेवाला साधु इसका त्याग करता है ॥ ६ ॥ जिस प्रकार मद्यके पीनेवाले पुरुषको विकार होता है उसी प्रकार पाप कर्मको धारण करनेवाले प्राणीकी मैथुनके विषयमें बुद्धि होती है । परन्तु यह प्राणियोंको न इस लोकमें अभीष्ट है और न परलोकमें भी, क्योंकि वह भविष्यमें दुखदायक है ॥ ७ ॥ हे मन ! तू चंचलताको छोड़कर निरन्तर मैथुनके परित्यागकी विधिमें प्रयत्न कर, क्योंकि, यह विषयसुख विषके समान दुखदायक है । इसलिये इसको भोगते हुए तेरा कल्याण नहीं हो सकता है ॥ विशेषार्थ– जिस प्रकार विषके भक्षणसे प्राणीको मरणजन्य दुखको भोगना पड़ता है उसी प्रकार इस मैथुनविषयक अनुरागसे भी प्राणीको जन्म-मरणके अनेक दुःख सहने पड़ते हैं । इसीलिये यहां मनको संबोधित करके यह कहा गया है कि हे मन ! तू इस लोक और परलोक दोनों ही लोकोंमें दुख देनेवाले उस विषयभोगको छोड़नेका प्रयत्न कर, अन्यथा तेरा

---

१ **च श** प्रतिशरीर । २ **अ श** निबोधता, **च** निबोधितो, **ब** निबोधतः [निषेधिता] । ३ **अ** तथा तपसे किं, **श** तथा तपसे सततं किं । ४ **क** रागकर्मणि रतिः स्थिता सती प्रसभं । ५ क **अ श** निबोधला भवेत् प्रकटीभवति । ६ **क** दुखदं वर्तते ।

939) युवतिसंगतिवर्जनमष्टकं प्रति मुमुक्षुजनं भणितं मया।
सुरतरागसमुद्रगता जनाः कुरुत मा क्रुधमत्र मुनौ मयि ॥ ९ ॥

विषयसौख्यं विषसंनिभं भवेत्। तव विषयान् भुक्तवतः कुशलं न अस्ति ॥ ८ ॥ [1]मया पद्मनन्दिमुनिना। मुमुक्षुजनं प्रति। युवति-स्त्रीसंगतिवर्जनम् अष्टकम्। भणितं कथितम्। सुरतरागसमुद्रगताः प्राप्ताः। जनाः लोकाः। अत्र मयि मुनौ मुनीश्वरे। क्रुधं कोपम्। मा कुरुत मा कुर्वन्तु। मयि पद्मनन्दिमुनौ ॥ ९ ॥ ब्रह्मचर्याष्टकं समाप्तम् ॥ २६ ॥

॥ इति पद्मनन्द्याचार्यविरचिता पद्मनन्दिपञ्चविंशतिः ॥

अहित अनिवार्य है ॥ ८ ॥ मैंने स्त्रीसंसर्गके परित्यागविषयक जो यह आठ श्लोकोंका प्रकरण रचा है वह मोक्षाभिलाषी जनको लक्ष्य करके रचा है। इसलिये जो प्राणी मैथुनके अनुरागरूप समुद्रमें मग्न हो रहे हैं वे मुझ (पद्मनन्दी) मुनिके ऊपर क्रोध न करें ॥ ९ ॥ इस प्रकार ब्रह्मचर्याष्टक समाप्त हुआ ॥ २६ ॥

॥ इस प्रकार पद्मनन्दी मुनिके द्वारा विरचित 'पद्मनन्दि-पञ्चविंशति' ग्रन्थ समाप्त हुआ ॥

१ क संगविवर्जन। २ क-प्रतावेवंविधास्त्यस्य श्लोकस्य टीका–मया पद्मनन्दिना मुनिना। युवतिसंगविवर्जनं अष्टकम्। प्रति मुमुक्षुजनं मुनिजनं प्रति। भणितम् अस्ति। पुनः सुरतरागसमुद्रे गताः प्राप्ताः। जनाः लोकाः। अत्र मयि मुनौ। क्रुधं कोपम्। मा कुरुत ॥ ९ ॥

पद्यानुक्रमणिका

ह

———:०:———

विशेष-शब्द-सूची

ग्रन्थगत वृत्तोंकी संख्या

१. शार्दूलविक्रीडित (वृ. र. ३-१३६)—२-४, ७-१२, १४-१५, १८, २३, २७-३१, ३३, ३८-४४, ५२-५३, ५९, ६१-६२, ६४-६६, ६८-७०, ७२, ८४, ८६, ८८, ९०, ९३, ९५, ९७, १०१, १०७-१२, ११४, ११७-२१, १३०, १३२, १३४-३८, १४२-४३, १४५-४९, १५२, १५४, १५६-६०, १६२-६३, १६५-६७, १६९-७०, १७४-७५, १७७, १७९-८७, १८९-९३, १९५-९६, १९८, २५४-५८, २६१-६४, २६७, २६९, २७१-७२, २७४-७६, २८४-८८, २९०-९७, ३००, ३०३-५, ३८८-९६, ४५९-७९, ४८१-५५०, ५९५-९७, ६६०-८१, ८०६, ८३१-४७, ८६६, ८७७, ८९५-९१६, ९१८, ९२०-३०=३१९.

इसके प्रत्येक चरणमें मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण और अन्तमें १ वर्ण गुरु होता है। यति १२ और ७ वर्णोंपर होती है।

२. आर्या—२४, ३२, ५४, ७८, ८९, ९१, ९४, ९६, ९८, १२९, १५३, १७१, २५३, २८०, २९८, ५९८-६५८, ६८२-७७५, ८५८-६५=१७८.

इसके प्रथम और तृतीय चरणमें १२ मात्रायें, द्वितीय चरणमें १८ तथा चतुर्थ चरणमें १५ मात्रायें होती हैं (श्रुतबोध)।

३. श्लोक (अनुष्टुभ्)—१६, ९२, १५०, २८१, ३०८-८२, ३९७-४५८, ८८०, ८८४-९४=१५३.

इसके चारों चरणोंमें पांचवां वर्ण लघु व छठा गुरु होता है। द्वितीय व चतुर्थ चरणमें सातवां वर्ण लघु होता है (श्रुतबोध)।

४. वसन्ततिलका (वृ. र. ३-९६)—३४-३५, ५०, ६०, ६३, ६७, ८३, ८७, ११३, १२५, १३९, १६१, १६८, १७३, १८८, १९७, १९९-२५२, २६५-६६, २६८, २७०, २८३, २९९, ३०६-७, ३८४-८५, ३८७, ४८०, ८४८-५७, ८६७-७५, ८७८, ८८३=१०३.

इसके प्रत्येक चरणमें तगण, भगण, जगण, जगण और अन्तमें २ वर्ण गुरु होते हैं।

५. वंशस्थ (वृ. र. ३-५९)—५१, ८०, २५९, ३०२, ७७६-८०५, ८०७-३०, ८७९, ९१७=६०.

इसके प्रत्येक चरणमें जगण, तगण, जगण और रगण होता है।

६. रथोद्धता (वृ. र. ३-५१)—५५१-९४=४४.

इसके प्रत्येक चरणमें रगण, नगण, रगण और तत्पश्चात् क्रमसे १ लघु व १ दीर्घ वर्ण होता है।

७. मालिनी (वृ. र. ३-११०)—५, ६, १७, २१, २६, ३७, ४६-४७, ५७, ७३-७७, ७९, ८२, १०५, १४०, १७६, २७७-७९, २८२, २८९, ९१९=२५.

इसके प्रत्येक चरणमें नगण, नगण, मगण, यगण और यगण तथा ८ व ७ वर्णोंपर यति होती है।

८. स्रग्धरा (वृ. र. ३-१४२)—१, १३, १९, २५, ७१, ८१, ८५, १०४, १०६, १२४, १२८, १३१, १४१, १५५, १६४, १९४=१६.

इसके प्रत्येक चरणमें मगण, रगण, भगण, नगण, और फिर ३ यगण होते हैं। यति ७, ७ व ७ वर्णोंपर होती है।

९. शिखरिणी (वृ. र. ३-१२३)—२०, ३६, ४५, ४९, १०२, १०३, ११५, १२२-२३, ३०१=१०.

इसके प्रत्येक चरणमें यगण, मगण, नगण, सगण, भगण और फिर क्रमसे १ वर्ण लघु व १ वर्ण दीर्घ होता है।

१०. द्रुतविलम्बित (वृ. र. ३-६२)—११६, १३१-३९=१०.

इसके प्रत्येक चरणमें नगण, भगण, भगण और रगण होते हैं।

११. पृथ्वी (वृ. र. ३-१२४)—४८, ५६, ९९, १४४, १५१, २७३, ८७९, ८८२=८.

इसके प्रत्येक चरणमें जगण, सगण, जगण, सगण, यगण और क्रमसे १ वर्ण लघु और १ गुरु होता है। यति ८ व ९ वर्णोंपर होती है।

१२. मन्दाक्रान्ता (वृ. र. ३-१२७)—२२, १००, १३३, १७२, १७८, ३८६=६.

इसके प्रत्येक चरणमें मगण, भगण, नगण, तगण, तगण और अन्तमें २ दीर्घ वर्ण होते हैं। यति ४, ६ और ७ वर्णोंपर होती है।

१३. उपेन्द्रवज्रा (वृ. र. ३-४२)—५८, २६०, ३८३, ६५९=४.

इसके प्रत्येक चरणमें जगण, तगण, जगण और अन्तमें २ वर्ण गुरु होते हैं।

१४. इन्द्रवज्रा (वृ. र. ३-४१)—५५, १२६-२७=३.

इसके प्रत्येक चरणमें तगण, फिर तगण, जगण और अन्तमें २ वर्ण गुरु होते हैं।

१५. भुजंगप्रयात (वृ. र. ३-७०).—८८१=१.

इसके प्रत्येक चरणमें ४ यगण होते हैं।

JĪVARĀJA JAINA GRANTHAMĀLĀ

GENERAL EDITORS:

Dr. A. N. UPADHYE & Dr. H. L. JAIN

1. *Tiloyapaṇṇatti* of Yativṛṣabha (Part I, Chapters 1-4): An Ancient Prākrit Text dealing with Jaina Cosmography, Dogmatics etc. Prākrit Text authentically edited for the first time with the Various Readings, Preface & Hindī Paraphrase of Pt. BALACHANDRA by Drs. A. N. UPADHYE & H. L. JAIN. Published by Jaina Saṁskṛti Saṁrakṣaka Saṁgha, Sholapur (India). Double Crown pp. 6-38-532. Sholapur 1943. Price Rs. 12·00. Second Edition, Sholapur 1956. Price Rs. 16·00.

1. *Tiloyapaṇṇatti* of Yativṛṣabha (Part II, Chapters 5-9). As above, with Introductions in English and Hindī, with an alphabetical Index of Gāthās, with other Indices (of Names of works mentioned, of Geographical Terms, of proper Names, of Technical Terms, of Differences in Tradition, of Karaṇa-sūtras and of Technical Terms compared) and Tables (of Nāraka-jīva, Bhavana-vāsī Deva, Kulakaras, Bhāvana Indras, Six Kulaparvatas, Seven Kṣetras, Twentyfour Tīrthakaras, Age of the Śalākāpuruṣas, Twelve Cakravartins, Nine Nārāyaṇas, Nine Pratiśatrus, Nine Baladevas, Eleven Rudras, Twentyeight Nakṣatras, Eleven Kalpātīta, Twelve Indras, Twelve Kalpas and Twenty Prarūpaṇās). Double Crown pp. 6-14-108-529 to 1032. Sholapur 1951. Price Rs. 16·00.

2. *Yaśastilaka and Indian Culture*, or Somadeva's Yaśastilaka and Aspects of Jainism and Indian Thought and Culture in the Tenth Century, by Professor K. K. HANDIQUI, Vice Chancellor, Gauhati University, Assam, with Four Appendices, Index of Geographical Names and General Index. Published by J. S. S. Sangha, Sholapur. Double Crown pp. 8-540. Sholapur 1949. Price Rs. 16·00.

3. *Pāṇḍavapurāṇam* of Śubhacandra: A Sanskrit Text dealing with the Pāṇḍava Tale. Authentically edited with Various Readings, Hindī Paraphrase, Introduction in Hindī etc. by Pt. JINADAS. Published by J. S. S. Sangha, Sholapur. Double Crown pp. 4-40-8-520. Sholapur 1954. Price Rs. 12·00.

4. *Prākṛta-śabdānuśāsanam* of Trivikrama with his own commentary: Critically Edited with Various Readings, an Introduction and Seven Appendices (1. Trivikrama's Sūtras; 2. Alphabetical Index of the Sūtras; 3. Metrical Version of the Sūtrapāṭha; 4. Index of Apabhraṁśa Stanzas; 5. Index of Deśya words; 6. Index of Dhātvādeśas, Sanskrit to Prākrit and vice versa; 7. Bharata's Verses on Prākrit) by Dr. P. L. VAIDYA, Director, Mithilā Institute, Darbhanga. Published by the J. S. S. Sangha, Sholapur. Demy pp. 44-478. Sholapur 1954. Price Rs. 10·00.

5. *Siddhānta-sārasaṁgraha* of Narendrasena: A Sanskrit Text dealing with Seven Tattvas of Jainism. Authentically Edited for the first time with Various Readings and Hindī Translation by Pt. JINADAS P. PHADKULE. Published by the J. S. S. Sangha, Sholapur. Double Crown pp. about 300. Sholapur 1957. Price Rs. 10·00.

6. *Jainism in South India and Some Jaina Epigraphs:* A learned and well-documented Dissertation on the career of Jainism in the South, especially in the areas in which Kannaḍa, Tamil and Telugu Languages are spoken, by P. B. DESAI, M. A., Assistant Superintendent for Epigraphy, Ootacamund. Some Kannaḍa Inscriptions from the areas of the former Hyderabad State and round about are edited here for the first time both in Roman and Devanāgarī characters, along with their critical study in English and Sārānuvāda in Hindī. Equipped with a List of Inscriptions edited, a General Index and a number of illustrations. Published by the J. S. S. Sangha, Sholapur. Sholapur 1957. Double Crown pp. 16-456. Price Rs. 16·00.

7. *Jambūdīvapannatti-Saṁgaha* of Padmanandi: A Prākrit Text dealing with Jaina Geography. Authentically edited for the first time by Drs. A. N. UPADHYE and H. L. JAINA, with the Hindī Anuvāda of Pt. BALACHANDRA. The Indroduction institutes a careful study of the Text and its allied works. There is an Essay in Hindī on the Mathematics of the Tiloyapannatti by Prof. LAKSHMICHANDA JAIN, Jabalpur. Equipped with an Index of Gāthās, of Geographical Terms and of Technical Terms, and with additional Variants of Amera Ms. Published by the J. S. S. Sangha, Sholapur. Double Crown pp. about 500. Sholapur 1957. Price Rs. 16·00.

8. *Bhaṭṭāraka-saṁpradāya:* A History of the Bhaṭṭāraka Pīthas especially of Western India, Gujarat, Rajasthan and Madhya Pradesh, based on Epigraphical, Literary and Traditional sources, extensively reproduced and suitably interpreted, by Prof. V. JOHRAPURKAR, M. A., Nagpur. Published by J. S. S. Sangha, Sholapur. Demy pp. 14-24-326. Sholapur 1960. Price Rs. 8/-

9. *Prābhṛtādisaṁgraha:* This is a presentation of topic-wise discussions compiled from the works of Kundakunda, the *Samayasāra* being fully given. Edited with Introduction and Translation in Hindī by Pt. KAILASHCHANDRA SHASTRI, Varanasi. Published by the J. S. S. Sangha, Sholapur. Demy pp. 10-106-10-288. Sholapur 1960. Price Rs. 6·0.

In Press

10. *Pañcaviṁśati* of Padmanandi (c. 1136 A. D.). This is a collection of 26 *prakaraṇas* (24 in Sanskrit and 2 in Prākrit), small and big, dealing with various topics: religious, spiritual, ethical, didactic, hymnal and ritualistic. The text along with an anonymous Sanskrit commentary critically edited by

Dr. A. N. UPADHYE and Dr. H. L. JAIN, with the Hindī Anuvāda of Pt. BALACHANDRA SHASTRI. The edition is equipped with a detailed Introduction shedding light on the various aspects of the work and personality of the author, both in English and Hindī. There are useful Indices. Printed in the N. S. Press, Bombay.

11. *Ātmānuśāsana* of Guṇabhadra (middle of the 9th century A. D.) This is a religio-didactic anthology in elegant Sanskrit verses composed by Guṇabhadra, the pupil of Jinasena, the teacher of Rāshṭrakūṭa Amoghavarsha. The Text critically edited along with the Sanskrit commentary of Prabhācandra and a new Hindī Anuvāda by Dr. A. N. UPADHYE, Dr. H. L. JAIN and Pt. BALACHANDRA SHASTRI. The edition is equipped with Introductions in English and Hindī and some useful Indices.

12. *Gaṇitasārasaṁgraha* of Mahāvīrācārya (c. 9th century A. D.): This is an important treatise in Sanskrit on early Indian mathematics, composed in an elegant style and practical manner. Edited with Hindī Translation by Prof. L. C. JAIN, M. Sc., Jabalpur.

13. *Lokavibhāga* of Siṁhasūri : A Sanskrit digest of a missing ancient Prākrit text dealing with Jaina cosmography. Edited with Hindī Translation by Pt. BALACHANDRA SHASTRI.

14. *Puṇyāsrava-kathākośa* of Rāmacandra: It is a collection of religious stories in simple Sanskrit. The Text critically edited by Dr. A. N. UPADHYE and Dr. H. L. JAIN with the Hindī Anuvāda of Pt. BALACHANDRA SHASTRI.

15. *Jainism in Rajasthan:* This is a dissertation on Jainas and Jainism in Rājasthān and round about area from early times to the present day, based on epigraphical, literary and traditional sources by Dr. KAILASCHANDRA JAIN, Ajmer.

जीवराज जैन ग्रंथमाला, सोलापूर

★ मराठी प्रकाशनें ★

१. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार**-पं. सदासुखजी विरचित बृहत् हिंदी वचनिकेचा समग्र मराठी अनुवाद अनु०—पू. ब्र. जीवराज गौतमचंद दोशी. किं. १० रु.

२. **आर्यादशभक्ति**-पूज्यपादकृत संस्कृत दशभक्तीचा मराठींत आर्याबद्ध अनुवाद. किं. १ रु.

३. **भ. कुंदकुंदांचें रत्नत्रय**-भ. कुंदकुंदांच्या समयसार, प्रवचनसार व पंचास्तिकाय या ग्रंथरत्नांतील सर्व विषयांची सुंदर मांडणी. किं. १॥ रु.

४. **महामानव सुदर्शन**-आ. सकलकीर्तीच्या सुदर्शनचरित्राचा मराठींत आधुनिक तंत्रांत अवतार. किं. १ रु.

५. **नित्यनैमित्तिक जैनाचार**-गृहस्थाला आवश्यक असणाऱ्या सर्व क्रियाकर्मांची शास्त्रोक्त माहिती, शिवाय पंचामृताभिषेक, अष्टकें व आरत्या यांचाहि एकत्र संग्रह. किं. १॥ रु.

६. **पार्श्वनाथचरित्र व महावीरचरित्र**-किं. प्रत्येकीं ८ आणे.

७. **जीवंधर**-श्री. वादीभसिंहसूरिकृत 'क्षत्रचूडामणि' या अलौकिक काव्यावर आधारलेली संपूर्ण कथा. दुरंगी मुखपृष्ठ किं. १॥ रु.

८. **पांडवकथा**-जैनधर्मपरंपरेंतील कौरव-पांडवांची संपूर्ण कथा. दुरंगी मुखपृष्ठ. किं. १॥। रु.

९. **रत्नाची पारख**-'सत्यघोष' या पौराणिक कथेवर आधारित स्त्रीपात्रविरहित शालोपयोगी नाटिका. किं. ८ आणे.

१०. **सम्यक्त्वकौमुदीकथा**-किं. रु. १॥। रु.

११. **भ. ऋषभदेव**-किं. १। रु.

१२. **जीवंधरपुराण**-मराठी ओवी. किं. २ रु.

१३. **जिनसागरकृतव्रतकथा**-रविवार, निर्दोषसप्तमी, कालदशमी, सुगंधदशमी, पंचमेरुपूजा, नवग्रहपूजा, नंदीश्वरपूजा, अनेकस्तोत्रें व आरत्या यांचा संग्रह. ४ रु.

१४. **भ. नेमिनाथचरित्र**-किं. १ रु.

१५. **यशोधरपुराण**-मराठी ओवी. किं. ४. रु.

१६. **धर्मामृत**-गुणकीर्तिविरचित, पंधराव्या शतकांतील महाराष्ट्राच्या समाजजीवनावर प्रकाश टाकणारा प्राचीन मराठी गद्य ग्रंथ, सं०-प्रा. जोहरापूरकर. किं. ३ रु.

* कानडी प्रकाशन *

१. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार**-पं. सदासुखजी विरचित हिन्दी वचनिकेचा कानडी अनुवाद. अनुवादक-अण्णाराव मिर्जी, पृ. ७०० किं. १६ रु.

For Copies Write to :

Jaina Sanskriti Samrakshaka Sangha
Santosh Bhavan, Phaltan Galli,
Sholapur (India)